अन्ताराष्ट्रिय विधान

अन्ताराष्ट्रिय विधान

सम्पूर्णानन्द

बनारस
ज्ञानमण्डल लिमिटेड

समर्पण

आनन्दी मातृदेवी निजयुगलकुलं या सदानन्दयित्री ।
शूलीपादाब्जभक्तो जयति च विजयानन्दनामा पिता मे ॥
पित्रोः संवर्द्धयित्रोः सकलगुणयुते पूजनीये पुनीते ।
स्वस्येयं तुच्छसेवा पदरजसि तयोरर्पिता सादरेण ॥

विषय-सूची

चतुर्थ खण्ड—ताटस्थ्य सम्बन्धी विधान

पञ्चम खण्ड—एक विश्व

यस्यानिर्वचनीय शक्ति महिमा विश्वं निदानादृते ।
सृष्ट्वा धर्म्मकलेवरं विदधती राष्ट्रेषु संराजते ॥
भूयात्प्रेमविवर्द्धयन् जनपदेष्वातंकमुत्सादयन् ।
भेदध्वान्तमपानयन् स भगवान् भूत्यै भवानीश्वरः ॥

तृतीय संस्करणकी भूमिका

पुस्तकके प्रकाशित होनेके तेईस वर्ष बाद द्वितीय संस्करणकी आवश्यकता पड़ी, अब सात ही वर्षमें तृतीय संस्करण निकलने जा रहा है। इन अंकोंके पीछे हमारे देशका एतत्कालीन इतिहास छिपा है। तीस वर्ष पहिले देश पराधीन था परन्तु क्षितिजपर स्वाधीनताकी क्षीण आभा झलक रही थी। प्रथम महासमर हो चुका था, रूसमें बोल्शेविक शासनकी स्थापना हो चुकी थी, कई पुराने राज बिगड़ चुके थे, कई नये राजोंका उदय हो चुका था। महात्माजीके नेतृत्वमें भारत असहयोग आन्दोलन चला चुका था। पराधीन देशका अन्ताराष्ट्रिय परिवारमें प्रत्यक्ष स्थान नहीं होता, अन्ताराष्ट्रिय प्रश्नोंमें उसकी अभिरुचि स्वभावतः बहुत थोड़ी होती है। आजसे सात वर्ष पहिले अवस्था दूसरी थी। द्वितीय महासमर समाप्त हो चुका था और उसने पृथिवीका राजनीतिक मानचित्र ही बदल दिया था। कागज पर चाहे जो लिखा जाय, परन्तु दो ही बलवान् राज बच गये थे; अमेरिकाका संयुक्त राज और समाजवादी सोविएत लोकतन्त्र संघ (रूस)। एक पूँजीशाहीका अभेद्य दुर्ग, दूसरा उग्र समाजवादका अग्रदूत। इन दोनोंमें सहयोग वैसा ही कठिन देख पड़ता है जैसे रात और दिनका मेल। भारतमें अंग्रेजी शासन था पर बिदा होनेवाला था। संयुक्त राष्ट्र संघटनका जन्म हो गया था।

पिछले सात वर्षोंमें महान् उथल-पुथल हुआ है। चीन अब निर्विवाद रूपसे महाशक्ति है। संयुक्तराष्ट्र संघटनकी कार्य्यशैली, उसके गुणों और दोषोंकी समीक्षा करना संभव है। भारतसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ प्रश्न अन्ताराष्ट्रिय संस्थाओंके सामने विचारार्थ आये हैं और सैनिक बलमें अग्रगण्य होनेका दावा न करते हुए भी अन्ताराष्ट्रिय रंगमंच पर भारतने आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया है। परमाणु और हाइड्रोजन बम जैसे अस्त्रोंके आविष्कारने लोगोंका ध्यान शान्तिस्थापनकी ओर आकृष्ट किया है और एशिया तथा अफ्रीकाके नव स्वतन्त्र राज अपने अभ्युदयके लिए दीर्घकालीन शान्ति चाहते हैं। इसलिए अब भारतीयोंको अन्ताराष्ट्रिय विधानमें व्यावहारिक दिलचस्पी है। तृतीय संस्करणकी माँग इसका प्रमाण है।

दूसरे और तीसरे संस्करणोंमें बहुत अन्तर है। कई नये अध्याय और परिशिष्ट बढ़ाये गये हैं, कुछ सामग्री जो अब अनावश्यक हो गयी थी निकाल दी गयी है और शेषांशमें भी बहुत परिवर्तन और संशोधन किया गया है। पुराने पञ्चम खण्डका विषय प्रथम खण्डमें आ गया है और एक अध्यायका नया पञ्चम खण्ड जोड़ दिया गया है। पुस्तकमें पहिली नवम्बर १९५४ तक की मुख्य घटनाओंका समावेश है। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि यह संस्करण साम्प्रत अन्ताराष्ट्रिय परिस्थितिका सम्यक् चित्रण करता है।

एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकी ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। जिन दिनों पिछले संस्करण निकले थे देश परतंत्र था, अन्य बातोंके साथ-साथ विदेशी शासनने हमारे ऊपर विदेशी तिथिक्रम भी लाद दिया था। इसकी प्रतिक्रिया समझिये, पुस्तकमें सर्वत्र विक्रम संवत्से काम लिया गया। परन्तु आजकल सभी देशोंमें, ऐसे देशोंमें भी जो ईसाई धर्म्मसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, ईसवी सन् ही प्रचलित है। यदि कोई गम्भीर और तुलनात्मक अध्ययन करना चाहे तो उसको इस सन्के अनुसार दी गयी तारीखोंमें ही सुविधा होगी। स्वतन्त्र भारतकी सरकारने भी इसीको स्वेच्छासे

अपनाया है। इसलिए इस संस्करणमें सर्वत्र ईसवी सन्‌के अनुसार ही तारीखें दी गयी हैं। हिन्दीके राजभाषा हो जानेके कारण इसका कुछ व्यवहार अन्ताराष्ट्रिय जगतमें भी होने लगा है। भारत-सरकारने कुछ देशोंके साथ हिन्दीमें सन्धियाँ की हैं। उनमें जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनको मानकर मैंने पुराने शब्दोंको बदल दिया है। उदाहरणके लिए, जहाँ पहिले मैंने 'क्रिडेंशल्स' के लिए अधि-कारपत्रका प्रयोग किया था, वहाँ अब प्रत्ययपत्रका व्यवहार किया गया है।

विभिन्न राष्ट्रोंके बीच समय-समय पर जो मुकदमे हुए हैं उनके फैसलोंसे अन्ताराष्ट्रिय विधानके सिद्धान्तोंका विशदीकरण और स्पष्टीकरण हुआ है। अबतक कोई सार्वभौम और स्थायी विधायक नहीं था, इसलिए अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारके कई क्षेत्रोंमें यह निर्णय एकमात्र दीपशिखाका काम करते हैं। पाश्चात्य भाषाओंमें लिखी गयी पुस्तकोंमें पदेपदे इनका हवाला दिया जाता है। परन्तु हिन्दीमें ऐसा करना प्रायः असम्भव है। यह नजीरें हिन्दी पाठकके लिए अलभ्य हैं, क्योंकि जिन पुस्तकोंमें यह मिलती हैं वह सब विदेशी भाषाओंमें हैं। अतः पुस्तकको अद्यावधि करके भी बहुत कम मुकदमोंका चर्चा किया जा सकता है।

मैं इस बातके लिए क्षमा माँगना चाहता हूँ कि कुछ देशोंके पूरे नाम न देकर उनके संक्षिप्त रूप दे दिये गये हैं। ग्रेट ब्रिटेन और उत्तरी आयरलैंडका संयुक्त राज्य, अमेरिकाके संयुक्त राज और समाजवादी सोविएत लोकतंत्र-संघ बहुत लम्बे नाम हैं। इनकी जगह मैंने ब्रिटेन, अमेरिका, और रूससे काम लिया है। अधिकतर लोगोंको यह नाम परिचित हैं।

मैंने प्रथम संस्करणकी भूमिकामें लिखा था कि मनुष्यका जीवन दर्शनके आधारपर ही सुव्यवस्थित हो सकता है। मेरा उस समय भी मत था और आज भी वही विश्वास है कि अद्वैत वेदान्त ही विश्वशान्ति और विश्वकल्याणका आधार बन सकता है। इस पुस्तकमें स्थान-स्थानपर और विशेषतः अन्तिम अध्यायमें इस ओर संकेत करके मैंने उस अधिकारसे काम लिया है और उस कर्तव्यका पालन किया है जो अन्ताराष्ट्रिय विधानपर ग्रन्थ लिखनेवालेके लिए स्वतःसिद्ध है। हमारी संस्कृतिका यही सन्देश है और इस देशको महात्मा गान्धी जैसे महापुरुषका जो नेतृत्व प्राप्त हुआ था उसकी यही माँग है कि स्वतन्त्र भारत मानवको उस प्रशस्त और निरापद मार्गपर चलनेमें सहायता दे।

लखनऊ
१७ कार्त्तिक २०११
(३ नवम्बर १९५४)

सम्पूर्णानन्द

प्रथम संस्करणकी भूमिका

अन्ताराष्ट्रिय विधान बड़ा ही जटिल विषय है। इसका सम्बन्ध साधारण विधान और विधानशास्त्रके साथ-साथ राजनीतिशास्त्रसे है। इसके साथ ही यह भी उचित प्रतीत होता है कि इस विषयपर लिखनेका वही मनुष्य साहस करे जो स्वतन्त्र देशोंकी व्यावहारिक राजनीतिसे प्रत्यक्ष परिचय रखता हो, जिसे युद्ध, वास्तविक शान्ति और सच्ची तटस्थताका अनुभव हो, जिसने दौत्य किया हो, जिसे किसी स्वतन्त्र देशके परराज-विभागमें प्रवेशाधिकार प्राप्त हो, जो सन्धि-परिषदोंमें सम्मिलित हुआ हो। मुझमें इनमेंसे एक गुण भी नहीं है—

तितीर्षुर्दुस्तरम्मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।

मैं राजनीतिशास्त्र और अन्ताराष्ट्रिय विधानका विद्यार्थी हूँ और इन शास्त्रोंके प्रमुख आचार्योंके ग्रन्थोंको यथासाध्य देखा करता हूँ—बस यही मेरी एतद्विषयक योग्यता है। ऐसी दशामें पुस्तकमें बहुतसी त्रुटियोंका रह जाना स्वाभाविक है परन्तु मैंने यह प्रयत्न किया है कि निराधार और सन्दिग्ध बातें इसमें स्थान न पायें।

यह बहुत सम्भव है कि किसी-किसी पाठकके हृदयमें इस पुस्तकके समयौचित्यपर सन्देह हो। यह सन्देह निःसार न होगा। भारत इस समय परतन्त्र है। उसकी आत्मा इस समय मन्त्र-मुग्ध हो रही है। उसके निःशस्त्रीकरणको लगभग पचास वर्ष हो गये। भारतवासी आत्मसम्मान-शून्यताको क्षमा, कायरताको अहिंसा और निर्वीर्यताको शान्ति समझने लगे हैं। तमोगुण सत्त्वगुण-का नाट्य कर रहा है। जो अपनी मर्यादा और अपने स्वत्वोंकी रक्षामें असमर्थ होते हुए भी विदेशी स्वामियोंके संकेतपर अपने सहज हितैषियोंका गला काटनेके लिए प्रस्तुत हो जाते हैं वह क्या जानें कि स्वतन्त्र राष्ट्र एक दूसरेके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते हैं? पुस्तकोंसे ऐसा ज्ञान प्राप्त करके भी क्या होगा? जब 'चेरि छाँड़ि न कहाउब रानी' हमारे प्रारब्धमें ही लिख गया है तो हमें इन बातोंसे सरोकार ही क्या है? इस शास्त्रके तथ्य मस्तिष्कके विचित्रालयको भले ही सुशोभित करें पर उनकी व्यावहारिकता हमारे लिए किञ्चिन्मात्र भी नहीं है।

यह मर्मोत्पीड़क नैराश्य-जन्य विचार पहिले मेरे चित्तमें भी उठा था परन्तु देरतक ठहर न सका। भारतका भविष्य उसके अतीतसे भी समुज्ज्वल होगा। उसके पैरोंकी आहट हमें श्रुति-गोचर होने लगी है। अभी स्वराज्यका सूर्य उदयाचलपर नहीं आया है परन्तु हमारे तृषित नेत्रोंको उषा देवीके दर्शन मिल गये हैं। हमें दृढ़ विश्वास हो गया है कि अब कोई भी शक्ति हमें दीर्घ-कालतक परतन्त्र नहीं रख सकती।

यही विश्वास इस पुस्तकके लिखनेमें प्रेरक हुआ है। स्वतन्त्र भारत दुर्बलोंका रक्षक और शान्तिका अभिभावक होगा। वह परतन्त्रोंको स्वतन्त्र बनाना, मनुष्यमात्रको एक वृहत् कुटुम्बकी परिधिमें लाना और शान्ति स्थापित कराना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझेगा। इसलिए यह परम आवश्यक है कि उसके भावी नागरिक अभीसे उन नियमोंसे परिचित हो जायँ जिन्हें उनको पहिले-

पहिल बरतना होगा, और उन संस्थाओंका ज्ञान प्राप्त कर लें जिनको, समुचित संस्कारके उपरान्त वह अपने उद्देश्यकी सिद्धिका साधन बनायेंगे।

पुस्तकके विषयके सम्बन्धमें मुझे विशेष नहीं कहना है। ऐसी पुस्तकोंमें सब नियमोपनियम नहीं दिये जा सकते। विस्तृत ज्ञानके लिए इस प्रकारकी पुस्तकोंके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रधान-प्रधान सन्धिपत्रों और सैनिक न्यायालयोंकी व्यवस्थाओंको पढ़ना होगा। प्रस्तुत पुस्तकका इतना ही उद्देश्य है कि मुख्य-मुख्य सिद्धान्त-स्वरूपी नियमोंका दिग्दर्शन करा दे। इतनेसे इसके महत्त्व, इसकी व्यापकता और इसके गाम्भीर्यका पर्याप्त पता लग सकता है और यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है कि सहस्र-सहस्र विघ्नबाधाओंके आते रहनेपर भी मानव-समाजमें क्रमशः भ्रातृभाव, सहिष्णुता और प्रेमकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

मैंने इस बातका प्रयत्न किया है कि पुस्तकको भारतीय पाठकोंके लिए रोचक बनाऊँ। इसलिए कई व्योरेकी बातें, जिनका विशेष सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं है, छोड़ दी गयी हैं। सभी आवश्यक स्थलोंपर उदाहरण दिये गये हैं। इनमेंसे कुछ तो महासमर प्रत्युत उसके भी पीछेके हैं। पाश्चात्य भाषाओंकी एतद्विषयक पुस्तकोंमें भी ऐसी पुस्तकें थोड़ी ही हैं जिनमें इन सबका समावेश हो गया हो।

पुस्तकमें कई जगह दार्शनिक विचार आये हैं। यह मेरी समझमें सर्वथा उचित है। प्रत्येक सभ्य राष्ट्रके वैधानिक, सामाजिक, नैतिक आदि विचारोंपर उसके दार्शनिक विचारोंकी छाप रहती है। अन्तिम प्रश्नोंका अन्तिम उत्तर दर्शनमें ही मिलता है। अध्यात्मशास्त्र ही सब विद्याओंका मूल है। मैं स्वयं अद्वैतवादी हूँ और श्रुति-सम्मत अद्वैतवादको ही मनुष्यके अभ्युदय और निःश्रेयका एकमात्र साधन समझता हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि ममुष्यके सभी व्यवहार, जिनमें अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारका स्थान भी बहुत ऊँचा है, उसीके आधारपर स्थिर किये जायँ तो जगत्में शाश्वत शान्ति स्थापित हो सकती है।

ऐसी पुस्तकोंके लिखनेमें जिन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है वह छिपी नहीं हैं। देशी भाषाओंमें ऐसी पुस्तकें नहीं मिलतीं जिनसे सहायता ली जाय। सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दोंके सम्बन्धमें होती है। मैंने इस पुस्तकमें प्रायः जितने शब्दोंका प्रयोग किया है वह सब मेरे गढे हुए हैं। मैं नहीं कह सकता कि वह कहाँतक ठीक हैं पर मैं उनसे अच्छे नाम न बना सका। दो-एक शब्द पुराने भी हैं। 'राज' शब्द हमारी देशी रियासतोंमें प्रचलित है। 'मुल्कगीरी सेना' भी पुराना नाम है, पर इस पुस्तकमें इसका वह अर्थ नहीं है जिस अर्थमें यह गुजरातकी रियासतोंमें, जहाँसे मैंने इसे लिया है, प्रयुक्त होता है, फिर भी मैं आशा करता हूँ कि मेरे पीछे जो लोग इस विषयपर पुस्तक लिखेंगे उन्हें इससे कुछ-न-कुछ सहायता मिलेगी। दो शब्द पुस्तकके नामके विषयमें भी कहना है। आजकल हिन्दीमें 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द प्रचलित है पर मुझे विश्वास दिलाया गया है कि संस्कृत व्याकरणके अनुसार 'अन्ताराष्ट्रिय' ही साधु-प्रयोग है। अशुद्ध प्रयोगमें कोई लाभ न देखकर मैंने अन्ताराष्ट्रिय लिखना ही उचित समझा।

अभी हिन्दीमें ऐसी पुस्तकोंके पाठक बहुत कम हैं अतः ग्रन्थकार इन्हें लिखने और प्रकाशक इन्हें लेनेसे घबराते हैं। मैं अपने मित्र श्री शिवप्रसादजी गुप्तका चिरऋणी हूँ। उन्हींके प्रोत्साहनसे यह पुस्तक लिखी गयी और उन्हींकी कृपासे आज पाठकोंके सामने रखी जा रही है।

पुस्तकके लिखनेमें मुझे अनेक प्रामाणिक ग्रंथोंसे सहायता लेनी पड़ी है। इनमेंसे कुछके नाम पुस्तकमें तत्तदुपयुक्त स्थलोंपर दिये गये हैं, परन्तु मुख्यतया मैंने निम्नलिखित पुस्तकोंसे काम लिया है। इनके रचयिताओंका मैं आभारी हूँ :—

१. इन्टरनैशनल लॉ—हॉल-कृत (International Law by Hall)
२. प्रिंसिपल्स आव इण्टरनैशनल लॉ—लारेंसकृत (Principles of International Law by Lawrence.)
३. इण्टरनैशनल लॉ—स्मिथकृत (International Law by Sir Frederick Smith)
४. डाक्युमेण्ट्स इलस्ट्रेटिव आव इण्टरनैशनल लॉ—लारेंसकृत (Documents Illustrative of International Law by Lawrence)
५. इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव इण्टरनैशनल आर्गनिजेशन—पॉटर-कृत (Introduction to the Study of International Organization by Pitman B. Potter)

अन्तिम पुस्तक अपने ढंगकी निराली ही है। इस प्रकारकी पुस्तकें पाश्चात्य भाषाओंमें भी बहुत कम हैं। मैंने अपना पञ्चम खण्ड मुख्यतः इसीके आधारपर लिखा है।

ईश्वर करे भारत शीघ्र ही स्वतन्त्र हो और राज-समाजमें अपना समुचित स्थान ले ताकि भारतीय संस्कृति अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारको परिष्कृत करके पृथ्वीको अपवर्गकी अधिकारिणी मनुष्य-जातिके लिए उपयुक्त निवास-स्थान बनाये।

जालिपादेवी, काशी
३० मिथुन १९८१

सम्पूर्णानन्द

प्रथम खण्ड—पीठिका

पहिला अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय विधानकी परिभाषा और उसका स्वरूप

कोई शास्त्र हो, उसके आरम्भमें उसके विषयका स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है। यह स्पष्टीकरण तब ही हो सकता है जब विषयके पूरे-पूरे लक्षण बतला दिये जायँ अर्थात् उसके सामान्य और विशेष गुण बतला दिये जायँ ताकि उसके स्थानमें किसी अन्य विषयका भ्रम न हो जाय। इसीको सत्परिभाषा कहते हैं। इस दृष्टिसे अन्ताराष्ट्रिय विधानकी परिभाषा अबतक इस प्रकार रही है—अन्ताराष्ट्रिय विधान उन नियमों और प्रथाओंके समूहको कहते हैं जिनके अनुसार सभ्य राज एक दूसरेके साथ प्रायः बर्ताव करते हैं।

परिभाषा

हमारे शास्त्रमें अबतक एक विचित्रता रही है। अन्ताराष्ट्रिय विधानके विषयमें भिन्न-भिन्न आचार्योंके भिन्न-भिन्न मत हैं। इस मत-वैषम्यका कारण यह है कि कोई तो इसको विधानशास्त्र[1] का अङ्ग मानता है अर्थात इसको उसी दृष्टिसे देखता है जिस दृष्टिसे भिन्न-भिन्न देशोंके साधारण फौजदारी तथा दीवानीके विधानोंका विचार किया जाता है, और कोई इसको धर्मशास्त्रके उस विभागमें मिलाना चाहता है जिसे कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र[2] कहते हैं।

हमने अपनी परिभाषामें इन दोनों कठिनाइयोंसे बचनेका प्रयत्न किया है। हमने अन्ताराष्ट्रिय विधानको 'नियमों' का समूह बतलाया है, विधानों का नहीं। विधान (या कानून) के भीतर दो पदार्थ निहित रहते हैं—स्वत्व और कर्तव्य। 'क' को 'ख' के साथ एक निश्चित प्रकारका व्यवहार करना चाहिये, यह 'क' का कर्तव्य हुआ। इसके बदले, 'ख'को 'क'के साथ भी एक निश्चित प्रकारका ही व्यवहार करना चाहिये, यह 'क'का स्वत्व हुआ। यदि 'क' या 'ख' अपने निश्चित मार्गसे च्युत हो तो उसे 'दण्ड' मिलेगा। अतः विधान शब्दका प्रयोग करनेसे कर्तव्य, स्वत्व और दण्डकी ओर ध्यान जाता है। यह सब विवादास्पद प्रश्न हैं कि अन्ताराष्ट्रिय जगत्में किसी प्रकारके निश्चित कर्तव्य, स्वत्व और दण्ड हैं या नहीं। इसीलिए हमने इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है। 'नियम'के सम्बन्धमें यह सब आपत्तियाँ नहीं हैं। जिस ढङ्गपर बहुधा व्यवहार किया जाता है वह नियम कहलाता है, चाहे वह व्यवहार अपनी इच्छासे हो, चाहे किसी दण्डके भयसे। नियम शब्दके व्यवहारमें नियामककी अपेक्षा प्रतीत होती है। अर्थापत्तिसे ऐसा निकलता है कि किसीने किसी समय नियम बनाया। परन्तु अन्ताराष्ट्रिय विधानके कलेवरमें जो सामग्री अन्तर्भूत है उसमें ऐसा भी अंश है जिसके लिए नियमकी यह परिभाषा लागू नहीं होती। इसीलिए हमने प्रथा शब्द जोड़ दिया है। प्रथा, दस्तूर, चलनमें किसी प्रारम्भककी अपेक्षा नहीं होती। नीचेके अनुच्छेदोंमें जहाँ अकेले नियम शब्द आया हो वहाँ मान लेना चाहिये कि हमारे ध्यानमें प्रथाएँ भी हैं।

इस परिभाषाकी विशेषता

अन्ताराष्ट्रिय विधानको कहाँतक विधान कहना चाहिये, इस सम्बन्धमें चौथे अध्यायमें विस्तारसे विचार किया जायगा।

---

१ Jurisprudence

२ Ethics

हमने इन नियमोंके लिए किसी विशेषणका प्रयोग नहीं किया है। तात्पर्य यह है कि हम यहाँ इन नियमोंके औचित्य या अनौचित्यपर नहीं विचार करना चाहते। और चाहे जो कुछ मतभेद हो, पर इसको सभी आचार्य मानते हैं कि राजोंके परस्पर व्यवहारमें कुछ नियमोंका पालन होता है। यह नितान्त पृथक् प्रश्न है कि यह नियम कैसे बने, अच्छे हैं या बुरे और इनका पालन क्यों किया जाता है।

परिभाषाके दो और अंशोंको स्पष्ट कर देना आवश्यक है। हमने कहा है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान उन नियमोंका समूह है जिनके अनुसार 'सभ्य' राज एक दूसरेके साथ 'प्रायः' व्यवहार करते हैं। इस परिभाषामें 'सभ्य' और 'प्रायः' के प्रयोगका कारण बतलाना आवश्यक है।

जहाँ मनुष्य रहते हैं वहाँ समाज बन जाते हैं और जहाँ समाज होता है वहाँ किसी-न-किसी प्रकारका राज भी स्थापित होता है। असभ्यसे असभ्य देशोंमें भी मनुष्य समाज बनाकर रहते हैं और किसी न-किसी प्रकारके राज पाये जाते हैं। जहाँ पास-पास कई राज होंगे वहाँ उनमें किसी-न-किसी प्रकारका सम्बन्ध भी होगा। सम्बन्ध स्थायी हो या न हो पर आपसके व्यवहारमें वह कुछ-न कुछ नियम बर्तते ही होंगे। अतः जंगली देशोंमें भी किसी-न-किसी प्रकारका अन्ताराष्ट्रिय विधान पाया जायगा। यह बात अनुभवसिद्ध है। प्राचीनतम कालसे लेकर आजतक सभी देशोंमें अन्ताराष्ट्रिय विधान पाया गया है। परन्तु सभ्य और असभ्य राष्ट्रोंके व्यवहारमें बहुत अन्तर होता है। इस पुस्तकमें हम उन नियमोंपर विचार नहीं कर सकते जो भिन्न-भिन्न असभ्य समाजोंमें प्रचलित हैं। कुछ बातें ऐसी हैं जिनको सभ्य-असभ्य सभी मनुष्य स्वभावतः मानते हैं परन्तु असभ्य राष्ट्रोंके व्यवहारमें परस्परका वैषम्य बहुत है। इसके प्रतिकूल, सभ्य समाजका व्यवहार सर्वत्र एकसा है। यद्यपि जिन नियमोंका पालन आज सभ्य जगत्में हो रहा है उनके लिखित रूपका विकास मुख्यतः यूरोप और अमेरिकामें हुआ है पर यह देश, जाति, वर्ण, धर्म आदिकी अपेक्षा नहीं करते और सभी सभ्य राज इनके अनुसार चलते हैं।

यों तो सभ्य असभ्यका भेद स्थूल रूपसे सभी लोग समझते हैं परन्तु सभ्यताकी कोई निश्चित कसौटी नहीं निर्धारित की जा सकती। व्यवहारमें यह चलन है कि जिन लोगोंका रहन-सहन और न्यायालयोंका ढाँचा पश्चिमका अनुकरण करता है या पश्चिमी मान्यताओंके प्रतिकूल नहीं है वह सभ्य माने जाते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि जो बलवान् है उसको असभ्य कहनेका किसीको साहस नहीं होता। आचरण दृष्टया बड़ेसे बड़े सभ्यमान्य देश राग, द्वेष परस्वापहरण प्रवृत्ति, ईर्ष्या, और छलमें बर्बर जातियोंसे कहीं आगे हैं।

कोई विधान हो, उसका पालन सदैव नहीं होता; लोभादि कुप्रवृत्तियाँ मनुष्यको अन्धा कर देती हैं। उनके वशमें पड़कर वह कभी-कभी अपने देशके विधानोंकी अवहेलना कर बैठता है। परिणाम यह होता है कि उसे दण्ड मिलता है, पर कभी-कभी बच भी जाता है। इसी प्रकार कभी-कभी कोई राज्य उन्मत्त होकर स्वेच्छाचार कर बैठता है। बहुधा ऐसे राजको दण्ड मिल जाता है पर कभी-कभी वह बच भी जाता है। इससे विधानका अनस्तित्व सिद्ध नहीं होता पर ऐसी अवस्थाओं-को ध्यानमें रखकर ही 'प्रायः' शब्द लिखा गया है। सच तो यह है कि किसी बड़े राजको कुकर्म-का सद्यः फल स्यात् ही कभी मिलता है।

परिभाषा देते समय मैंने आरम्भमें यह लिखा है कि यह परिभाषा अबतक रही है। बात यह है कि कोई भी विधान हो उसके पीछे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे दण्ड लगा रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि राज ही दण्ड दे। पुष्ट और जागरूक लोकमत कभी-कभी राजसे कहीं अधिक

कड़ा दण्ड देता है, परन्तु राजोंको दण्ड देनेवाला कोई निश्चित व्यक्ति या व्यक्तिसमूह था ही नहीं। यदि किसी अनाचारीको दबानेमें अपना स्वार्थ देख पड़ा तो दूसरे राज उसे छेड़ते थे अन्यथा बलवान् स्वेच्छाचारी राजोंपर कोई अंकुश न था। संयुक्त राज संघटन[१]के स्थापित होने पर एक बार ऐसा लगा कि यह परिस्थिति बदल जायगी। इसमें अभी तो प्रायः सभी राज सम्मिलित हैं। इसके द्वारा पारस्परिक व्यवहारके लिए जो नियम बनें उनको मनवानेका भार भी इसने अपने ऊपर लिया है अर्थात् उनकी अवहेलना करनेवालोंको दण्ड मिलना चाहिये। ऐसी दशामें परिभाषाके 'प्रायः' शब्दके लिए कोई स्थान न रह जायेगा और अन्ताराष्ट्रिय विधान सचमुच 'विधान' बन जायेगा। परन्तु अब यह आशा निराधार-सी हो गयी है। कभी-कभी छोटे राजोंको भले ही दबा लिया जाय परन्तु बड़ोंके लिए यह तो कूटनीति और प्रचारका अखाड़ामात्र रह गया है। यहाँ 'विधान' शब्दका प्रयोग उन आचार्योंके मतानुसार किया गया है जो ऐसा मानते हैं कि 'विधान' उस आज्ञाको कहते हैं जिसके साथ दण्ड निहित होता है।

अब हमको देखना है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका क्षेत्र क्या है, कब-कब और कहाँ-कहाँ उससे काम लिया जा सकता है अर्थात् उसके क्षेत्रका देश और कालमें विस्तार क्या है। एक और महत्वपूर्ण प्रश्न है—उससे कौन काम ले सकता है, पर इसका विचार पृथक् अध्यायमें किया जायगा।

अन्ताराष्ट्रिय विधानका क्षेत्र

कालका प्रश्न सीधा है। विधानका उपयोग सब अवस्थाओंमें है। मनुष्योंके साधारण व्यवहारसे इसका उदाहरण मिलता है। सभ्य जातियोंमें शान्तिकालीन व्यवहारके लिए तो नियम हैं ही, लड़ाईतकके नियम होते हैं। शस्त्रहीनको न मारना चाहिये, पेटमें या कमरके नीचे चोट न करनी चाहिये, भागतेको न मारना चाहिये, यह सब सभ्य समाजमें व्यक्तिगत लड़ाईके नियम हैं। इसी प्रकार राजोंके भी नियम होते हैं। शान्तिकालीन व्यवहार तो नियमानुकूल होता ही है, युद्धके समय भी नियमोंका पालन होता है। शत्रुको कहाँतक क्षति पहुँचानी चाहिये, आहतों और बन्दियोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, प्राणदान कब और कैसे देना चाहिये, इत्यादिके विषयमें भी नियम विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि सदैव ही नियम बर्ते जाते हैं।

(क) काल

यों तो अन्ताराष्ट्रिय विधानके लिए कोई देशगत रुकावट नहीं है, परन्तु दो-एक बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं। अन्ताराष्ट्रिय विधान किसी देशके अन्तःशासनमें हस्तक्षेप नहीं करता। प्रत्येक सरकार अपने देशका शासन अपने ढंगपर करती है। यह विधान राजोंके ही बीचमें बर्ता जाता है, पर कभी-कभी एक असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। किसी राजविशेषको किसी अन्य राजकी प्रजामेंसे किसी व्यक्ति या समुदाय विशेषसे बर्तना पड़ जाता है। यह अवस्था दो प्रकारसे उत्पन्न होती है। जिस समय दो देशोंमें युद्ध होता है उस समय तटस्थ देशोंके निवासी दोनों लड़नेवाली सरकारोंके हाथ युद्धसामग्री बेच-बेचकर रुपया कमाते हैं। यह तो कोई सरकार चाहती ही नहीं कि मेरे शत्रुका बल बढ़े, इसलिए वह इस ताकमें रहती है कि जो जहाज शत्रुके हाथ युद्धसामग्री बेचने जाता हो वह पकड़ा जाय। इस प्रकार तटस्थ देशोंकी प्रजाके जहाजोंको पकड़ना अन्ताराष्ट्रिय विधानके विरुद्ध नहीं है। पकड़कर जहाजको अपने देशमें ले जाते हैं, वहाँ उसके स्वामीपर अभियोग चलाया जाता है और यदि वह अपराधी पाया जाय तो सारा माल जब्त कर लिया जाता है। यह सब भी अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुकूल है। वह तटस्थ

(ख) देश

[१] United Nations Organisation

राज जिसकी किसी प्रजाका माल जब्त किया जा रहा है, कुछ भी आक्षेप नहीं कर सकता। पर यदि वह राज जिसके न्यायालयमें अभियोग हुआ है, अर्थात् जिसने उस जहाजको गिरफ्तार किया है, किसी प्रकारकी अनुचित कार्यवाही कर बैठे तो तटस्थ राज अवश्य बीचमें पड़ेगा। यदि आपसमें शीघ्र समझौता न हो जाय तो लड़ाई छिड़ जानेकी सम्भावना है। अस्तु, यदि ऐसी कोई बात न हो तो अभियोगमें एक पक्षमें उस जहाज और मालका मालिक होगा और दूसरी ओर वह विदेशी राज।

दूसरा उदाहरण इससे भिन्न है। एक मनुष्य जिसकी कुछ सम्पत्ति अपने देशमें भी है, किसी पराये राजमें जाकर व्यापार करता है। वहाँ दैवात् उसका दिवाला निकल जाता है। अब उसपर इसी पराये राजके न्यायालयोंमें अभियोग चलेगा। यह सम्भव है कि उसके देश और इस देशके विधानोंमें अन्तर हो। न्यायालयके सामने यह प्रश्न है कि किस विधानसे काम लिया जाय। उसे अधिकार है कि अपने देशका ही विधान बर्ते पर वह यह भी कर सकता है कि दोनोंको मिला-जुलाकर काम चलाये। ऐसा करना कुछ बहुत कठिन नहीं है, क्योंकि आजकल सभी सभ्य देशोंके विधान एक दूसरेके सदृश होते जाते हैं। जिन सिद्धान्तोंसे ऐसे अवसरोंपर काम लिया जाता है उनको कभी-कभी 'वैयक्तिक अन्ताराष्ट्रिय विधान'[१] कहते हैं, क्योंकि यद्यपि यह सिद्धान्त सामान्य व्यक्तियोंके साथ बर्ते जाते हैं फिर भी यह सभी देशोंमें माने जाते हैं। आजकल तो अधिकांश सभ्य राजोंने आपसमें सन्धि करके कई विषयोंपर अपने यहाँ सर्वथा एकसे ही विधान बना लिये हैं। आजकल कई प्रकारकी सरकारी और गैर-सरकारी अन्ताराष्ट्रिय संस्थाएँ बन गयी हैं। इनके निश्चयों-के परिणामस्वरूप सभ्य देशोंमें बराबर विधान और नियम बनते रहते हैं। प्रकृत्या विधान और नियम एक दूसरेके सदृश होते हैं।

मनुष्यका जीवन, चाहे वह वैयक्तिक हो या सामूहिक किसी एक शास्त्रकी परिधिमें नहीं बाँधा जा सकता। उसके विभिन्न पहलू विभिन्न शास्त्रोंके अध्येतव्य विषय होते हैं और सबका एक दूसरेसे सम्बन्ध होता है। अन्ताराष्ट्रिय विधान मानव जीवनके एक अंशपर प्रकाश डालता है। यह अंश महत्वपूर्ण है परन्तु स्वतःकृत्स्न नहीं है।

शास्त्रोंके व्यापक अन्योन्याश्रयको ध्यानमें रखते हुए अन्ताराष्ट्रिय विधान और दो एक ही अन्य शास्त्रोंके सम्बन्धपर विचार करना यहाँ नितान्त आवश्यक है।

कुछ आचार्योंका कहना है कि यह विधान इसी शास्त्रकी नींवपर बना है। उनकी धारणा है कि न्याय और औचित्य सम्बन्धी कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जिनको सभी राष्ट्र स्वभावतः मानते हैं। इन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर पारस्परिक व्यवहारके नियम बनाये गये हैं। यह मत पूर्णतया समीचीन नहीं है। वस्तुतः अन्ताराष्ट्रिय विधान अर्थात् व्याव-हारिक नियमोंको किसीने बैठकर बनाया नहीं है। उनकी दशा ठीक व्याकरणके नियमोंकी-सी है। लोग कहते हैं—रामने रावणको मारा, मैंने देखा, भूखने सताया इत्यादि। वैयाकरण देखता है कि इन सब वाक्योंमें कर्त्तापदमें 'ने' वर्तमान है। बस, वह लिख लेता है कि अमुक प्रकारके वाक्योंमें प्रथमा विभक्तिका प्रत्यय 'ने' होता है। इस नियमको वह बनाता नहीं, बोलनेवालोंकी परिपाटी देखकर जान लेता है। इसी प्रकार जो मनुष्य स्वतन्त्र राजोंके पारस्परिक व्यवहारपर दृष्टि डालता है उसे ज्ञात हो जाता है कि यह राष्ट्र कुछ नियमोंका पालन करते आये हैं। न वैयाकरण इस बातके पीछे

अन्ताराष्ट्रिय विधानका कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्रसे सम्बन्ध

१ Private International Law

पड़ता है कि 'ने' कहाँसे आया, न अन्ताराष्ट्रिय विधानका विद्यार्थी इस बातकी जाँच करनेके लिए विवश है कि यह नियम कहाँसे आये। दोनों व्यावहारिक शास्त्र हैं और व्यवहार ही उनका मूल है। पारस्परिक व्यवहारके नियम अच्छे या बुरे जैसे भी हैं, उनके समुच्चयको अन्ताराष्ट्रिय विधान कहते हैं।

व्याकरणसे एक और भी समानता है। वैयाकरण नियमोंका कर्त्ता तो नहीं है पर वाक्-परीक्षक अवश्य है। जो मनुष्य प्रचलित परिपाटीके प्रतिकूल बोलता है उसका वाक्प्रयोग असाधु कहलायगा। 'रावणको रामने मारा' साधु प्रयोग है, पर 'रावणको राम मारा' असाधु प्रयोग है। इसी प्रकार यद्यपि अन्ताराष्ट्रिय नियमोंका कोई रचयिता नहीं है तथापि जो राज प्रचलित पद्धतिके अनुसार व्यवहार नहीं करता उसकी कार्यवाही 'अवैध' कहलाती है। जब दो राजोंमें मतभेद हो जाता है तो प्रत्येक यह दिखलानेका प्रयत्न करता है कि दूसरेने अन्ताराष्ट्रिय विधानकी अवहेलना की है। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका कर्तव्याकर्तव्यशास्त्रसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

पर एक बात है। यदि इन प्रचलित नियमोंपर दृष्टि डाली जाय तो ऐसा देख पड़ेगा कि इनमेंसे अधिकांश न्याय्य और युक्तिसंगत हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि किसीने धर्मशास्त्रको सामने रखकर इनकी सृष्टि नहीं की है पर मनुष्य प्रायः न्यायप्रिय है और उसका अनुभव उसे युक्तिसङ्गत और न्याय्य व्यवहारकी ओर झुकाता है। इसलिए व्यावहारिक नियम नैतिक सिद्धान्तोंके प्रायः अनुकूल होते हैं। न्याय और नीतिकी परिभाषा सर्वथा निर्विवाद नहीं है, और न सभ्य राष्ट्रोंमें इस विषयमें ऐकमत्य है। फिर भी कुछ आचार्योंका कहना है कि अन्ताराष्ट्रिय सदाचार कल्पित नहीं, प्रत्युत सत्य वस्तु है और हमको यह कहनेका अधिकार है कि अमुक काम सदाचारके अनुकूल है या प्रतिकूल।

वैयक्तिक जीवनसे इस बातका उदाहरण मिल सकता है। जाल-फरेब करना या किसी लिखे इकरारनामेसे मुकर जाना अपराध है। सरकारी न्यायालयोंमें इसके लिए दण्ड दिया जाता है; पर झूठ बोलना किसी कानूनमें मना नहीं है। झूठेको न कोई अपराधी कह सकता है, न दण्ड दिला सकता है। पर हम झूठेको अच्छा नहीं समझते। हम झूठ बोलनेको पाप कहते हैं और सदाचारविरुद्ध समझते हैं। इसी प्रकार लिखे सन्धिपत्रसे मुकर जाना तो अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें अपराध है पर किसी राष्ट्रकी दुर्बलतासे अनुचित लाभ उठाना अवैध नहीं है। पर इसको या इस प्रकारके दूसरे कामोंको कोई अच्छा नहीं कहता। यह अपराध तो नहीं है पर अन्ताराष्ट्रिय सदाचारके[1] विरुद्ध है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कर्तव्याकर्तव्यशास्त्र अन्ताराष्ट्रिय विधानका मूल तो नहीं है पर उसकी कसौटी निःसन्देह है। सम्भव है कि अब अन्ताराष्ट्रिय संघटनके स्थापित हो जानेके बाद अन्ताराष्ट्रिय विधानका आधार बदल जाय और वह कर्तव्याकर्तव्यशास्त्रकी नींवपर खड़ा किया जाय परन्तु ऐसा होनेके पहले न्याय और कर्तव्यके विषयमें अन्ताराष्ट्रिय लोकमतमें समता लानी होगी। इस समय ऐसा नहीं है। न्यायका आधार यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारका निर्बाध उपभोग कर सके। व्यक्तिके कुछ अधिकार तो ऐसे हैं जो उसको समाजके नियमों या राजके विधानोंसे प्राप्त होते हैं परन्तु कुछ ऐसे अधिकार भी हैं जो जन्मसिद्ध हैं। इनकी ओर अबतक बहुत कम ध्यान दिया गया है। उदाहरणके लिए, यह तो मान लिया गया है कि चोरी करनेवाले अर्थात् दूसरेकी सम्पत्तिपर हाथ डालनेवालेको दण्ड देना न्याय है पर

१ International Morality

यह बात भूल गयी कि प्रत्येक व्यक्तिको जीवित रहनेका जन्मसिद्ध अधिकार है। इस दृष्टिसे विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जबतक सबके लिए जीविकाका प्रबन्ध न कर दिया जाय तबतक चोरीके लिए दण्ड देना अन्याय है। इस समय अनेक विचारधाराओंमें जो संघर्ष चल रहा है उसकी तहमें इसी प्रकारके गम्भीर प्रश्न हैं। जबतक इनका सर्वमान्य निर्णय नहीं हो जाता तबतक कर्तव्याकर्तव्यकी कोई सर्वमान्य कसौटी नहीं बन सकती और अन्ताराष्ट्रिय विधानका भी स्थिर रूप नहीं बन सकता। अन्ताराष्ट्रिय शीलका क्षेत्र[१] भी इससे मिलता-जुलता है। आपसके व्यवहारमें राष्ट्र एक दूसरेके साथ कुछ ऐसी रीतियोंको बर्तते हैं जो विधान द्वारा बाध्य नहीं हैं। वैयक्तिक व्यवहारमें ही अतिथिसत्कार, बड़ों, बराबरवालों और छोटोंके साथ पत्र-व्यवहार आदिकी पद्धतियाँ, साथ भोजन करते समयके उपचार आदि न तो किसी कानूनके भीतर हैं, न इनका पुण्यपापसे कोई सम्बन्ध है। ऐसी ही बहुतसी परम्परागत बातें राष्ट्रोंके बीचमें बर्ती जाती हैं। यह केवल सभ्यताकी परिचायक हैं। इन्हींको अन्ताराष्ट्रिय शील कहते हैं।

कर्तव्याकर्तव्यविवेक दार्शनिक विचारका निष्कर्ष होता है। मनुष्य क्या है, चेतना भूत-संघातका आकस्मिक और अचिरस्थायी परिणाम है या नित्य स्वतः सिद्धपदार्थ, व्यक्ति और समाजका क्या सम्बन्ध है, जीवनका ध्येय अर्थात् पुरुषार्थ क्या है—यह सब दार्शनिक प्रश्न हैं। इनके उत्तरोंके आधारपर ही कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय हो सकता है। उस निर्णयको अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें भी अवतरित करना चाहिये। यह नहीं हो सकता कि एक व्यक्ति तो दूसरे व्यक्तिकी सम्पत्ति-की रक्षा करे परन्तु एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रकी सम्पत्तिका अपहरण करे। यदि कोई काम भेद-बुद्धिको बढ़ाता है, मनुष्यको मनुष्यसे दूर ले जाता है, तो वह बुरा है और बुरा काम बुरा हो रहेगा, चाहे उसे एक व्यक्ति करे चाहे एक राष्ट्र।

धर्म्माचार्य व्यक्तियोंके ईर्ष्या, लोभ, द्वेष आदिकी तो निन्दा करते हैं परन्तु राजोंके सम्बन्धमें मुँहपर ताला लगा लेते हैं। इतना ही नहीं, अपनी सरकारके घोर अन्यायमूलक युद्धोंकी भी प्रशंसा की जाती है और विजयके लिए ईश्वरसे प्रार्थना की जाती है। इस दम्भ और द्विधा-नीतिने अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारको कलुषित बना रक्खा है।

अन्तमें यह भी देख लेना चाहिये कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका स्थानीय विधानोंसे क्या सम्बन्ध है। यह हम पहिले भी कह चुके हैं कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका देशोंके भीतरी शासनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी जैसे गाँवकी पद्धतियोंका कौटुम्बिक जीवनपर और देशके विधानोंका ग्राम-जीवनपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधानका सभ्य देशोंके स्थानीय विधानोंपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यह प्रभाव लेखबद्ध नहीं है, कोई राष्ट्रविशेष इसको माननेपर विवश नहीं किया जा सकता। ऐसे बहुतसे अवसर उपस्थित होते हैं जब कि स्थानीय विधान और अन्ताराष्ट्रिय विधानमें प्रत्यक्ष विरोध देख पड़ता है। कभी-कभी ऐसे अवसर न्यायालयोंके सामने आते हैं। ऐसी स्थितिमें भिन्न-भिन्न न्याया-धीशोंकी भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं पर इंग्लैण्ड तथा अन्य कई देशोंका प्रचलित विचार यह प्रतीत होता है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान बाहरी व्यवहारमें मान्य होनेपर भी अनिवार्य नहीं है। कोई अन्ताराष्ट्रिय नियम कितना ही अच्छा क्यों न हो पर वह विधानोंकी गणनामें तभी आ सकता है जब वह एक बार पार्लमेण्ट तथा अन्य व्यवस्थापक संस्था द्वारा स्वीकृत हो जाय। जबतक ऐसा न हो तबतक न्यायालयकी दृष्टिमें

अन्ताराष्ट्रिय विधानका स्थानीय विधानोंसे सम्बन्ध

१ Comity of Nations

वह विधान नहीं है। इसीलिए ब्रिटिश साम्राज्यकी यह प्रथा है कि जब किसी उपयोगी अन्ताराष्ट्रिय नियमको अपने न्यायालयोंमें मान्य बनाना होता है तो उसे अपनी पार्लमेण्टके सामने रखकर स्वीकृत करा लेते हैं।

अमेरिकाके संयुक्त राष्ट्रकी प्रथा भिन्न है। वहाँ यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका स्थान स्थानीय विधानोंसे ऊँचा है और जहाँ दोनोंमें विरोध हो वहाँ अन्ताराष्ट्रिय विधानको ही श्रेष्ठ मानना चाहिये। विचार करनेपर यही प्रथा समुचित जान पड़ती है। देशके प्रत्येक कानूनका ग्राम-पञ्चायतकी बैठकमें स्वीकार किया जाना पागलपन है। अंश अंशीके बाहर नहीं जा सकता। स्थानीय विधानोंको अन्ताराष्ट्रिय विधानोंके सामने, जो कि सर्वदेशीय हैं, प्रधानता नहीं दी जानी चाहिये। इसमें अड़चन इतनी ही है कि देशके आभ्यन्तर कानूनोंका आधार सहयोग होता है और अन्ताराष्ट्रिय व्यवहार स्वार्थ और अविश्वासके सहारे चलता है। यह बात कहने-सुननेमें कटु है और कोई खुलकर इसका समर्थन करता भी नहीं परन्तु अबतकका अनुभव ऐसा ही है।

अस्तु, यह तो व्यवहारकी बात हुई, परन्तु व्यवहारके पीछे दार्शनिक विचार हैं। त्रीपेल और आँजिलाति जैसे कई विद्वानोंका मत है कि स्थानीय विधान और अन्ताराष्ट्रिय विधान एक दूसरेसे नितान्त भिन्न हैं। उनके तर्कका निचोड़ यह है कि स्थानीय विधानका सम्बन्ध व्यक्तियोंसे है, अन्ताराष्ट्रिय विधानका राजोंसे और स्थानीय विधान अनिवार्य्यतया मान्य होता है, अन्ताराष्ट्रिय विधानके लिए अधिकसे अधिक यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र राज उसका आदर करते हैं। दूसरी ओर केल्सन जैसे विद्वानोंका मत है कि विधान तो एक है, स्थानीय आदि उसके परिस्थितिके अनुरूप भेद-मात्र हैं।

मेरी सम्मतिमें यह दूसरा विचार ही समीचीन है। कानूनके पीछे कुछ सिद्धान्त होते हैं। मनुष्यके सहज अधिकार क्या हैं, क्या कर्तव्य क्या अकर्तव्य है इत्यादि। परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं और उनके अनुरूप प्रबन्ध भी करना पड़ता है परन्तु मूल सिद्धान्त एक रहता है। ग्राम्य-विधानसे लेकर अन्ताराष्ट्रिय विधानतकका आधार एक ही होना चाहिये। कार्य्यक्षेत्रमें भेद होनेके कारण स्वरूपमें भेद होगा ही पर मूलतः दोनों एक हैं।

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि प्राथमिकता किसको दी जाय। यह प्रश्न तभी उठ सकता है जब स्थानीय विधानको अन्ताराष्ट्रिय विधानसे भिन्न जातीय माना जाय। जब दोनोंका स्रोत एक है तो फिर व्यापक होनेसे अन्ताराष्ट्रिय विधानको प्राथमिकता होनी ही चाहिये। कोई स्थानीय विधान वहींतक मान्य हो सकता है जहाँतक कि वह अन्ताराष्ट्रिय विधानके विरुद्ध नहीं जाता।

ऐसा स्वीकार कर लेनेसे एक और समस्याका भी सुलझाव हो जाता है। इस बातकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि राज अन्ताराष्ट्रिय विधानोंको अपनी व्यवस्थापिकामें पारित करें तब वह मान्य हों। अन्ताराष्ट्रिय नियम स्वतः मान्य होने चाहिये।

यह सिद्धान्त तो प्रायः सर्वमान्य है और होता जाता है कि यदि कहीं अन्ताराष्ट्रिय और स्थानीय विधानोंमें वैषम्य हो तो वहाँ अन्ताराष्ट्रिय विधानको ही मानना चाहिये पर यह कठिनाई जरूर है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका स्वरूप अभी पूर्णतया निश्चित नहीं हो पाया है। कई बातोंके सम्बन्धमें भिन्न मत हैं जिनकी मान्यता राष्ट्रोंकी स्वार्थबुद्धिपर निर्भर करती है। ऐकमत्यका अभाव ही अन्ताराष्ट्रिय विधानको स्थानीय विधानोंके सामने दुर्बल बना देता है।

दूसरा अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय विधानका इतिहास

वस्तुस्थिति तो यह है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान लगभग उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव-समाज। मनुष्योंकी सृष्टि जब कभी और जिस किसी प्रकार हुई हो, वह कुछ दिनोंमें पृथक् समूहोंमें बँट गये। प्रत्येक समूहके स्त्री-पुरुष एक दूसरेको सम्बन्धी मानते थे, इसलिए कुटुम्ब, गोत्र आदिका भेद होते हुए भी एक दूसरेको 'अपना' समझते थे, एक समूहवालोंके लिए दूसरे समूहवाले 'पराये' थे। 'जाति', 'राष्ट्र' आदि शब्द समूहके पर्याय हो सकते हैं। इन समूहोंको एक दूसरेसे कई प्रकारके काम पड़ते रहे होंगे। और कुछ नहीं तो लड़ाईके तो बहुतसे अवसर आते रहे होंगे। जंगल, आखेटभूमि, उर्वराभूमि, नदीतट आदिके लिए मुठभेड़ होती रहती ही होगी। पहिले-पहिले तो किसी प्रकारके नियम रहे न होंगे पर धीरे-धीरे कुछ नियम बन ही गये होंगे। जब दो समूह एक दूसरेके पड़ोसमें रहेंगे तो यह असम्भव है कि वह सदैव लड़ते ही रहें, बीच-बीचमें शान्ति भी होगी। कभी-कभी इस बातकी आवश्यकता भी पड़ जायगी कि दोनों मिलकर अपनी रक्षा किसी तीसरे प्रबल समूहसे करें। इस प्रकार युद्ध, शान्ति, सन्धि आदिके नियम बन गये होंगे। जंगली देशोंमें भी ऐसे कुछ-न-कुछ नियम पाये जाते हैं। इनको अन्ताराष्ट्रिय विधानका मूल कह सकते हैं। उदाहरणतः, दूत सर्वत्र अबध्य माना जाता है।

अन्ताराष्ट्रिय विधानकी प्राचीनता

समाजशास्त्र और तुलनात्मक मनोविज्ञानसे इस विषयपर बहुत प्रकाश पड़ता है। जो भी प्राणी समूह या झुण्ड बनाकर रहते हैं उनमें बीजरूपसे कई ऐसे व्यावहारिक नियम पाये जाते हैं जिनके विकसित रूप हम मानव समाजमें अन्ताराष्ट्रिय तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विधानोंमें पाते हैं। बन्दरों, भेड़ियों, चीटियों, मधुमक्षिकाओं तथा अन्य कई प्राणियोंके सामूहिक जीवनके अध्ययन इस दृष्टिसे बड़े ही शिक्षाप्रद प्रतीत हुए हैं।

भारत, आसुरदेश (असीरिया), शल्दिया, मिस्र, चीन और ईरान पृथ्वीके अतिप्राचीन सभ्य देश थे। इनके धर्म, शिक्षा, कलाकौशल और व्यापारने किसी समय बड़ी उन्नति की थी। फलतः, इनको अपने व्यवहारमें अन्ताराष्ट्रिय नियम बर्तने ही पड़ते थे। एक ओर तो इन्हें आपसमें सम्बन्ध रखना होता था, दूसरी ओर अपने पड़ोसकी असभ्य जातियोंसे काम पड़ता था। भारतको ही लीजिये। आर्य नरेशोंको कई प्रकारके अन्ताराष्ट्रिय व्यापार करने पड़ते थे। एक ओर तो उनके आपसके व्यवहार—क्योंकि सारे भारतमें एकछत्र राज्य तो था नहीं, दूसरी ओर आसुर, चीनी, मिस्री जातियोंसे काम पड़ता था, तीसरी ओर भारतकी अर्द्ध सभ्य द्रविड़ जातियाँ थीं और चौथी ओर पूर्णतया असभ्य कोल, भील, गोंड आदि थे। यह तो असम्भव था कि आर्यगण नित्य सबसे लड़ते रहते। इसलिए उनको कई प्रकारकी सन्धियाँ तथा शान्तिमूलक नियम बर्तने पड़ते थे। इतना ही नहीं, लड़ाई तकके लिए नियम थे। यदि ऐसा न होता तो आर्यजाति कबकी लुप्त हो गयी होती। इन नियमोंके अनुसार जो कुछ होता था उसे धर्मयुद्ध कहते थे। आर्योंकी सभ्यताके प्रभावसे दैत्य और राक्षसतक

प्राचीन सभ्य समाज

इन नियमोंका पालन करते थे। हमको इन नियमोंका ज्ञान स्मृतियों, इतिहासों, पुराणों तथा नीति-ग्रन्थोंसे होता है। उदाहरणके लिए कौटिलीय अर्थशास्त्रका कुछ अंश परिशिष्टमें सानुवाद उद्धृत किया गया है। आर्योंके नियम अत्यन्त उदार थे। विजित शत्रुओंके राज्य प्रायः लौटा दिये जाते थे। शत्रुकी प्रजाको न तो प्राणोंका भय होता था, न लूटमारका। दास रखनेकी प्रथा अवश्य थी पर दासोंके साथ दुर्व्यवहार नहीं हो सकता था।

परन्तु यहाँ हमको यूरोपकी ओर अधिक ध्यान देना है क्योंकि वर्तमान अन्ताराष्ट्रिय विधानकी उत्पत्ति और वृद्धि यूरोपमें ही हुई है। यूरोपके सभ्य देशोंमें यूनान प्राचीनतम है। उसको मिस्रके सान्निध्यसे भी बहुत कुछ लाभ पहुँचा होगा। यूनान कई राज्योंमें विभक्त था। इन राज्योंमें कभी-कभी भीषण युद्ध होता था, परन्तु इनको यह बात विस्मृत न थी कि इन सब राज्योंकी जनता एक ही जातिकी है, एक ही भाषा बोलती है और एक ही धर्मको मानती है। यह लोग अपनेको हेलेनीज और दूसरोंको बार्बेरियन (बर्बर = अनार्य) कहते थे। कोई यवन (यूनान-निवासी) कैसा ही बुरा क्यों न हो, वह सारे संसारके बर्बरोंसे श्रेष्ठ था। अरस्तू ऐसे विद्वान्को भी धारणा थी कि ईश्वरने बर्बरोंको इसीलिए उत्पन्न किया है कि वह हेलेनीजके दास होकर रहें। इन विचारोंका परिणाम यह था कि यवन दो प्रकारके अन्ताराष्ट्रिय नियमोंको बर्तते थे—एक आपसमें, दूसरे बर्बरोंके साथ। जो नियम आपसमें बर्ते जाते थे वह उदार और सभ्य थे, जो बर्बरोंके साथ बर्ते जाते थे वह अनुदार और क्रूर थे।

यूनान

यूनानके पीछे रोम यूरोपीय सभ्यताका केन्द्र हुआ। वह सैकड़ों वर्षतक इस पदपर आरूढ़ रहा। यद्यपि कलाकौशल, काव्य, नाटक, दर्शनमें यूनानने बहुत उन्नति की थी, परन्तु राजनीति, शासन, सैन्ययोजना, विधान आदिमें रोमको यूरोपका आचार्य कहना अत्युक्ति न होगी। विधानके अन्य अंगोंकी भाँति अन्ताराष्ट्रिय विधानने भी रोममें ही जड़ पकड़ी।

रोम

रोमका ऐतिहासिक अनुभव यूनानसे भिन्न था। पहिले तो उसे इटलीके राज्योंसे लड़ना पड़ा। इन राज्योंके निवासी कई बातोंमें रोमन लोगोंसे मिलते-जुलते थे पर एक बात जो यूनानमें थी वह यहाँ न थी। यूनानका देश छोटा था अतः यवन राज्य बहुत पास-पास थे। इसके अतिरिक्त यूनान के लोग कुछ विशिष्ट देव-देवियोंकी पूजाके लिए तथा एकाध और अवसरोंपर एकत्र हुआ करते थे। इससे उनमें राज्यभेद होनेपर भी भाईचारा था। इटलीमें दोमेंसे एक भी बात न थी, इसलिए रोमको इन इटालियन राज्योंके साथ भी परायों जैसा ही बर्ताव करना पड़ा। दक्षिणमें प्रबल कार्थेज राज्य था। इससे रोमको कई बार लड़ना पड़ा। एक बार तो जानके लाले पड़ गये। उत्तर और पश्चिममें असभ्य फ्रैंक, गाल, कैल्ट आदि जातियाँ थीं। रोमने इनमेंसे कइयोंको जीता पर इनके भीतरी प्रबन्धमें हस्तक्षेप करना उचित न समझा। बहुधा इनके नरेश करद बनाकर छोड़ दिये गये। जो प्रान्त पूर्णतया रोमन साम्राज्यमें मिला लिये गये उनपर रोमन प्रान्ताधीश शासन करते थे। रोम दक्षिण और पूर्वमें यवन, यहूदी और मिस्री ऐसी सभ्य जातियोंपर राज्य कर रहा था। इसलिए रोममें कुछ अन्ताराष्ट्रिय नियमोंका बन जाना स्वाभाविक था।

इन नियमोंको अन्ताराष्ट्रिय विधान नहीं कह सकते। अन्ताराष्ट्रिय विधान तो तब होता जब रोमको अपने बराबरवालोंसे काम पड़ता। जिन दिनों रोमके साम्राज्यकी वृद्धि हो रही थी उन दिनों रोमने भी प्रायः यूनानकी नीतिका ही पालन किया था। विदेशियोंके साथ किसी विशेष सभ्यताके बर्तावकी आवश्यकता न समझी

राष्ट्रोंका विधान

जाती थी, केवल समयोचिततापर दृष्टि रहती थी। पीछेसे साम्राज्यके स्थापित हो जानेपर तीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई—

क—कभी-कभी रोम और उसके अधीनस्थ किसी राज्य या जातिमें मतभेद हो जाता था। दोनों पक्ष बराबरके न थे। रोम अधिपति था इसलिए उसकी आज्ञा मान्य थी पर नित्य मनमानी आज्ञा देना नीतिसम्मत न होता। इसलिए ऐसे अवसरोंके लिए कुछ व्यावहारिक नियमोंका पालन होने लगा।

ख—कभी-कभी दो अधीनस्थ राज्यों या जातियोंमें मतभेद और कलह खड़ा हो जाता था। इनको आपसमें लड़नेकी अनुज्ञा तो थी ही नहीं, दोनोंको रोमका निर्णय स्वीकार करना पड़ता था। ऐसे अवसरोंके लिए भी कुछ व्यावहारिक नियम बन गये थे।

ग—सबसे महत्वके वह अवसर थे जब एक रोमन और एक अरोमनमें दीवानी या फौजदारीका झगड़ा हो जाता था। दीवानीके झगड़े विशेष महत्वके थे। रोमका विधान 'नागरिक विधान'[1] कहलाता था पर रोमके बाहर यह प्रचलित न था। इससे बड़ी कठिनाई पड़ती थी। यदि रोमन विधानके ही अनुसार निर्णय किया जाता तो बाहरवालोंके साथ अन्याय होता अतः रोमन विधायकोंने एक युक्ति निकाली। उन्होंने इटली और उसके आसपासके देशोंके विधानों और रीतियोंका अनुशीलन करके एक विधान-संग्रह बनाया जिसे 'राष्ट्रोंका विधान'[2] कहते थे।

यह भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंके विधानोंके आधारपर बना था, इसलिए इसे उन विधानोंका महत्तम समापवर्तक कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत वह विधान थे जो न्यूनाधिक रूपमें सर्वत्र मान्य थे। इस विधान-संग्रहसे उन्हीं अवसरोंपर काम लिया जाता था जब कि वादी-प्रतिवादी दोनों अ-रोमन हों या उनमेंसे एक अ-रोमन हो, क्योंकि रोमवाले अपने नागरिक विधानको पवित्र समझते थे और परस्पर व्यवहारमें उसे ही बर्तते थे। धीरे-धीरे राष्ट्रोंके विधानने आगे पाँव बढ़ाया। उसके सिद्धान्त इतने न्याय्य प्रतीत होने लगे कि नागरिक विधानपर भी उसकी छाया पड़ने लगी। या तो वह इतना तुच्छ समझा जाता था कि केवल असभ्य जातियाँ उसकी पात्र थीं या उसने रोमके निजी विधानका ही रूप परिवर्तित कर दिया। इस 'युस जेंशियम'[2] को कई अंशोंमें वर्तमान अन्ताराष्ट्रिय विधानका पूर्वरूप कह सकते हैं।

समय पाकर इसको एक और नाम या विशेषण दिया गया। रोमन शास्त्रियोंकी विचारधाराने यह रूप धारण किया कि जब यह विधान एक देशीय नहीं वरन् सर्वराष्ट्रमान्य है तो यह उन विधानों, नियमों तथा प्रथाओंकी अपेक्षा जो किसी एक समाजमें ही प्रचलित हैं—अधिक स्वाभाविक होगा। अतः वह इसको 'प्राकृतिक विधान' (युस नैचुराल[3]) भी कहने लगे।

एक दिन रोम साम्राज्यका भी अन्त हो गया। उसका पश्चिमी भाग कई छोटे-बड़े स्वतन्त्र राज्योंमें बँट गया ; पूर्वी भागपर अब भी एक रोमजातीय सम्राट् शासन करता था। इस पूर्वीय साम्राज्यकी राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ थी जिसे आजकल इस्तम्बूल कहते हैं। इस समयको यूरोपियन इतिहासका तमोयुग कहते हैं। चारों ओर घोर विप्लव छाया हुआ था। न कोई नियमको देखता था, न न्यायको पूछता था। बीचमें कुछ कालके लिए फिर अधिकार केन्द्रीभूत हुआ। पोपने जर्मनीके सम्राट्को 'रोमन

रोमन साम्राज्यके विध्वंसके पीछेका काल

१ Jus civile (युस सिवील)

२ Jus Gentium (युस जेंशियम)

३ Jus Naturale (Law of Nature)

सम्राट्‌की उपाधि दी। धर्म और राजनीतिके मेलने उद्दण्डताको कुछ कम किया। पर यह बात भी बहुत दिनोंतक न निभ सकी। मेल टूट गया। साम्राज्यका नाममात्र अवशिष्ट रह गया। उसके कई टुकड़े हो गये। इंग्लैण्ड तो पृथक् था ही, फ्रांस, आस्ट्रिया, हंगरी भी पृथक् हो गये। स्वयं जर्मनीमें कई छोटे-बड़े राज्य थे। यही दशा इटलीकी थी। पोलैण्ड, स्वीडन और रूसका बल बढ़ रहा था। उधर नैऋ त्य कोणपर स्पेन अत्यन्त समृद्ध हो गया था। यह तो राज्योंका नाम कीर्तन हुआ। प्रत्येक राज्यमें कई बड़े-बड़े सामन्त (जागीरदार) थे। यह अपनी जागीरोंमें राजसी ठाटसे रहते थे। सामन्त सामन्तका शत्रु था, राजा राजाका शत्रु था। इस झगड़े में प्रजा बेचारी पिसी जाती थी, दीनोंका कोई सहायक न था। नरेश अपने-अपने स्वार्थ या वैर-परिशोधके लिए लड़ाइयाँ ठान देते थे फिर चाहे कोई जीते, कृषक और व्यापारी लूटे-मारे जाते थे, स्त्रियोंके साथ अत्याचार होता था और देश उजाड़े जाते थे। इस घोर अन्धकारके समयमें केवल एक प्रदीप टिमटिमा रहा था। ईसाई धर्म इन नरपशुओंकी कुछ रोक-थाम करता था। बहुतसे धर्माध्यक्ष स्वार्थी और विषयी हो गये थे पर धर्मका आतङ्क वही था। किसी नरेशको यह साहस न होता था कि प्रत्यक्ष रूपसे पोपकी अवज्ञा करे। यह ठीक है कि पोप तथा उनके अनुयायी भी बहुधा नरेशोंसे मिल जाते थे पर उनको यह अभीष्ट न था कि नरेश बहुत बलवान् हो जायँ, इसलिए वह समय-समयपर बीचमें पड़कर प्रजाकी रक्षा भी कर देते थे। मार्टिन लूथरने पोपके मार्गमें भी एक अड़चन डाल दी। उन्होंने प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायको जन्म दिया। अब झगड़े और बढ़े। धार्मिक द्वेषने उनको और दुःसाध्य बना दिया। उसपर विपत्ति यह थी कि अब कोई बीचमें पड़नेवाला भी न रहा।

यह ऐसा समय था जब कि अन्ताराष्ट्रिय विधानकी बहुत बड़ी आवश्यकता थी पर दुर्भाग्यवशात् इसका अस्तित्व नहींके बराबर था। तीन ग्रन्थकारोंने इस विषयपर पुस्तकें लिखीं। पहिली पुस्तक सन् १५८२ में प्रकाशित हुई। उसके लेखक बाल्थज़र अयला थे। उसका नाम दि ज्यूरे ए आफिसिइस बेलिसिस[१] था। दूसरी पुस्तक सन् १५९८ में प्रकाशित हुई। उसके लेखक आल्बेरिकस जेन्टाइलिस थे। उसका दि ज्यूरे बेलि लाइब्रि त्रेस[२] नाम था। तीसरी पुस्तक सन् १६१० में प्रकाशित हुई। उसके लेखक फ्रांसिस्का सुआरेज़ थे। उसका नाम था त्रैक्तेतस दि लिजिबस ए दिओ लेजिस्लेतोरे[३]। इन सब ग्रन्थकारोंने इस महत्वपूर्ण विषयपर न्यूनाधिक प्रकाश डाला पर इनका प्रभाव इतना न पड़ा कि तत्कालीन राजनीतिक जगत्‌में कोई बड़ा परिवर्तन देख पड़ता।

भगवान्‌की कृपासे यह अभाव भी दूर हुआ। अन्ताराष्ट्रिय विधानके सच्चे आचार्यका जन्म उपर्युक्त पुस्तकोंमेंसे पहिली पुस्तकके प्रकाशित होनेके लगभग एक साल पीछे सन् १५८२ में हुआ। उनका नाम ह्यूग वान ग्रूट था पर उनकी ख्याति ह्यूगो ग्रोशिअस[४] नामसे अधिक है। वह हालैण्डके निवासी थे। उन दिनों हालैण्डवाले अपनी धार्मिक तथा राजनीतिक स्वाधीनताके लिए स्पेनसे लड़ रहे थे। ग्रोशिअसने युद्धकी विपत्तियाँ अपनी आँखोंसे देखी थीं। वह बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। थोड़े ही वयमें उनकी प्रसिद्धि हो गयी। वह सार्वजनिक कामोंमें भी भाग लेते थे। फलतः सन् १६०८ में वह पकड़े गये

ग्रोशिअस

---

१ De Jure et Officiis Bellicis by Balthazar Ayala

२ De Jure Belli libri tres by Albericus Gentilis

३ Tractatus de legibus ac deo legislatore by Franciseo Suarez

४ Huig van Groot (Hugo Grotius)

और उनको आजन्म कैदका दण्ड दिया गया। तीन वर्ष पीछे उनकी स्त्रीने उनके छुटकारेकी युक्ति निकाली। वह पुस्तकोंके बहाने एक सन्दूकमें बन्द होकर बाहर निकल आये। जेलसे भागकर पेरिस पहुँचे। फ्रांसके नरेशने उनको कुछ वृत्ति देना स्वीकार किया पर रुपया स्यात् ही कभी ठीक समयपर मिलता था। सन् १६३५ में वह स्वीडनकी महारानीकी ओरसे फ्रांसमें राजदूत नियुक्त हुए। सन् १६४५ में समुद्र मार्गसे कहीं जा रहे थे कि जहाज डूब गया। वह किनारे तो पहुँच गये पर स्वास्थ्य नष्ट हो गया। उसी साल उनका देहान्त हो गया।

जिस पुस्तकके कारण उनकी ख्याति सर्वत्र फैल गयी उसका नाम था डि ज्यूरे बेलि एक पासिस[१] (युद्ध और शान्तिका विधान)। वह सन् १६१५ में प्रकाशित हुई। उन दिनों ग्रोशिअस बड़े कष्टमें थे। बच्चोंके सामान्य भरण-पोषणका भी प्रबन्ध नहीं था। प्रकाशकसे उन्हें पारिश्रमिकस्वरूप २०० प्रतियाँ मिलीं। इनमेंसे वह बेचारे कुछको बेच पाये पर जो मूल्य मिला वह बहुत ही कम था।

पुस्तक छपते ही प्रसिद्ध हो गयी। विद्वानोंने ही नहीं प्रत्युत नरेशों और राज-पुरुषोंने भी इसका आदर किया। स्वीडनका विजयी नरेश गस्टेवस ऐडोल्फस[२] एक प्रति सदैव अपने पास रखता था। इसके प्रकाशनके पीछे उन दिनों सभी युद्धों और सन्धि-पत्रोंमें इसके सिद्धान्तोंका अनुसरण किया गया। इसने राजनीतिक जगत्का कायापलट कर दिया। एक जगह उन्होंने लिखा है—"मैंने सारे ईसाई जगत्में युद्धविषयक ऐसी स्वेच्छाचारिता देखी जिससे जंगली जातियाँ भी लज्जित होती थीं। छोटी-छोटी बातोंपर या विना किसी कारणके ही लड़ाई छेड़ दी जाती थी। जब एक बार युद्ध आरम्भ हो जाता था तो दैवी और मानवी विधानोंका इस प्रकार अनादर किया जाता था कि जैसे लोगोंको सभी प्रकारके अपराध बे-रोक-टोक करनेकी आज्ञा मिल गयी हो।" उनको इस बातका श्रेय है कि यह बात जाती रही। सब मनुष्योंकी प्रकृति सात्विक नहीं हो गयी पर बहुत-सी कुरीतियाँ जो पृथ्वीको नरकतुल्य बनाये हुए थीं दूर हो गयीं।

अब देखना यह है कि यह नयी शिक्षा क्या थी जो यूरोपके सामने रखी गयी। ह्यूगो ग्रोशिअसके उपदेशका सारांश यह था—जिस प्रकार मानव व्यक्तिसमाजके सदस्य हैं उसी प्रकार व्यक्तिसमूह अर्थात् राष्ट्र भी समाजके सदस्य हैं। बिना समाजके मनुष्यका जीवन पशुओं जैसा हो जायगा। राष्ट्र-समाजके प्रत्येक सदस्यके कुछ स्वत्व और कर्तव्य हैं। यह अधिकार किसी राष्ट्रको नहीं है कि वह मनमाना आचरण करे। चाहे युद्ध हो चाहे शान्ति, राष्ट्रोंका परस्परका व्यवहार अवैध और अनुचित कदापि न होना चाहिये। यह ठीक है कि न तो सब राष्ट्रोंपर कोई एक अधिपति है, न सबका कोई एक धर्मगुरु है कि जिसका आदेश सब मानें, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राष्ट्रोंके पास अपने आचरणके औचित्य तथा अनौचित्य जाँचनेकी कसौटी नहीं है। एक कसौटी है। ईश्वरने प्रत्येक मनुष्य, कम-से-कम प्रत्येक सभ्य मनुष्यके हृदयमें एक ऐसी शक्ति रख दी है जो उसे बतलाती रहती है कि क्या उचित है और क्या अनुचित। इस विवेकशक्ति या तर्क-शक्तिसे जो नियम सिद्ध होते हैं उनको 'युस नैचुराल' (प्राकृतिक विधान) कहते हैं। सब राष्ट्रोंका परस्पर व्यवहार इसी प्राकृतिक विधानके अनुसार होना चाहिए। इस सिद्धान्तके अनुसार ग्रोशिअसने बहुतसे व्यावहारिक

ग्रोशिअसका उपदेश

---

१ De Jure Belli ac Pacis

२ Gustavus Adolphus

नियम भी बतलाये। उनका उल्लेख यथास्थान होगा। उन्होंने यह भी दिखलाया कि यह नियम रोमके युस जेंशियम (राष्ट्रोंके विधान) के अनुकूल थे।

ग्रोशिअसकी सफलताके तीन प्रधान कारण थे—(१) उस समयके विद्वानोंकी सभी रोमन बातोंके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। विधि विधानके विषयमें तो रोम एक मात्र आदर्श था। इसलिए जब ग्रोशिअसने युस जेंशियमके नामपर दुहाई दी तो सारा विद्वद्दल उनकी ओर आ गया। (२) प्राकृतिक विधानका नाम बड़ा हृदयग्राही था। प्राकृतिक विधान क्या वस्तु है यह तो कोई सोचता न था पर लोग यह सुनते आये थे कि इस नामका कोई तत्व है जिसके प्रतिकूल चलनेसे मनुष्य मनुष्यतासे गिरकर पशुवत् हो जाता है। इसलिए जब ग्रोशिअसने प्राकृतिक विधानको सदाचरणकी कसौटी बनाया तो सब ही उधर झुके। एक बात और थी। यदि प्राकृतिक विधानके नामपर ग्रोशिअसने कोई बड़े आदर्श-स्वरूप नियम उपस्थित किये होते जिनका पालन करनेमें बहुत स्वार्थत्याग और धार्मिकताकी आवश्यकता होती तो स्यात् लोग तत्पर न होते। पर ऐसा न करके उन्होंने वही नियम सामने रखे जो रोमनकालसे चले आते थे और अब भी यदा-कदा पालित होते थे। सिद्धान्तकी दृष्टिसे इनका कोई विरोधी न था; भेद इतना ही हुआ कि अब ग्रोशिअसने इनको अनिवार्य बतलाया। (३) लोग उच्छृङ्खलतासे ऊब गये थे। सभी ऐसा मार्ग ढूँढ़ रहे थे जिससे जीवनकी विकरालता कुछ कम हो। ग्रोशिअसकी पुस्तकका निकल जाना काकतालीय लाभ हो गया।

ग्रोशिअसकी सफलताके कारण

यह तो सब मानते हैं कि ग्रोशिअसने यूरोपियन जगत्का बड़ा उपकार किया पर आजकल 'प्राकृतिक विधान' के सिद्धान्तपर आक्षेप किया जाता है। यह कहा जाता है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका वास्तविक मूल राष्ट्रोंका ऐकमत्य है। जिस परिपाटीको अधिकांश राष्ट्र स्वीकार कर लें वही अन्ताराष्ट्रिय विधान हो जायगा। यदि आज किसी कारणसे सभ्य राष्ट्रोंमें युद्धके बन्दियोंकी नाक काट लेनेकी प्रथा चल पड़े तो यह भी अन्ताराष्ट्रिय विधानके अन्तर्गत हो जायगी। उस समय जो राष्ट्र नाक काट लेगा वह कानूनके अन्दर होगा। हाँ, यदि कोई राष्ट्र किसी दूसरे अंगको कटवा ले तो उसका व्यवहार निःसन्देह अवैध होगा अतः आपसके व्यवहारकी कसौटी कोई कल्पित प्राकृतिक विधान नहीं प्रत्युत् राष्ट्रोंकी स्वीकृति है। यह आक्षेप न्याय्य है और एक प्रकारसे ग्रोशिअसने भी इसे मान लिया था, क्योंकि उन्होंने जिन नियमोंका पालन करनेका आदेश किया वह वही थे जो अधिकांश राष्ट्रोंको मान्य थे और जिनमेंसे कुछको रोमन विधायकोंने बहुतसे राष्ट्रोंकी प्रथाओंका अनुशीलन करके स्थिर किया था।

प्राकृतिक विधान

दूसरा आक्षेप दार्शनिक है। मनुष्यके हृदय या मस्तिष्कमें किसी विशिष्ट विवेकशक्तिका होना असिद्ध है। आग सबको उष्ण लगती है, बर्फ सबको ठंढी लगती है, पर एक ही काम सबको भला या बुरा नहीं लगता। किसी देशमें नर-मांस खाना भी बुरा नहीं समझा जाता, किसी समाजके लोग मांसमात्रको त्याज्य मानते हैं। सब राष्ट्रोंका पुण्य-पाप तथा कार्य्य-अकार्य्यका विचार एकसा नहीं है। अतः यह नहीं माना जा सकता कि ईश्वरने सबको कोई ऐसी शक्ति-विशेष दे रखी है जिससे उचित अनुचितका निश्चय हो सके। हाँ, यह ठीक है कि अधिकांश सभ्य मनुष्य कुछ कामोंको अच्छा और कुछको बुरा मानते हैं। पर इससे किसी प्राकृतिक विधानका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इन लोगोंका बुद्धिविकास प्रायः एकसा ही हुआ है। सबने एकसी ही शिक्षा पायी है अतः इनके व्यवहारों और विचारोंमें भी समता है। यह हम अवश्य कह सकते हैं कि जो

व्यवहार वर्तमान कार्य्याकार्य्य विचारके अनुकूल हैं वह उचित हैं, जो प्रतिकूल हैं वह अनुचित हैं। पर हम इन विचारोंको प्राकृतिक नहीं कह सकते, न हमको इन्हें ईश्वर-प्रेरित कहनेका अधिकार है।

व्यावहारिक दृष्टिसे यह आक्षेप न्याय्य है पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई ऐसा कर्ममार्ग हो ही नहीं सकता जो अचल हो। बाह्य क्रियाओंके रूपोंमें समय-समयपर भेद होते रहते हैं पर उनका एक ऐसा मूल है जो स्थिर और असन्दिग्ध है। वह मूल 'तार्किक शक्ति' नहीं है। तर्क तो अप्रतिष्ठित है। उस मूल, उस निश्चल तत्वका नाम है 'आत्मज्ञान'। जो निष्ठा मनुष्योंको मोक्षोन्मुख ले जाती है वही सच्ची कर्मनिष्ठा, खोटे-खरे कर्मोंकी सच्ची कसौटी है। जो परिपाटी जीव-जीवके परस्परके भेदको मिटानेमें समर्थ हो वही उचित परिपाटी है। जो विधान जितना ही 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'के सिद्धान्तके अनुकूल होगा वह उतना ही 'प्राकृतिक' होगा।

कार्य्याकार्य्य-की सच्ची कसौटी

मोक्षका अर्थ है छुटकारा, स्वातन्त्र्य। स्वर्गसुख मोक्ष नहीं है। अतः जो कार्यप्रणाली मोक्षको आदर्श मानकर चलेगी उसमें यह गुण अवश्य होंगे—

वह सदैव इस बातको अपना लक्ष्य बनायेगी कि प्रत्येक राष्ट्र अधिकसे अधिक स्वाधीनता-का उपभोग करे। इससे अराजकता नहीं फैल सकती। अराजकता तब फैलती है जब कि एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह दूसरोंकी स्वाधीनतामें विघ्न डालने चलता है, पर मोक्षमूलक कार्यप्रणालीका दूसरा लक्षण यह होगा कि प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके बराबर माना जायगा, न कोई बड़ा होगा न छोटा।

युद्ध आदिके अकस्मात् छिड़ जानेपर भी यह सदैव स्मरण रखा जायगा कि दूसरोंको कमसे कम कष्ट दिया जाय। 'आत्मनः प्रतिकूलानि मा परेषां समाचरेत्' ही व्यवहारकी कुञ्जी होगी।

दूसरोंको जो कुछ दण्ड दिया भी जायगा वह प्रतिहिंसाके भावसे नहीं वरन् उनके सुधार-के उद्देश्यसे।

सहयोग ही व्यवहारका लक्ष्य होगा और सत्य तथा अहिंसा उसके साधन होंगे।

अन्ताराष्ट्रिय विधान जीवोंको मुक्त नहीं बना सकता; पर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसमें राष्ट्र राजनीतिक और आर्थिक तथा मानसिक और नैतिक स्वाधीनताका उपभोग करें। इसका परिणाम व्यक्तियोंपर पड़े बिना नहीं रह सकता। अतः अन्ताराष्ट्रिय विधान वह परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसमें जीवोंको शान्ति मिले और यदि वह चाहें तो अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकें। इस दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि अन्ताराष्ट्रिय विधान जीवोंके सच्चे आध्यात्मिक कल्याणका एक अवान्तर साधन हो सकता है।

आज इन बातोंका माननेवाला कोई नहीं है। हम अन्योन्याश्रित हैं; सबके भलेमें अपने राष्ट्रका भी भला है, इन सिद्धान्तोंको सामूहिक जीवनमें स्थान नहीं है। सम्भव है भारत महात्मा गांधीकी सरणिको आगे चलकर अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारका अभेद्य अंग बनवा सके।

अस्तु, यह तो दार्शनिक सिद्धान्तकी बात हुई। ग्रोशिअसके पीछे प्यूफेण्डार्फ, वेटेल आदि कई विद्वानोंने इस विषयपर पुस्तकें लिखीं। कोई ग्रोशिअसके मतसे सहमत हुआ, किसीने विरोध किया। आजकल लोग 'प्राकृतिक-विधान' की सत्ता माननेको प्रस्तुत नहीं हैं। विद्वानोंकी सम्मति यह है कि जिन-जिन नियमोंका पालन हो रहा है वह सभ्य राष्ट्रोंकी प्रथाओंके अनुसार बने हैं। इन प्रथाओंकी उत्पत्ति दर्शनशास्त्रके सिद्धान्त सामने रखकर नहीं हुई है। राष्ट्रों-

को जिन बातोंमें सुविधा देख पड़ी है उन्हींका उन्होंने अवलम्बन किया है। लूट-मारकी बात लीजिये। पहिले विजित देशकी प्रजा लूटी जाती थी और गाँव-के-गाँव जला दिये जाते थे। इसमें कई प्रकारकी असुविधाएँ होती थीं। जो आज विजेता है वही कल विजित हो सकता है, फिर उसके सिरपर भी वही आपत्ति आयेगी। इन्हीं सब अनुभवोंके कारण धीरे-धीरे लूट-मारकी प्रथा उठ गयी। अब विजित देशमें लूट-मार न करना और नगर तथा गाँवोंको अग्निसात् न करना अन्ताराष्ट्रिय विधानका अङ्ग बन गया है। इसी प्रकार अन्य नियमोंकी भी सृष्टि हुई है। अतः जिस पद्धतिको सब या अधिकांश सभ्य राष्ट्र स्वीकार कर लेते हैं वही अन्ताराष्ट्रिय विधानके अन्तर्गत हो जाती है। ऐसे विधानको ग्रोशिअस राष्ट्रोंका 'विहित विधान' (इंस्टिट्यूटेड लॉ[1]) और वैटेल 'सिद्ध विधान' (पाजिटिव्ह लॉ[2]) कहते हैं।

वर्तमान काल-के विचार

परन्तु आजकल सभ्य देशोंमें बुद्धिका जैसा कुछ विकास हुआ है उसके अनुसार मनुष्यकी विवेचनाशक्ति कुछ कामोंको कार्य्य अर्थात् अच्छा और कुछको अकार्य्य अर्थात् बुरा समझने लगी है। यह विवेचनाशक्ति अपनी तीव्र दृष्टि सर्वत्र डालती है। धार्मिक कृत्य, विवाहादि संस्कार, भोजनपान, सम्पत्ति-विभाग, दण्डविधान, शासनपद्धति आदि जीवनके सभी अङ्गोंकी आलोचना की जाती है और जो बातें बुरी प्रतीत होती हैं उनके स्थानमें अच्छी बातोंके रखनेका प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार, अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारके भी कुछ नियम तो अच्छे और कुछ बुरे कहे जा सकते हैं और जो बुरे हैं उनके स्थानमें अच्छे नियमोंसे काम लिये जानेका प्रयत्न किया जा सकता है। यह अच्छे-बुरेका निर्णय बुद्धि-विकासपर निर्भर है अतः जो नियम आज अच्छा लगता है सम्भवतः वही कल बुरा जँचने लगे, पर प्रत्येक समयमें कुछ ऐसे नियम अवश्य होंगे जो सर्वथा बुद्धिसंगत प्रतीत होंगे। इन्हींके समूहको ग्रोशिअसके शब्दोंमें 'प्राकृतिक विधान' (नैचुरल लॉ[3]) और वैटेलके शब्दोंमें 'आवश्यक विधान' (नेसेसरी लॉ[4]) कहते हैं।

कोई विधान हो जबतक वह लेख-बद्ध नहीं होता तबतक उसका रूप अनिश्चित रहता है। केवल विद्वानोंकी पुस्तकोंसे काम नहीं चल सकता। इनका महत्व चाहे कितना ही हो पर यह राजोंको बाध्य नहीं कर सकतीं। राज उन्हीं लेखोंसे बाध्य होते हैं जिनपर उनके प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर होते हैं। ऐसे लेखोंको सन्धिपत्र या समय-पत्र (कॉव्हेनैण्ट[5]) कहते हैं।

अन्ताराष्ट्रिय विधान-संग्रह

सब सन्धियोंका महत्व एकसा नहीं होता। जो सन्धियाँ दो राजोंके आपसके झगड़ोंके मिटानेके लिए होती हैं उनमें स्यात् ही कोई ऐसी बात हो सकती है जो सबके कामकी हो। पर कभी-कभी ऐसी सन्धियाँ होती हैं जिनमें कई बड़े राष्ट्र सम्मिलित होते हैं। ऐसे सन्धि पत्रोंमें सिद्धान्तकी बातें लिखी जाती हैं और ऐसे नियम बनाये जाते हैं जिनको माननेकी सभी सम्मिलित राष्ट्र प्रतिज्ञा करते हैं। ऐसे सन्धिपत्रोंके सग्रहको अन्ताराष्ट्रिय विधान-संग्रह कह सकते हैं। इनमें जो बातें निश्चित होती हैं उनको प्रायः वह राज भी मान लेते हैं जिनके हस्ताक्षर नहीं होते। इस विषयपर

१ Instituted Law
२ Positive Law
३ Natural Law
४ Necessary Law
५ Covenant

एक और अध्यायमें भी विचार किया जायगा। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा। सन् १८६८ में लेनिनग्राडमें एक समयपत्र लिखा गया जिनको 'सेण्टपीटर्सबर्गकी घोषणा'[१] (उस समय रूसकी राजधानी लेनिनग्राडका नाम सेण्टपीटर्सबर्ग था) कहते हैं। इसमें यह निश्चय हुआ कि अब युद्धमें ऐसी गोलियोंसे काम न लिया जाय जो शरीरके भीतर जाकर फूट जाती हैं, क्योंकि इनसे सिपाहियोंको व्यर्थका कष्ट होता है। इसपर पहिले-पहिले केवल १८ राजोंके प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर थे, पर आज इसको सभी राज मानते हैं। यह एक लेखबद्ध विधान हो गया है।

अन्ताराष्ट्रिय व्यवस्थापक सभा, हेग-सम्मेलन

अब अन्ताराष्ट्रिय विधानके लिए एक वस्तुकी कमी रह गयी, कोई निश्चित विधाता न था। आवश्यकता इस बातकी थी कि कोई ऐसी संस्था हो जो आवश्यक विधान बनाये और जिसकी आज्ञाएँ सर्वमान्य हों। ऐसी संस्था सब राष्ट्रोंके मेलसे ही बन सकती थी क्योंकि कोई एक अधिपति तो है नहीं। एक प्रकारसे यह अभाव भी पूरा हुआ।

रूस जार द्वितीय निकोलस शान्तिप्रिय मनुष्य थे। उनको वर्तमान कालके युद्धोंकी भीषणता और तत्सम्बन्धी आर्थिक अपव्यय देखकर दुःख होता था। इसलिए उन्होंने (१४ अगस्त १८९८) को यह इच्छा प्रकट की कि सब राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंका एक महासम्मेलन हो जिसमें 'सच्ची और स्थायी शान्ति स्थापित करने और सेना-वृद्धि घटानेके उपायों' पर विचार किया जाय। स्थायी सन्धि तो स्थापित हो नहीं सकी पर युद्ध-सम्बन्धी कई नियम बन गये। यह सम्मेलन सन् १८९९ (हालैण्डकी राजधानी) में हुआ। २६ राष्ट्रोंके प्रतिनिधि आये थे। सम्मेलनने कई उपयोगी नियम बनाये जिनका यथास्थान कथन होगा। उठनेके पहले प्रतिनिधियोंने कई ऐसे विषयोंका उल्लेख किया जो इस बार निर्णीत न हो सके थे और यह इच्छा प्रकट की कि दूसरी बार सम्मेलन करके इनपर विचार किया जाय।

दूसरा सम्मेलन भी हेगमें हुआ सन् १९०७ में। इस बार ४४ राजोंके प्रतिनिधि आये थे। इसमें भी कई आवश्यक बातें निश्चित हुईं और शेषके सम्बन्धमें यह इच्छा प्रकट की गयी कि तृतीय सम्मेलनमें उनपर विचार किया जाय। इसके दूसरे साल लन्दनमें एक सम्मेलन हुआ। इसमें समुद्र-युद्ध-सम्बन्धी कई आवश्यक प्रश्नोंपर विचार और निश्चय हुआ।

प्रसिद्ध अमेरिकन दानवीर स्वर्गीय श्री ऐण्ड्र्यू कार्नेगीने सम्मेलनके लिए हेगमें एक विशाल और सुसज्जित भवन भी बनवा दिया है।

ऊपर जो संक्षिप्त वर्णन दिया गया है उससे विदित होता है कि हेग-सम्मेलन एक प्रकारकी अन्ताराष्ट्रिय व्यवस्थापक सभा थी। सभी प्रधान राष्ट्रोंके प्रतिनिधि इसके सदस्य थे। कुछ ऐसे भी राष्ट्र थे जिनके प्रतिनिधि नहीं आये थे पर वह छोटे और अल्प-महत्वके थे। यह ठीक है कि जिस समयपत्रपर उनके हस्ताक्षर न थे उनको माननेके लिए वह बाध्य न थे पर इस बातकी बहुत ही कम सम्भावना थी कि कोई छोटा राज किसी ऐसे आचरणके करनेका साहस करेगा जो प्रमुख राजोंकी इच्छाके प्रतिकूल हो। तात्पर्य यह है कि हेगमें निर्धारित नियम सभी राजोंको मान्य थे चाहे उनके प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित रहे हों चाहे न रहे हों।

हेग सम्मेलनके व्यवस्थापक-संस्था होनेमें केवल दो त्रुटियाँ थीं। एक तो यह कि उसके अधिवेशन अनिश्चित थे। पहिला सम्मेलन सन् १८९९ में हुआ, दूसरा आठ वर्ष पीछे १९०७ में, तीसरा स्यात् १९१५, १६ तक होता पर प्रथम महासमरने ऐसा अवसर ही न दिया। व्यवस्थापक-

१ The Declaration of St. Petersburg. 1868

सभाकी स्थायी संस्था होनी चाहिये, यह नहीं कि जब सदस्योंकी इच्छा हुई तभी अधिवेशन हो गया।

दूसरी त्रुटि इससे बड़ी थी। मान लिया कि बहुतसे उत्तम-उत्तम विधान बन गये पर यदि कोई राज उनको न माने तो उसके साथ क्या किया जाय? सम्मेलनके पास कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जिससे वह किसी उच्छृङ्खल राजको दण्ड दे सकता। उसके सदस्य-राज पृथक्-पृथक् चाहे जो करें पर स्वयं सम्मेलनके पास किसी प्रकारका बल न था।

यूरोपीय महायुद्धने राष्ट्रोंकी आँख खोल दी। अधिक दोषी कौन था, यह हम नहीं कह सकते। पहिले बन्दूक किसीने चलायी हो पर अपराधी सब थे। अमेरिकाके राष्ट्रपति श्री वुडरो विल्सनने सोचा कि कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिससे भविष्यत्में युद्ध न हों या बहुत कम हों। राष्ट्र-संघ उन्हींके विचारोंका परिणाम था। जो लोग समाचारपत्रोंको पढ़ते रहते हैं वह उसके स्वरूपसे परिचित हैं। सभ्य राष्ट्रोंका एक संघ बन गया था। उसके समयपत्रको राष्ट्र-संघका समयपत्र[१] कहते हैं। राष्ट्र-संघमें पृथ्वीके सभी प्रधान राजोंके प्रतिनिधि थे, पर विचित्र बात यह थी कि जिस अमेरिकाके राष्ट्रपति विल्सनने इसकी नींव डाली वही इसका सदस्य नहीं बना। कई कारणोंसे अमेरिकन सिनेटने संघकी सदस्यता अस्वीकार कर दी।

राष्ट्र-संघ

नियम यह था कि जिस राजका शासन स्थिर हो और संघके नियमोंका पालन करनेके लिए तैयार हो वह सदस्य हो सकता है। जर्मनी, रूस और बल्गेरिया, जो मित्रदलसे लड़े थे, उस समय सदस्य हो सकते थे जब इनके व्यवहारसे इस बातका विश्वास हो जाय कि अब यह उन्मार्गगामी न होंगे। और जो कोई राज सदस्य होना चाहता वह सदस्योंकी दो तिहाई सम्मतियोंसे चुना जा सकता था।

अमेरिकाके निकल जानेसे एक बड़ी हानि हुई। संघ चार महास्वार्थी राजोंके हाथमें आ गया। इनके नाम हैं ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान। इनको 'चतुर्महत्'[२] कहने लग गये थे। यह अन्य सदस्योंको जैसा नाच चाहते नचाते थे। कितनी बातें यह आपसमें निश्चित कर डालते थे जिनकी दूसरोंको रत्तीभर सूचना नहीं होती थी। फिर जब वह निश्चय संघकी बैठकमें रखा जाता था तो बड़ोंके अनुचित दबावमें पड़कर सबको उसे स्वीकार करना होता था। अस्तु, संघके खुलनेके यह उद्देश्य बतलाये गये थे—

"युद्ध न छेड़नेके कर्तव्यको स्वीकार करने, राष्ट्रोंके लिए खुले, न्याय्य और प्रतिष्ठित सम्बन्धोंको निश्चित करने, सरकारोंके व्यवहारमें अन्ताराष्ट्रिय विधानके नियमोंको दृढ़तापूर्वक आचरण-विधि बनाने, न्यायको बनाये रखने और संघटित जन-समुदायोंके परस्पर व्यवहारमें सब सन्धिजन्य कर्तव्योंका पूर्णतया पालन करनेके द्वारा अन्ताराष्ट्रिय सहयोगकी वृद्धि और अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और रक्षाकी प्राप्तिके लिए...[३]

राष्ट्र-संघके उद्देश्य

---

१ Covenant of the League of Nations

२ The Big Four

३ In order to promote international co-operation and to achieve international peace and security by the acceptance of obligations not to resort to war, by the prescription of open, just and honourable relations between nations, by the firm establishment of the understandings of inter-

यहाँ हम केवल उन्हीं धाराओंका भावार्थ देते हैं जिनका हमारे विषयसे विशेष सम्बन्ध है।

राष्ट्र-संघके समय-पत्रकी कुछ धाराएँ

पहली धाराके द्वारा संघके सदस्योंके प्रतिनिधियोंकी एक स्थायी सम्मति बनायी गयी और उसके लिए एक स्थायी कार्यालय स्थापित करके स्थायी कार्यकर्ता नियुक्त किये गये।

सातवीं धाराके द्वारा यह कार्यालय जेनीवा नगरमें खोला गया।

बारहवीं धाराके द्वारा यह निश्चय हुआ कि यदि संघके दो या अधिक सदस्योंमें कोई ऐसा मतभेद उत्पन्न हो जाय जो आपसमें न तय हो तो वह संघकी स्थायी समिति (कौंसिल आव दि लीग[१]) के सामने रखा जाय। समिति छः महीनेके भीतर उसपर अपनी रिपोर्ट देगी। निर्णय करनेके लिए यथासम्भव पंच चुने जायँगे। पंचोंको अपनी रिपोर्ट बहुत शीघ्र देनी होगी। यदि उभय पक्ष पंचोंके निर्णयको मान लें तो ठीक ही है पर यदि वह न मानें तब भी निर्णयके प्रकाशित होनेके तीन मासके भीतर युद्ध न होगा।

चौदहवीं धाराके द्वारा एक स्थायी अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय स्थापित किया गया।

सोलहवीं धारा द्वारा यह निश्चय हुआ कि यदि संघका कोई सदस्य उपर्युक्त बारहवीं धाराका उल्लंघन करके युद्ध छेड़ दे तो यह माना जायगा कि वह संघके सभी सदस्योंसे लड़ना चाहता है। इसलिए सभी राज उससे सब प्रकारके व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध तोड़ देंगे और अपनी-अपनी प्रजाको उसकी प्रजासे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखने देंगे। इतना ही नहीं, इस बातका भी प्रयत्न किया जायगा कि जो राज संघके सदस्य नहीं हैं वह भी उसका बहिष्कार कर दें। स्थायी समिति यह भी निश्चित करेगी कि उसके विरुद्ध सैनिक बलका किस प्रकार प्रयोग किया जाय।

इस समयपत्रपर पहिले बेल्जियम, बोलिविया, ब्रिटिश साम्राज्य [और उसके पाँच प्रधान अंग अर्थात् कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका और भारत (!!)], चीन, क्यूबा, जेकोस्लौवाकिया, इक्वेडोर, फ्रांस, यूनान, ग्वाटिमाला, हैटी, हजाज, होण्डुरास, इटली, जापान, लाइबीरिया, निकारागुआ, पनामा, पेरू, पोलैण्ड, पुर्तगाल, रूमानिया, सर्बिया, स्याम और युरुग्वेके हस्ताक्षर थे।

ऐसे प्रामाणिक पत्रको रद्दी कागज कहनेका साहस नहीं होता। हम ऊपर लिख चुके हैं कि अमेरिकाके निकल जानेसे संघ अपने आदर्शसे गिर गया था और चार स्वार्थी राजोंके हाथकी कठपुतली हो गया था। परन्तु स्वार्थमूलक मेल बहुत दिनोंतक नहीं ठहरता।

इन बातोंका एक ही परिणाम हो सकता था और वही हुआ। राष्ट्र-संघके द्वारा छोटे राजोंके कुछ झगड़े निपटाये गये परन्तु ऐसी एक भी समस्या न सुलझायी जा सकी जिसमें किसी बड़े राजके हितको किसी प्रकारकी ठेस लगती हो। संघकी नियमावलीमें एक महत्वपूर्ण शर्त यह थी कि उसके सामने ऐसा कोई मामला पेश न हो सकेगा जिसका सम्बन्ध किसी सदस्यकी स्वाधीनता या इज्जतसे हो और इस बातका निर्णय कि मामलेका सम्बन्ध स्वाधीनता या इज्जतसे है या नहीं प्रत्येक राजपर छोड़ दिया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े राज जिस प्रश्नको विवादसे बचाना चाहते थे उसके लिए उनका इतना कहना पर्याप्त था कि यह हमारी प्रतिष्ठाका मामला है।

---

national law as the actual rule of conduct among governments and by the maintenance of justice and a scrupulous respect for all treaty obligations in the dealings of organized peoples with one another......

१ Council of the League of Nations.

संघके स्थापित होनेके कुछ दिन बाद उसमें रूस और जर्मनी सम्मिलित हुए। कुछ वर्षोंके बाद दोनोंने उसे छोड़ दिया। जापानने चीनके मंचूरिया प्रान्तपर कब्जा कर लिया यद्यपि दोनों ही संघके सदस्य थे। किसीने चीनकी सहायता न की। कुछ दिनोंके बाद संघको सदस्यतासे कोई लाभ न समझकर जापानने उसकी सदस्यता छोड़ दी। जब इटलीने अबिसीनियापर आक्रमण किया तो अबिसीनियाने इस मामलेको संघके सामने उपस्थित किया। यह निश्चय हुआ कि इटलीसे सभी राज सम्बन्ध विच्छेद कर लें। इस निश्चयके बाद भी ब्रिटिश व्यापारी इटलीके हाथ मिट्टीका तेल और पेट्रोल बेचते रहे। अबिसीनिया हार गया और सारे अबिसीनियापर इटलीका कब्जा हो गया। ऐसी बातोंने छोटे राजोंका विश्वास संघपरसे बिलकुल उठा दिया।

शान्तिको स्थापित करने और सुरक्षित रखनेमें संघ नितान्त असफल रहा। अब वह टूट गया। द्वितीय महासमरके बाद अब विजेताओं और उनके सहायकोंके सहयोगसे संयुक्त राज-संघटन स्थापित हुआ है। यदि यह जीवित रह जाता और बड़े राजोंके स्वार्थका साधन न बनाया जाता तो इसके द्वारा निश्चय ही अन्ताराष्ट्रिय शान्तिकी स्थापना और रक्षा होती परन्तु लक्षण कुछ ऐसे देख पड़ते हैं कि इस नवजात शिशुकी भी असामयिक मृत्यु होगी। इसके संचालनका भार विशेष रूपसे संयुक्त-राज और रूसपर है परन्तु शान्तिके इन अभिभावकोंमें गहरा संघर्ष चल रहा है। इस समय रूस और अमेरिका जिस प्रकार एक दूसरेके विरुद्ध राजनीतिक चालें चल रहे हैं उससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि नये महासमरकी तैयारी हो रही है और यह महासमर भी शीघ्र ही छिड़नेवाला है। जो विवादग्रस्त प्रश्न संघके सामने गये उनका भी संतोषजनक सुलझाव नहीं हुआ। भारत और दक्षिण अफ्रीकाके मामलेमें निर्णय भारतके पक्षमें हुआ पर अभीतक दक्षिण अफ्रीकाकी सरकारने उसे नहीं माना है। कश्मीरका प्रश्न जहाँका-तहाँ पड़ा हुआ है।

संयुक्त राज संघटन महत्त्वपूर्ण विषय है अतः इसपर किंचित विशद विचार चौथे अध्यायमें होगा।

तीसरा अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र

जिन लोगोंके लिए कोई विधान बनाया जाता है, जिन लोगोंके साथ वह बर्ता जाता है वह उसके पात्र कहलाते हैं। अब देखना यह है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र कौन लोग हैं।

पात्रोंके भेद

इस प्रश्नका आंशिक उत्तर तो पहिले अध्यायमें दिया जा चुका है। यह विधान राजोंके बीचमें ही बर्ता जाता है। व्यवहार और सब आचार्योंके मतने यह भी निश्चय कर दिया है कि स्वाधीन अर्थात् पूर्ण प्रभुत्वयुक्त राज वस्तुतः पात्र हैं। यह उचित ही है। समाजके कामोंमें भाग लेनेका अधिकार उन्हीं लोगोंको होता है जो प्राप्तवयस्क हैं और किसी-न-किसी प्रकारके अनवैध अर्थात् कानूनसम्मत स्वतन्त्र व्यवसायसे अपनी जीविका चलाते हैं। पागल, चोर, डाकू आदिको समाज कोई अधिकार नहीं देता। पर लड़कोंको आंशिक अधिकार रहता है। वह न तो प्राप्तवयस्क होते हैं न स्वतन्त्र, पर बहुत-सी बातोंमें उनका लिहाज़ किया जाता है। उनके अभिभावकके सिर निश्चित दायित्व होता है। इसी प्रकार कई अर्द्ध-प्रभु, पराधीन राज ऐसे हैं जो अन्ताराष्ट्रिय विधानके अंशतः पात्र हैं। किसी-किसी अवस्थामें यह विधान ऐसे समुदायों और व्यक्तियोंपर भी लागू होता है जिनको किसी दृष्टिसे 'राज' नहीं कह सकते। इस अध्यायमें इन सब भिन्न-भिन्न प्रकारके पात्रोंका विचार होगा।

सबसे पहिले हम उन राजोंको लेते हैं जिनका पात्रत्व निर्विवाद है अर्थात् स्वाधीन राज। यहाँ इन दोनों शब्दोंकी परिभाषापर विचार कर लेना आवश्यक है। राजनीतिशास्त्रका एक बहुत

'राज' शब्दका अर्थ

बड़ा भाग इसी परिभाषापर विचार करता है। यहाँ हम शास्त्रार्थमें प्रवेश न करके वह अर्थ सामने रखना चाहते हैं जो प्रायः सर्वसम्मत है। पहिले विशेष्य अर्थात् 'राज' को लीजिये। 'राज उस राजनीतिक समुदायको कहते हैं जिसके अङ्ग[1] किसी एक ऐसे अधिकारीके अधीन हों जिसकी आज्ञाएँ उनमेंसे अधिकांश अनायास माना करते हों।'

इस परिभाषामें कई महत्वपूर्ण शब्द हैं जिनका अर्थ भली-भाँति समझ लेना चाहिये। जो समुदाय 'राजनीतिक' नहीं है वह राज नहीं कहला सकता। किसी धार्मिक सम्प्रदायमें चाहे एक करोड़ उपासक हों पर वह राज नहीं कहा जायगा। सब लोगोंका एक अधिकारीके अधीन होना आवश्यक है चाहे वह अधिकारी एक व्यक्ति हो या बहुतसे व्यक्तियोंका समूह। यह भी आवश्यक है कि अधिकांश मनुष्य उसकी आज्ञा मानते हों। 'अधिकांश' इसलिए कहा गया है कि प्रत्येक समुदायमें कुछ पागल, चोर, जुआरी (और कभी-कभी साधु-महात्मा) होते हैं जो अवज्ञा करते रहते हैं या उस समुदायके प्रति उदासीन रहते हैं। इसके अतिरिक्त, कभी-कभी कोई ऐसा राजनीतिक दल भी हो सकता है जो स्थापित सरकारकी अवज्ञा कर रहा हो। 'अनायास' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि कोई देशी या विदेशी किसी समुदायके लोगोंको पशुबलका प्रयोग करके दबा ले और उनसे अपनी इच्छाके अनुसार काम कराये। ऐसा

---

१ जिन लोगोंके एकत्र होनेसे कोई समुदाय बनता है, वह उसके अंग कहलाते हैं।

समुदाय राज नहीं कहा जा सकता। हाँ, यदि सब लोग उस अधिकारीके अधीन रहना हृदयसे स्वीकार कर लें या कम-से-कम बिना बलप्रयोगके ही उसकी बात मान लिया करें तो वह समुदाय 'राज' हो जायगा।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दीमें जिस 'राज्य' शब्दका बहुधा प्रयोग किया जाता है उसके और 'राज्य' के अर्थमें भेद है। राज्य शब्द तीन अर्थोंमें प्रयुक्त हो सकता है—(क) जो भूभाग किसी राजके अधीन हो, (ख) जो भूभाग किसी नरेशके अधीन हो और (ग) जितने दिनोंतक कोई नरेश शासन करे। इस पुस्तकमें यह शब्द बराबर पहिले अर्थमें ही प्रयुक्त होगा। भारतमें अधिकांश राजोंके अधिकारी नरेश ही होते आये हैं इसलिए प्रायः (क) और (ख) में कम अन्तर प्रतीत होता है पर अन्य देशोंकी वर्तमान स्थिति देखकर अर्थ-भेद समझ लेना अच्छा है। यदि किसी राज्यके पैतृक प्रधान अधिकारीकी ओर संकेत करना होगा तो हम 'राजा' शब्दके स्थानमें नरेशका प्रयोग करेंगे। यह ध्यानमें रखना होगा कि आजकल भारतमें राजकी जगह राज्य शब्द ही व्यवहारमें आ रहा है।

'राज्य' का अर्थ

प्रधान शब्द 'राज'की परिभाषा तो हो चुकी, अब उसके विशेषणोंको देखना है। 'स्वाधीन' के अर्थपर विचार करनेके पहिले हमको 'प्रभु' और 'प्रभुत्व' के अर्थको समझ लेना चाहिये। यद्यपि इस विषयमें बहुत मतभेद है कि राजके कर्तव्य क्या-क्या हो सकते हैं पर गोल शब्दोंमें इतना सब मानते हैं कि राजको चाहिये कि समुदायकी सर्वप्रकारेण रक्षा करे और उसकी उत्तरोत्तर उन्नति करे। इस कर्तव्यके पालनके लिए राजको समय-समयपर नाना प्रकारके साधनोंसे काम लेना पड़ेगा। इन सब साधनोंसे काम लेनेके अधिकारको 'प्रभुत्व'[1] कहते हैं। जिस राजको पूर्ण 'प्रभुत्व' प्राप्त है वह अपने समुदायके हितके लिए जब जो चाहेगा वह करेगा। वह अपने राज्यमें चाहे जैसे विधान बनाये, चाहे जैसे कर लगाये, राज्यके बाहर चाहे जिससे युद्ध छेड़ दे, युद्धके अन्तमें चाहे जैसी सन्धि करे। तात्पर्य यह है कि वह किसी दूसरे राज (या समुदाय) की बात माननेके लिए बाध्य नहीं है। रूस, भारत, चीन इस प्रकारके राजोंके उदाहरण हैं। ऐसे राजोंको पूर्णप्रभु, स्वाधीन या स्वतंत्र राज[2] कहते हैं।

'प्रभुत्व' का अर्थ

'स्वतंत्र' का अर्थ

ऐसे भी राज हैं जिनको पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त नहीं है। वह कई काम तो अपनी इच्छाके अनुसार कर सकते हैं पर अन्य बातोंमें उनको किसी दूसरे राजकी इच्छाके अनुकूल चलना पड़ता है। भारतके देशी राजोंको ही लीजिये। इनमें बड़े-से-बड़ा राज भी न तो किसी से युद्ध कर सकता था न सन्धि। उसे ब्रिटिश राजका मुँह ताकना पड़ता था। हाँ, भीतरी शासन—जैसे शिक्षा, लगान, न्याय इत्यादि—में इनको पूर्ण अधिकार था, ऐसे राजोंको अर्द्ध-प्रभु[3] या अंशप्रभु[4] कहते हैं। कोई-कोई इनको अर्द्ध-स्वतन्त्र[5] कहते हैं पर विधानशास्त्रके आचार्योंकी रायमें यह संज्ञा ठीक नहीं है, 'स्वातन्त्र्य अविभाज्य है'। जब किसी अधीन राजको खुश करना होता है तो उसको अर्द्ध-स्वतन्त्र कह दिया जाता है।

'अंशप्रभु'का अर्थ

---

१ Sovereignty
२ Independent States
३ Semi-Sovereign
४ Part-Sovereign
५ Semi-Independent

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे विदित है कि राजके प्रभुत्वका आश्रय या अधिष्ठान सारा समुदाय है। परन्तु यह असम्भव है कि प्रत्येक अवसरपर सारा समुदाय सब काम करे। समुदायकी ओरसे अर्थात् उसके नामसे कुछ लोग काम करते हैं। साधारण बोल-चालमें इनको ही (चाहे यह कोई एक व्यक्ति या नरेश हो या व्यक्तिसमूह अर्थात् पार्लमेण्ट हो) राजका प्रभु कहते हैं। इस सम्बन्धमें राजनीतिशास्त्रमें 'दृष्टप्रभु' (नामिनल साव्हरेन[१]) शब्दका प्रयोग होता है।

'दृष्टप्रभु'का अर्थ

हमारे कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि स्वतन्त्र राज पूर्णतया स्वेच्छाचारी होते हैं। उनको कुछ तो अपने-अपने समुदायके अङ्गोंके नैतिक, आर्थिक और धार्मिक विचारोंका लिहाज करना पड़ता है, कुछ अन्य राजोंके बलाबलको देखना पड़ता है और कुछ सभ्य जगत्के लोकापवादसे भी डरते रहना पड़ता है। स्वाधीनताका अर्थ यही है कि किसी परराज-विशेषकी आज्ञाएँ नित्यमान्य न हों। ऐसा कोई राज नहीं हो सकता जो पूर्णतया स्वेच्छाचारी हो। अपने आभ्यन्तर शासनमें प्रजावर्गके साथ चाहे जैसी मनमानी बरती जाय परन्तु बाहर तो कुछ रोकथाम रहती ही है। किसी-न-किसी राजसे किसी-न-किसी प्रकारकी सन्धि होती है, उस हदतक तो अपने आचरणपर अंकुश लगाना ही पड़ता है।

स्वतन्त्र राजोंकी स्वेच्छाचारितामें रुकावटें

इतना ही नहीं, यदि यह मान लिया जाय कि राजके ऊपर कोई अंकुश नहीं हो सकता अर्थात् पूर्ण प्रभुत्व प्रत्येक राजका जन्मजात अधिकार है तो फिर कभी अन्ताराष्ट्रिय शान्ति हो ही नहीं सकती। राष्ट्र-संघ इसी लिए टूट गया कि उसके आरम्भमें ही यह मान लिया गया कि ऐसे प्रश्नोंपर जो किसी राजकी प्रतिष्ठा और स्वाधीनतासे सम्बन्ध रखते हों विचार न किया जायगा और प्रत्येक राज स्वयं इस बातका निर्णय करेगा कि कौनसे प्रश्न उसकी स्वाधीनता या प्रतिष्ठासे सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार यह माना जाता है कि नागरिक स्वतन्त्रता वहींतक है जहाँतक दूसरोंकी स्वतन्त्रतामें बाधा न पड़े उसी प्रकार राजोंकी प्रभुतापर भी नियन्त्रण मानना होगा। राष्ट्र व्यक्तिसे बड़ा है, इसी प्रकार राष्ट्रसमूहका हित और उसका अधिकार पृथक् राजोंके हितों और अधिकारोंसे बड़ा है।

उपर्युक्त परिभाषाओंसे यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि स्वतन्त्र राज किसे कहते हैं, पर केवल स्वतन्त्र राज होना ही पर्याप्त नहीं है। अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पात्रताके लिए कुछ अवान्तर गुण भी होने चाहिये। पहिले गुणका नाम सभ्यता है। सभ्यताकी परिभाषा बहुत कठिन है। भारतीय, चीनी, अंग्रेज अपने-अपनेको सभी सभ्य समझते हैं, सभी अपनी सभ्यताको सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। इनके आचार-विचारमें बहुत अन्तर है। पर आजकल पाश्चात्य देशोंकी बन आयी है इसलिए सभ्यताका अर्थ पाश्चात्य ढङ्गकी सभ्यता हो रहा है। यह आवश्यक है कि जो राज अन्ताराष्ट्रिय विधानसे लाभ उठाना चाहे वह न्यूनाधिक सीमातक पाश्चात्य ढङ्गपर चले। यह दशा सदैव नहीं रहेगी। पाश्चात्य सभ्यतामें घुन लग चुका है और मनुष्य सार्वभौम सभ्यता और संस्कृतिकी ओर झुकता प्रतीत होता है।

पात्रताके लिए आवश्यक अवान्तर गुण

दूसरा अवान्तर गुण राज्य है। यह सम्भव है कि कुछ अत्यन्त सभ्य मनुष्योंका समुदाय, जो किसी एक अधिकारीका अनन्य आज्ञाकारी हो, खानाबदोशोंकी भाँति एक स्थानसे दूसरे स्थानपर घूमा करता हो। ऐसा समुदाय विधानका पात्र नहीं माना जा सकता। पात्रताके लिए

१ Nominal Sovereign

किसी निश्चित भूभागपर बसा रहना आवश्यक है। तीसरा गुण यह है कि जो पात्र बनना चाहे वह स्वयं अन्ताराष्ट्रिय विधानके नियमोंका पालन करे। चौथा गुण स्थायित्व है। यह तो किसी राज या अन्य मानव संस्थाके लिए नहीं कहा जा सकता कि वह चिरकाल तक रहेगी परन्तु जो राज पात्र बनता है उसकी परिस्थिति ऐसी होनी चाहिये जिससे कि उसके स्थायित्वकी आशा की जा सके। यह सम्भव है कि किसी गाँवके निवासी परम सभ्य हों और वह स्वाधीन भी हों, पर यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह गाँव बहुत दिनतक स्वाधीन रह सकेगा। वह युद्ध या किसी अन्य प्रकारसे अवश्य किसी बड़े राजका टुकड़ा हो जायगा; अतः वह अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र नहीं हो सकता। इन सब बातोंपर विचार करके हॉलने पात्रके यह लक्षण बतलाये हैं—यदि किसी समुदायका उस भूमिपरके, जिसपर वह बसा हुआ है, सब मनुष्यों और वस्तुओंपर समष्टिरूपसे निर्विवाद और अनन्य अधिकार है, यदि वह अपने बाहरी व्यवहारमें किसी अन्य समुदायकी इच्छाके अधीन नहीं है और अन्ताराष्ट्रिय विधानके नियमोंका पालन करता है और यदि उसके अस्तित्वके स्थायी होनेकी आशा की जा सकती है, तो वह अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र है[१]।

अपने भूभागपर निर्विवाद और अनन्य अधिकार होना प्रभुत्वका एक लक्षण है और अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पात्रता प्रदान करता है, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु ऐसी भी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जिनमें किसी राजविशेषके पूर्णप्रभु होने तथा अन्ताराष्ट्रिय व्यक्ति होनेमें कोई सन्देह न होते हुए भी ऊपर दिया हुआ लक्षण उसमें पूरा नहीं घटता। ब्रिटेनका अन्ताराष्ट्रिय जगत्में विशेष स्थान है। इसमें कोई सन्देह नहीं है परन्तु द्वितीय महासमरकालमें सन् १९४० में उसने अपने राज्यके कुछ स्थानोंका पट्टा अमेरिकाके संयुक्तराजके नाम लिख दिया। उन जगहोंमें अमेरिकाको अपने सैनिक अड्डोंके रखनेका अधिकार मिला। इसके बदले ब्रिटेनको लड़ाईके पचास जहाज मिले। इन जगहोंमें निश्चय ही पट्टेकी अवधिके भीतर ब्रिटेनका प्रभुत्व कम रहेगा, यद्यपि यह हैं उसके राज्यमें। इसी प्रकार पट्टा लेनेवालेको इन जगहोंपर कुछ कालके लिए कुछ प्रभुत्व प्राप्त हो गया है, यद्यपि यहाँ उसका राज्य नहीं है। एकको अल्पकालिक प्रभुत्व मिला, दूसरेका प्रभुत्व अंशतः प्रसुप्त हो गया। पिछले दो तीन वर्षोंमें ऐसे कई पट्टे लिखे गये हैं।

अन्ताराष्ट्रिय विधान इस बातपर दृष्टि नहीं डालता कि कोई समुदाय-विशेष किस प्रकार पात्र बना। चाहे वह विद्रोह करके पृथक् हो गया हो, चाहे आपसके किसी प्रकारके समझौतेके कारण किसी बड़े राजसे पृथक् कर दिया गया हो, उसमें जब उपर्युक्त लक्षण होंगे तभी पात्र मान लिया जायगा[२]।

---

१ The simple facts that a community in its collective capacity exercises undisputed and exclusive control over all persons and things within the territory occupied by it, that it regulates its external conduct independently of the will of any other community and in conformity with the dictates of international law, and finally that it gives reason to expect that its existence will be permanent, are sufficient to render it a person in law. —International Law by Hall—Chapter I

२ International Law takes no cognizance of matters anterior to the acquisition of those marks (the marks of a state) and is, conse quently, indifferent to the means which a community may use to form itself into a State.—Hall

अन्ताराष्ट्रिय विधान उन राजोंके भीतरी प्रबन्धकी ओर दृष्टि नहीं डालता जो उसके पात्र हैं; चाहे उनमें किसी एक नरेशके हाथमें सारा अधिकार हो, चाहे नरेश और पार्लमेण्टमें अधिकार बँटे हों, चाहे नरेश हो ही न, अन्ताराष्ट्रिय विधान केवल इतना चाहता है कि कोई एक ऐसा अधिकार-कैन्द्र हो जिसकी परराजनीतिको सारा राज मानता हो। फिर भी राजोंके मुख्य भेदोंको समझ लेना आवश्यक है। राजोंके दो मुख्य वर्ग हैं—निरवयव और सावयव[1]। जैसा कि नामसे ही प्रकट होता है, निरवयव राज वह हैं जो अकेले हैं अर्थात् जो कई पृथक् टुकड़ोंके मिलनेसे नहीं बने हैं। जैसे फ्रांस, जापान, स्याम, नेपाल, अफगानिस्तान। इन राजोंको चाहे जितने प्रान्तोंमें बाँट दें, पर यह प्रान्त स्वतन्त्र नहीं होते और इनको किसी दृष्टिसे राज नहीं कह सकते। सावयव राज वह हैं जिनके कई अवयव हैं अर्थात् जो कई राजोंके मिलनेसे बने हैं। यह अवयव प्रान्त नहीं वरन् किसी समय पृथक्-पृथक् राज थे जो किसी कारणसे मिलकर एक हो गये हैं। ब्रिटेन, अमेरिकाका संयुक्त राज, भारत सावयव राजोंके उदाहरण हैं।

राजोंके दो मुख्य वर्ग—निरवयव और सावयव राज

सावयव राजोंके भी दो प्रधान भेद होते हैं—पूर्ण संयुक्त और अपूर्ण संयुक्त[2]। पूर्ण संयुक्त राज वह हैं जिनके टुकड़े इस प्रकार मिल गये हैं कि बाह्य नीतिकी दृष्टिसे उनकी पृथक् सत्ताका लोप हो गया है। ब्रिटेनको लीजिये। उसके चार प्रधान भाग हैं—इंगलैण्ड स्काटलैण्ड, उत्तरी आयरलैण्ड और वेल्स। इनके अतिरिक्त उपनिवेश आदि भी हैं; पर बाह्य नीतिमें इन सबको मिलाकर जो संयुक्त राज बना है उसीके नामसे सब काम होता है, पृथक्-पृथक् टुकड़ोंके नामसे नहीं। केवल इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड, वेल्स आदि अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र नहीं हैं; हाँ, इनके मेलसे जो राज बन गया है वह पात्र है। अपूर्ण संयुक्त राजोंमें यह बात नहीं होती। उनमें संयुक्त राज तो पात्र होता ही है, अवयव भी पात्र होते हैं; कई काम मिलकर होते हैं, कई काम अवयव पृथक्-पृथक् कर लेते हैं। भारतमें मराठोंके इतिहाससे इसके बड़े अच्छे उदाहरण मिलते हैं। महाराष्ट्र-संघ एक अपूर्ण संयुक्त राज था। कई काम तो पेशवा सारे महाराष्ट्रकी ओरसे करते थे पर ग्वालियर, इन्दौर, बड़ौदा, नागपुर आदि पृथक्-पृथक् भी युद्ध और सन्धि कर सकते थे। इन अपूर्ण संयुक्त राजोंमें अवयवकी अन्ताराष्ट्रिय सत्ता बनी रहती है।

सावयव राजोंके दो भेद—पूर्ण संयुक्त और अपूर्ण संयुक्त राज

पूर्ण संयुक्त राजोंके तीन प्रधान भेद होते हैं—अलिङ्ग संयुक्त राज, व्यक्तिशेष संयुक्त राज और लिंगशेष संयुक्त राज[3]। यदि दो या अधिक राजोंका इस प्रकार संयोग हो कि उनका पृथक्-अस्तित्व पूर्णतया मिट जाय, उनकी पृथक्-पृथक् राजसत्ताका कोई लिंग ही न रह जाय, तो संयोगसे जो राज बनता है उसे अलिङ्ग संयुक्त राज कहते हैं। ब्रिटेन इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। पहिले इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड पृथक्-पृथक् राज थे, दोनोंके पृथक्-पृथक् नरेश थे पृथक्-पृथक् पार्लमेंटें थीं। अब एक राज, एक नरेश, एक पार्लमेंट है। भीतर-बाहर एक शासन, एक सरकारकी आज्ञा सब मानते हैं। व्यक्तिशेष उन संयुक्त राजोंको कहते हैं जिनमें परराज विषयक बातोंमें तो अवयवोंको कोई अधिकार नहीं होता परन्तु आभ्यन्तर शासनमें वह स्वतंत्र

पूर्ण संयुक्तराजोंके तीन भेद—अलिंग संयुक्त, व्यक्तिशेष संयुक्त और लिंगशेष संयुक्त राज

१ Unitary States and Composite States
२ Perfect Unions and Imperfect Unions
३ Incorporate Unions, Real Unions, Federal Unions.

होते हैं और उनका पृथक् व्यक्तित्व बना रहता है। विनष्ट आस्ट्रिया हंगरीका राज इसका उत्तम उदाहरण था। आस्ट्रिया और हंगरीकी पृथक्-पृथक् पार्लमेंटें थीं जो भीतरी शासनके सम्बन्धमें यथेच्छ नियम बनाती थीं; पर नरेश दोनोंका एक था, सेना एक थी, परराजनीति एक थी। बाहरी राजोंसे व्यवहार करते समय आस्ट्रिया-हंगरी एक राज था पर भीतरी शासनकी दृष्टिसे दो स्वतन्त्र राज थे। दोनों भागोंको अपनी स्वतन्त्रताका यहाँतक ध्यान था कि सम्राटको हंगरी देशमें हंगरीकी भाषा मेग्यारमें बातचीत करनी पड़ती थी। लिंगशेष राज इन दोनोंसे भिन्न होते हैं। उनमें परराजनीति और बाह्य व्यवहार तो संयुक्त राजके हाथमें होता ही है, आभ्यन्तर शासनका बहुत बड़ा अंश भी उसीके हाथमें होता है। इसके दो उदाहरण स्वीजरलैंड और अमेरिकाके संयुक्तराज हैं। संयुक्तराजके अवयवभूत ४९ राज हैं। यह राज अपने-अपने भीतरी शासनके सम्बन्धमें बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं परन्तु पूर्णतया नहीं। भीतरी शासनके सम्बन्धमें भी बहुतसे नियम और विधान संयुक्त राजकी सरकार ही बनाती है। इन राजोंकी परिस्थिति अलिंग, जिनमें अवयवोंका अस्तित्व मिट जाता है और व्यक्तिशेषके जिनमें उनका अस्तित्व पूर्णतया बना रहता है, बीचमें है क्योंकि अवयवोंके राजत्वके लक्षण रहते तो हैं परन्तु बहुत संकुचित रूपमें।

अपूर्ण संयुक्त राजोंके दो भेद—आकस्मिक और संघ

अपूर्ण संयुक्त राजोंके भी दो भेद माने जाते हैं—आकस्मिक और संघ[1]। जैसा कि नामसे ही प्रतीत होता है, आकस्मिक संयोग वास्तविक संयोग नहीं है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न देशोंका नरेश हो जाता है। ऐसी दशामें उन दोनों देशोंमें आकस्मिक संयोग माना जाता है। पर सचमुच यह कोई संयोग नहीं है। दोनों देश पृथक् हैं और उनकी परराजनीति भी पृथक् हो सकती है। कुछ कालके लिए एक ही नरेश दोनोंपर शासन कर रहा है पर यह कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। सन् १७१४ से १८३७ तक इंगलैण्डका बादशाह हैनोवरका इलेक्टर भी था पर दोनों देशोंमें सिवाय इतनी-सी बातके और कोई एकता न थी। संघका उदाहरण हम पहिले दे चुके हैं। इस समय कोई अच्छा उदाहरण है भी नहीं। भारतमें महाराष्ट्र संघके पहिले भी कई बार संघोंकी सृष्टि हो चुकी है। संघोंका रूप कुछ लिंगशेष राजोंसे मिलता है पर दोनोंमें कई बड़े भेद हैं। लिंगशेष राजोंके अवयव आंशिक आभ्यन्तर प्रभुत्व रखते हैं, परन्तु बाह्य बातोंमें वह कोई नीति निर्धारित नहीं कर सकते। संघके अवयव आभ्यन्तर बातोंमें तो पूर्णतया स्वाधीन होते ही हैं, बाह्य व्यवहारमें भी उनका प्रभुत्व न्यूनाधिक रहता है, या तो कुछ बाह्य व्यवहार पृथक्-पृथक् और कुछ सम्पूर्ण संघकी ओरसे होते हैं या यह कि किसी कार्य-विशेषके लिए कुछ कालके लिए संघ बना लिया जाता है। उस कार्यको छोड़कर संघके अवयव जो चाहें और जैसे चाहें, करें। युद्धके दिनोंमें बहुधा ऐसे संघ बन जाया करते हैं।

यह तो प्रधान भेद हुए पर और भी कई प्रकारके संयुक्त राज हो सकते हैं। सुविधाके लिए यह भेद निम्नलिखित वृक्षमें दिखला दिये गये हैं—
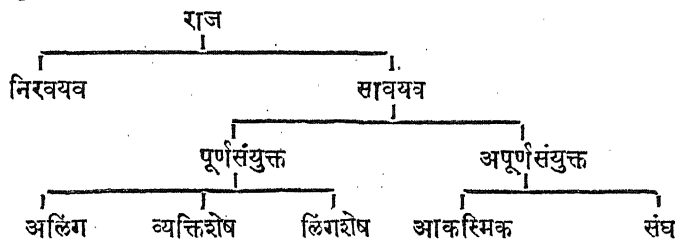
[1] Personal Unions, Confederations.

इस प्रकार भेद भलीभाँति स्मरण रखे जा सकते हैं।

यह रोचक विचार है कि भारत इस वर्गीकरणमें किस जगह आता है। इतना तो निश्चय है कि वह सावयव राज है और पूर्ण संयुक्त है पर इसके आगे जाना विवादग्रस्त क्षेत्रमें पावँ रखना है। राजनीतिमें भौतिक शास्त्रोंकी भाँति वर्गीकरण नहीं हो सकता। पदे-पदे अपवाद होते हैं। भारतकी गणना महत्त्वपूर्ण अपवादोंमें है।

स्वतन्त्रताके पहिले, शासनकी दृष्टिसे भारतके दो भाग थे, देशी राज और ब्रिटिश प्रान्त जैसे बंगाल, बिहार, संयुक्त प्रदेश आदि। देशी राज अल्पप्रभु थे परन्तु पृथक् राज थे, इसमें सन्देह नहीं। प्रान्त राज नहीं थे, केवल शासनकी सुविधाके लिए बनाये गये थे। अब इन प्रान्तोंको भी राज कहा जाता है और संविधानमें इनके अधिकारोंका स्पष्ट उल्लेख है। यह भी एक प्रकारके अल्पप्रभु राज हो गये। दूसरी ओर यह हुआ कि जो अल्पप्रभु राज पहिलेसे चले आते थे उन्होंने अपने बचे-खुचे अधिकार भी छोड़ दिये और विलीन हो गये। उनमें कुछको मिलाकर नये राज (पुराने शब्दोंमें प्रान्त) बना दिये गये हैं। राजस्थान और मध्यभारत इसके उदाहरण हैं। कुछ अभी पृथक् राज हैं, जैसे मैसूर और भोपाल। तीसरी ओर कश्मीर है जो विलीन नहीं हुआ है और अपने बनाये संविधानके अनुसार अपना शासन चलाता है। अन्ताराष्ट्रिय दृष्टिसे भारत एक है, सेना एक है और परराष्ट्रसम्बन्धका एक ही स्रोत है। कश्मीरकी दृष्टिसे भारत व्यक्तिशेष राज है और मैसूर जैसे राजोंकी दृष्टिसे लिंगशेष। प्रदेशोंकी दृष्टिसे वह अब व्यक्तिशेष बन गया है, नहीं पहिले तो निरवयव था।

हम अल्पप्रभु राजोंकी परिभाषा पहिले ही कर चुके हैं। हमने बतलाया है कि इन राजोंको अन्ताराष्ट्रिय विधानका पूर्ण पात्र नहीं मान सकते, क्योंकि यह अपने बाह्य व्यवहारमें पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होते। अल्पप्रभु राजोंको दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं।

अल्पप्रभु राज और अन्ताराष्ट्रिय विधान, दो प्रकार-के अल्पप्रभु राज

पहिली कोटिमें वह राज हैं जिनका प्रभुत्व अंशतः किसी परराजके हाथमें चला गया है अर्थात् जो किसी परराजके अधीन हैं और उसकी इच्छाके अनुसार चलनेके लिए विवश हैं। दूसरी कोटिमें वह राज हैं जो पृथक्-पृथक् तो पूर्णप्रभु हैं पर किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिए एक संघके अवयव बन गये हैं। ऐसी दशामें कई बातोंमें संघ ही इन सबका प्रतिनिधित्व करता है और उन बातोंकी दृष्टिसे उनका प्रभुत्व सीमित हो जाता है। पर कई विषयोंमें यह अवयव स्वतन्त्र हैं। उन विषयोंके सम्बन्धमें यह परराजोंसे यथेच्छ व्यवहार कर सकते हैं और संघ कुछ नहीं बोल सकता। इस दृष्टिसे संघ भी अल्पप्रभु है। आजकल इस प्रकारका कोई अच्छा उदाहरण नहीं है। भारतमें, जैसा कि हम पहिले भी लिख चुके हैं, महाराष्ट्र संघ अच्छा उदाहरण था। प्रथम महासमरके पहिले जर्मन साम्राज्य भी कुछ इसी प्रकारका उदाहरण था। सन्धि और युद्ध तो जर्मन राजसंघ-(या साम्राज्य) की ओरसे ही निश्चित होते थे पर कुछ अन्य बातोंमें संघके अवयव अर्थात् प्रशा, बवेरिया, सैक्सनी इत्यादि यूरोपके अन्य राजोंसे पृथक्-पृथक् भी सम्बन्ध कर सकते थे। कभी-कभी एक ही यूरोपीय राजके यहाँ संघके भी राजदूत जाते थे और अवयवोंके भी राजदूत जाते थे।

इतिहास बतलाता है कि ऐसे संघ स्थायी नहीं होते। कुछ दिनोंमें इनका लोप हो जाता है। या तो संघका बल बढ़ता जाता है और उसके अवयवोंका बल घटता जाता है यहाँतक कि कुछ काल पाकर अवयवोंका पृथक् राजत्व नाममात्रको रह जाता है और संघ वस्तुतः एक लिङ्गशेष संयुक्त राज बन जाता है या संघ टूट जाता है और उसका प्रत्येक अवयव एक निरवयव स्वतन्त्र

राज बन जाता है। जर्मनीमें धीरे-धीरे पहली परिस्थिति होती जा रही थी। राजसंघ अर्थात् साम्राज्य-की शक्ति तो बढ़ती जाती थी और पृथक् राजोंकी शक्ति घटती जाती थी। सम्भवतः कुछ कालमें उनकी वही परिस्थिति हो जाती जो इस समय अमेरिकाके संयुक्त राजोंकी है। दूसरी परिस्थिति भारतमें महाराष्ट्र संघकी हुई। संघ टूट गया और शिन्दे, होल्कर, गायकवाड़, भोंसला आदि सभी स्वतन्त्र हो गये।

उन अंशप्रभु राजोंकी, जिनका प्रभुत्व अंशतः किसी परराजके हाथमें चला गया है, समस्या भी अत्यन्त टेढ़ी है। इनके दो भेद किये जाते हैं—एक तो वह राज जो किसी पर-राजकी रक्षामें हैं, दूसरे वह जो किसी परराजके आधिपत्यमें हैं। दोनोंमें अन्तर यह बतलाया जाता है कि जो राज पहिले स्वतन्त्र थे पर अब किसी कारणसे अपना कुछ प्रभुत्व खो बैठे हैं वह तो रक्षित राज हैं और जो राज किसी बड़े राजके अंश हैं पर किसी-न-किसी प्रकार इतने प्रभावशाली हो गये हैं कि उनको कुछ प्रभुत्व प्राप्त हो गया है वह आधिपत्यमें हैं। पर यह अन्तर नाममात्रका है। रक्षक और अधिपतिके ठीक-ठीक अधिकार क्या हैं यह कोई नहीं कह सकता। होना यह चाहिये कि रक्षकके अधिकार थोड़े और अधिपतिके अधिक हों पर कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। सर्विया, बल्गेरिया और रूमानिया तुर्क साम्राज्यके अङ्ग थे, पर धीरे-धीरे इनकी शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि इनको एक प्रकारकी अन्ताराष्ट्रिय सत्ता प्राप्त हो गयी, यह एक प्रकारके राज हो गये। उस समय सुल्तान उनके अधिपति थे। होना यह चाहिये था कि यह पूर्णतया सुल्तानकी इच्छाके अनुकूल चलते पर ऐसा न होता था। बल्गेरिया बिना उनसे पूछे युद्ध और सन्धि करता था; उसने सन् १८८५ में उनकी अवज्ञा करके पूर्वीय रूमीलियाको अपनेमें मिला लिया और १८८७ में बिना उनकी स्वीकृतिके एक नया नरेश चुन लिया। यही गति सर्बिया आदिकी भी थी। अन्तमें १८९८ में वह स्वतन्त्र हो गया।

आधिपत्य

एक ओर तो अधिपतिका अधिकार इतना क्षीण हो सकता है, दूसरी ओर रक्षकका अधिकार इतना बढ़ सकता है कि रक्षित राजका प्रभुत्व लुप्तप्राय हो जाता है। सन् १९१४ के पहिले मिस्रकी विचित्र परिस्थिति थी। यह देश सुल्तानके आधिपत्यमें था पर ब्रिटिश सरकारने उसे इस तरह दाब लिया था कि सारा शासन अंग्रेजोंके ही हाथमें था। १९१४ में जब तुर्कोंने महासमरमें जर्मनीका पक्ष लिया तो मिस्र ब्रिटिश संरक्षणमें ले लिया गया पर शासनकी दशा वही रही। अब तो वह पूर्णतया स्वतंत्र राज है। संरक्षण कालमें परराजनीतिकी कौन कहे, आभ्यन्तर प्रबन्ध भी सारा ही अंग्रेजोंके हाथमें था। प्रत्येक विभागमें अंग्रेज अफसर भरे थे। नामको मिस्री मंत्री होते थे पर उनके साथ अंग्रेज सहायक और परामर्शदाता लगे रहते थे। यही दशा १९१२ से मोरक्कोमें है। उस साल वह फ्रांसके संरक्षणमें आया, तबसे रक्षक उसका भक्षक बना हुआ है।

संरक्षण

संरक्षण एक कर्णप्रिय शब्द है पर उसका अर्थ—राजनीतिक अर्थ—उतना मधुर नहीं है। जब कोई प्रबल राज किसी दुर्बल राजको हड़प लेना चाहता है पर किसी कारणसे ऐसा एकाएक करना नीतिसङ्गत नहीं समझता तो वह अपना संरक्षण स्थापित करता है। रक्षाके बहाने धीरे-धीरे सारा अधिकार अपने हाथमें आ जाता है, फिर अवसर पाकर उसका नाम भी मिटा दिया जाता है। सन् १८९५ तक कोरिया चीनके संरक्षणमें था। १८७५ में चीन और जापानमें शिमोनोसेकिकी सन्धि हुई। इसकी एक धाराके अनुसार कोरिया स्वतंत्र राजा मान लिया गया। १९०५ में

रूस-जापान युद्धके पीछे जापानने उसे अपने संरक्षणमें लिया और गला घोंटते-घोंटते १९१० में उसे साम्राज्यमें ही मिला लिया।

ऊपर जिन दो प्रकारके अल्पप्रभु राजोंका वर्णन हुआ है उनकी परिस्थिति तो सहज ही समझमें आ जाती है, पर कुछ राजोंकी परिस्थिति विलक्षण होती है। यह सब जानते हैं कि अमुक राज पूर्णप्रभु नहीं है वरन् अमुक राजके दबावमें है, पर ऐसा कोई सन्धिपत्र नहीं है जो इस बातको स्पष्ट करता हो। इसका बहुत अच्छा उदाहरण क्यूबामें मिलता है। १८९८ तक यह द्वीप स्पेनके अधीन था। उस साल यह स्पेनके हाथसे निकालकर स्वतंत्र कर दिया गया। चार वर्षतक उसमें अमेरिकाके संयुक्तराजके, जिसने उसे स्वतंत्र कराया था, कुछ सैनिक रखे हुए थे। १९०२ में उसकी संयुक्तराजसे एक सन्धि हुई। उसमें यह बात स्पष्टतया लिख दी गयी कि क्यूबा स्वतंत्र है पर संयुक्तराजको यह अधिकार दिया गया कि यदि क्यूबाकी स्वाधीनतापर कोई आपत्ति पड़े या क्यूबाकी सरकार जानमालकी रक्षा न कर सके तो संयुक्तराज हस्तक्षेप करे। १९०६ में क्यूबामें एक विद्रोह हुआ। तत्काल संयुक्तराजके सैनिकोंने जाकर शान्ति स्थापित की और जबतक फिर एक दृढ़ सरकार संघटित न हो गयी तबतक वहाँ एक अमेरिकन गवर्नर शासनकी देखरेख करता रहा। इस वर्णनसे यह तो निर्विवाद है कि क्यूबा संयुक्तराजके दबावमें है, पर इस दबावका कोई लिखित प्रमाण नहीं है। लेखोंके अनुसार क्यूबा 'स्वतंत्र' राज है। ऐसे और भी उदाहरण हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक राज दूसरेपर किसी-न-किसी प्रकार दबाव तो बैठा लेता है पर जो राज दबाया जाता है उसकी लाज बनाये रखनेके लिए यह बात लेखबद्ध नहीं की जाती। ऐसे दबे राजोंको न तो आधिपत्यगत कह सकते हैं न रक्षित। हम इनको सुविधाके लिए 'अनुगामी राज' की संज्ञा देते हैं। लारेंस इनको मुवक्किल राज[1] कहते हैं। जिस राजका अनुगमन किया जाता है उसको 'सहायक राज' कह सकते हैं। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि यह भी रक्षाका रूपान्तर मात्र है।

अनुगमन

संरक्षक सदा भक्षक नहीं होता। भोटान आजकल भारतके संरक्षणमें है। यह सम्बन्ध इसके लिए बहुत कल्याणकारी सिद्ध हो रहा है। भारतकी सहायतासे उसको उन्नति करनेकी बहुतसी सुविधाएँ प्राप्त हो रही हैं। प्रायः यही अवस्था सिक्किमकी है।

प्रथम यूरोपीय युद्धके पश्चात् एक नये प्रकारके अल्पप्रभु राजकी सृष्टि की गयी है। हम ऊपर राष्ट्र संघका कथन कर आये हैं। उसने निश्चित किया था कि पृथ्वीके कुछ भाग ऐसे हैं जिनकी उन्नतिके लिए यूरोपकी भिन्न-भिन्न सरकारोंको दायी बनाना चाहिये। इन दायी सरकारोंको उन प्रदेशोंकी इस दृष्टिसे उन्नति करनी थी कि कुछ कालमें वहाँके निवासी पूर्ण स्वायत्तशासनके योग्य हो जाते, तबतक राष्ट्रसंघ इस बातकी बराबर जाँच करता रहेगा कि यह काम ईमानदारीसे किया जा रहा है या नहीं और यदि वह असन्तोषजनक हुआ तो दायित्व ले लिया जायगा। राष्ट्रसंघके दिये हुए इस प्रकारके अधिकारको 'आदेश' या 'शासनादेश'[2] कहते हैं। जिस राजको आदेश मिला था उसे आदेशप्राप्त या 'सादेश राज'[3] कहते थे। जिस भूभागके ऊपर आदेश मिलता था उसे आदिष्ट कहते थे। इसके भी कई उदाहरण हैं।

आदेश

१ Client States

२ Mandate

३ Mandatory

पश्चिमी एशियामें इराक और शाम दो अरब राजोंकी सृष्टि हुई। दोनों अल्पप्रभु थे। इराकका आदेश अंग्रेजोंको और शामका फ्रांसवालोंको दिया गया था। अफ्रीकाका बहुत-सा भाग, जो पहिले जर्मन साम्राज्यमें था, अंग्रेजोंके आदेशमें चला गया।

आदेशका सिद्धान्त बहुत अच्छा है। यदि राष्ट्रसंघ सबल और ईमानदार होता तो आदेशोंसे लाभ हो सकता था। अशिक्षित और असभ्य देश किसी सभ्य देशके निरीक्षणमें रख दिये जायँ। ज्यों-ज्यों उनके निवासी योग्य होते जायँ त्यों-त्यों उनके अधिकारोंकी वृद्धि होती जाय और शीघ्रसे शीघ्र उनको पूर्ण स्वातन्त्र्य दे दिया जाय। राष्ट्रसंघमें सभी राजोंके प्रतिनिधि थे इसलिए किसीके साथ पक्षपात न होना चाहिये था और जो सादेश राज अपना काम बेईमानीसे करता उससे यह काम छीन लिया जाता; पर ऐसा हुआ नहीं। राष्ट्रसंघमें इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान ऐसे स्वार्थियोंका प्राधान्य था। आदेशोंका बहाना था। जिन देशोंपर आदेश प्राप्त थे उनको सचमुच योग्य और उन्नत बनानेका कोई प्रयत्न नहीं किया गया, केवल अपना स्वार्थ सिद्ध किया गया। वस्तुतः तत्तद्देश अपने-अपने साम्राज्यमें मिला लिये गये; पर संसारको धोखा देनेके लिए आदेशों-का ढोंग रचा गया। शाम और इराककी जनता अपना काम सँभाल सकती थी पर उन देशोंमें तेल तथा अन्य खनिज सम्पत्ति है। उसके लालचके मारे अंग्रेज और फ्रांसीसी वहाँसे हटना नहीं चाहते थे। जो सभ्य है उसे जबरदस्ती न जाने कौन-सी सभ्यता सिखलायी जायगी। अरब देश शासना-देश तोड़कर अब स्वतंत्र हैं। निःसन्देह अफ्रीकावालोंको सच्ची शिक्षा देनेकी आवश्यकता है, पर सादेशने जो मार्ग पकड़ा उससे तो बेचारे हब्शी दो हजार वर्षमें भी स्वायत्त शासनके योग्य न होंगे।

अब राष्ट्रसंघका अन्त हो गया है फलतः उसके दिये हुए शासनादेश भी नहीं रहे। द्वितीय युद्धके बाद भी कुछ पिछड़े देशोंकी देखरेख और उनको ऊपर उठानेका दायित्व कुछ प्रमुख पाश्चात्य देशोंपर आया है। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इस बार कहाँतक ईमानदारी और सहानुभूतिसे काम लिया जायेगा।

भारतके देशी राज

इस स्थानपर हमको भारतके देशी राजोंकी परिस्थितिपर भी विचार कर लेना है। ये राज तीन कोटियोंमें विभक्त हो सकते थे। सबसे नीचे वर्गमें वे राज थे जिनकी सृष्टि अंग्रेज सरकारने की थी। या तो ये पहिले थे ही नहीं या अंग्रेज सरकारने इनको छीनकर फिर कुछ विशेष शर्तोंपर लौटा दिया या इनकी गिनती पहिले जमीनदारियोंमें थी, फिर अंग्रेज सरकारने इन्हें राज बनाया या इनके प्रथम नरेश डाकू थे जिनको अंग्रेज सरकारने कुछ भू-भागका नरेश बनाकर शान्त किया या किसी प्रबल शत्रुके गालसे निकालकर पुनः स्थापित किया। इनके साथ जो शर्तें हुई हैं वे जिन समयपत्रोंमें लिखी हैं उनको 'सनद' कहते हैं। ऐसे राजोंको 'सनदी राज'[१] कहते थे। मैसूर, बनारस, पन्ना, सरीला, मैहर इत्यादि सनदी राज थे।

दूसरे वर्गमें वे राज थे जिनके साथ अंग्रेज सरकारकी सन्धियाँ हुई थीं, पर इन सन्धियोंमें जहाँ यह लिखा है कि राजके नरेश अपने राजके पूर्ण स्वामी होंगे और ब्रिटिश सरकार उनके आभ्यन्तर शासनमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप न कर सकेगी वहीं यह भी लिखा है कि ये राज ब्रिटिश सरकारके 'संरक्षण'में होंगे। उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, रीवाँ, त्रावणकोर इत्यादि इसी प्रकारके राज थे।

तीसरे वर्गमें वे राज थे जिनकी सन्धियोंमें यह लिखा है कि राज और ब्रिटिश सरकारमें

---

१ Sanad States

'मैत्री और सहकारिता'[1]का सम्बन्ध है। इन सन्धियोंमें संरक्षण शब्द नहीं आया है। सन्धियोंका ढंग भी प्रायः वैसा ही है जैसा कि आजकल दो बराबरके राजोंमें होता है। यह उनमें निःसन्देह लिखा है कि बिना ब्रिटिश सरकारके परामर्शके ये राज किसी परराजसे कोई सम्बन्ध नहीं रख सकते, परन्तु इसके साथ ही ब्रिटिश सरकारके अधिकार भी कई बातोंमें परिमित कर दिये गये हैं। हैदराबाद, ग्वालियर, बड़ौदा इत्यादि इसी वर्गमें थे।

अब यदि विचार करके देखा जाय तो कमसे कम पिछले दोनों वर्ग अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र हो सकते थे। सन् १८१३ तक इनमेंसे कईको ब्रिटेन और फ्रांसकी सरकारोंने पात्र माना भी था। संधिपत्रोंमें कईको स्वतन्त्र माना भी गया है। स्वतन्त्र न भी कहिये पर इनके राज्य-विस्तार, जन-संख्या, अधिकार, समृद्धि और सन्धियोंको देखते हुए इनको अल्पप्रभु माननेमें तो किसी प्रकारकी भी आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु ये राज दुर्बल थे। इनमें ऐक्य नहीं था। इनके नरेशोंमें आत्माभिमान नहीं था। और ये पराधीन भारतके टुकड़े थे इसलिए अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र नहीं माने जाते थे। भारत सरकारने इस बातकी स्पष्ट घोषणा[2] कर दी थी और इन्होंने इस पतित परिस्थितिको स्वीकार कर लिया था।

अब यह राज विलीन हो गये हैं। सर्दार वल्लभभाई पटेलकी दृढ़ता और प्रतिभाने इनको भारतका अविच्छिन्न अंग बना दिया है। कश्मीरको आंशिक अपवाद कह सकते हैं पर उसकी विशेष परिस्थिति है। हैदराबादने अपवाद बनना चाहा। उसका यह उद्घोष था कि अंग्रेजोंके हट जानेपर हम स्वतन्त्र हो गये। भारत सरकारने इस बातको नहीं माना। हैदराबादमें थोड़ी-सी सेना भेजनी पड़ी पर यह किसी पराये देशका आक्रमण नहीं था। अपने देशके विद्रोही प्रान्तके विरुद्ध पुलिसकी आवश्यक कार्य्यवाही थी। बारह दिनमें हैदराबाद अपने निर्धारित स्थानपर आ गया। राजोंका इतिहास भारतके इतिहासका रोचक अंग है।

अभीतक हमने जितने प्रकारके पात्रोंका उल्लेख किया है वे चाहे अल्पप्रभु हों या पूर्णप्रभु पर उनका पात्रत्व स्थायी रहता है। अब हम एक ऐसे महत्वपूर्ण वर्गका उल्लेख करना चाहते हैं जिसका पात्रत्व स्थायी न होकर अल्प-कालीन होता है।

जब किसी विस्तृत राजका कोई अंश अपनी परिस्थितिसे असन्तुष्ट होकर स्वराज्यके लिए आन्दोलन करता है तो पहिले तो उससे परराजोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता इसलिए अन्ताराष्ट्रिय विधान उसकी ओर दृष्टि ही नहीं डालता, पर यदि आन्दोलन बल पकड़ता गया तो वह शीघ्र ही 'विद्रोह' का रूप धारण करता है। चाहे विद्रोह हिंसात्मक हो या अहिंसात्मक परन्तु बिना विद्रोहके किसी समुदायको स्वराज्य मिल नहीं सकता। जबतक विद्रोहका क्षेत्र संकुचित रहता है तबतक तो परराज उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते पर यदि उसका क्षेत्र बढ़ गया तो फिर उपेक्षा-भावसे काम नहीं चल सकता। यदि देशका कोई बड़ा भाग विद्रोहियोंके कब्जेमें चला गया है तो वे उसमें मालगुजारी तथा अन्य कर उगाहते होंगे, उन्हींकी ओरसे पुलिस तथा न्यायका प्रबन्ध होगा, उनकी सेनाएँ होंगी। जबतक विद्रोह छोटा था तबतक विद्रोही डाकू कहे जा सकते थे, पर अब उनको डाकू नहीं कह सकते, क्योंकि उन्होंने एक प्रकारका राज स्थापित कर लिया है। इसके

१ Friendship and Alliance.

२ The principles of International Law have no bearing upon the relations existing between the British Government and the Native States under the Suzerainty of the Queen-Empress.

साथ ही यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि स्यात् वह राज जिसके विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया है, उनको जीत ले। इसलिए उनके साथ वैसा बर्ताव नहीं किया जा सकता जैसा कि स्वाधीन राजोंके साथ किया जाता है। ऐसी अवस्थामें मध्यम मार्गका अवलम्बन होता है। इस विद्रोही सरकारके साथ कोई परराज सन्धि नहीं करता, न उसके यहाँ कोई राजदूत भेजा जाता है। उसके अधिकारियोंके साथ जो पत्र व्यवहार किया जाता है वह उस प्रकारका होता है जैसा कि साधारण सज्जनोंके साथ किया जाता है। वह भी किसी परराजके यहाँ राजदूत नहीं भेज सकती। परन्तु उसको युद्ध-सम्बन्धी वे सब अधिकार मिल जाते हैं जो सभ्य समुदायोंको अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार प्राप्त हैं। उसके सिपाहियोंके साथ सैनिकोंकी भाँति बर्ताव किया जाता है, डाकुओंकी भाँति नहीं। शस्त्र ढालने और मोल लेने, जीते हुए प्रदेशोंपर कब्जा करने, उनसे युद्ध और खाद्य सामग्री वसूल करने, तार, रेल, डाक आदिकी जाँच-पड़ताल करने, जासूसोंको दण्ड देने, तटस्थ परदेशियोंके जहाजोंकी तलाशी लेने इत्यादिके युद्ध-सम्बन्धी सब अधिकार उसको दे दिये जाते हैं। जिस भू-भागपर विद्रोहियोंका कब्जा हो जाता है उससे जिन परराजोंका व्यापारादि सम्बन्ध होता है उनको बहुत शीघ्र यह निश्चय करना पड़ता है कि वे विद्रोहियोंके साथ कैसा बर्ताव करें। यदि वे देखते हैं कि विद्रोहके सफल होनेकी आशा है तो, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, विद्रहियोंको युद्ध-सम्बन्धी वे सब अधिकार (और कर्तव्य) दे दिये जाते हैं जो अन्य स्वतंत्र राजों अर्थात् अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्रोंको प्राप्त हैं। इस प्रकारके पात्रोंको राजातिरिक्त युद्धकारी सभ्य समुदाय कहते हैं। जब किसी राजक्रान्तिकारी समुदायके साथ दो-एक परराज ऐसा बर्ताव करने लगते हैं तो विवश होकर उस राजको भी जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जाता है, ऐसा ही करना पड़ता है।

यह पात्रत्व स्वभावतः अल्पकालीन होता है। यदि विद्रोही हार गये तो फिर उनकी स्थापित की हुई सरकारका अस्तित्व ही मिट जाता है। यदि उनकी जीत हुई तो फिर उनको पूर्ण पात्रत्व प्राप्त हो जायगा, क्योंकि वह एक पूर्णप्रभु राज स्थापित कर लेंगे। यदि उन्होंने अपने पुराने अधिपतिके संरक्षणमें एक अल्पप्रभु राज स्थापित कर लिया तो भी उनका पात्रत्व वैसा अनिश्चित और एकांगी न रहेगा जैसा कि विद्रोहकालिक पात्रत्व था।

इतना और स्मरण रखना चाहिये कि यह युद्धकालिक पात्रत्व केवल 'सभ्य' क्रान्तिकारियोंको प्राप्त होता है। असभ्य मनुष्य अपनी स्वाधीनताके लिए प्रयास करनेपर विद्रोही और डकैत ही माने जाते हैं। सभ्य शब्दकी परिभाषा तो क्या हो सकती है, सिवाय इसके कि जो समुदाय न्यूनाधिक पाश्चात्य रंगमें रँगा है अर्थात् जो स्वराज्य-संग्रामके समय और स्वराज्य प्राप्त करनेके पीछे पाश्चात्य जगत्के साथ पाश्चात्य ढंगका व्यवहार कर सकता है वही सभ्य माना जाता है। अस्तु, इसलिए प्रायः 'समुदाय'के पहले 'सभ्य' जोड़कर इस प्रकारके अल्पकालीन आंशिक पात्रोंको 'राजातिरिक्त युद्धकारी सभ्य समुदाय' कहते हैं।

भारतवासी इस प्रकारके एक उदाहरणसे परिचित हैं। पिछले महासमरके बीचमें स्वर्गीय सुभाषचन्द्रबोसने ऐसी ही सरकार बनायी थी। इस 'आजाद हिन्द' सरकारको कम-से-कम जापानसे तो मान्यता प्राप्त थी ही; इसकी सेनाने भारतके बाहर विस्तृत भू-भागपर अधिकार प्राप्त किया था।

जापानके हार जानेसे इस सरकारका भी अन्त हो गया। भारत सरकारने इसकी सेनाके अफसरोंको विद्रोही ठहराकर उनपर मुकदमा चलाया। दिल्लीमें इनका मुकदमा हुआ परन्तु स्वर्गीय भूलाभाई देसाईने सिद्ध किया कि ये लोग एक ऐसी सरकारके अफसर थे जिसको युद्धकालमें राजातिरिक्त युद्धकारी सभ्य समुदायकी हैसियत प्राप्त थी अतः ये लोग साधारण विद्रोही नहीं

वरन् सैनिक थे। अपनी सरकारकी आज्ञा मानकर इन्होंने जो कुछ किया वह सर्वथा वैध था।

एक प्रश्न यह होता है कि व्यक्तियोंको इस विधानका पात्र मान सकते हैं या नहीं। प्रश्न उत्पन्न इसलिए होता है कि इस विधानके अनुसार ही व्यक्तियोंको युद्ध और शान्तिके समय कई प्रकारके अधिकार प्राप्त हैं। यह विधान उनके कई कर्तव्योंको भी स्थिर करता है। इन अधिकारों और कर्तव्योंका विस्तृत वर्णन अगले खण्डोंमें होगा। इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि व्यक्तियोंमें वे गुण नहीं मिल सकते जो पात्रोंमें होने चाहिये। युद्धादिके समय व्यक्तियोंके जो अधिकार और कर्तव्य होते हैं उनके विषयमें यह कहा जाता है कि सभी स्वतन्त्र राजोंने अपने गृह्य विधानोंको यथासम्भव अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार बनाया है और व्यक्तियोंको इन गृह्य विधानोंका पालन करना पड़ता है इसलिए उनका अन्ताराष्ट्रिय विधानसे कोई प्रत्यक्ष और अव्यवहित सम्बन्ध नहीं है। इसलिए आपेनहाइमकी सम्मतिमें व्यक्तियोंको इस विधानका पात्र न कहकर लक्ष्य[१] कहना चाहिये।

व्यक्तियोंकी परिस्थिति

यही नियम समितियोंके लिए भी लागू होना चाहिये और साधारणतः लगता भी है। परन्तु कुछ समितियोंकी एक विशिष्ट परिस्थिति होती है। भारतवासियोंको ईस्ट इण्डिया कम्पनी, जिसने भारतपर लगभग सौ वर्षतक शासन किया, भूली नहीं है। वह कुछ अंग्रेज व्यापारियोंकी समिति थी। उसको ब्रिटिश सरकारसे व्यापार करनेकी अनुज्ञा मिली थी। उसपर ब्रिटिश सरकारका पूरा-पूरा अधिकार था। यह सरकार उसके प्रत्येक कामका निरीक्षण कर सकती थी और प्रत्येक कामको रद कर सकती थी। अन्तमें सन् १८५८ में पार्लमेंटने उसका अस्तित्व ही मिटा दिया। इन बातोंको देखते हुए तो उसको न हम किसी प्रकार प्रभु कह सकते हैं न पात्र मान सकते हैं। परन्तु उसको व्यापारके साथ-साथ शासन करनेकी भी अनुज्ञा थी। वह भारतीय नरेशोंसे युद्ध और सन्धि करती थी; प्रान्तीय शासक नियुक्त करती थी; उसका भारतीय राजोंके अतिरिक्त फ्रांस इत्यादिके साथ भी सम्बन्ध था। सन् १८५८ में ब्रिटिश सरकारने उसकी सब सन्धियों, सनदों, ऋणों आदिका दायित्व अपने ऊपर उसी प्रकार स्वीकार कर लिया जिस प्रकार एक राज दूसरे राजके प्रति, जिसका वह उत्तराधिकारी होता है, करता है। इस दृष्टिसे कम्पनीको अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र मानना चाहिये।

कुछ समितियोंकी विशिष्ट परिस्थिति

इस समय भी इस प्रकारकी दो-एक समितियाँ हैं। इनमें ब्रिटिश साउथ अफ्रीका कम्पनी सबसे समृद्ध और प्रभावशाली है। इसका जन्म सन् १८८९ में हुआ। दक्षिण अफ्रीकाका एक बहुत बड़ा भाग इसके अधीन है। ब्रिटिश औपनिवेशिक सचिवके निरीक्षणमें रहते हुए इसको प्रायः वे सभी अधिकार प्राप्त हैं जो एक राजको प्राप्त होते हैं।

ऐसी समितियोंकी परिस्थिति विचित्र होती है। उनको एक दृष्टिसे प्रभु और दूसरीसे प्रजा कह सकते हैं। वे युगपत् अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पात्र भी हैं और लक्ष्य भी। जो पूर्णप्रभु राज किसी ऐसी समितिके साथ किसी प्रकारका व्यवहार करते हैं वे उसको अपने बराबर नहीं मानते वरन् यह समझ लेते हैं कि जिस प्रधान राजके अधीन यह समिति है उसने अपना कुछ अधिकार सौंप रखा है और अन्तमें इसके सब कार्योंके लिए वही दायी है।

अन्तमें कुछ अनिश्चित उदाहरणोंका उल्लेख करके हम पात्रोंकी प्रकार-सूचीको समाप्त करते हैं। अनिश्चित कोटिमें सबसे प्रथम गणना तटस्थीकृत राजोंकी है। यूरोपीय महासमरके पहिले

---

१ Objects, not Subjects, of International Law.

बेल्जियम इसी वर्गमें था पर अब वह इससे निकल गया है। आजकल स्वीजरलैण्ड ही इसका एकमात्र उदाहरण है। ऐसे राज अपने आभ्यंतर शासनमें पूर्णतया स्वाधीन होते हैं। उनका व्यवहार परराजोंके साथ पूर्ण बराबरीका होता है। बस एक बातमें उनका अधिकार परिमित रहता है—वे सिवाय आत्मरक्षाके और किसी अवस्थामें किसीसे युद्ध नहीं कर सकते। इसीलिए उनको तटस्थीकृत[1] कहते हैं। वे किसी राजसे कोई ऐसी सन्धि नहीं कर सकते जिससे उनकी तटस्थतामें बाधा पड़े। इस तटस्थतासे उनके पूर्ण प्रभुत्व या प्रतिष्ठामें किसी प्रकारकी कमी नहीं मानी जाती। ऐसा समझ लिया जाता है कि उनके प्रभुत्वका यह अंश प्रसुप्त है। इसके पुरस्कारमें कुछ बड़े राज उनकी रक्षाका भार अपने ऊपर लेते हैं। १८१५ में ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, रूस और जर्मनी (प्रशा) ने स्वीजरलैण्डकी रक्षाका भार अपने ऊपर लिया। १८३९ में यही दायित्व बेल्जियमके सम्बन्धमें लिया गया पर १९१४ में बेल्जियमपर आक्रमण करके जर्मनीने उसे तटस्थताके बन्धनसे मुक्त कर दिया। जिन राजोंने कभी स्वीजरलैंडकी रक्षाका भार अपने ऊपर लिया था उनमें से आस्ट्रिया और जर्मनी अभी अपना भी घर सँभालनेमें असमर्थ हैं, ब्रिटेन दुर्बल और फ्रांस अति दुर्बल है। यदि आज यह देश तटस्थीकृत गिना जा सकता है, तो उसका मुख्य कारण तो यह है कि वह स्वयं अपनेको युद्धकी परिस्थितिमें डालना नहीं चाहता। दूसरी बात यह है कि दूसरे देश भी चाहते हैं कि कम से कम एक तटस्थ देश बचा रहे। युद्धकालमें ऐसे राजके अस्तित्वसे बड़ी सुबिधा होती है। प्रभुत्वमें कुछ कमी देख पड़ने पर भी यह राज पूर्णप्रभु माने जाते हैं।

अनिश्चित उदाहरण—तटस्थीकृत राज

दूसरा उदाहरण औपनिवेशिक संरक्षित राजोंका है। इस प्रकारके कई राज अफ्रीकामें हैं। कोई ब्रिटेन, कोई फ्रांस, कोई पुर्तगालके अधीन है। सीधा-सादा तात्पर्य यह है कि इन देशोंने अफ्रीकाके बड़े-बड़े टुकड़े दबा लिये हैं। उनमें किसी अन्य सभ्य राजको घुसने नहीं देना चाहते। उनमें गोरोंकी संख्या थोड़ी है इसलिए पाश्चात्य ढङ्गकी शासनपद्धति चलायी नहीं गयी है। जो जङ्गली या अर्ध सभ्य नरेश या सरदार हैं वे अपनी-अपनी प्रजापर शासन करते हैं पर सबके ऊपर वह यूरोपीय राज, जो उस भूभागका स्वामी बन बैठा है, किसी न-किसी प्रकारकी देख-भाल करता है। नामको वह अपनेको संरक्षक कहता है; पर इस संरक्षणका उल्लेख हम पहिले कर आये हैं। जब यहाँ कोई एक सुनिश्चित रक्षित राज ही नहीं है तो संरक्षण किसका होता है? वास्तविक बात यह है कि जबतक गोरोंकी संख्या पर्याप्त न हो तबतक पाश्चात्य ढङ्गका महँगा शासन क्यों चलाया जाय? गोरोंकी संख्या बढ़नेपर आदिम सरदारोंके अधिकारोंके छिन जाने और वहाँ उपनिवेश बन जानेमें देर नहीं लगती।

औपनिवेशिक संरक्षित राज[2]

जबतक उपनिवेश स्थापित नहीं होता तबतक बड़ी अड़चन रहती है। न यह कह सकते हैं कि कोई निश्चित राज है न यह कह सकते हैं कि नहीं है। इसलिए इस विचित्र शासनका पात्रत्व भी अनिश्चित रहता है।

रोमन कैथलिक सम्प्रदायके प्रधान आचार्य पोपकी स्थिति भी विचित्र है। सन् १८७० तक तो एक छोटासा राज्य पोपकी गद्दीके अधीन था पर उस साल इटलीकी सरकारने वह राज्य इटलीमें मिला लिया। पोप केवल धर्मगुरु रह गये। पर उनको कई ऐसे अधिकार प्राप्त थे जो

१ Neutralized
२ Colonial Protectorates

अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार केवल स्वतन्त्र राजोंके शासनाध्यक्षोंको मिल सकते हैं। पोप कैद नहीं किये जा सकते थे न उनको कोई और शारीरिक दण्ड दिया जा सकता था, बिना उनकी अनुज्ञाके उनके महलमें इटालियन सरकार का कोई कर्मचारी प्रवेश नहीं कर सकता था, कई स्वतन्त्र राजोंके दूत पोपके दरबारमें रहते थे और पोपके दूत कई राजोंमें रहते थे। कई बार अन्ताराष्ट्रिय झगड़ोंका निपटारा पोप की मध्यस्थता से हुआ है। न तो पोपके पास कोई राज था न उनके हाथमें किसी प्रकारका भौतिक अधिकार, पर एक प्रभावशाली सम्प्रदाय-विशेषकी धार्मिक निष्ठाने उनको अन्ताराष्ट्रिय विधानका एक विचित्र पात्रत्व दे रखा था। इटलीका अधिनायकत्व प्राप्त करनेके बाद मुसोलिनीने पोपको वेटिकन नगरका राज दे दिया। पोपके प्रासादका नाम वेटिकन है। उसके आस-पासके कुछ महल्लोंका नाम वेटिकन नगर है। राज्य छोटा ही सही पर यह कह सकते हैं कि अब पोप नियमतः पुनः अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र हो गये हैं।

पोप

तुर्की सरकारकी दुर्बलताने कई विचित्र उदाहरणोंकी सृष्टि कर दी थी। १८७८ में तुर्क सरकारने ब्रिटेनके नाम साइप्रस द्वीपका ९९ वर्षका पट्टा लिख दिया। तुर्कोंको शासनमें हस्तक्षेप करनेका किसी प्रकारका अधिकार नहीं रह गया। परन्तु जिस समय पट्टा लिखा गया उस समय सब आवश्यक व्यय करनेके पीछे तुर्क सरकारको साइप्रससे प्रतिवर्ष ९२,८०० पौण्ड अर्थात् १३,९२,०००) बचता था। इतना रुपया ब्रिटेन उसे देता गया। १९१४ में ब्रिटेनने उसे अपने राज्यमें पूर्णतया मिला लिया।

साइप्रस और क्रीट

क्रीटकी दशा और भी निराली थी। यह द्वीप तुर्की आधिपत्यमें माना जाता था। इस आधिपत्यका एकमात्र प्रमाण यह रह गया था कि इसके ध्वजस्तम्भसे तुर्की झण्डा लहराया करता था। इसकी प्रजा प्रधानतः यूनानी है। ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और इटली इसके अभिभावक या संरक्षक माने जाते थे। यह चारों मिलकर हाई-कमिश्नर उपाधिधारी एक अधिकारीको नियुक्त करते थे जो इस द्वीपके आभ्यन्तर शासनका अध्यक्ष होता था। वह निवासियोंमेंसे ही अपने मन्त्री चुनता था। एक व्यवस्थापक सभा भी थी जिसके प्रायः सब सदस्योंको क्रीटवासी ही चुनते थे परन्तु वैदेशिक विषय हाई-कमिश्नरके हाथमें न थे। उनका प्रबन्ध ब्रिटिश, फ्रेञ्च, रूसी और इटालियन सरकारके रोमस्थ प्रतिनिधि करते थे। ऐसी अवस्थामें यह कहना बड़ा ही कठिन था कि क्रीट तुर्क साम्राज्यका एक प्रान्त मात्र था या सुल्तानके आधिपत्यमें एक अल्पप्रभु राज था या ब्रिटेन आदि चारों यूरोपीय राजों द्वारा संरक्षित राज था या तुर्क सरकार भी उसकी संरक्षक थी या उसके पाँच अधिपति थे। १९१३ में यह यूनानको दे दिया गया।

यूरोपमें ही वर्तमान अन्ताराष्ट्रिय विधानका जन्म हुआ। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दीमें जो यूरोपीय राज थे उनके पारस्परिक व्यवहारके जो नियम प्रायशः बर्ते जाते थे उनके सङ्कलनसे ही इस विधानकी सृष्टि हुई। उनके परस्पर संघर्षसे जिन नये राजोंकी उत्पत्ति हुई वे भी स्वभावतः उन्हीं नियमोंका पालन करने लगे क्योंकि यह सब उसी पाश्चात्य संस्कृतिकी गोदमें पले थे। अतः अमेरिका और यूरोपके पश्चिमी राज निसर्गतः अन्ताराष्ट्रिय समाजके अङ्ग और अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र माने गये।

अन्ताराष्ट्रिय समाजमें प्रवेश

परन्तु अन्ताराष्ट्रिय समाज जड़ संस्था नहीं है। उसमें नये-नये सदस्य प्रवेश करते ही रहते हैं। नवागन्तुक तीन प्रकारके होते हैं। पहले वर्गमें वे राज आते हैं जो किसी समय असभ्य समझे जाते थे। हम पहिले भी कह चुके हैं कि सभ्यता एक ऐसा शब्द है जिसकी परिभाषा नहीं हो

सकती। जो बात एक देश या कालमें असभ्यता-सूचक मानी जाती है वही दूसरे देश-कालमें सभ्यताका चिह्न हो जाती है। चाहे कितने ही कर्णप्रिय शब्दोंका प्रयोग किया जाय पर स्पष्ट बात यह है कि जब कोई राज-विशेष इतना बलवान् हो जाता है कि यूरोपीय शक्तियोंका यूरोपीय ढंगसे (अर्थात् तोप और कुटिलताका तोप और कुटिलतासे) उत्तर दे सकता है तो वह सभ्य कहलाने लगता है।

नव-सभ्य राज

कभी-कभी दुर्बल राजोंको भी सभ्य जगत्में प्रवेश करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। यह उस समय होता है जब कोई राज-विशेष दुर्बल होते हुए भी हजम नहीं किया जा सकता पर बिना उससे अन्तरंग सम्बन्ध किये काम भी नहीं चलता या किसी अर्थ-विशेषको सिद्ध करना होता है। पुराने तुर्क राज, चीन और ईरान दुर्बल तो थे पर उनकी स्वाधीनता छीनी भी नहीं जा सकती थी। एक तो वे स्वयं बहुत कुछ लड़ते-भिड़ते, दूसरे पारस्परिक ईर्ष्याके कारण कई यूरोपीय राष्ट्र उनका साथ देते। इसके साथ ही उनसे नित्य काम पड़ता था। इसलिए विवश होकर उनको सभ्य मान लिया गया और उनको अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्रत्व मिला।

कोरिया चीनके संरक्षणमें था। जापानकी उसपर आँख थी पर उसे चीनके हाथसे छीननेसे चीन रुष्ट होता और स्यात् युद्ध करता इसलिए जब उसने १८९५ में चीनसे सन्धि की तो उससे यह स्वीकार कराया कि कोरिया स्वतन्त्र राज है। ब्रिटेन जापानका मित्र ही था, उसने भी यह बात स्वीकार कर ली और १९०२ में अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए रूसने भी इस बातको मान लिया। बस फिर क्या था, बेचारा कोरिया सभ्य बन गया और अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र हो गया। दूसरे ही साल रूसने कुछ सेना भेजकर उसे अपने संरक्षणमें ले लिया। भला जापानको यह बात कैसे भाती? जिस उद्देश्यसे उसने कोरियाको 'स्वतन्त्र' बनाया था वह रहा जाता था। बस उसने कोरियाकी स्वाधीनताकी रक्षाके लिए उससे युद्ध ठाना। रूसके हारने पर जापान कोरियाका संरक्षक बन बैठा। अन्तमें जिस बातके लिए यह षड्यन्त्र रचा गया था वह पूरी हुई—१९१० में जापानने कोरियाको पूर्णतया अपने राज्यमें मिला लिया। इस देशकी कहानीका एक अध्याय तो यहाँ समाप्त हो गया। इसके आगेकी कथाका सारांश परिशिष्ट १६ में दिया गया है।

दूसरे वर्गमें वह नये राज हैं जो सभ्य मनुष्योंके द्वारा असभ्य देशोंमें बसाये जाते हैं। इसके कई उदाहरण मिलते हैं। दक्षिण अफ्रीकाके केपकलोनी प्रदेशमें डच जातिके बहुतसे लोग बसे हुए थे। जब यह प्रदेश अंग्रेजोंके हाथमें आया तो कुछ डच कृषक और भीतर की ओर बढ़ गये। जब वहाँ भी अंग्रेज पहुँचे तो वह वाल नदी के किनारेके जङ्गली प्रदेशमें जा बसे। यहाँ उन्होंने ट्रांसवाल (वालपार) नामक नया राज स्थापित किया। वह बोअर कहलाते थे। १८५२ में ब्रिटिश सरकारने ट्रांसवालको स्वतन्त्र राज मान लिया। यह राज बहुत दिनोंतक न चला। बोअर-युद्धके पीछे १९०२ में ट्रांसवाल अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया गया।

असभ्य देशोंमें नवस्थापित राज

पश्चिमी अफ्रीकाका लाइबीरिया राज कुछ इसी प्रकार स्थापित हुआ। आजसे लगभग २०० वर्ष पहिले अफ्रीकासे लाखों हब्शी गुलाम बना-बनाकर अमेरिका भेजे गये। यह बेचारे पशुओंकी भाँति बेचे और मोल लिये जाते थे। लगभग १२५ वर्ष हुए गुलामीकी प्रथा उठा दी गयी। सब गुलाम मुक्त कर दिये गये। उनके लगभग एक करोड़ वंशज अमेरिकामें अब भी हैं। वह बहुत ही परिश्रमी और सुशिक्षित हैं पर उनके साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया जाता। सन् १८२१ में अमेरिकाके कुछ उदार पुरुषोंने पश्चिम अफ्रीकामें कुछ भूमि मोल लेकर बहुतसे मुक्त

हबशी गुलामोंको वहाँ बसाना आरम्भ किया। यह लोग हब्शी तो थे ही, जलवायु इनके अनुकूल था और थोड़े ही समयमें इनके समाजने अच्छी उन्नति की। १८४७ में इन्होंने अपनी स्वतन्त्रता घोषित की और अन्य स्वतन्त्र राजोंने भी इनकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। यही लाइबीरियाका प्रजातन्त्र राज है।

कांगोका इतिहास सबसे निराला है। यह मध्य पश्चिमी अफ्रीकाका एक बड़ा प्रान्त है। इसमेंसे गुलाम पकड़-पकड़कर बाहर भेजे जाते थे। इस बातको रोकने और इसमें कुछ सभ्यता फैलानेके लिए इण्टर्नैशनल असोसिएशन आव दि कांगो (कांगोकी अन्ताराष्ट्रिय समिति) नामक एक समिति खुली। इस समितिके उद्देश्य देखनेमें बड़े ही उदार और प्रशंसनीय थे। धीरे-धीरे उस प्रान्तके असभ्य निवासियोंसे सन्धि कर-करके इसने एक बहुत बड़ा भूभाग मोल ले लिया जिसमें कमसे कम १,७०,००,००० प्राणी बसे थे। बेल्जियम-नरेश इसके प्रधान संरक्षक और पृष्ठपोषक थे। सन् १८८५ में बर्लिनमें एक अन्ताराष्ट्रिय सभा हुई जिसमें यूरोपके उन सभी राजोंके प्रतिनिधि उपस्थित थे जिनका पश्चिमी अफ्रीकासे कोई सम्बन्ध है। इस सभाने कांगोको एक तटस्थीकृत राज मान लिया औप बेल्जियम-नरेश इस नये राजके नरेश मान लिये गये। यह राज बेल्जियमसे पृथक था, यद्यपि दोनों देशोंका नरेश एक ही व्यक्ति था। अब यह राज जिसे कांगो फ्री स्टेट (कांगोका स्वतन्त्र राज) का नाम दिया गया, स्वयं अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र हो गया। इसके चार वर्ष पीछे बेल्जियय-नरेशने एक वसीयतनामा लिखकर यह राज बेल्जियमको दे दिया। परन्तु उनके जीवनभर इसका शासन सर्वथा पृथक ही रहा। इधर उन उद्देश्योंपर, जिनको लेकर पहिले-पहिले अन्ताराष्ट्रिय समिति स्थापित हुई थी, पानी फेर दिया गया। नामको गुलामी तो नहीं थी पर कांगोमें रबड़ उत्पन्न होता है और इस व्यापारके लिए वहाँके निवासियोंके साथ जो भीषण अत्याचार किये जाने लगे थे, जिस निर्दयताके साथ बेगार ली जाती थी, जिस पाशविकताके साथ अमानुषिक दंड दिये जाते थे, उन्होंने गुलामोंके भी कान काटे थे। जब इन बातोंका समाचार सभ्य जगतमें पहुँचा तो लोग खिन्न हुए। बेल्जियमपर बहुत आक्षेप हुए। अन्तमें सन् १९०९ में यह राज बेल्जियममें मिला लिया गया और बेल्जियमका एक प्रांत हो गया। इस बातपर किसी राजने आक्षेप नहीं किया।

ऊपर जिन दो वर्गोंका उल्लेख हुआ है उनके उदाहरण कम मिलते हैं और सम्भवतः भविष्यत्में मिलेंगे ही नहीं। परन्तु जिस तीसरे वर्गका अब उल्लेख होगा उसके उदाहरण बहुत मिलते हैं और स्यात् आगे भी मिलते रहेंगे। इस वर्गमें वे राज आते हैं जो किसी समुदायके स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने, स्वराज्य पा जाने, पर बनते हैं।

नव-स्वतन्त्र राज

जब किसी राजका कोई अंशविशेष इतना असन्तुष्ट हो जाता है कि वह विना पृथक् हुए नहीं रह सकता तो एक नये राजकी सम्भावना होती है। यदि स्वातंत्र्यवादी एक निश्चित भूभागपर अपना अधिकार जमा लें और उसपर सभ्य ढंगसे शासन करने लग जायँ तो यह मानना ही पड़ता है कि उन्होंने एक नया राज स्थापित कर लिया है। परराज उस समयतक प्रतीक्षा करते हैं जबतक यह सम्भावना रहती है कि स्यात् स्वराज्यवादी हरा दिये जायँ पर जब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अब उनकी जड़ दृढ़ हो गयी तो फिर उनके साथ वैसा व्यवहार करना ही पड़ता है जैसा कि स्वतन्त्र राजोंके साथ किया जाता है। इसपर वह राज भी आक्षेप नहीं कर सकता जिससे टूटकर नया राज अलग हुआ है।

१८०४ में दक्षिणी अमेरिकाके ब्योनस आयर्स प्रदेशके निवासियोंने स्पेनके विरुद्ध विद्रोह

किया और लगभग ६ वर्षमें स्पेनवालोंको निकाल बाहर किया। स्पेन अब भी अपनेको ब्योनस आयर्सका स्वामी कहता था पर उसका अधिकार वहाँ रत्तीभर न था। १८२८ में ब्रिटेनने ब्योनस आयर्सकी स्वाधीनता स्वीकार कर ली। ऐसी अवस्थामें स्पेनको आक्षेप करनेकी जगह न थी। १८३६ में टेक्ससने मेक्सिकोके विरुद्ध विद्रोह किया। उसने मेक्सिकन सेनाको तो पराजित किया ही, मेक्सिकोके राष्ट्रपतिको भी बन्दी कर लिया। ऐसी दशामें दूसरे ही साल अमेरिकाने उसकी स्वाधीनता स्वीकार कर ली।

परन्तु प्रत्येक अवसरपर इतनी निष्पक्षता नहीं दिखलायी जाती। अमेरिका चाहता था कि अटलांटिक और प्रशांत महासागरोंके बीचमें एक नहर खोदी जाय। यह नहर पनामाके स्थलडमरूमध्यको काटनेसे बन सकती थी। यह डमरूमध्य कोलम्बिया राजमें पड़ता था और कोलम्बियावाले अमेरिकाकी बात मानते न थे। भाग्यसे पनामा प्रान्तवालोंने विद्रोह किया। वे अपना पृथक् राज बनाया चाहते थे। अमेरिकाने पन्द्रह दिनके भीतर ही उनका स्वातंत्र्य स्वीकार कर लिया और इसके पीछे पाँच दिनके भीतर पनामाके नये राजसे वह सब शर्तें स्वीकार करा लीं जिन्हें कोलम्बिया नहीं मानता था। अमेरिकाकी सहायताने पनामाको बलवान् बना दिया और कोलम्बिया मुँह देखता रह गया। यदि वह प्रबल राज होता या उसके भी प्रबल सहायक होते तो अमेरिकाको यह साहस न होता कि इतनी जल्दी विद्रोहियोंको स्वतन्त्र मान ले।

ऐसे उदाहरण मिलते ही रहते हैं। अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए ब्रिटिश सरकारने मक्काके शरीफ़को, जिसने तुर्की सुल्तानके विरुद्ध विद्रोह किया था, तत्काल ही हजाज (अरब) का नरेश स्वीकार कर लिया।

ऊपर जितने उदाहरण दिये गये हैं वे सब हिंसात्मक विद्रोहके हैं। प्रायः हिंसात्मक असहयोग या सशस्त्र विद्रोह ही स्वतन्त्र होनेका साधन रहा है; पर कभी-कभी शान्तिके साथ भी नये राजोंका जन्म हो जाता है। १८२५ में दक्षिणी अमेरिकाका ब्रेजील प्रदेश जो उस समयतक पुर्तगालके अधीन था, पृथक् हो गया और पुर्तगालवालोंने शान्तिपूर्वक उसका स्वातंत्र्य स्वीकार कर लिया। १९०५ में इसी प्रकार स्कैण्डिनेवियाके स्वीडन और नार्वे दोनों भाग पृथक्-पृथक् राज हो गये।

पिछले आठ वर्षोंमें कई स्वतंत्र राज्योंका जन्म हुआ है। भारत दीर्घकाल तक स्वातंत्र्यके लिए संघर्ष कर रहा था। अन्तमें ब्रिटिश सरकारने उससे हट जाना ही श्रेयस्कर समझा। परन्तु जाते-जाते वह एक चाल खेल गया। कुछ लोगोंके स्वार्थमय आन्दोलनका आश्रय लेकर उसने भारत के दो टुकड़े कर दिये। इस प्रकार पाकिस्तानका जन्म हुआ। बर्मा और लंकाको भी अंग्रेजोंने छोड़ दिया। थोड़े दिनोंके बाद जावा, सुमात्रा आदि द्वीप डचके हाथसे निकल गये और इण्डोनीसिया लोकतंत्रका जन्म हुआ। शीघ्र ही कम्बोडिया, लाओस और वीतनाम फ्रांससे पृथक् होकर स्वतंत्र राज बननेवाले हैं। फिलिपीन द्वीप समूहका इतिहास भी रोचक है। १८९८ में अमेरिकाके संयुक्त राजने इसे स्पेनसे युद्ध करके प्राप्त किया। १९३४ में कानून बनाकर अमेरिकन सरकारने यह निश्चय किया कि क्रमशः दस वर्षमें इसको पूर्ण स्वाधीनता दे दी जाय। युद्धके बाद १९४६ में यह वचन पूरा किया गया।

ऊपरके अनुच्छेदमें पाकिस्तानके जन्म होनेका जिक्र है। वह कथा थोड़े विस्तारसे देने योग्य है। ब्रिटिश पार्लमेण्टमें इण्डियन इण्डिपेण्डेंस ऐक्ट नामके कानूनके बन जानेके बाद १५ अगस्त १९४७ को इण्डिया और पाकिस्तानके दो स्वतन्त्र राजोंका जन्म हुआ। इनका पद कनाडा,

आस्ट्रेलिया आदिके बराबर था अर्थात् उपनिवेश न होते हुए भी यह ब्रिटिश राज परिवारके अंग थे। इनका कोई अपना संविधान भी नहीं था। इसलिए थोड़ेसे परमावश्यक परिवर्तनोंके साथ दोनोंका शासन पुराने गवर्मेण्ट आव इण्डिया ऐक्ट (१९३५) के अनुसार होता था।

इसके पहिले इण्डिया संयुक्तराष्ट्र संघटन, अन्ताराष्ट्रिय श्रम संघटन तथा कई और अन्ताराष्ट्रिय संस्थाओंका सदस्य था। अब प्रश्न यह हुआ कि पृथक् होनेके बाद इन संस्थाओंका सदस्य कौन हो ? यदि यह माना जाय कि अविभक्त भारतके अनस्तित्वके कारण पुराने सब अधिकार लुप्त हो गये तब तो दोनों नये राजोंको पृथक् रूपसे सदस्यताके लिए प्रयत्न करना होगा। संयुक्त राष्ट्रकी महासभाने यह निश्चय किया कि एक टुकड़ेके अलग हो जाने पर भी इण्डियाका अस्तित्व बना हुआ है अतः पुराने इण्डियाका उत्तराधिकारी नया इण्डिया है। पाकिस्तान नया राज है, उसको अन्ताराष्ट्रीय संस्थाओंकी सदस्यताके लिए आवश्यक कार्यवाही करनी होगी। ऐसा ही हुआ भी। हमारे संविधानमें इस देशका नाम सीधे भारत न लिखकर इण्डिया दैट इज़ भारत (इण्डिया अर्थात् भारत) लिखनेका एक कारण यह भी था। हमको देशके नामको बदलनेका पूरा अधिकार है पर यह उचित समझा गया कि जिस नामसे इसकी अन्ताराष्ट्रिय जगत्में ख्याति है कुछ दिनों तक उसका ही उपयोग किया जाय।

पाकिस्तानके परराष्ट्रमन्त्रीने संयुक्त राष्ट्र संघटनके प्रधान सचिवको लिखा कि भारतकी भांति पाकिस्तानको भी इण्डियाका उत्तराधिकारी माना जाय परन्तु उसकी यह बात नहीं मानी गयी। यही निश्चय हुआ कि विस्तार कम हो जाने पर भी इण्डिया (भारत) का अस्तित्व और व्यक्तित्व अविच्छिन्न है, पाकिस्तान नया राज है।

अन्ताराष्ट्रिय विधान साधनोंको नहीं देखता। जो राज स्वतन्त्र है वह इस विधानका पात्र है, चाहे उसने किसी प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त की हो। जैसा कि हॉल कहते हैं—यदि किसी समुदायका उस भूखण्डपरके, जिसपर उसका कब्जा है, सब प्राणियों और वस्तुओंपर असंदिग्ध और अनन्य अधिकार है, यदि वह अन्य किसी समुदायकी इच्छाकी ओर ध्यान दिये बिना ही अपने बाह्य व्यवहारको निश्चित करता है, यदि वह अन्ताराष्ट्रिय विधानका अनुसरण करता है और यदि इस बातकी आशा होती है कि उसका समष्टि-जीवन चिरस्थायी रहेगा, तो वह समुदाय अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र है। अन्ताराष्ट्रिय विधान उन बातोंको नहीं देखता जो किसी समुदाय-विशेषके राज-लक्षण प्राप्त करनेके पहिले होती हैं, इसलिए वह उन साधनोंकी ओरसे उदासीन है जिनके द्वारा कोई समुदाय अपनेको राज बनाता है।[1]

इन बातोंका अर्थ यही है कि जब कोई समुदाय येन-केन-प्रकारेण उन लक्षणोंसे सम्पन्न हो जाता है जो राजोंमें पाये जाते हैं तो सभी उसे राज मानने लगते हैं अर्थात् उसके साथ वही व्यवहार किया जाता है जो राजोंके साथ किया जाता है, उसके कर्तव्य और अधिकार अन्य राजोंके अधिकारों और कर्तव्योंके समान हो जाते हैं। इस परिपाटीसे एक सिद्धान्त निकलता है जिसे राज-समता सिद्धान्त कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी देश-विशेषके साधारण विधानकी दृष्टिमें सब नागरिक बराबर हैं उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें सब राज बराबर हैं। इस सिद्धांतके मान लिये जानेसे मानव-समाजका बहुत कल्याण हुआ है। बहुतसे छोटे और दुर्बल राजोंकी सत्ताकी रक्षा केवल इस सिद्धांतने करायी है। बड़े राज छोटे राजोंके स्वत्वोंको हानि पहुँचानेमें इसलिए

राज-समता सिद्धांत

१ हॉलकृत इण्टर्नैशनल लॉ—जनरल प्रिंसिपल्स—प्रथम अध्याय।

झिझकते हैं कि उन्हें निन्दाका डर रहता है।

परन्तु एक बात समझ लेनी चाहिये। साधारण विधानोंमें यह बात होती है कि उनके पीछे किसी-न-किसी सरकारका बल होता है जो बड़े और छोटे, धनी और निर्धनमें न्याय कराती है। जो इतना निर्धन है कि वकील नहीं कर सकता उसकी ओरसे सरकार वकील कर देती है, पर अन्ताराष्ट्रिय विधानमें अब तक ऐसा न था। यदि कोई सबल राज विधानकी अवहेलना करके किसी छोटे राजके स्वत्वोंको हानि पहुँचाना ही चाहे तो उसे कोई रोक नहीं सकता था। कोई न्यायालय नहीं था जो सबल-निर्बलपर समान शासन करे। विवादोंके निर्णय करनेका एकमात्र साधन युद्ध था परन्तु युद्धमें सबलकी ही बन आती थी।

अब स्यात् ऐसा न हो। संयुक्त राजोंका संघटन स्थापित हो गया है। अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय भी खुल गया है। सम्भव है आगे चलकर बड़े-छोटोंमें भी न्याय होने लगे। अभी तो यह संघटन पूर्णतः विश्वस्त संस्था नहीं है। ऐसी आशा की जा सकती है कि भविष्यत्में इसका सुधार हो जायगा।

किसी राजका पात्र होना तभी निश्चित हो सकता है जब अन्य राज जो पहिलेसे पात्र हैं, उसे पात्र मानें। इस माननेको अभिज्ञा कहते हैं। जो राज बहुत पहिलेसे चले आते हैं अर्थात् जिनका व्यवहार अन्ताराष्ट्रिय विधानका आधार है, उनके लिए किसी प्रकारकी अभिज्ञाकी आवश्यकता नहीं है। ब्रिटेन, रूस, फ्रांस, हालैंड आदिको किसीने अभिज्ञा नहीं दी; पर नवस्थापित राजोंको और ऐसे राजोंको जो पहिले असभ्य कोटिमें गिने जाते थे पर अब सभ्य माने जाने लगे हैं, अभिज्ञाकी आवश्यकता होती है।

अभिज्ञा और उसकी विविध रीतियाँ

ऐसा बहुत कम होता है कि किसी राज-विशेषको अन्य सब राज या सब प्रमुख राज एक साथ ही अभिज्ञात कर लें। आरम्भमें एक या दो जिनको उसके साथ किसी कारण-विशेषसे अधिक सहानुभूति होती है या जिनको उससे कोई स्वार्थ सिद्ध करना रहता है, उसे अभिज्ञात कर लेते हैं। फिर धीरे-धीरे दूसरे भी ऐसा करने लग जाते हैं। जब किसी राजको प्रधान-प्रधान राज स्वीकार कर लेते हैं अर्थात् अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र मान लेते हैं तो छोटे राज ऐसा करनेसे विमुख नहीं रह सकते। इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक नये राजके लिए कुछ समयके भीतर सभी राजोंकी अभिज्ञा मिल जाय। यदि प्रमुख राजोंकी अभिज्ञा मिल चुकी है तो दूसरोंकी मूक अभिज्ञा मान ली जाती है।

जिस राजको अभिज्ञा नहीं मिली होती उसके साथ किसी प्रकारका व्यवहार खुलकर नहीं होता। यह बात कितनी दूर तक जाती है इसका एक उदाहरण अभी हालमें मिला है। १८ अक्तूबर १९५४ में मास्कोमें एक रात्रिभोज था। वहाँ बैठनेका प्रबन्ध इस प्रकार था कि ब्रिटिश, अमेरिकन और फ्रेञ्च राजदूतोंकी कुर्सियां उसी मेजपर लगी थीं जिसपर चीन और पूर्वी जर्मनीके प्रतिनिधि बैठाये जानेवाले थे। इसपर यह तीनों बिना भोजन किये ही उठकर चले आये, क्योंकि उनकी सरकारोंने इन दोनों राजोंको अभिज्ञा नहीं दी है।

अभिज्ञा देनेके कई प्रकार हैं। सबसे सीधा और निर्विवाद ढंग यह है कि इस विषयकी एक विशेष विज्ञप्ति निकाली जाय। ऐसी विज्ञप्तिका एकमात्र उद्देश्य उस नये राजको अभिज्ञा देना होता है। १८८४ में अमेरिकाके संयुक्त राजने काङ्गो फ्री स्टेटको इस प्रकारकी विज्ञप्ति द्वारा ही अभिज्ञा दी थी। उसके मुख्यांशका भावानुवाद इस प्रकार है—

फ्रेडरिक टी० फ्रेलिङ्गहाइजेन (सेक्रेटरी आव स्टेट) अमेरिकाके संयुक्त राजके राष्ट्रपतिके दिये हुए अधिकारके आधारपर और सिनेटके परामर्श और अनुज्ञाके अनुसार......इस बातकी घोषणा करते हैं कि संयुक्त राजकी सरकार कांगोकी अन्ताराष्ट्रिय समितिके उदार और दयालु उद्देश्योंसे सहानुभूति रखती है और संयुक्त राजके सब कर्मचारियोंको आज्ञा देते हैं कि जल और स्थलपर अन्ताराष्ट्रिय अफ्रीकन समितिके झण्डेको एक मित्र सरकारका झण्डा अभिज्ञात किया करें।

इसके साक्ष्यमें वह आज २२ अप्रैल सन् १८८४ को वाशिंगटन नगरमें अपना हस्ताक्षर करते हैं और अपनी मुहर लगाते हैं।[१]

दूसरा प्रकार सन्धि द्वारा है। अभिज्ञा-दायक सन्धियाँ दो प्रकारकी होती हैं। कुछ तो ऐसी होती हैं जिनमें अभिज्ञाका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं होता। १७६८ में फ्रांस और अमेरिकाके संयुक्त राजमें एक सन्धि हुई। उस समय अमेरिकावाले ब्रिटिश साम्राज्यके बाहर निकल चुके थे और अपनी स्वाधीनता घोषित कर चुके थे पर तबतक किसी प्रमुख राजने उनको अभिज्ञात नहीं किया था। उपर्युक्त सन्धिमें फ्रांसकी ओरसे यह कहीं नहीं कहा गया कि उसने संयुक्त राजको अभिज्ञात कर लिया परन्तु सन्धिकी शर्तें ऐसी थीं जो दो स्वतन्त्र राजोंके बीच ही हो सकती थीं। इसका यही अर्थ हो सकता था कि फ्रांसने संयुक्त राजको स्वतन्त्र राज और अन्ताराष्ट्रिय विधानका पूर्ण पात्र मान लिया परन्तु इस अभिज्ञाको कहीं लेखबद्ध करना अनावश्यक समझा।

दूसरे प्रकारकी सन्धियोंमें और शर्तोंके साथ-साथ अभिज्ञाका भी स्पष्ट उल्लेख रहता है। १८८४ में जर्मनीने कांगो फ्री स्टेटसे एक सन्धि की। इस संधिकी सात धाराएँ थीं। चार धाराओंमें उन अधिकारोंका उल्लेख था जो जर्मनोंको कांगो राजमें प्राप्त होनेवाले थे, दोमें जर्मन सरकारने नये राजको स्पष्ट शब्दोंमें अभिज्ञा प्रदान की थी। हम यहाँ उन्हीं दोनोंके भावानुवाद देते हैं[२]—

धारा ५ जर्मन साम्राज्य समितिके झण्डेको—नीले झण्डेको जिसके बीचमें एक सुनहरा तारा है—एक मित्र राजका झण्डा स्वीकार करता है।

धारा ६ जर्मन साम्राज्य समितिके, और जो नया राज बननेवाला है उसके, राज्यकी संलग्न मानचित्रमें दी हुई सीमाओंको स्वीकार करनेको प्रस्तुत है।

---

१ Frederick T. Frelinghuysen, Secretary of State, duly empowered therefor by the President of the United States of America, and pursuant to the advice and consent of the Senate, heretofore given...declares that the Government of the United States announces its sympathy with, and approval of, the humane and benevolent purposes of the International Association of the Congo...and will order the officers of the United States, both on land and sea, to recognize the flag of the International African Association as the flag of a friendly Government.

In testimony whereof, he has hereunto set his hand and affixed his seal, this twenty-second day of April, A. D. 1884, in the city of Washington.

२ Article V—The German Empire recognizes the flag of the Association—a blue flag with a golden star in the centre—as that of a friendly State.
Article VI—The German Empire is ready on its part to recognize the frontiers of the territory of the Association and of the new State which is to be created, as they are shown in the annexed map.

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कई राज मिलकर किसी राज-विशेषको स्वीकार करते हैं। १८५६ में फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रियाने मिलकर रूम (तुर्क साम्राज्य) को अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्रत्व प्रदान किया। १८७८ में फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूसने सर्वियाकी स्वतन्त्रता इस शर्तपर स्वीकार की कि वह अपने शासनमें धार्मिक भेदभावको स्थान न दे।

आजकल अभिज्ञाकी सबसे बड़ी कसौटी यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघटनकी सदस्यता मिले। जो राज संघटनका सदस्य होना चाहता है उसका प्रस्ताव किसी सदस्य राजको करना पड़ता है। यदि सदस्योंका बहुमत पक्षमें हुआ तो सदस्यता प्राप्त हो जाती है और वह राज राजपरिवारका स्वीकृत अंग बन जाता है। स्वीकृतिके सम्बन्धमें बड़ी धाँधली है। चीन जैसे बड़े देशपर जिस सरकारका शासन है वह अमेरिकन विरोधके कारण संघटनमें नहीं है, यद्यपि संघटनके कई सदस्य, जैसे भारत, ब्रिटेन, रूस, उसको स्वीकृति दे चुके हैं।

प्रत्येक राजकी ओरसे उसकी सरकार काम करती है। न तो सारा समुदाय विधान-निर्माण कर सकता है, न शासन कर सकता है, न परराजोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। यह सब काम उसकी सरकार करती है। जो काम सरकार करती है उसके लिए सारा राज बाध्य होता है। सरकारके लिये हुए ऋण, सरकारकी सन्धि-शर्तें, सरकारके दिये हुए वचन सारे समुदायके नामसे होते हैं और सारा समुदाय उनके लिए दायी है। इसमें अपवाद तभी होता है जब सरकार अपने अधिकारके बाहर कोई काम कर बैठे। जैसे, ब्रिटेनमें नियम है कि बिना पार्लमेण्टकी अनुज्ञाके सरकार ऋण नहीं ले सकती। अब यदि ब्रिटिश सरकार बिना पार्लमेण्टसे पूछे ही ऋण ले ले तो ब्रिटिश राज उसके लिए दायी नहीं हो सकता।

राजसत्ताकी अविच्छिन्नता

प्रत्येक समुदायका यह नैसर्गिक स्वत्व है कि वह अपना शासन चाहे जैसा रखे। विदेशियोंको इस सम्बन्धमें बोलनेका कोई अधिकार नहीं है। चाहे किसी राजमें प्रजातन्त्र हो, चाहे गणतन्त्र हो, चाहे एक नरेशके हाथमें सारा अधिकार हो, इससे विदेशियोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। भीतरी शासनके सम्बन्धमें चाहे जितने परिवर्तन हों बाहरवालोंको तटस्थ रहना चाहिये। इन परिवर्तनोंसे राजजीवनके प्रवाहमें कोई विघ्न नहीं पड़ता। चाहे सरकारके रूपमें कोई परिवर्तन हो जाय, चाहे राज्य बढ़ जाय चाहे घट जाय, परन्तु राज ज्योंका त्यों रहता है, उसके स्वत्वों और कर्तव्योंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यूनान पहिले नरेशाधीन था, फिर प्रजातन्त्र हुआ, फिर नरेशाधीन हो गया। उसका राज्यविस्तार पहिले घटा, फिर बढ़ा और पीछेसे फिर घटा पर उसके जीवनमें कोई अन्तर नहीं आया। वह वही यूनान रहा। जो सन्धियाँ उसकी पहिली सरकार कर गयी थी वह उसपर फिर भी बाध्य रहीं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जबतक किसी राजकी नयी सरकार अपनी पूर्ववर्ती सरकारोंकी स्वीकृत की हुई सब शर्तें मंजूर करती है तबतक अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें राजकी सत्तामें कोई अन्तर नहीं आता। यदि विदेशी भीतरी शासनमें बोलते हैं तो यह उनका अन्याय और अनधिकार प्रयत्न है।

परन्तु कभी-कभी राजसत्तामें परिवर्तन होता है। यदि कोई स्वतन्त्र राज किसी अन्य राजकी संरक्षकता स्वीकार कर ले या तटस्थीकृत हो जाय तो उसकी सत्तामें परिवर्तन माना जायगा क्योंकि वह पूर्णप्रभुसे अंशप्रभु हो गया। इसी प्रकार यदि कोई अंशप्रभु राज पूर्णप्रभु हो जाय तो उसकी सत्तामें परिवर्तन माना जायगा। प्रथम यूरोपीय महासमरके पहिले बेल्जियम तटस्थीकृत राज था पर अब वह पूर्णप्रभु राज हो गया है।

राजजीवनका अन्त भी हो सकता है। यह तीन मुख्य प्रकारोंसे होता है। सबसे साधारण प्रकार तो यह है कि उसको कोई दूसरा राज पूर्णतया अपनेमें मिला ले। पहिले महासमरके पश्चात् माण्टिनीग्रो सर्बियामें मिला लिया गया, कोरियाको जापानने अपने साम्राज्यमें मिला लिया था। दूसरा प्रकार यह है कि उससे टूटकर कई पृथक् राज बन जायँ। दक्षिणी अमेरिकामें कोलम्बिया नामका एक विशाल प्रजातन्त्र राज था। १८३२ में उसके तीन टुकड़े हो गये। यह तीनों टुकड़े—वेनेज़ुएला, इक्वेडोर और न्यू ग्रनाडा—स्वतन्त्र राज हो गये पर कोलम्बियाकी सत्ताका अन्त हो गया। (पीछेसे १८६३ में न्यू ग्रनाडाने फिरसे कोलम्बिया नाम धारण कर लिया पर इसकी सत्ता पुराने कोलम्बियासे नितान्त भिन्न थी।) तीसरा प्रकार यह है कि कई राज मिलकर एक नया राज बनायें। १८४८ में स्वीजरलैण्डके सब छोटे-छोटे राज मिल गये। इनके मिलनेसे वह लिंगशेष प्रजातंत्र बना जिसे आज स्वीजरलैण्ड कहते हैं। अब अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें उन छोटे राजोंकी सत्ताका लोप हो गया है। किसी समय इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड पृथक् राज थे पर जब १७०७ में दोनोंके मिलनेसे ग्रेटब्रिटेनका अलिंगशेष राज बना तो इन दोनोंकी सत्ताका लोप हो गया।

जब एक राजका स्थान दूसरा राज लेता है तो कई बड़े टेढ़े प्रश्न उत्पन्न होते हैं। इसको राजोत्तराधिकार कहते हैं। कुछ आचार्योंकी तो यह सम्मति है कि जिस समय एक राज दूसरेका उत्तराधिकारी हो उस समय वही नियम बर्ते जायँ जो उस समय काममें लाये जाते हैं जब एक व्यक्तिका उत्तराधिकारी दूसरा व्यक्ति होता है। उत्तराधिकारी पूर्वाधिकारीकी सारी सम्पत्तिका स्वामी होता है पर इसके साथ ही वह उसके समस्त ऋणोंके लिए भी दायी होता है। यदि राजोंके लिए भी यह नियम बन जाय तो अच्छा हो। जो मनुष्य किसी राजको ऋण देता है या उसकी सेवा करता है या उसके हाथ कोई सामग्री बेचता है वह इसी आशामें रहता है कि समय पाकर मेरा रुपया मुझे मिल जायगा। अब यदि बीचमें युद्धादि कारणोंसे उस राजका स्थान कोई दूसरा ले-ले तो उस बेचारेका रुपया तो न मारा जाना चाहिये। पर दिलाये कौन? भिन्न-भिन्न समयोंपर भिन्न-भिन्न राजोंके व्यवहारमें ऐसे नियम देखे गये हैं जिनका आज-कल भी न्यूनाधिक पालन होता है। यहाँ हम उनका ही उल्लेख कर सकते हैं। इतना बतला देना आवश्यक है कि आजकल सभ्य देशोंमें राजपरिवर्तनसे नागरिकोंके नागरिक और साम्पत्तिक स्वत्वोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् न उनके व्यापार बन्द किये जाते हैं, न सम्पत्ति छीनी जाती है, न धर्ममें हस्तक्षेप किया जाता है। इस नियममें एक ही अपवाद देख पड़ता है। रूसके बोल्शेविक शासक निजी सम्पत्तिके सिद्धान्ततः विरोधी हैं। यदि उनको कहीं अधिकार मिले तो निजी सम्पत्ति, कम-से-कम जमीनदारियों और कल-कारखानों, को निश्चय ही जब्त कर लेंगे।

राजोत्तराधिकार

उत्तराधिकारके दो प्रकार हो सकते हैं—पूर्ण और आंशिक। इन दोनोंपर पृथक्-पृथक् विचार करना होगा।

पूर्ण उत्तराधिकार प्रायशः उसी अवस्थामें होता है जब एक राज दूसरेको युद्धमें जीतकर उसके राज्यको पूर्णतया अपने राज्यमें मिला लेता है। इस दशामें विजित राजकी सत्ताका लोप हो जाता है। इसमें तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता कि विजेता विजितकी सारी सम्पत्तिका स्वामी हो जाता है और विजितके सब अधिकार उसको मिल जाते हैं। अब रहा कर्तव्योंका प्रश्न। कर्तव्योंमें सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि विजितके ऋणोंको विजेता देगा या नहीं। इसके लिए कोई स्पष्ट नियम नहीं है पर आजकल सभ्य देशोंमें ऋणोंका चुकाना ही श्रेष्ठ समझा जाता है। हाँ, वह ऋण नहीं चुकाया जाता जो विजित राजने उसी युद्धके लिए लिया था। ओपेनहाइम आदि कुछ

आचार्योंकी सम्मतिमें तो यह ऋण भी चुकाया जाना चाहिये पर मानव स्वभाव ऐसा है कि उस ऋणको चुकानेके लिए कोई राज प्रस्तुत नहीं होता जो उसीको हरानेके लिए लिया गया था।

विलुप्त राजकी सत्ताके साथ-साथ उसकी राजनीतिक सन्धियोंका भी लोप हो जाता है पर व्यापारिक सन्धियोंका प्रायः पालन होता है। यदि पूर्ववर्ती राजने विदेशी व्यापारियोंको कुछ विशेष शर्तोंपर व्यापार करनेके अधिकार दे रखे थे तो अपनी मीयाद भर उन शर्तोंका प्रायः पालन होता है।

जो समुदाय किसी राज-विशेषका उत्तराधिकारी बननेकी आशा रखता है उसको यह अधिकार है कि पहिलेसे ही बतला दे कि जो लोग उस राजको किसी विशेष प्रकारकी सहायता देंगे उनको इस बातकी आशा न रखनी चाहिये कि उनकी क्षतिपूर्ति आगे चलकर होगी। इसी सिद्धान्तको मानकर गयामें भारतकी राष्ट्रिय महासभाने (दिसम्बर १९२२) यह निश्चय किया था कि भविष्यत्‌में जनवरी १९२३ से भारतकी ब्रिटिश सरकार जो ऋण लेगी उसका दायित्व स्वराज्य होनेपर भारतीय सरकारपर न होगा। और भी इस प्रकारके कई उदाहरण हैं।

यह तो आर्थिक बातें हुईं। विजित राजके नागरिकोंकी क्या स्थिति होती है? इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि यदि वह वहीं रह जायँ तो विजेताकी प्रजा हो जायँगे पर यह अभी सुनिश्चित नहीं है कि यदि वह तत्काल देश छोड़ दें या यदि परदेश गये रहे हों और लौटें ही न तो वह किसकी प्रजा गिने जायँगे। आजकल प्रथा यही है कि यदि वह किसी अन्य देशमें बसना चाहें तो उनको ऐसा करने दिया जाय।

आंशिक उत्तराधिकार उस अवस्थामें होता है जब कि एक राज अपने राजका कुछ भाग दूसरे राजको दे देता है। यह भी प्रायः युद्धका ही परिणाम होता है और इस दशामें भी प्रायः वही नियम बर्ते जाते हैं जो पूर्णोत्तराधिकारमें बर्ते जाते हैं। जो अन्तर होता है वह इसलिए होता है कि उत्तराधिकारीके साथ-साथ पूर्वाधिकारीकी सत्ता भी बनी रहती है।

जो भूभाग दिया जाता है उसका तथा उसपरकी सारी अचल राज-सम्पत्तिका उत्तराधिकारी स्वामी हो जाता है। रहा प्रश्न ऋणका। आजकल प्रथा यह है कि पूर्वाधिकारी राज जो ऋण इस भूखण्डके विशेष उपयोगके लिए लेता है उसका भार उत्तराधिकारीपर पड़ता है। कुछ आचार्योंका यह मत है कि उत्तराधिकारीको पूर्वाधिकारीके साधारण ऋणका भी कुछ अंश अपने ऊपर लेना चाहिये। जो राज ऋण लेता है वह उसे अपने सारे राज्यके लिए लेता है और सारे राज्यको उससे कुछ-न-कुछ लाभ पहुँचता है। यदि राज्यका कुछ अंश दूसरेके हाथमें चला गया तो यह हिसाब लगा लेना चाहिये कि उस टुकड़ेको कुल ऋणके कितने अंशसे लाभ पहुँचा होगा। उतनेका दायित्व उत्तराधिकारीपर होना चाहिये। यह बात है तो न्याय्य पर बहुधा इसका पालन नहीं होता। कभी-कभी किसी अर्थ-विशेषको सिद्ध करनेके लिए ही राज इसके अनुसार चलते हैं। १८६० में इटलीने पोपसे रोम नगर छीन लिया। इससे स्वभावतः रोमन कैथलिक मतके अनुयायी, जो सारे यूरोपमें फैले हुए हैं, असन्तुष्ट हुए। उनको प्रसन्न करनेके लिए इटलीने पोपके ऋणके एक अंशका भार अपने ऊपर ले लिया।

ऐसे राज्यांशके नागरिकोंको आजकल यह अधिकार रहता है कि वह चाहें तो उसे छोड़कर अन्यत्र जा बसें। प्रायः एक वर्षका समय मिलता है। इस सम्बन्धकी विशेष शर्तें पूर्वाधिकारी और उत्तराधिकारीमें सन्धि द्वारा निश्चित हो जाती हैं। बड़े टेढ़े-टेढ़े प्रश्न उठते हैं। स्त्रियोंकी राष्ट्रीयता क्या होगी? क्या स्त्री उसी राजकी नागरिक मानी जायगी जिसमें उसका पति रहना चाहता है

या उसकी नागरिकता पृथक् हो सकती है ? अवयस्क बच्चोंकी राष्ट्रीयताका निश्चय कैसे किया जाय ? इन सब विवादास्पद प्रश्नोंके उत्तर आपसके समझौतेसे ही निश्चित होते हैं।

राजोंके उत्तराधिकारके सम्बन्धमें बड़े रोचक प्रश्न उठते हैं। हम यहाँ एक उदाहरण देते हैं। १९१९ में आयरलैण्डके दक्षिणी भागकी जनताने ब्रिटिश सरकारके विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने डायल आयरिअन नामकी अपनी एक पार्लियामेण्ट चुनी और श्री डि वैलेयराको प्रधान मंत्री बनाया। सरकारकी ओरसे कड़ा दमन हुआ। श्री डि वैलेयरा किसी प्रकार अमेरिका पहुँचे और वहाँ उन्होंने स्वतंत्र आयरिश प्रजातंत्र स्थापित करनेके उद्देश्यसे ६०,००,००० डालरका ऋण एकत्र किया। यह ऋण उक्त डायलके नाम पर लिया गया। विद्रोह पूर्णतया सफल नहीं हुआ। अन्तमें उभय पक्षमें समझौता हो गया और ब्रिटिश पार्लियामेण्टने ३१ मार्च १९२२ को आयरिश फ्री स्टेट एग्रीमेण्ट ऐक्ट नामका कानून बनाकर दक्षिण आयरलैण्डको आयरिश फ्री स्टेट नामसे पृथक् राज मान लिया और यह तय पाया कि ब्रिटिश राजपरिवारमें इस राजका पद कनाडाके बराबर होगा।

विद्रोहमें ३५,०००,०० डालर तो व्यय हो गये, शेष अमेरिकाके हैरिमन नैशनल बंकमें जमा किया था। फ्री स्टेटकी सरकारने यह दावा किया कि हम डायलके उत्तराधिकारी हैं, अतः यह रकम हमको मिलनी चाहिये। अन्तिम निर्णय न्यूयार्कके सुप्रीम कोर्ट ने १९२७ में दिया। उसने दावा अस्वीकार किया। न्यायालयके तर्कका सारांश यह है—

(१) ऋण स्वतंत्र आयरिश प्रजातंत्र स्थापित करनेके लिए जमा हुआ था, उसी काममें व्यय हो सकता है। जो राज स्थापित हुआ है वह स्वतंत्र आयरिश प्रजातंत्र नहीं है, क्योंकि वह ब्रिटिश राजपरिवारमें है। अतः यह राज उस रकमको अपने काममें नहीं लगा सकता क्योंकि राज अब स्वतंत्र प्रजातंत्रकी स्थापनाके लिए विद्रोहको जारी नहीं रखेगा।

(२) राज डायलका उत्तराधिकारी नहीं है। डायलने विद्रोह किया जो असफल रहा। कोई राज किसी असफल विद्रोह या असफल विद्रोही संस्थाका उत्तराधिकारी नहीं हो सकता। इस राजको ब्रिटिश नरेश, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट और ब्रिटिश सरकारसे ब्रिटिश संविधानके अनुसार स्वीकृति मिली। १९२२ के कानूनसे इसका जन्म हुआ अतः जितनी दूरतक इसका विस्तार है वहाँ तक यह ब्रिटिश राजका उत्तराधिकारी है। राजसत्ताके जीवनमें शून्यावस्था नहीं आती। पहिले शासनका एक रूप था, अब दूसरा रूप हो गया। दूसरे रूपने पूर्व रूपकी जगह ली, अतः उसीका उत्तराधिकारी है। फ्री स्टेटकी स्थापनाके पहिले डायल राज नहीं कर रहा था वरन् ब्रिटिश सरकार कर रही थी।

(३) पूर्ववर्ती सरकार अर्थात् ब्रिटिश सरकारने कभी न तो डायलको स्वीकृति दी, न डि वैलेयराको स्वतंत्र राजका प्रधान मंत्री माना। उसकी दृष्टिमें इस ऋणके रुपयेका अस्तित्व था ही नहीं, अतः उसके उत्तराधिकारीका भी इससे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

चौथा अध्याय

संयुक्त राज संघटन

राष्ट्रोंके जीवनमें इस समय संयुक्तराज संघटनका जो स्थान है उसको देखते हुए उसे पृथक् अध्याय देना उचित प्रतीत होता है। इस संघटनकी स्थापना जिस भूमिकामें हुई उसका उल्लेख दूसरे अध्यायमें हो चुका है। परन्तु उसका कुछ विस्तारके साथ दिग्दर्शन कराना ठीक होगा। प्रथम महासमरके बाद विजेताओंने राष्ट्रसंघको जन्म दिया। उसके उद्देश्य इस प्रस्तावनासे प्रकट होते हैं—युद्ध न छेड़नेके कर्तव्यको स्वीकार करने, राष्ट्रोंके लिए खुले न्याय और प्रतिष्ठित सम्बन्धोंको निश्चित करने, सरकारोंके व्यवहारमें अन्ताराष्ट्रिय विधानके नियमोंको दृढ़तापूर्वक आचरणविधि बनाने, न्यायको बनाये रखने और संघटित जनसमुदायोंके परस्पर व्यवहारमें सब सन्धिजन्य कर्तव्योंका पूर्णतया पालन करनेके द्वारा अन्ताराष्ट्रिय सहयोगकी वृद्धि और अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और रक्षाकी प्राप्तिके लिए......। दुर्भाग्यकी बात यह है कि इन उद्देश्योंकी पूर्ति न हो सकी। संघ बड़े राष्ट्रोंके स्वार्थका अखाड़ा बन गया और अपने दुर्बल सदस्योंकी सहायता करनेमें असमर्थ रहा। असमर्थताका कारण यह था कि सभी बड़े राज स्वार्थसे प्रेरित होकर काम करते थे, फिर कौन किसको रोकता? जापानने चीनका मंचूरिया प्रदेश हस्तगत कर लिया। संघने जाँच करायी। जाँचमें जापान दोषी पाया गया परन्तु उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही न हुई। इटलीने अबिसीनिया पर आक्रमण किया। अबिसीनियाने संघमें पुकार की। संघके समयककी बारहवीं धाराके अनुसार यदि दो सदस्योंमें ऐसा विवाद खड़ा हो जाय जिससे युद्धकी सम्भावना हो तो उस विवादका निर्णय या पंचायतसे होना चाहिये था या न्यायालयके द्वारा। संघकी कार्यकारिणीको जिसको कौंसिल कहते थे, यह अधिकार था कि वह ऐसे मामलोंकी जाँच कराये। पंचायत और न्यायालयके निर्णय अथवा जाँचकी रिपोर्टके तीन महीनेके भीतर युद्ध नहीं छेड़ा जा सकता था। इटलीने इसकी अवहेलना की पर गरीब अबिसीनियाकी किसीने न सुनी। सोलहवीं धाराके अनुसार इसका दण्ड यह होना चाहिये था कि अन्य सब सदस्य उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लेते। यह भी नहीं हुआ। ब्रिटेन तो इटलीके हाथ पेट्रोल जो युद्ध-सामग्री है बेचता रहा। अमेरिकाके संयुक्त राजने यह घोषित किया कि हम दोनों लड़नेवालोंमेंसे किसीके हाथ शस्त्र न बेचेंगे। यह तमाशा था। इटली बलवान था, उसको तो शस्त्र मोल लेने नहीं थे। अबिसीनिया दुर्बल था। इस दिखावटी तटस्थतासे उसका गला घोंट दिया गया। इटलीका देशपर कब्जा हो गया और थोड़े दिनोंमें इटली नरेश अबिसीनिया के सम्राट् मान लिये गये। ऐसी संस्था कितने दिनों चलती। उसका टूट जाना अवश्यंभावी था। छोटे राजोंका तो उससे हितसाधन नहीं ही होता, कई बड़े राष्ट्र भी धीरे-धीरे अलग हो गये। जेनीवामें उसका विशाल भवन अब भी मूर्तिमान् दम्भके स्मारकके रूपमें खड़ा है।

राष्ट्रसंघकी ढहती दीवारोंको देखकर यथाशक्य शान्ति बनाये रखनेके दूसरे उपाय भी सोचे जाने लगे। १९२८ में पेरिसमें एक सम्मेलन हुआ जिसके विचारविनिमयके परिणामस्वरूप पैक्ट आव पैरिस—पैरिसका समझौता नामका एक समय-पत्र तैयार किया गया। इसके सम्बन्धमें अमेरिकाके परराष्ट्रसचिव श्री केलॉग और फ्रांसके श्री ब्रियां अधिक यत्नशील थे इसलिए इसे केलॉग-

ब्रियाँ समझौता[१] भी कहते हैं। इसपर जर्मनी, अमेरिकन संयुक्त राज, बेल्जियम, फ्रांस, ब्रिटेन, इलटी, जापान, पोलैंड, और जेकेस्लोवाकियाके हस्ताक्षर थे। इसकी प्रथम धारामें यह घोषणा की गयी कि हस्ताक्षर करनेवाले राज 'अन्ताराष्ट्रिय विवादोंके सुलझानेके लिए युद्धसे काम लेनेकी निन्दा करते हैं और आपसके व्यवहारमें राष्ट्रीय नीतिके साधनके रूपमें युद्धका परित्याग करते हैं। और दूसरी धारामें यह स्पष्ट किया गया कि इन राजोंमें चाहे जिस प्रकार और जिस कारण विवाद उठे उसका निपटारा शान्तिमय उपायोंके सिवाय अन्य किसी प्रकार न किया जायगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि युद्धका पूर्ण बहिष्कार हो गया। समझौतेमें किसी कारण इस बातका उल्लेख करना उचित नहीं समझा गया परन्तु यह पहले ही निश्चित हो गया था कि आत्मरक्षाके लिए शस्त्र-प्रयोग हो सकता है। श्री केलॉगने इस आशयका एक परिपत्र अन्य राजोंके पास भेज दिया था, जिसको सबने स्वीकार कर लिया। इसकी शब्दावली इस प्रकार थी—'युद्ध-विरोधी सन्धिकी अमेरिकी पांडुलिपिमें ऐसी कोई बात नहीं है जो आत्मरक्षाके अधिकारको सीमित या क्षत करती हो। यह तो प्रत्येक प्रभु राजका सहज अधिकार है और प्रत्येक सन्धिपत्रमें अन्तर्निहित है। सन्धि-पत्रोंमें कुछ भी लिखा हो, प्रत्येक राष्ट्र हर समय अपने राज्यकी अभिद्रव या आक्रमणसे रक्षा करने के लिए स्वतन्त्र है और वही इस बातका निर्णय कर सकता है कि साम्प्रत परिस्थितिमें आत्मरक्षाके लिए युद्ध करना चाहिये या नहीं'। यह बड़ा व्यापक अधिकार मान लिया गया। जब प्रत्येक राष्ट्र युद्ध छेड़नेके औचित्यका स्वयं एक मात्र निर्णायक मान लिया गया तो भला युद्धका क्या बहिष्कार हो सकता था? युयुत्सु राज दूसरेके किसी भी कामको अभिद्रवात्मक कहकर आत्मरक्षाके नाम पर शस्त्र उठा सकते थे। तीनोंके हस्ताक्षर होते हुए भी बलवान् जर्मनी छोटे जेकोस्लोवाकिया और पोलैंडको हड़प गया।

इसके ग्यारह वर्ष बाद महासमर छिड़ा। केलॉग-ब्रियाँ समझोता इसके पहिले ही रद्दी कागज बन चुका था। हस्ताक्षर करनेवाले उसके टुकड़े-टुकड़े कर चुके थे।

युद्धकालमें कई महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुए और प्रायः हर सम्मेलनके बाद कोई न कोई विज्ञप्ति निकली। यह विज्ञप्तियाँ संयुक्तराष्ट्र संघटनकी आधार-शिला और पीठिकाका काम करती हैं। इनका थोड़ा-सा अध्ययन किये बिना संघटनके स्वरूपको समझनेमें कठिनाई होगी।

युद्ध छिड़नेके प्रायः डेढ़ वर्ष बाद लन्दनमें ब्रिटेन, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका, बेल्जियम, जेकोस्लोवाकिया, यूनान, लक्सेम्बर्ग, नेदरलैण्ड्स, नार्वे, पोलैण्ड तथा यूगोस्लाावियाके प्रतिनिधियोंकी बैठक हुई। उसमें फ्रांसकी ओरसे जनरल दे गॉल भी सम्मिलित हुए थे। यह उन फ्रांसीसियोंके नेता थे जो जर्मनीके विरुद्ध लड़ रहे थे। इस अवसरपर लन्दन-घोषणा[२] नामकी विज्ञप्ति निकली। उसका मुख्यांश इस प्रकार है।

स्थायी शान्तिका एकमात्र आधार स्वतन्त्र राष्ट्रोंका ऐसे जगत्में स्वेच्छापूर्वक सहयोग है जिसमें आक्रमणकी आशंकासे मुक्त होकर सभी आर्थिक और समाजिक सुरक्षाका उपभोग कर सकें।

हमारा विचार है कि इस उद्देश्यसे, युद्ध और शान्तिमें, एक दूसरेके तथा अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रोंके, साथ मिलकर काम करें।

इसके दो महीने बाद, १४ अगस्त १९४१ को, अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चिलने उस प्रसिद्ध कागज़पर हस्ताक्षर किये जिसको अतलान्तिक समयक कहते

१ Kellogg Briand Pact.

२ The Declaration of London.

हैं[१]। इसकी आठ धाराएँ थीं। इनमेंसे दो-तीन विशेष महत्त्व रखती हैं। उनके मुख्यांशका रूप यह है—

धारा ३—वे (अर्थात् दोनों हस्ताक्षर करनेवाले) सभी राष्ट्रोंके इस अधिकारका आदर करते हैं कि वह अपनी इच्छाके अनुसार शासनका स्वरूप चुनें और वे चाहते हैं कि जिन राष्ट्रोंके प्रभुत्व और स्वशासनके अधिकार बलात् छीन लिये गये हैं उनके वह अधिकार पुनः प्राप्त करा दिये जायँ।

धारा ६—नात्सियोंके उद्दण्ड शासनके विनाशके बाद उनको आशा है कि ऐसी शान्ति स्थापित होगी जिसमें सभी राष्ट्रोंको अपनी सीमाओंके भीतर सुरक्षितरूपसे निवास करनेके साधन उपलब्ध हो सकेंगे।

धारा ८—उनका ऐसा विश्वास है कि व्यावहारिक और आध्यात्मिक कारणोंसे सभी राष्ट्रोंको बल-प्रयोगका परित्याग करना होगा।

इस विज्ञप्तिका बहुत स्वागत हुआ, परन्तु थोड़े ही दिनोंमें उत्साह ठंडा हो गया। तृतीय धारा पढ़कर भारत तथा दूसरे ऐसे लोगोंको, जो यूरोपियन साम्राज्योंमें पड़े हुए थे, यह आशा हुई थी कि स्यात् हमारे भी दिन लौटें, परन्तु बहुत जल्द यह बात स्पष्ट कर दी गयी कि इस धाराका सम्बन्ध एशिया या अफ्रीकाके निवासियोंसे नहीं है। 'सब राष्ट्र' का अर्थ 'गोरे राष्ट्र' है। चर्चिलने खुले शब्दोंमें कह दिया कि मैं ब्रिटिश साम्राज्यको विच्छिन्न करनेके लिए प्रधान मन्त्री नहीं बना हूँ।

इसके चार महीने बाद वाशिंगटनमें छब्बीस राजोंके प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षरसे एक विज्ञप्ति निकली जिसे संयुक्त राष्ट्रोंकी घोषणा[२] कहते हैं। इसमें उपर्युक्त विज्ञप्तिमेंके मूल सिद्धान्तोंको स्वीकार करके जर्मनीसे लड़नेमें अपनी पूरी शक्ति लगाने और उससे पृथक्-पृथक् सन्धि या समझौता न करनेका संकल्प व्यक्त किया गया है।

अभीतक तो शान्तिकी प्रशंसा और बल प्रयोगकी निन्दाका ही चर्चा था। विजित राष्ट्रोंको मुक्तिका सन्देश भी सुनाया जा रहा था। जर्मनी आरम्भमें विजयशील था पर ज्यों-ज्यों काल बीता उसका और जापानका पक्ष दुर्बल होता गया। अमेरिका और ब्रिटेनकी आशाएँ फलीभूत होती देख पड़ने लगीं। अब विजय और उसके बादकी बात भी सोची जाने लगी। १ नवम्बर १९४३ को मास्कोमें रूस, ब्रिटेन, चीन और अमेरिकाके प्रतिनिधियोंका सम्मेलन[३] हुआ। उसने 'सभी शान्ति-प्रिय राष्ट्रोंकी प्रभु समता के आधारपर' एक अन्ताराष्ट्रिय संघटन स्थापित करनेकी आवश्यकताको स्वीकार किया। दो महीने बाद तेहरानमें[४] ब्रिटेन, रूस और अमेरिकाकी ओरसे चर्चिल, स्टालिन तथा रूजवेल्टने यह विश्वास प्रकट किया कि ऐसी शान्ति स्थापित होगी 'जिसका समर्थन पृथ्वीके निवासियोंकी बहुत बड़ी संख्याकी सद्भावना करेगी और जो कई पीढ़ियोंके लिए युद्धका भय और अभिशाप दूर कर देगी।'

हारनेवालेका कोई साथ नहीं देता। कई राज जो अबतक तटस्थ थे वह भी जर्मनी और उसके साथियोंको हारते देखकर खुलकर उनके विरोधियोंकी सूचीमें नाम लिखानेको दौड़ पड़े। उनके सम्मिलित होनेका हारजीतपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु वह स्वयं विजेताओंके कोपभाजन बननेसे बच गये।

---

१ The Atlantic Charter
२ United Nations Declaration.
३ The Moscow Conference.
४ The Teheran Conference.

अब विजेताओंको अपनी विज्ञप्तियोंको कार्य्यान्वित करनेका अवसर मिला। इसके लिए वाशिंगटनके पास ब्रिटेन, चीन, रूस और अमेरिकाका सम्मेलन हुआ। इसकी बैठकें डम्बार्टनओक्स नामके मकानमें होती थीं, इसलिए इनका नाम डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन[१] पड़ गया। यह ७ अक्तूबर १९४४ को समाप्त हुआ। इसमें भावी संघटनकी रूपरेखा निश्चित की गयी। जो प्रस्ताव यहाँ स्वीकृत हुए वह अन्य मित्र देशोंकी आलोचनाके लिए प्रकाशित कर दिये गये। इन प्रस्तावोंके अनुसार भावी संघटनका दायित्वपूर्ण कार्य्यभार उसकी कार्य्यकारिणीपर, जिसे सुरक्षा समिति[२]का नाम दिया गया, डाला गया। प्रस्ताव यह था कि इसके ग्यारह सदस्य हों जिनमेंसे पाँच—ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, चीन और फ्रांस—स्थायी हों, शेष छः चुनकर आयें। परन्तु यह बात अनिश्चित रह गयी कि ग्यारहों सदस्योंके मत समान हों या इनमें कुछ वैषम्य हो। पाँचों महाराष्ट्र अपनेको विश्वशान्तिका विशेष प्रहरी समझते थे और अपनेको विशेष अधिकार देना चाहते थे।

इसका निपटारा यॉल्टामें हुआ। यह स्थान क्रीमियामें है। यहाँ रूजवेल्ट, स्टालिन और चर्चिलने इस प्रश्नपर विचार किया। उनका निर्णय ११ फरवरी, १९४५ को प्रकाशित हुआ। उसे यॉल्टा सूत्र कहते हैं। इसपर पर्य्याप्त वाद-विवाद हुआ पर बड़ोंकी बात कौन टालता? अन्तमें इसको सब लोगोंने मान लिया और आज यह संयुक्त राष्ट्रोंके समय-पत्र की २७ वीं धाराके रूपमें विद्यमान है।

सारी सामग्री प्रस्तुत थी। संघटनके संस्थापनके उद्देश्यसे सैन फ्रांसिस्कोमें २५ अप्रैल १९४५ से २६ जून तक सम्मेलन हुआ। डम्बार्टन ओक्स और याल्टाके निश्चयों तथा विभिन्न राजों द्वारा उपस्थित किये गये संशोधनोंपर विस्तृत विचारके उपरान्त संयुक्त राष्ट्र संघटनको जन्म दिया गया। समयककी पाण्डुलिपिपर सभी उपस्थित प्रतिनिधियोंने हस्ताक्षर कर दिये। साथमें ही अन्ताराष्ट्रीय न्यायालयका विधान भी स्वीकृत हो गया। २४ अक्तूबर १९४५ तक अधिकांश राजोंकी ओरसे पुष्टिके हस्ताक्षर पहुँच गये। उसी दिनसे संघटनका कार्य्यारम्भ हुआ। इस दिन प्रतिवर्ष संयुक्त राष्ट्र दिवसके नामसे सभी सदस्य राष्ट्रोंमें भाँति-भाँतिके उत्सव मनाये जाते हैं। प्रारम्भमें ५१ सदस्य थे। इनमें भारत भी था। अब पाकिस्तान तथा कुछ ओर देश भी सदस्य हो गये हैं। कोई भी शान्तिप्रिय राष्ट्र जिससे यह आशा की जा सके कि वह समयपत्रसे प्राप्त दायित्वका पालन कर सकेगा सदस्य हो सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सुरक्षासमिति उसके नामकी आशंसा करे और महासभामें यह आशंसा दो तिहाई मतोंसे स्वीकृत हो।

संघटनमें अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी, चीनी और स्पैनिश भाषाओंमें काम होता है। उसके व्यय के लिए सदस्य राजोंको चन्दा देना होता है। यह चन्दा उनकी हैसियतके अनुरूप रक्खा गया है। संस्थापर कितना व्यय होता है इसका अनुमान इस बातसे हो सकता है कि १९५० का स्वीकृत आयव्ययक ४,४५,२०,७७३ डालर था। एक डालरको पाँच रुपयेके बराबर मानकर यह रकम २२,२६,०३,८६५ रु० हुई। इसका ३८·९२% अमेरिकाके जिम्मे था। भारतका हिस्सा ३·४२% था। इस प्रकार भारतको लगभग पचहत्तर लाख रुपया देना पड़ा। सबसे छोटा भाग यमनका था। उसे कुल ०·०४% देना था।

अब हम इस समयककी कुछ मुख्य बातोंका वर्णन करेंगे। आरम्भमें संघटनके प्रयोजन और आधारभूत सिद्धान्त दिये गये हैं। प्रयोजन यह हैं—

---

१ Dumbarton Oaks Conference.

२ Security Council.

१—अन्ताराष्ट्रिय शांति और सुरक्षा बनी रहे, और इसके लिए सामूहिक तथा प्रभावपूर्ण प्रयत्नोंसे शांतिके खतरोंको रोका और मिटाया जा सके, और अग्रघर्षणकी और दूसरी शांति भंग करनेवाली चेष्टाओंको दबाया जा सके, और न्याय तथा अन्तारांष्ट्रिय कानूनके सिद्धान्तोंके आधार पर शांतिपूर्ण साधनोंसे उन अन्ताराष्ट्रिय झगड़ों और समस्याओंको सुलझाया या निबटाया जाय, जिनसे शांति भंग होनकी आशंका हो।

२—सब राष्ट्रोंके बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ाये जायँ जिनका आधार सब लोगोंके समान अधिकार और स्वाधीनताके सिद्धान्त पर हो।

३—विश्वकी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी समस्याओंको हल करनेमें अन्ताराष्ट्रिय सहयोग प्राप्त किया जाय। जाति, भाषा, लिंग या धर्मका भेद किये बिना सबके लिए मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओंके सम्मानको बढ़ाया जाय और उसे प्रोत्साहन दिया जाय।

४—संयुक्तराष्ट्र-संघटनको एक ऐसा केन्द्र बनाया जाय जहाँ इन सामान्य उद्देश्योंकी पूर्ति के लिए अलग-अलग राष्ट्र जो काम करें, उनमें सामंजस्य लाया जा सके।

पहली धाराके प्रयोजनोंको पूरा करनेके लिए संघटन और उसके सदस्य जो भी काम करेंगे, उनमें वे इन सिद्धान्तोंका ध्यान रखेंगे कि—

१—इस संघटनका आधार सब सदस्योंकी बराबर प्रभुताका सिद्धान्त है।

२—सभी सदस्य अपने उन सब दायित्वोंको ईमानदारीके साथ निभायेंगे, जिन्हें उन्होंने वर्तमान समयकके अनुसार अपने ऊपर लिया हो ताकि सबको इस बातका विश्वास हो जाय कि सदस्य होनेके जो भी अधिकार और लाभ हैं, वे उनको मिलेंगे।

३—सभी सदस्य अपने अन्ताराष्ट्रिय झगड़ोंको शांतिपूर्ण साधनोंसे इस प्रकार तय करेंगे कि विश्वकी सुरक्षा, शांति और न्याय खतरेमें न पड़ें।

४—सभी सदस्य अपने अन्ताराष्ट्रिय झगड़ोंमें किसी राज्यकी अखण्डता, राजनीतिक स्वाधीनताके विरुद्ध न तो धमकी देंगे और न बलका प्रयोग करेंगे और कोई भी ऐसा काम न करेंगे जो संयुक्त राष्ट्रोंके प्रयोजनोंसे मेल न खाता हो।

५—सभी सदस्य संयुक्त राष्ट्र संघटनको ऐसी हर कारखाईमें सब तरहकी मदद देंगे जो वर्तमान समयकके अनुसार हो, और किसी भी ऐसे राजकी मदद न करेंगे जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ अमल कराने या रोकथामकी कोई काररवाई कर रहा हो।

६—यह संघ इस बातका विश्वास दिलायेगा कि जो राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघटनके सदस्य नहीं हैं, वे भी अन्ताराष्ट्रिय शांति और सुरक्षा बनाये रखनेके लिए जहाँतक आवश्यक हो, इन्हीं सिद्धांतोंका पालन करेंगे।

७—वर्तमान समयकमें जो कुछ कहा गया है उससे संयुक्तराष्ट्र संघटन किसी भी राज्यके उन मामलोंमें दखल देनेका अधिकारी न होगा जो निश्चित रूपसे उस राज्यके घरेलू क्षेत्रके भीतर आते हों। न किसी सदस्यके लिए यह आवश्यक होगा कि ऐसे मामलोंको वर्तमान समयकके अधीन निबटानेके लिए रखे। लेकिन सातवें अध्यायमें अमल करानेके लिए जो कार्यवाहियाँ बतायी गयी हैं, उनके लागू किये जानेपर इस सिद्धान्तका कोई असर न पड़ेगा।

८—शान्ति और सुरक्षाके कायम रखनेके लिए आवश्यक है कि जो बातें किसी राजके घरेलू क्षेत्रमें पड़ती हैं उनमें संघटन हस्तक्षेप नहीं करेगा परन्तु इस शर्तका उस अवस्थामें परित्याग

होगा जबकि शान्तिभंगकी आशंका, शान्तिभंग और आक्रमणकारी कामोंके सम्बन्धमें किसी राजके विरुद्ध कार्रवाई की जाय।

संघटनके समयकको पूरा अवतरित करनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल कुछ मुख्य बातोंका जिक्र करना अलम् होगा।

संघटनकी सबसे बड़ी संस्था महासभा[१] है। इसमें उन सभी राजोंके प्रतिनिधि बैठते हैं जो संघटनके सदस्य हैं। इसका वर्षमें एक सत्र होता है जो सितम्बरके तीसरे मंगलको आरम्भ होता है। विशेष परिस्थितियोंमें विशेष बैठकें भी बुलायी जा सकती हैं। प्रत्येक सदस्य का मताधिकार बराबर है परन्तु यदि किसीपर दो वर्षका या इससे अधिक चन्दा बाकी हो तो वह साधारणतः मतदान नहीं कर सकता।

महासभा

महासभाकी कार्य्यकारिणीको सुरक्षा परिषद्[२] कहते हैं। इसके ग्यारह सदस्योंमें चीन, ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और रूस तो स्थायी हैं, शेषको महासभा चुनती है। ऐसे सदस्य दो वर्षके लिए चुने जाते हैं और अवधि बीतनेपर फिर उसी वर्ष चुनावके लिए नहीं खड़े हो सकते। संघटनके नामपर सारे अधिकार इस समितिमें ही केन्द्रीभूत हैं। मैंने इसे महासभाकी कार्यकारिणी कहा है। ऐसा कहना इस दृष्टिसे तो ठीक है कि सामान्य सिद्धान्तोंका निर्णय महासभापर आश्रित नहीं है। महासभा उसे आज्ञा नहीं देती। केवल आशंसा करती है। यों तो इसमें भी सब सदस्योंके मत बराबर हैं परन्तु याल्टा नीतिके कारण एक बहुत बड़ा वैषम्य आ गया है। साधारण विषयोंपर तो किन्हीं सात सदस्योंके मतसे काम हो सकता है। ऐसे कामोंको प्रक्रियात्मक[३] कहते हैं परन्तु महत्वके विषयोंपर तभी काम हो सकता है जब पाँचों स्थायी सदस्य सहमत हों। ऐसे विषयोंकी कसौटी यह रखी गयी है कि इनका सम्बन्ध किसी विवाद या सम्भावित विवादके निबटारेसे हो। कौन-सा विषय किस प्रकारका है, इसका निर्णय प्रत्येक सदस्यकी बुद्धिपर है। इस अवच्छिन्न मत[४] की विधिने समताके सिद्धान्तपर पानी फेर दिया है। स्थायी सदस्य, जो बड़े राष्ट्र भी कहे जाते हैं, बहुत शक्तिशाली हो गये हैं। इनमेंसे एक भी चाहे तो कोई काम रोका जा सकता है। इस नकारात्मकमत[५] से कई बार काम लिया गया है। बड़े राष्ट्रोंका कहना है कि हमने युद्धमें विजय पाकर शान्ति स्थापित की है अतः शान्ति बनाये रखनेकी जिम्मेदारी हमारी है परन्तु दूसरे राष्ट्रोंको उनका यह दावा बहुत बुरा लगता है। कई बार ऐसा हुआ है कि कोई राष्ट्र संघटनका सदस्य होना चाहता था पर रूस या किसी अन्य स्थायी सदस्यने कह दिया कि इसके सदस्य होनेसे आगे चलकर शान्तिमें बाधा पड़ेगी, मैं विरोध करता हूँ। अब चाहे अन्य सब सदस्य पक्षमें हों तब भी वह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सकता।

सुरक्षा-परिषद्

इस परिस्थितिकी खराबी इन पाँच बड़े राष्ट्रोंकी वर्तमान अवस्थापर दृष्टि डालनेसे और स्पष्ट हो जाती है। अमेरिका और रूस सचमुच बलवान् हैं। इनको किसीके सहारेकी अपेक्षा नहीं है। ब्रिटेन अब पहले जैसा बलशाली नहीं रहा। उसे बहुत सी बातोंमें अमेरिकाका मुखापेक्षी होना पड़ता है। फ्रांस निर्जीव है। वह अपनी रक्षा भी अकेले नहीं कर सकता। उसको दूसरोंका भाग्यनिर्णायक मानना राजनीतिक दिल्लगी

अवच्छिन्नमतका परिणाम

१ Assembly.
२ Security Council.
३ Procedural Matters.
४ Qualified vote.
५ Negative vote

है। परन्तु चीनकी बात सबसे हास्यास्पद है। सारे चीनपर इस समय कम्युनिस्ट शासन है। वह शासन बलवान है और कोई भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। परन्तु अकेले अमेरिकाके विरोधके कारण वह संघटनका सदस्य नहीं है। चीनके नामपर चियांग काइ शेककी उस सरकारका प्रतिनिधि बैठता है जो अमेरिकाके बलपर फार्मोसा द्वीपपर शासन करती है। यही चीनका बड़ा राष्ट्र है जो विश्वशान्तिका रक्षक है! वास्तविक चीन सरकारको संघटनसे अलग रखना शान्तिके पौधेकी जड़को विषसे सींचना है।

सुरक्षापरिषद्‌का सत्र बराबर होता रहता है परन्तु कभी-कभी विशेष महत्त्वके प्रश्नोंपर विचार करनेके लिए विशेष अधिवेशन भी होते हैं। अंगरेजी वर्णमालाके अक्षरोंके अनुसार राष्ट्रोंके नाम जिस क्रमसे आते हैं उसी क्रमसे उनके प्रतिनिधि बारी-बारीसे एक-एक महीनेके लिए समितिके अध्यक्ष होते हैं।

संघटनका काम चलानेके लिए उसका अपना कार्य्यालय[१] है। इस कार्य्यालयके लिए न्यूयार्कमें विशाल भवन बन रहा है। प्रत्येक वर्ष महासभा अपना अध्यक्ष[२] चुनती है। पिछले साल श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित इस पदपर आसीन थीं। अध्यक्षका स्थान केवल शोभाकी चीज़ है। उसे न तो कोई विशेष अधिकार प्राप्त हैं न कोई वेतन मिलता है। उसका साल भरका व्यय उस राष्ट्रके ऊपर पड़ता है, जिसका वह प्रतिनिधि होता है।

सचिवालय

वास्तविक कार्य्यभार प्रधान सचिव[३] पर पड़ता है। इनको ७५,००० डालर (लगभग ३,७५,००० रु० वार्षिक वेतन मिलता है। इस पदाधिकारीको सुरक्षासमितिकी आशंसा पर महासभा पाँच वर्षके लिए चुनती है। वर्तमान प्रधान सचिव हैमरशोल्ड[४] नार्वेके हैं। यह महासभा और समितिके आदेशोंको कार्य्यान्वित तो कराते ही हैं, इनको यह भी अधिकार है कि यदि ऐसा प्रतीत हो कि किसी बातसे अन्ताराष्ट्रिय शान्तिमें बाधा पड़नेकी आशंका है तो सुरक्षासमितिका ध्यान उस ओर आकृष्ट करें। सचिवालयके आठ विभाग हैं और प्रत्येकके ऊपर एक सहायक प्रधान सचिव[५] होता है। प्रयत्न यह किया जाता है कि सचिवालयमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्रसे कुछ लोग नियुक्त किये जायँ। इन लोगोंसे यह आशा की जाती है कि अपने आचरणमें संकीर्ण राष्ट्रीयताका परिचय न दें वरन् संघटनके अन्ताराष्ट्रिय स्वरूपकी रक्षा करें। इन लोगोंको जो वेतन मिलता है उसपर इनके देशोंमें आयकर नहीं लग सकता। संघटनके कुल व्ययका ७०.५% वेतनोंमें लगता है।

संघटनका मुख्य उद्देश्य शान्तिको कायम रखना और बलप्रयोगको रोकना है। इन उद्देश्योंकी पूर्तिके साधनोंको समझनेके लिए समयकके सातवें अध्यायकी कुछ धाराएँ द्रष्टव्य हैं—

धारा ३९—सुरक्षापरिषद् यह निर्णय करेगी कि कौन सी चेष्टाएँ शान्तिको खतरेमें डालनेवाली, शान्ति भंग करनेवाली और अग्रधर्षणकी चेष्टाएँ समझी जा सकती हैं, और वह सिफारिशें करेगी, या यह तय करेगी कि अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने या फिरसे स्थापित करनेके लिए धारा ४१ और ४२ के अनुसार कौन सी कार्यवाहियाँ की जायँगी।

धारा ४०—किसी स्थितिको बिगड़नेसे बचानेके लिए सुरक्षापरिषद् अपनी सिफारिशें देने,

---

१ Secretariat

२ President

३ Secretary General.

४ Hammershjoeld.

५ Assistant Secretary-General.

या धारा ३९ के अनुसार किसी कार्यवाहीका निश्चय करनेसे पहले सब फरीकोंसे ऐसी अस्थायी कार्यवाहियाँ करनेकी माँग करेगी, जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझे। इन अस्थायी कार्यवाहियों से फरीकोंके अधिकारों, दावों या उनकी हैसियतका कोई अहित नहीं होगा। यदि कोई फरीक यह अस्थायी कार्यवाहियाँ नहीं करता है, तो सुरक्षापरिषद् इसका भी विधिवत् ध्यान रखेगी।

धारा ४१—सुरक्षापरिषद् अपने फैसलोंपर अमल करानेके लिए ऐसी कार्यवाहियाँ भी तय कर सकती है जिनमें हथियारबन्द सेनाका प्रयोग न हो। वह संयुक्त राष्ट्र संघटनके सदस्योंसे ऐसी कार्यवाहियाँ करनेकी माँग कर सकती है। इन कार्यवाहियोंके अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्ण या आंशिक रूपसे समाप्त किये जा सकते हैं, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायातके अन्य साधन बन्द किये जा सकते हैं, या राजनीतिक सम्बन्ध तोड़े जा सकते हैं।

धारा ४२—अगर सुरक्षापरिषद् यह समझे कि धारा ४१में बतायी गयी कार्यवाहियाँ काफी न होंगी या काफी साबित नहीं हुई हैं, तो अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने या फिरसे स्थापित करनेके लिए वह जल थल और वायु सेनाओंकी मददसे आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाहीमें संयुक्त राष्ट्रोंके सदस्य देशोंकी जल थल वायु सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती है, घेरा डाल सकती है या और दूसरे काम कर सकती है।

धारा ४३—(१) अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखनेमें सहयोग देनेके लिए संयुक्त राष्ट्र संघटनके सब सदस्य प्रतिज्ञा करते हैं कि सुरक्षापरिषदके माँगनेपर और विशेष समझौते या समझौतोंके अनुसार, अपनी हथियारबन्द सेनाएँ, सहायता, और दूसरी सुविधाएँ, जिनमें मार्ग-अधिकार भी शामिल होगा, मुहय्या करेंगे।

(२) सेनाओंकी संख्या, उनके प्रकार, उनकी तैयारी और स्थिति और सुविधाओं और सहायताके प्रकार, वे सब ऐसे समझौते या समझौतोंसे तय किये जायँगे।

(३) ऐसे समझौते या समझौतोंकी बातचीत सुरक्षापरिषद्की प्रेरणासे जल्दीसे जल्दी शुरू की जायगी। ये समझौते सुरक्षापरिषद् और सदस्यों या सुरक्षापरिषद् और सदस्यदलोंके बीच होंगे, और हस्ताक्षर करनेवाले राष्ट्रों द्वारा अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा सत्याग्रह किये जानेपर ही उनपर अमल किया जा सकेगा।

धारा ५१—अगर संयुक्त राष्ट्र संघटनके किसी सदस्यपर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूपसे आत्मरक्षा करनेका अधिकारी है। वर्तमान समयकके अनुसार उसपर उस समयतक कोई रोक न होगी जबतक सुरक्षापरिषद् अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाके लिए आप कोई कार्यवाही न करे। आत्मरक्षाके लिए सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे, उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षापरिषद्को देंगे। पर इस समयकके अनुसार इससे सुरक्षापरिषद्के अधिकारों और दायित्वोंपर कोई प्रभाव न पड़ेगा। वह अन्ताराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने या फिरसे स्थापित करनेके लिए जब कभी, जो कार्यवाही चाहे कर सकती है।

सबसे अच्छा तो यह होता कि संघटनके पास अपनी सेना होती। इस प्रकारकी अन्ताराष्ट्रिय सेना या पुलिसके रखनेका विचार कई बार उठा पर अभीतक कुछ हो नहीं पाया। धारा ४३ में जिस प्रकारके समझौतोंका चर्चा है वह भी नहीं बन पाये हैं। जब कोई विशेष अवसर उपस्थित होता है तो आपसी बातचीतसे कुछ काम चला लिया जाता है।

सच तो यह है कि जबतक बलवान राष्ट्र ईमानदारीसे मनोयोग न दें तबतक कागजपर लिखी धाराएँ स्वतः कुछ नहीं कर सकतीं। इनमें जल, स्थल और हवाका नाम तो है परन्तु आज

परमाणु और हाइड्रोजन बमने जो परिस्थिति उत्पन्न कर दी है उसका कोई परिहार नहीं है। अमेरिका और रूसके पास इस शस्त्रका प्रचुर भण्डार है पर किसके पास कितना है कोई नहीं जानता। परमाणुशक्तिका उपयोग लोकोपकारक कामोंमें हो सकता है परन्तु इस समय तो लोकोद्वेजक कामोंमें हो रहा है। इसके नियन्त्रणके प्रस्ताव आते ही रहते हैं पर दूसरे पक्षको बुरा-भला कह कर बात समाप्त हो जाती है। वस्तुतः न कोई अपना भेद बताना चाहता है, न इस बातके लिए तैयार है कि उसके हाथसे शत्रुपर सहसा विजय पानेका यह साधन छिन जाय। धारा ३९ के अनुसार जहाँ शान्तिभंगकी आशंका हो वहाँ भी संघटनको सतर्क होकर कार्यवाही करनी चाहिये। ऐसे बमोंका कुछ राजोंके पास होना और शेष राजोंका उनसे वंचित रहना शान्तिभंगके लिए सबसे बड़ी आशंका उत्पन्न करता है। बम न रखनेवाले राज बमधारियोंके सामने नितान्त असहाय हैं और अकेले दो राष्ट्र सारे मानव-समाजको विपत्तिमें डाल सकते हैं। परन्तु चूँकि सुरक्षा परिषद्के सर्वेसर्वा ही यह सब कर रहे हैं इसलिए परिषद् चुपचाप बैठी है। यह अकर्मण्यता उसकी निष्पक्षताके लिए कलंक है।

अकर्मण्यता यहीं समाप्त नहीं होती। निःशस्त्रीकरणका प्रश्न कई बार उठा। कई कमेटियाँ बैठीं परन्तु परिणाम कुछ न निकला। कोई यह नहीं बताता कि उसके पास किस प्रकारकी कितनी सेना और युद्ध सामग्री है। न एक साथ कमी होती है, न कोई अपने यहाँ पहिले कमी करता है। सब एक दूसरेको दोषी ठहराते हैं और यही कहते हैं कि हम जो कुछ कर रहे हैं वह आत्मरक्षाकी दृष्टिसे। संयुक्तराष्ट्र संघटन न तो सैनिक आयोजनोंको कम करा सका, न परस्पर सन्देहके वातावरणको कुछ हल्का करानेमें समर्थ हुआ। जो राष्ट्र परतन्त्र थे उनको स्वतन्त्र बनानेमें भी उसका हाथ नहीं था। इन बातोंको देखकर यह ख्याल होता है कि स्यात् इस संस्थाकी भी वही गति होगी जो राष्ट्रसंघकी हुई।

संघटनके नियमोंमें प्रादेशिक संघटनोंके लिए भी स्थान रखा गया है। एतत्सम्बन्धी निर्देश धारा ५२,५३ और ५४ में दिये हुए हैं। प्रादेशिक संघटनका उद्देश्य धारा ५२ से स्पष्ट हो जाता है। इस धाराके अनुसार अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाके कायम रखनेके लिए यदि प्रादेशिक व्यवस्था ठीक प्रतीत हो तो की जा सकती है। शर्त इतनी ही है कि वह व्यवस्था संयुक्त राष्ट्रोंके उद्देश्यों और सिद्धान्तोंके अनुकूल हो।

प्रादेशिक संघटन

इसका तात्पर्य यह है कि दो या अधिक राष्ट्र जो एक दूसरेके पड़ोसी हों, अपना छोटा संघटन बना सकते हैं। ऐसे संघटन बने हैं। एक बड़ा संघटन नातो (एन. ए. टी. ओ.)[१] कहलाता है। इसमें पश्चिमी यूरोपके कई राष्ट्र सम्मिलित हैं। इसका पूरा नाम नार्थ ऐटलाण्टिक ट्रीटी आर्गनिजेशन (उत्तरीय ऐटलाण्टिक संधि संघटन) है। प्रथमाक्षरोंको लेनेसे नातो बनता है। इन सब राष्ट्रोंको अमेरिकासे सहायता मिली है। उसीके बलपर इनकी आर्थिक दशा जो द्वितीय महासमरमें बहुत बिगड़ गयी थी अब सुधरी है। यह संघटन है तो स्वतन्त्र राष्ट्रोंका परन्तु इसके पीछे अमेरिका है। तथाकथित उद्देश्य तो शान्ति और आत्मरक्षा है परन्तु वस्तुतः यह रूसकी बढ़ती शक्तिको रोकनेका साधन है।

इसी प्रकारका दूसरा संघटन पूर्वमें बनाया जा रहा है। अभी हाल में ही फिलिपीन द्वीपकी

---

१ North Atlantic Treaty Organisation, N. A. T. O.

राजधानी मैनिलामें एक सम्मेलन हुआ जिसमें फिलिपीन, स्याम और पाकिस्तान सम्मिलित हुए। उसका संक्षिप्त नाम सियातो[२] (एस. ई. ए. टी. ओ.), पूरा नाम साउथ ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गनिजेशन (दक्षिण पूर्व एशिया सन्धि संघटन) है। इसका तथोक्त और वास्तविक उद्देश्य भी नातो के समान है और इसके पीछे भी अमेरिका है। भारत, इण्डोनीशिया तथा बर्मा इसको एशिया और विश्वशान्तिके लिए घातक समझते हैं। इन राष्ट्रोंके अलग रहने पर यह संघटन वस्तुतः निर्जीव संस्था है।

---

२ South East Asia Treaty Organisation, S. E. A. T. O.

पाँचवाँ अध्याय

संघटनसे सम्बद्ध कुछ संस्थाएँ

राजनीतिक प्रश्नोंकी देखरेख तो संघटन स्वयं करता है परन्तु अन्ताराष्ट्रिय जीवनके दूसरे क्षेत्रोंको सँभालनेके लिए उससे सम्बद्ध पृथक् समितियाँ हैं। ऐसी समितियोंकी संख्या बहुत बड़ी है। उन सबपर यहाँ विचार नहीं हो सकता। इस अध्यायमें हम इनमेंसे विशेष महत्त्वपूर्ण कुछ संस्थाओं का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। अन्ताराष्ट्रीय न्यायालयका विषय इतने महत्त्वका है कि उसको पृथक् अध्याय देना ही ठीक होगा। जिन संस्थाओंका हम यहाँ चर्चा करना चाहते हैं वह यह हैं—

१. अन्ताराष्ट्रिय श्रम संघटन
२. आर्थिक और सामाजिक परिषद्
३. संरक्षा परिषद्
४. संयुक्तराष्ट्र शैक्षण, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक समिति
५. विश्व स्वास्थ्य समिति
६. अन्ताराष्ट्रिय बंक और मुद्रानिधि
७. खाद्य और कृषि समिति
८. विश्व डाक संघ
९. विश्व ऋतु विज्ञान संघ

अन्ताराष्ट्रिय श्रम संघटन

अन्ताराष्ट्रिय श्रम संघटन (इण्टर्नैशनल लेबर आर्गनिजेशन आइ. एल. ओ.)[१] अपने ढंगकी निराली संस्था है। प्रथम महासमरके बाद १९१९ में इसका जन्म हुआ। पहले इसका सम्बन्ध राष्ट्रसंघसे था। अब उसके विलयके बाद भी यह संस्था जीवित है और इसकी जड़ें इतनी गहिरी जा चुकी हैं कि संयुक्तराष्ट्र संघटनने भी श्रमक्षेत्रमें इसको अपना प्रतिनिधि मान लिया है। इसका प्रधान कार्य्यालय जेनीवामें है। कार्य्य-संचालनके लिए बहुत बड़ा सचिवालय है जिसके सबसे बड़े अधिकारीको डाइरेक्टर-जनरल कहते हैं। इस पदका इतना महत्त्व है कि इसके लिए राष्ट्रोंमें गहिरी खींचातानी रहती है। वर्तमान डाइरेक्टर-जनरल डेविड मॉर्स अमेरिकाके हैं।

संघटनकी नीति वार्षिक सम्मेलनमें निर्धारित होती है। इस सम्मेलनमें सदस्यराष्ट्रोंके सरकारी प्रतिनिधिके साथ-साथ उस देशके व्यवसायियों और श्रमिकोंका एक-एक प्रतिनिधि भी सम्मिलित होता है। इस प्रकार वहाँ जो भी निश्चय होते हैं उनपर सरकारों, उद्योगपतियों और श्रमिकों की सम्मिलित छाप रहती है। सम्मेलनके प्रस्तावोंको सदस्य राष्ट्र अपने-अपने देशमें कानूनों और आदेशोंके द्वारा कार्य्यान्वित करते हैं। इस संस्थाके मूलभूत सिद्धान्त जो फिलाडेल्फिया सम्मेलनमें १९४४ में स्वीकृत हुए, इस प्रकार हैं—

(क) श्रम पण्य वस्तु नहीं है;

---

१ International Labour Organisation, I. L. O.

(ख) अविच्छिन्न उन्नतिके लिए अपना मत प्रकट करने और संघटित होनेकी स्वाधीनता आवश्यक है;

(ग) यदि कहीं भी दरिद्रता हो तो उससे सब जगह समृद्धिके लिए भय रहेगा;

(घ) प्रत्येक राष्ट्रके भीतर अभावके विरुद्ध अथक कड़ाईसे युद्ध करना होगा और सबके कल्याणके लिए उद्योगपतियों, श्रमिकों और सरकारोंके प्रतिनिधियोंको अन्ताराष्ट्रीय स्तरपर निरन्तर और केन्द्रीकृत प्रयत्नसे मिलकर खुला विचार-विनिमय करके लोकतांत्रिक ढंगसे निश्चय करना होगा।

अन्ताराष्ट्रिय सहयोगकी संस्थाओंमें यह सबसे अधिक उपयोगी और सफल है। इसके द्वारा श्रमिकोंका बहुत कल्याण हुआ है। पहिला सिद्धान्त ही लोकहितकी दृष्टिसे असीम महत्त्व रखता है। स्वार्थान्ध पूँजीपतियोंकी यह प्रकृति होती है कि हम पैसा देकर श्रमिककी श्रमशक्तिको मोल लेते हैं। हमको अधिकार है कि उससे चाहे जितना और जैसा काम लें। प्रथम सिद्धान्तका यह स्पष्ट भाव है कि वस्तुओंका उत्पादन सामाजिक कृत्य है, श्रमिक और पूँजीपतिका दर्जा बराबर है। दोनोंके सहयोगसे माल तैयार होता है अतः लाभपर पूँजीपतिका एकमात्र स्वत्व नहीं हो सकता।

भारत इस संघटनका पुराना और बहुत-ही प्रगतिशील सदस्य है। आर्थिक कठिनाइयोंके होते हुए भी इस देशमें वार्षिक सम्मेलनोंमें स्वीकृत बहुतसे मन्तव्य लागू कर दिये गये हैं। नयी दिल्लीमें संघटनका शाखा कार्यालय भी है। १९५३ में इसका आयव्ययक ६२,२३,३६८ डालर (लगभग ३,११,१६,८४० रु०) का था।

आर्थिक और सामाजिक परिषद्[१] की स्थापना समयककी इकसठवीं धाराके अनुसार हुई। उसके सपुर्द वह सब काम हैं जो ५५ वीं धारासे निर्गत होते हैं। इस धाराके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघटन इस बातका उद्योग करेगा—

(क) सभी लोगोंका जीवनस्तर ऊँचा हो, सबको पूरा काम मिले और आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति और विकासके साधन उपलब्ध हों। (ख) अन्ताराष्ट्रिय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्यविषयक तथा अन्य सम्बद्ध समस्याएँ सुलझें और अन्ताराष्ट्रिय सांस्कृतिक और शिक्षाविषयक सहयोग बढ़े और (ग) जाति, स्त्री-पुरुष, भाषा या धर्मका भेद-भाव न करके सबके लिए मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओंकी मान्यता प्राप्त हो।

आर्थिक और सामाजिक परिषद्

मनुष्यके मौलिक अधिकार क्या हैं, यह बड़े महत्त्वका प्रश्न है। वय, विद्या, बुद्धि, वैभव, पौरुष आदिमें भेद होते हुए भी मनुष्यत्वेन सब मनुष्य बराबर हैं। इस बराबरीके कारण उनके कुछ स्वत्व भी समान होने चाहिये। इस विषयमें दार्शनिकोंने समय-समयपर विचार किया है पर कोई स्पष्ट सर्वमान्य उद्घोष नहीं मिलता था। १९४१ में अमेरिकाके राष्ट्रपति रूजवेल्टने चार बातोंका जिक्र किया जो उनकी सम्मतिमें सार्वभौम होनी चाहिये। इनको चार स्वतन्त्रताएँ या मुक्तियाँ[२] कहते हैं। यह हैं—

बोलने और अन्य प्रकारसे अपने मतको व्यक्त करनेकी स्वतन्त्रता, उपासना करनेकी स्वतन्त्रता, दरिद्रतासे मुक्ति और भयसे मुक्ति।

इसके बाद मानव अधिकारोंका चर्चा तो कई बार हुआ, कई अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलनोंके

---

१ The Economic and Social Council.

२ The Four Freedoms, Freedom of Expression, Freedom of Worship, Freedom from Want, Freedom from Fear.

मन्तव्योंमें भी यह शब्द प्रयुक्त हुए पर यह अधिकार क्या हैं, इसपर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। रंगीन और अ-स्वतन्त्र देशोंके निवासी निश्चय ही चाहते थे कि इस विषयमें कोई स्पष्ट निर्णय हो जाय।

बहुत वादविवादके बाद एक घोषणापत्र तैयार हुआ और १० दिसम्बर १९४८ को सर्व-सम्मतिसे संयुक्त राष्ट्रसङ्घटनकी महासभाने इसे स्वीकार कर लिया। इसे मानव अधिकारोंकी सार्वभौम घोषणा[१] कहते हैं। यह घोषणा बहुत महत्त्व रखती है। यह नहीं कहा जा सकता कि अभी इसे व्यवहारमें लाया जा सकेगा। बड़े राष्ट्रोंका स्वार्थ निश्चय ही बाधा डालेगा, फिर भी पहली बार यह बात सामने आयी है कि मनुष्यमात्रके कुछ मौलिक अधिकार हैं। हम इसका पूरा अनुवाद परिशिष्टमें दे रहे हैं।

यह तो इस परिषद्‌का सामाजिक काम हुआ। आर्थिक कामोंको सुचारु रूपसे चलानेके लिए इसके अधीन तीन प्रादेशिक समितियाँ काम करती हैं। इनमेंसे प्रत्येकको कमिशन कहते हैं। एकका क्षेत्र यूरोप, दूसरेका लैटिन अमेरिका (अर्थात् मध्य और दक्षिण अमेरिका) और तीसरेका एशिया। इस तीसरे कमिशनका पूरा नाम एशिया और सुदूरपूर्वके लिए आर्थिक आयोग—इकॉनोमिक कमिशन फ़ार एशिया ऐण्ड दि फ़ार ईस्ट—है। इसके प्रथमाक्षरोंको मिलानेसे एकाफ[२] बनता है।

इस परिषद्‌के सहयोगसे एक बहुत ही उपयोगी काम हुआ है, जिसको कोलम्बो योजना कहते हैं। भारतका उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका विवरण परिशिष्टमें दिया गया है।

भारत १९५६ तकके लिए इस परिषद्‌का सदस्य चुना गया है।

उन देशोंके हितके लिए जो अभी प्रभुराज बननेके योग्य नहीं हैं, यह निश्चय हुआ कि सङ्घटन स्वयं उनका अभिभावक बन जाय या किसी अन्य राजको अभिभावक नियुक्त कर दे।

संरक्षा परिषद्

अभिभावकका काम उस जगहके लोगोंको इस योग्य बनाना होगा कि वह जल्दीसे जल्दी अपना घर आप सँभाल लें। अभिभावकसे समय-समयपर रिपोर्ट लेने, उसके कामकी जाँच करने तथा अन्य प्रकारसे इस अभिप्रायकी पूर्ति करनेके लिए एक संरक्षा परिषद् है[३]। इसको ट्रस्टीशिप कौंसिल कहते हैं। यह परिषद् जिस आधारपर काम करती है वह समयककी ७३ वीं धारासे मिलता है। उसका आशय यह है—

'संयुक्त राष्ट्रसङ्घटनके वह सदस्य जिनको उन प्रदेशोंके शासनका दायित्व प्राप्त है या दिया जायगा, जिनके निवासियोंने स्वशासनका अधिकार पूर्णमात्रामें प्राप्त नहीं किया है, इस सिद्धान्तको मानते हैं कि इन निवासियोंके हित सर्वप्रधान हैं और वर्तमान समयपत्र द्वारा स्थापित अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाके ढाँचेके भीतर इन प्रदेशोंके निवासियोंके कल्याणकी अभिवृद्धि करनेके कर्तव्यको पवित्र थातीके रूपमें स्वीकार करते हैं।' इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए यह काम करणीय माने गये हैं (क) तत्तत् समाज विशेषकी संस्कृतिको ध्यानमें रखते हुए उनके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शैक्षण विकास, उनके साथ न्यायपूर्ण बर्ताव और बुराइयोंसे उनकी रक्षाकी व्यवस्था करना, (ख) स्वशासनको बढ़ाना और प्रत्येक प्रदेशकी विशेष परिस्थिति तथा वहाँके निवासियोंके विकासस्तरको ध्यानमें रखते हुए उन लोगोंकी राजनीतिक भावनाओंको तृप्त करना और उनकी

---

१ Universal Declaration of Human Rights.

२ ECAFE.

३ Trusteeship Council.

स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओंके विकासमें सहायता देना और (ग) अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाके कामको आगे बढ़ाना।

ऊपर धारा ७३ का आशय देते हुए 'प्राप्त है या दिया जायगा' कहा गया है। संयुक्त राष्ट्र सङ्घटन जिसको अपनी ओरसे नियुक्त करे उसके लिए 'दिया जायगा' लिखा गया है। परन्तु कुछ राष्ट्रोंको राष्ट्रसंघकी ओरसे किसी-किसी प्रदेशपर शासनादेश प्राप्त थे। उन आदेशोंको संघटनने मान लिया, उनके लिए 'प्राप्त है' कहा गया है।

संयुक्त राष्ट्र शैक्षण, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक समिति (यूनाइटेड नेशंस एडुकेशनल साएण्टिफिक ऐण्ड कल्चरल आर्गनिजेशन—(यू० एन० ई० एस० सी० ओ०-यूनेस्को)[1] का उद्देश्य शिक्षा, विज्ञान और संस्कृतिके द्वारा राष्ट्रोंमें सहयोगकी वृद्धि करके शान्ति और सुरक्षामें सहायता देना है।

संयुक्तराष्ट्र शैक्षण से वैज्ञानिक और सांस्कृतिक समिति

यों तो इस संस्थाका क्षेत्र व्यापक है और थोड़ा बहुत काम सभी देशोंमें होता है परन्तु इस समय इसकी शक्ति मुख्यशः एशिया और उत्तरी अफ्रीकामें लगी हुई है। इस भूभागके निवासी बहुत पिछड़े हुए हैं और उन्हें ऊपर उटानेकी आवश्यकता है। इन देशोंके बहुत छात्रोंको वृत्ति देकर बाहर भेजा गया है और बाहरके विशेषज्ञ परामर्श देनेके लिए इन देशोंमें समय-समयपर बुलाये गये हैं। कलासम्बन्धी अन्ताराष्ट्रिय प्रदर्शनियाँ हुई हैं और अन्ताराष्ट्रिय ज्ञान बढ़ानेवाली पुस्तकें प्रकाशित की गयी हैं। जो देश युद्धके कारण उजड़ गये थे या जो शिक्षामें बहुत पीछे हैं उनके पुनर्वासन और बौद्धिक विकासकी ओर विशेष रूपसे ध्यान दिया गया है। इस काममें लगभग १,५०,००,००,००० रुपया व्यय हो चुका है।

संस्थाका कार्य-संचालन उसके वार्षिक अधिवेशनमें चुना हुआ कार्य कार्यकारी बोर्ड करता है। कार्यालयके मुख्य अधिकारीको डाइरेक्टर-जनरल कहते हैं। १९५३ में इसका आय-व्ययक १,८०,००,००० डालर (लगभग ९, करोड़ रुपये) का था, इससे उसके कामके विस्तारका अनुमान हो सकता है।

विश्व स्वास्थ्य संघटन (वर्ल्ड हेल्थ आर्गनिजेशन)[2] का काम उसके नामसे ही प्रकट है। इसके संविधानमें स्वास्थ्यकी बहुत ही सुन्दर परिभाषा दी गयी है। स्वास्थ्य रोग या दुर्बलताके

विश्व स्वास्थ्य संघटन

अभावमात्रको नहीं कहते। सम्पूर्ण शारीरिक, बौद्धिक और सामाजिक कल्याणकी अवस्थाका नाम स्वास्थ्य है। इस संस्थाका कार्य्य-सम्पादन भी एक कार्य्य-वाहक बोर्ड करता है। सचिवालयके प्रधान अधिकारीको डाइरेक्टर-जनरल कहते हैं। इसकी कई प्रादेशिक शाखाएँ हैं। दक्षिणपूर्व एशिया सम्बन्धी कार्य्यालय नई दिल्लीमें है। इसके कार्य-विस्तारका अनुमान इस बातसे हो सकता है कि १९५३ का आय-व्ययक लगभग ८४,८५,०९५ डालर (लगभग ४,२४,२५,४०५ रु०) का था।

यह भी बहुत उपयोगी काम करती है। संक्रामक तथा दूसरे प्रकारके रोगोंके शमनके लिए सुयोग्य डाक्टर, औषध और परामर्श देना, रोगनिवारण और स्वास्थ्य-वृद्धिके सम्बन्धमें शोध कराना, विशेष अवस्थाओंमें न केवल औषध वरन् अनुपान और पौष्टिक भोजन सामग्री पहुँचाना, चिकित्सा शास्त्रकी शिक्षाके स्तरको ऊँचा करना, विभिन्न देशोंके विज्ञानके पण्डितों और डाक्टरोंमें

---

१ United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation U. N. E. S. C. O.

२ World Health Organisation, W. H. O.

सहयोग उत्पन्न कराना, इन सब तथा अन्य ऐसे उपायोंसे संघटनने अपने सात वर्षके जीवनमें बहुत काम किया है।

सभी सरकारोंको समय-समयपर धनकी आवश्यकता पड़ती है। केवल युद्धके लिए नहीं वरन् विकास योजनाओंको कार्य्यान्वित करनेके लिए बहुत रुपया चाहिये। धनवान् देश तो अपनी प्रजासे ऋण ले सकते हैं परन्तु असम्पन्न देशोंका काम इससे नहीं चलता। उन्हें बाहरी महाजन ढूँढ़ना पड़ता है। ऐसे थोड़ेसे ही देश हैं जिनके पास दूसरोंको उधार देनेके लिए रुपया है। यह जब किसी देशको ऋण देते हैं तो उसकी आड़में अपना राजनीतिक प्रभाव भी फैलाना चाहते हैं। ऋण देनेके सिवाय अर्द्धविकसित देशोंको आर्थिक सहायता देनेका दूसरा उपाय भी है। वहाँ कारखाने खोले जा सकते हैं। कारखानोंको चलानेमें पूँजी लगायी जा सकती है। परन्तु इसके पीछे भी राजनीतिक प्रभाव डालनेकी प्रवृत्ति रहती है।

पुनर्वासन और विकासका अन्ताराष्ट्रिय बंक, अन्ताराष्ट्रिय मुद्रानिधि

यह बातें उन देशोंको खटकती रहती थीं जो अपनी अविकसित और अनुन्नत आर्थिक अवस्थाके कारण ऋण लेनेके लिए विवश होते थे। इस आवश्यकताका अनुभव हो रहा था कि कोई अन्ताराष्ट्रिय संस्था हो जिससे आवश्यकतानुसार ऋण मिल सके परन्तु किसी प्रकारका राजनीतिक दबाव न पड़े। इसी उद्देश्यसे २७ दिसम्बर १९४५ को पुनर्वासन और विकासका अन्ताराष्ट्रिय बंक[१] स्थापित हुआ। इससे मिलती-जुलती संस्था अन्ताराष्ट्रिय मुद्रानिधि[२] है। निधिका जन्म भी २७ दिसम्बर १९४५ को हुआ। बंक और निधि एक दूसरेका पूरक काम करते हैं।

बंकका मुख्य उद्देश्य यह है—

उपजाऊ कामोंके लिए पूँजी लगानेको सुविधा दिलाकर सदस्य राज्योंके पुनर्वासन और विकासमें सहायता देना।

इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए बंक स्वयं भी रुपया लगाता है और पूँजीपतियोंको भी प्रोत्साहित करता है। विदेशमें रुपया लगानेमें कभी-कभी रुपया डूब जानेका डर रहता है। बंक जहाँ अपने प्रयत्नसे रुपया लगवाता है वहाँ उसकी अदायगीका दायित्व अपने ऊपर ले लेता है। उसका सञ्चालन बोर्ड आव गवर्नर्स करता है। प्रत्येक सदस्यकी ओरसे एक गवर्नर होता है। इस समय लगभग ४५ राज इसके सदस्य हैं। बंककी पूँजी १० अरब डालर अर्थात् लगभग ५० अरब रुपया है। यह पूँजी १,००,००० डालर अर्थात् पाँच-पाँच लाख रुपयेके १,००,००० हिस्सोंमें बँटी हुई है। अमेरिकाने सबसे अधिक हिस्से यानी ३१,७५० हिस्से मोल लिये हैं। भारतके भी ४५०० शेयर हैं। जिसको अपने हिस्सेका जितना देना है उसका अभी २०% ही जमा करना पड़ा है। इस २०% का २% सोनेके रूपमें, शेष अपने देशके सिक्केमें देना होगा। अपने कामके लिए बंक अपनी पूँजीमेंसे व्यय करनेके अतिरिक्त बाजारसे ऋण भी लेता है। किन कामोंके लिए ऋण दिया जाता है इसका अनुमान उन ऋणोंसे हो सकता जो समय-समयपर भारतको मिलते रहे हैं। उदाहरणके लिए १९४९—५० में यह तीन ऋण लिये गये—

१८ अगस्त १९४९—रेलवे पुनर्वासन (युद्धमें बिगड़ी हुई रेलवे व्यवस्थाको सुधारने) के लिए	६७,००,००,००० रुपया
२९ सितम्बर १९४९—कृषिके लिए मशीनें	५,००,००,००० रुपया

१ International Bank for Reconstruction and Development.

२ International Monetary Fund.

अदला-बदलीके लिए उन्हें संगठित करके उनका एक ही प्रदेश बनाना अन्ताराष्ट्रिय डाक व्यवस्था पर होनेवाले बहुत अधिक व्ययमें कमी करता तथा हर प्रकारकी दुविधाको दूर करना।

इसकी महासमितिको कांग्रेस कहते हैं। इसकी बैठक साधारणतः पाँचवें वर्ष हुआ करती है परन्तु कामकी देखरेख करनेके लिए एक स्थायी समिति है। संघका कार्य्यालय बर्न (स्विट्ज़रलैण्ड)में है। १९५३ में इसका आयव्ययक ३९०,३०० डालर (लगभग १९,५१,५०० रु०) का था।

एक देशमें जलवायुकी जो अवस्था होती है उसका प्रभाव दूसरे देशोंपर पड़ता है। यदि पहिलेसे सूचना मिल जाय कि कहाँ बादल जमा हो रहे हैं, किधरसे किस वेगसे आँधी आ रही है, कहाँ पाला पड़नेकी सम्भावना है तो मनुष्यों और पशुओंकी जानों तथा कृषि और अन्य सम्पत्तिकी रक्षाकी व्यवस्था की जा सकती है। इसी उद्देश्यसे विश्व ऋतुविज्ञान संघ[1]की स्थपना हुई है। इसके मुख्य काम यह हैं—

ऋतुविज्ञान सम्बन्धी पड़तालके केन्द्र या ऋतुविज्ञानके बारेमें भूगर्भ सम्बन्धी पड़तालके लिए केन्द्र स्थापित करनेके उद्देश्यके अन्ताराष्ट्रिय सहयोगको सरल बनाना, ऋतुविज्ञान सम्बन्धी सेवाओं-की व्यवस्थाके लिए केन्द्रोंकी स्थापना और उन्हें ठीक-ठाक रखना; मौसमकी जानकारीके तेजीके साथ आदान-प्रदानके लिए व्यवस्था करना और उसे ठीक रखनेमें योग देना।

विमान संचालन, नौचालन, कृषि और दूसरे मानव उद्योगोंमें ऋतुविज्ञानसे लाभ उठानेकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहित करना।

इस संस्थाकी महासमितिको भी कांग्रेस कहते हैं। उसका अधिवेशन साधारणतः चौथे वर्ष होता है। इसका कार्य्यालय जेनीवामें है। १९५३ में इसका आयव्ययक ३,५९,८८१ डालर (लगभग १७,९९,४०५ रु०) का था। भारतमें कोदाईकनालमें ऋतुविज्ञानकी जो वेधशाला है वह पृथ्वीकी श्रेष्ठतम वेधशालाओंमें गिनी जाती है।

---

१ World Meteorological Organisation (W. M. O.)

छठवाँ अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय न्याय-व्यवस्था

राष्ट्रोंके बीच झगड़े उठते ही रहते हैं और इनका निपटारा प्रायः तलवार ही करती रही है। कभी-कभी, जैसा कि हम आगेके द्वितीय खण्डमें दिखलायेंगे, आपसके समझौते या पंचायतसे भी बात सुलझ गयी है। ऐसे शान्तिमय उपायोंकी सफलता देखकर ही यह प्रस्ताव उठने लगा कि किसी प्रकारका अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय बन जाय।

सन् १८९९ में हेगमें जो सन्धि परिषद् बैठी थी उसने इस प्रश्नपर विचार किया और स्थायी पंच न्यायालय[१] की योजना भी बनायी। परन्तु न्यायालय नाम मात्रको स्थायी था। प्रत्येक देशके कुछ प्रमुख विधान शास्त्रियोंकी सूची बना दी गयी और यह निश्चित हुआ कि वादी प्रतिवादी इसीमेंसे पञ्च चुन लें। सन् १९०७ में नियमोंमें कुछ संशोधन हुआ। इस विषयका वर्णन दूसरे खण्डके छठे अध्यायमें भी मिलेगा।

इस प्रकार कुछ विवादोंका निर्णय हुआ भी परन्तु वस्तुतः यह योजना असफल रही। एक तो सच्चे अर्थोंमें न्यायालय स्थायी नहीं था। जब कोई झगड़ा उपस्थित हो और दोनों पक्ष उसे न्यायालयमें ले जाना चाहें तब वह एक-एक पंच चुनें। पंचलोग एकत्र हों तब कहीं सरपंच चुना जाय। कार्य्यवाही बड़ी देरमें होती थी। व्यय भी बहुत होता था। यह सुझाव आया कि प्रत्येक विवादका न्यायालयमें जाना अनिवार्य्य कर दिया जाय, पर यह बात स्वीकृत न हुई। छोटे राज डरते थे कि न्यायालयपर बड़े राजोंका प्रभाव होगा, प्रत्येक निर्णय उनकी इच्छाके अनुसार होगा। वह व्ययसे भी घबराते थे। जर्मनी, जापान, इटली जैसे बड़े राज, जो तलवारके बलपर राज्यवृद्धिकी तैयारियाँ कर रहे थे, न्यायालयसे बँधना नहीं चाहते थे। प्रथम महासमरके बाद फिर यह प्रश्न उठा। यह सुझाव आया कि सचमुच स्थायी न्यायालय बना दिया जाय जिसमें न्यायाधीशोंकी स्थायी नियुक्ति हो। राष्ट्रसंघके बन जानेसे छोटे राजोंको अब कोई भय न होना चाहिये। इस बार युद्धके विजेताओं अर्थात् ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापानने अनिवार्य्यताका विरोध किया। न्याया-लयमें छोटे बड़े सब बराबर होते हैं। इससे बलवानोंकी महत्वाकांक्षापर अंकुश लग जाता है। इसके लिए यह राज तैयार न थे। स्थायी न्यायालय[२] बना तो पर वह पंगु रहा।

द्वितीय महासमरके बाद यह प्रश्न फिर छिड़ा। इस बार इसको टाला नहीं जा सकता था। बार बार यह कहा जा चुका था कि यह युद्ध पृथिवीपरसे युद्धको उठा देनेके लिए लड़ा जा रहा है। छोटे बड़े राष्ट्रोंकी समताकी दुहाई भी डिंडिम घोष करके दी गयी थी। ऐसी अवस्थामें विजेताओं-के लिए इस दिशामें पाँव उठाना अनिवार्य हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघटनके समयककी ९२ से ९६ तककी धाराओंमें अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयका विधान है। ९२ वीं धारा कहती है कि अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय संयुक्त राष्ट्रका न्यायसम्बन्धी प्रधान उपकरण होगा। उसका काम उस विधानके अनुसार होगा जो परिशिष्ट रूपसे समयकके साथ संलग्न है। धारा ९४ के अनुसार प्रत्येक सदस्यका कर्तव्य

१ Permanent Court of Arbitration.

२ Permanent Court of Justice.

है कि न्यायालयके निर्णयोंका पूरा-पूरा पालन करे। यदि एक पक्ष ऐसा न करे तो दूसरे पक्षको अधिकार है कि सुरक्षा परिषद्‌का ध्यान इस ओर आकृष्ट करे ताकि वह उपयुक्त कार्य्यवाही करे। यद्यपि यह संयुक्त राष्ट्रोंका मुख्य न्यायालय है पर सारे विवाद इसके ही सामने आवें, ऐसा आवश्यक नहीं है। यदि कुछ राष्ट्र आपसमें ऐसा समझौता कर लें तो वह अपने विवादको समझौतेके अनुसार अन्य प्रकारसे भी तय करा सकते हैं।

जिस विधानका धारा ९२ में उल्लेख है वही अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयकी संविधि है[२]। उसकी सत्तर धाराओंमें न्यायालयके अधिकार, अधिकार-क्षेत्र, कार्य्यसंचालन नियम आदि सभी आवश्यक बातें दी हुई हैं। उन सबका यहाँ अवतरण नहीं हो सकता, पर इतस्ततः से कुछ मुख्य धाराओंका सारांश देना जरूरी है ताकि इस महत्त्वपूर्ण संस्थाकी रूपरेखाका चित्र बन सके। यदि सब राष्ट्र ईमानदारीसे काम करें, तो इसकी महत्ता, उपयोगिता और सार्थकता बहुत बढ़ सकती है, इसमें सन्देह नहीं है।

स्थायी न्यायालयका कार्य्यालय हेगमें था। उसके भवनका निर्माण अमेरिकन दानवीर स्व० कार्नेगीने अपने व्ययसे कराया था। अब स्थायी न्यायालय तो रहा नहीं, अन्ताराष्ट्रिय न्याया-लयका कार्य्यालय उसी स्थानपर है। पहिलेके न्यायालयने जो निर्णय किये थे या आदेश दिये थे उन सबको नये न्यायालयने अंगीकार कर लिया है।

न्यायालयमें पन्द्रह जज हैं। इनका चुनाव महासभा और सुरक्षा परिषद् मिल कर करती हैं। यह लोग अपने-अपने देशके उच्चवर्गके जज या वकील या अन्ताराष्ट्रिय विधानशास्त्रके ख्यातनामा पण्डित होते हैं। प्रत्येक जज नौ वर्षोंके लिए चुना जाता है। जज लोग अपने अध्यक्ष और उपा-ध्यक्षको तीन वर्षोंके लिए चुनते हैं। किसी एक समयमें एक राष्ट्रका एक ही जज न्यायालयमें हो सकता है। न्यायालयमें अंग्रेजी और फ्रेञ्च दो भाषाओंको मान्यता है। उसके सामने वह सब विवाद आ सकते हैं जिनको दोनों पक्ष उसके सामने रखना चाहें या जिनका संयुक्त राष्ट्रके समयक अथवा किसी सन्धि या समयपत्रके अनुसार न्यायालयमें लाया जाना अनिवार्य्य हो। जो राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रके सदस्य हैं उनको अधिकार है कि वह किसी समय यह लिख कर दे दें कि हम भविष्यमें अमुक अमुक बातोंमें न्यायालयके निर्णयको अपने लिए अनिवार्य्यतया मान्य मानेंगे। उनके ऐसे लेख संयुक्तराष्ट्रके कार्य्यालयमें सुरक्षित रहेंगे और उनकी प्रति न्यायालयके रजिस्ट्रारके पास भेज दी जायगी। यदि कभी यह प्रश्न उठे कि इस विवादके निर्णय करनेका अधिकार न्यायालयको है या नहीं तो इसका निर्णय भी न्यायालय ही करेगा। यदि किसी मामलेके निर्णय होनेमें देर लगनेकी सम्भावना हो तो न्यायालयको अधिकार है कि तब तकके लिए कोई अस्थायी व्यवस्था कर दे। उसकी सुझायी हुई व्यवस्था कार्य्यान्वित करनेके लिए दोनों पक्षों तथा सुरक्षा समितिके पास भेज दी जाती है। यह प्रक्रिया साधारण न्यायालयोंके हुक्मे इम्तिनाईसे मिलती जुलती है। न्यायालयके निर्णयोंकी अपील नहीं हो सकती परन्तु यदि कोई पक्ष समझे कि कोई आवश्यक बात न्यायालयके सामने समयसे नहीं लायी जा सकी थी तो वह नजरसानी (रेविजन) के लिए प्रार्थनापत्र दे सकता है। साधारणतः प्रत्येक पक्ष अपना खर्च स्वयं उठाता है परन्तु न्यायालयको अधिकार है कि दूसरे पक्षसे व्ययकी पूर्ति कराये।

विवादोंका निर्णय करनेके अतिरिक्त इस न्यायालयका एक और काम भी है। समयककी धारा ९६ से अनुसार महासभा, सुरक्षा परिषद् तथा संयुक्त राष्ट्रसे सम्बद्ध संस्थाओंको भी यह अधि-

२ Statute of the International Court of Justice.

कार है कि किसी विशेष वैधानिक प्रश्नके विषयमें न्यायालयसे परामर्श करें और उसकी सम्मति माँगें। न्यायालयके विधानकी ६५ से ६८ वीं धाराओंमें इस सम्मतिप्रदानकी प्रक्रिया दी हुई है। ऐसी सम्मतिका प्रभाव बहुतसे राष्ट्रोंपर पड़ सकता है अतः न केवल संयुक्त राष्ट्रके प्रधान सचिव वरन् अन्य सदस्य राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंको भी सूचना दे दी जाती है और खुले न्यायालयमें व्यवस्था सुनायी जाती है।

संयुक्त राष्ट्र संघटनके समयककी ३३ वीं धारामें यह निश्चय व्यक्त किया गया है कि यदि दो राष्ट्रोंमें कोई ऐसा विवाद उपस्थित हो जाय जिसके जारी रहनेसे अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाको आघात पहुँचनेका डर हो तो उभय पक्षको चाहिये कि उस विवादको आपसकी बातचीत, किसी तीसरे राष्ट्रकी मध्यस्थता या सत्सेवा, पंचायत, प्रादेशिक समझौता, न्यायालय द्वारा निर्णय या अन्य शान्तिमय उपायसे निपटानेका यत्न करें। सुरक्षा परिषद् भी यदि उचित समझे तो उनसे ऐसा अनुरोध कर सकती है। परिषद् स्वतः इस बातकी जाँच करा सकती है कि विवादसे अन्ताराष्ट्रिय शान्तिभङ्गकी सम्भावना है या नहीं या कोई अन्य सदस्य राष्ट्र भी ऐसे विवादके अस्तित्वकी ओर सुरक्षा परिषद् या महासभाका ध्यान आकृष्ट कर सकता है। यदि दोनों पक्ष विवादको शान्तिमय उपायोंसे समाप्त करना ही चाहें तो अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय बहुत अच्छा साधन है। लब्धप्रतिष्ठ निष्पक्ष विद्वानोंका जो भी निर्णय हो उसे शिरोधार्य्य करना चाहिये। परन्तु विपत्ति यह है कि इस पद्धतिको अपनानेसे बलवानोंकी महत्त्वाकांक्षापर रोक पड़ जाती है। अब भी ऐसा नियम नहीं बन सका है कि सभी राष्ट्रोंके सभी विवाद, जो अन्य शान्तिमय उपायोंसे न सुलझ सके हों, न्यायालयके सामने उपस्थित हों और शस्त्रका प्रयोग केवल न्यायालयके आदेशोंको मनवानेके लिए हो।

राष्ट्रोंका स्वार्थ तो बाधक है ही, कुछ और बातें भी हैं। इनमेंसे कुछ तो सैद्धान्तिक महत्त्व रखती हैं, कुछका सम्बन्ध राजसत्ताकी परम्परा और उसके इतिहाससे है। राष्ट्र-विशेषके भीतर तो यह माना जाता है कि राज सर्वोपरि है। प्रत्येक व्यक्तिको राज द्वारा स्थापित न्यायालयके सामने जाना ही होगा और उसकी आज्ञा माननी ही होगी। परन्तु सब राजोंके ऊपर कोई ऐसी सत्ता नहीं है। ऐसा माना जाता है कि राजोंका प्रभुत्व अकाट्य है और प्रत्येक राज स्वयं इस बातका निर्णय करनेका अधिकार रखता है कि कोई ऐसा अन्ताराष्ट्रिय नियम है या नहीं जो उसको लागू हो। दूसरे शब्दोंमें, अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयोंका अधिकार-क्षेत्र राजोंकी इच्छासे सीमित है। बार-बार प्रभुत्वका नाम लेकर शान्तिमय उपायोंका विरोध करना अच्छा नहीं लगता, कमसे कम उन राजोंको तो ऐसा करना शोभा नहीं देता जो बार-बार शान्तिकी दुहाई दिया करते हैं। ऐसी अवस्थामें कुछ विद्वानोंने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि कुछ विवाद प्रकृत्या न्यायालयके सामने लाने योग्य नहीं। उनका निर्णय प्रत्येक राज स्वयं ही कर सकता है। साधारण वैयक्तिक जीवनमें ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं। स्त्रीको अपने सतीत्वकी रक्षा प्रत्येक सम्भव उपायसे करनी चाहिये या नहीं, यह प्रश्न जजोंके निर्णय करनेका नहीं है। सतीत्व स्त्रीका सहज धर्म है, सतीत्वकी रक्षा उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। यह अधिकार किसी सरकार या न्यायालयकी अपेक्षा नहीं रखता।

अस्तु, अधिकतर राय यह है कि राजनीतिक विवाद न्यायालयोंके सामने नहीं जा सकते परन्तु कानूनी विवादोंके लिए यह रुकावट नहीं है। राजनीतिक विवादोंकी कोई परिभाषा देना कठिन है परन्तु स्थूल प्रकारसे यह कहा जा सकता है कि जिन प्रश्नोंका सम्बन्ध स्वतन्त्रतासे है वह राजनीतिक हैं। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि यदि कोई राज यह समझता है कि इस प्रश्नको

छेड़नेसे मेरी स्वाधीनताको आघात लगेगा तो फिर वह प्रश्न न्यायालयमें नहीं लाया जा सकता। जब कुछ प्रश्न न्यायालयके योग्य हैं ही नहीं तो फिर अनिवार्य्यताका नाम ही नहीं लिया जा सकता।

राष्ट्रीय मान भी स्वाधीनताके समान न्यायालयके क्षेत्रके बाहर है।

कानूनी विवादोंकी भी कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती, परन्तु सब बातोंपर विचार करनेके उपरान्त उनके निम्न-लिखित लक्षण समझमें आते हैं—

(क) कानूनी विवाद उस प्रकारके विवाद होते हैं जिनका निर्णय अन्ताराष्ट्रिय विधानके वर्तमान और निश्चित नियमोंके आधारपर हो सकता है।

(ख) यह ऐसे विवाद होते हैं जिनका विषय साधारण और गौण महत्त्वका हो, जिनसे राजोंके मौलिक हितों, स्वाधीनता, प्रभुत्व, राज्यकी अविच्छिन्नता या प्रतिष्ठापर न पड़ता हो।

डाः लाउटरपाख्टने इनके सिवाय दो और लक्षण भी बताये हैं, परन्तु वह इन दोनोंसे निसृत होते हैं। ऐसा माना जाता है कि राजनीतिक विवाद एक दूसरेसे भिन्न होते हैं और किन्हीं निश्चित नियमोंकी परिधिके भीतर नहीं आते।

निश्चित नियमोंके अभावकी आड़में बहुतसे प्रश्न किसी अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयके सामने नहीं लाये जाते। सच बात तो यह है कि देशोंके भीतरी कानूनोंमें कभी-कभी त्रुटियाँ देख पड़ती हैं परन्तु उनका नाम लेकर कोई नागरिक न्यायालयसे बच नहीं सकता। विधान शास्त्रके सिद्धान्तों-को सामने रखकर व्याख्याके द्वारा वर्तमान नियमोंके अर्थका विस्तार कर लिया जाता है और फिर न्यायालयका निर्णय आगेके लिए नजीर बनकर नियमका स्थान ले लेता है। परन्तु अन्ताराष्ट्रिय जगत्‌में बहुधा ऐसा नहीं हो पाता। जैसा कि आगे चलकर, विशेषतः युद्ध खण्डमें, दिखलाया गया है न्यायालयोंके कई फैसले भविष्यत्‌के लिए आधार बन गये और उन्होंने नियमों या विधानोंका स्थान ले लिया है पर ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं, क्योंकि हर प्रकारके विवाद न्याया-लयोंके सामने आने नहीं पाते।

राजके भीतर यदि किसी मुकदमेके सम्बन्धमें वर्तमान कानूनमें कमी देख पड़ती है तो नया कानून बनाया जा सकता है परन्तु अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें दोनों पक्षोंकी रायसे ही नया कानून बन सकता है। वह चाहें तो अपने झगड़ेको निपटानेके लिए समझौता करके कोई नया मार्ग ढूँढ़ सकते हैं। यदि यह मार्ग सफल हुआ तो आगेके लिए नये कानूनकी जगह ले सकता है।

सच बात यह है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानकी अपूर्णताका चर्चा केवल बहाना है। यह ठीक है कि जिस प्रकार प्रत्येक राजके भीतर राज सरकार और किसी न किसी प्रकारका व्यवस्था-पक—पार्लिमेण्ट, काँग्रेस या अन्य विधायक—होता है वैसा अन्ताराष्ट्रीय जगतमें नहीं है। पता नहीं यह कमी-कभी पूरी होगी या नहीं। यदि कोई ऐसा सर्वोपरि विधायक और अधिकारी होता तो सुविधा होती। फिर भी झगड़ोंको निपटानेके लिए पर्य्याप्त सामग्री है। प्रत्येक अवस्थाके लिए भले ही पृथक् और स्पष्ट नियम न मिलता हो परन्तु यह न भूलना चाहिये कि अन्ताराष्ट्रिय विधान उन व्यापक सिद्धान्तोंकी अवहेलना नहीं कर सकता जो सभी विधानोंकी आधारशिला हैं। विधान शास्त्रके मौलिक सिद्धान्त इस क्षेत्रमें भी लागू होते हैं अतः जहाँ कहीं स्पष्ट नियम न मिलता हो वहाँ न्यायालय मूल सिद्धान्तोंके आधारपर निर्णय कर सकते हैं। इसके कई उदाह-रण हैं। फ्रांस और ब्राजीलमें सीमा विषयक विवाद बहुत दिनोंसे चला आ रहा था। १० अप्रैल १८९७ को उन्होंने यह विवाद एक पंचको सौंपा और उसको यह अधिकार दिया कि चाहे जो

निर्णय करे और सीमा उचित समझे निर्धारित कर दे। ऐसे मामलोंमें न्यायालय यों ही निर्णय नहीं करते। वह ऐसे नियमों और सिद्धान्तोंका आश्रय लेते हैं जो व्यापक और सार्वभौम प्रतीत होते हैं और भविष्यमें दूसरे प्रश्नोंपर भी लागू किये जा सकते हैं। इस प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधान विशद और विस्तृत होता जाता है।

न्यायालयोंके काममें मुख्य बाधाकी ओर पहिले ही संकेत किया जा चुका है। प्रभुत्वका दुराग्रह कम होना चाहिये। कुछ प्रचलित मान्यताओंका परित्याग करना होगा अन्यथा ऐसे तर्क उठते रहेंगे जिनका कोई उत्तर नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य अपने सम्बन्धमें कुछ धारणाएँ रखता है परन्तु उन धारणाओंको दबानेके लिए विवश होता है। अपनेको कोई कितना ही भला क्यों न समझे परन्तु अपने विषयमें अपनी राय बहुधा व्यक्त नहीं की जाती। राजोंपर ऐसी कोई रुकावट नहीं है। ऐसी बातें पेश की जाती हैं जिनका कोई सन्तुलन या मूल्यांकन नहीं हो सकता। यहाँ हमारी प्रतिष्ठाको आघात पहुँचता है, यदि अमुक देशने अमुक देशसे संधि या विशेष प्रकारका समझौता किया तो भविष्यमें हमारे हितोंकी क्षति होनेकी आशंका है, अमुक प्रदेशसे हमारा सैकड़ों वर्षोंका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है अतः वहाँका शासन हमारी इच्छाके अनुसार होना चाहिये। इन बातोंका क्या उत्तर दिया जाय? यह तर्क कहाँतक जाते हैं, इसका एक ही प्रमाण पर्याप्त है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बन्धके नामपर ही जर्मनीने जेकोस्लोवाकियाके उस प्रान्तके शासनमें छेड़छाड़ करना आरम्भ किया जिसमें कई सौ वर्ष पहिले कुछ जर्मन आकर बस गये थे। अन्तमें उसने जेकोस्लोवाकियाके राजका ही अन्त कर दिया। तुर्कीकी ईसाई प्रजाके साथ सहानुभूति दिखलाकर कई बार यूरोपके ईसाई राजोंने उसके शासनमें हस्तक्षेप किया था। अमुक देशमें कम्युनिस्टोंका प्रभाव बढ़ रहा है या अमुक देशमें अमेरिकाका प्रभाव बढ़ रहा है, इससे हमको आशंका है, आजकल इस प्रकारकी बातें बहुत सुन पड़ती हैं। राष्ट्रीय हितका बड़ा चर्चा रहता है। जबतक प्रत्येक राज ऐसी बातोंका आप निर्णायक रहेगा तबतक शान्ति नहीं हो सकती।

राजोंके इस मनमानेपन, प्रभुत्वकी इस उच्छृङ्खल मीमांसा, की तहमें यह धारणा है कि सब राज एक दूसरेके तुल्यशील हैं[१]; न तो प्रभु राज एक दूसरेके अधीन हैं न किसी अपनेसे बड़ी शक्तिके अधीन हैं। यह केवल वस्तुस्थितिका वर्णन नहीं है। यह तो ठीक है कि आज राजोंका अधिष्ठाता, उनका नियामक कोई नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघटनको भी यह अधिकार प्राप्त नहीं है। परन्तु जो लोग इस मतके समर्थक हैं वह इसको दार्शनिक रूप देकर यह कहते हैं कि राजके ऊपर कोई दूसरी सत्ता होनी भी नहीं चाहिये। इस मतके प्रवर्तक हीगेल थे। उनके शिष्यवर्गने इसको विस्तार दिया। हीगेलके बाद जर्मनीमें तो यह मत प्रायः सर्वमान्य रहा है। इस मतका सारांश यह है कि जिस चेतन तत्त्वके विकासने जगत्का रूप धारण किया है उसकी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति राजसत्ता है। उसके साथ तादात्म्य स्थापित करके व्यक्तिको विश्वात्माके साथ तादात्म्यकी अनुभूति होती है। राज कृत्स्न, पूर्ण है और सब कुछ अपूर्ण है। अतः राजके ऊपर कुछ नहीं हो सकता। राजका प्रतीक शक्ति है और, क्राडफमैनके अनुसार, शक्ति सफल युद्धमें प्रकट होती है। जिस राजके पास जितनी ही शक्ति है, उतना ही वह आदर्शके निकट है, उतनी ही उसमें कृत्स्नता है। शक्तिसञ्चय करना राजका धर्म है और बलवान् होना ही अधिकार और न्यायकी परख है। युद्ध इस बातका परिचय देता है

१ Co-ordinate

कि कौन राज मनुष्यकी दुर्बलताओंसे ऊपर उठकर अपने शुद्ध 'स्व'को अधिक विकसित कर सका है।

सब लोग इतनी दूरतक न जाते हों परन्तु स्वाधीनता और प्रभुताके सिद्धान्त निश्चय ही इस ओर झुकते हैं। इनको छोड़ना होगा। यह स्वीकार करना होगा कि राजोंकी स्वतंत्रता वहींतक है जहाँतक कि दूसरोंकी स्वतंत्रताको ठेस न पहुँचे। इससे भी अच्छा यों कहना होगा कि स्वतंत्रता वहींतक आदरणीय है जहाँतक कि मनुष्य-समाजके कल्याणमें उससे सहायता मिले। इस प्रश्नका निर्णय कोई तटस्थ न्यायालय ही कर सकता है कि कोई कार्यविशेष समाज विरोधी है या नहीं। इसलिए प्रत्येक विवादको न्यायालयके सामने जाना ही चाहिये।

राजोंके भीतरी विधान इतने विस्तृत होते हैं कि व्यक्तियोंके अधिकारोंका स्वरूप प्रायः निश्चित रहता है। आत्मरक्षा प्राणीका नैसर्गिक अधिकार है परन्तु सभ्य समाजमें कुछ असाधारण अवस्थाओंको छोड़कर व्यक्तिकी रक्षा सरकारका कर्तव्य बन गयी है। न्यायालयके सामने निश्चित सामग्री रहती है। परन्तु अन्ताराष्ट्रिय जगत्में अभी ऐसा नहीं है। राजका यह कर्तव्य तो स्पष्ट है कि उसे अपने नागरिकोंकी सर्वाङ्गीन रक्षा करनी है और उनके अभ्युदयका पूर्ण प्रयत्न करना है। इन उद्देश्योंकी सिद्धिके लिए क्या किया जा सकता है और क्या नहीं किया जा सकता, इसकी कोई तालिका नहीं है। ऐसी अवस्थामें यह कहा जा सकता है क राज स्वतंत्र है, उसे जो उचित और संभव प्रतीत हो करे। यह कहा जाता है कि जो निषिद्ध नहीं है, वह अनुमत है। यदि किसी अन्ताराष्ट्रिय सन्धि या समझौतेमें स्पष्ट रूपसे किसी कामकी मनाही हो तब तो उस कामको न करना चाहिये, अन्यथा सब कुछ करणीय है। यह भी समझ लेना चाहिये कि जो निषेध माना जाता है वह किसी बाहरी दबावके कारण नहीं; क्योंकि राजके ऊपर दबाव डालनेवाला कोई नहीं है। दबावका एक मात्र आधार आत्म-नियंत्रण है। अपनी सुविधाकी दृष्टिसे राज स्वयं अपने अधिकारको सीमित कर लेता है।

यह विचार भी त्यागने होंगे। मानव समाज प्रत्येक राजसे और राजसमुदायसे बड़ा है। जो उसके लिए कल्याणकारी नहीं है वह उपादेय नहीं हो सकता, वास्तविक अधिकारोंकी कोटिमें नहीं आ सकता। जहाँ निषेधका चर्चा हो वहाँ लिखित कागजोंके स्पष्ट शब्दोंको ही नहीं देखना होगा। विधान शास्त्रके मूल सिद्धान्तोंके, मानवहितके, जो प्रतिकूल है वह हेय है। यदि किसी सन्धि या समयपत्रमें उसके लिए स्पष्ट अनुमति दी भी गयी हो तब भी वह मान्य नहीं हो सकता।

इस सम्बन्धमें कुछ विद्वानोंने इधर हालमें एक नये सिद्धान्तका चर्चा करना आरम्भ किया है। इसको 'स्वत्वोंके दुरुपयोगका सिद्धान्त'[१] कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जितने भी कानूनी स्वत्व हैं वह समाजकी देन हैं अतः उनसे उतना और वैसा ही काम लिया जा सकता है जिससे समाजके व्यापक हितका विरोध न हो। किसी स्वत्वका यथार्थ प्रयोग न करनेसे अर्थात् उसका दुरुपयोग करनेसे वह स्वत्व अस्वत्व हो जाता है और उसका उपयोग अवैध हो जाता है।

इसमें पहिली बात बड़े महत्त्वकी है। यह बात दृढ़तासे स्वीकार करनी होगी कि कानूनी स्वत्व समाजकी देन होते हैं। कोई व्यक्ति या समूह सबसे अलग रहता हो तो वह चाहे जितनी स्वेच्छाचारिता बरते पर जहाँ एकसे दो होंगे वहाँ भी बन्धन आ जायगा। जो एकका स्वत्व होगा वह दूसरेका कर्तव्य होगा। बर्बर और जंगली तक ऐसा जानते-मानते हैं। स्त्री-पुरुष भले ही एक दूसरेके साथ रहें परन्तु समाजके विधानके अनुसार ही उनको पतिपत्नीके स्वत्व प्राप्त होते हैं। यही

१ Doctrine of the abuse of rights.

बात समुदायोंके लिए लागू है। आज चीन इतना बड़ा देश है पर उन स्वत्वोंसे वंचित है जो संयुक्त राष्ट्र संघटनके सदस्योंको प्राप्त हैं। अस्तु, जिससे स्वत्व प्राप्त हों उसकी शर्तोंके अनुसार ही उनसे काम लिया जा सकता है। जहाँ स्पष्टतया किसी शर्तका उल्लेख न भी हो वहाँ इतना तो मानना ही चाहिये कि स्वत्वदाताके विरुद्ध कोई बात न की जायगी। आज मानव-समाज पहिलेसे कहीं अधिक संग्रथित है, राष्ट्रोंके सुख-दुःख एक दूसरेपर निर्भर हैं, संस्कृति और सभ्यताके भेद क्षीण होते जाते हैं। ऐसी अवस्थामें राष्ट्रोंके स्वत्वोंमें परिवर्तन होना आवश्यक है। जो बात पहिले स्वत्वोंमें परिगणित होती थी, सम्भव है आज वह स्वत्व मानने योग्य न हो। ऐसी दशामें उससे काम लेना वस्तुतः अवैधानिक होगा। विकास और परिवर्तनशील अन्ताराष्ट्रिय जीवनमें जो वैध था वह अब अवैध हो सकता है। एक उदाहरण लीजिये। प्रत्येक राजको अपने राज्यके भीतर प्रत्येक वस्तु और व्यक्तिपर अधिकार है। यह राजोंका स्वत्व है। परन्तु यदि कोई राज अपनी प्रजाके किसी अंग विशेषपर अत्याचार करता है तो उसका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूपसे दूसरे राजोंपर पड़े बिना नहीं रह सकता। ऐसी अवस्थामें यह कहना कठिन है कि दूसरे राजोंको कुछ न बोलना चाहिये, क्योंकि यह स्वत्वका दुरुपयोग और मानव समाजके लिए अश्रेयस्कर है। संयुक्त राष्ट्र संघटनने इस बातको ध्यानमें रखकर जनसूदन[१]का निषेध किया है।

यह ऐसी बातें हैं जिनके कारण राष्ट्रोंके बीच उस प्रकार न्याय नहीं हो पाता जिस प्रकार राष्ट्रोंके भीतर व्यक्तियोंमें होता है। संयुक्त राष्ट्रका समयक चाहे जितना अच्छा हो और अन्तर्राष्ट्रिय न्यायालयके विधानके पीछे चाहे जितनी सद्भावना हो परन्तु जबतक यह अड़चनें दूर नहीं होती तब तक न्यायका राज्य नहीं हो सकता। आज नर-संहारके साधन इतने अधिक और इतने शक्तिसम्पन्न हो गये हैं कि यदि बड़े राष्ट्रोंने बल-प्रयोगको अंतिम निर्णायक माननेके मोहका संवरण न किया तो सहस्रों वर्षोंकी उन्नतिपर पानी फिर जायगा और सभ्यता तथा संस्कृतिका लोप हो जायगा। मनुष्य-समाज सभी राष्ट्रोंसे बड़ा है। उसके कल्याणमें सबका कल्याण है परन्तु जबतक सचाईके साथ युद्धका बहिष्कार करके सब विवादोंका फैसला निष्पक्ष-अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयपर न छोड़ा जायगा तबतक शक्ति और सुरक्षाका चर्चा करना निरर्थक शब्दाडंबर मात्र है।

निष्पक्ष अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयका अभाव यों तो सदा ही खटकता है परन्तु युद्धकालमें तो यह कमी बहुत ही अखरती है। शत्रुकी सम्पत्ति सम्बन्धी बहुतसे प्रश्न उठते हैं। उनके सम्बन्धमें न्यायपूर्ण विचार भी होते हैं परन्तु न्यायाधीश अपनी-अपनी सरकारके अधीन होते हैं। इससे सन्देह-के लिए कुछ जगह रह ही जाती है।

पिछले महासमरके बाद विजेताओंने एक नये ढंगकी बात की जिसके लिए कोई नजीर नहीं मिलती। कई जर्मन और जापानी राजपुरुषों और सेनापतियोंको युद्धापराधी[२] घोषित किया गया। इन लोगोंपर अन्ताराष्ट्रिय नियमोंके उल्लङ्घनका आरोप था। यदि इतनी ही बात होती कि इन लोगोंने युद्ध सम्बन्धी उन नियमोंको तोड़ा जो जेनीवामें स्वीकृत हुए थे या असभ्य अथवा अमानुषिक प्रकारसे युद्ध किया तब तो कुछ कानूनी आधार भी होता परन्तु धोखा देना, कपटाचार, सन्धियोंकी अवहेलना, क्रूरता आदि ऐसी बातें हैं जिनके लिए अबतक अन्ताराष्ट्रिय स्तरपर कभी मुकदमे चले नहीं। कोई स्पष्ट या गौण नियम उपलब्ध नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि ऐसी बातें दण्ड्य न मानी जायँ पर जब विजेताओंकी अदालतोंमें मुकदमे चले, युद्धके आवेश ठंडे नहीं हुए

१ Genocide. किन्हीं ऐसे उपायोंसे काम लेना जिनसे अपनी प्रजाका कोई वर्ग-विशेष नष्ट हो जाय।
२ War Criminal.

थे, विजितोंके गर्वको चूर्ण करनेकी भावना पर्य्यावरणमें व्याप्त थी, तो न्यायके लिए अनुकूल परि-स्थिति नहीं थी। जिन लोगोंको प्राणदण्ड या कारावास दण्ड दिया गया वह अपने देशवासियोंकी दृष्टिमें तो निरपराध हुतात्मा बन ही गये, तटस्थोंके मनसे भी यह धारणा दूर न हो सकी कि यह लोग प्रतिहिंसा भावनाके शिकार हुए। यदि यह सारे मामले निष्पक्ष अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयके सामने रक्खे जाते तो यह बात न होती। न्यायालय विधान शास्त्रके सिद्धान्तोंके प्रकाशमें कार्य्यवाहक नियम बनाता, जो इस अवसरपर तो काम आते ही आगेके लिए भी नजीर बन जाते। सम्भव है न्यायालयके निर्णयोंमें कुछ देर लगती परन्तु उनकी सर्वमान्यता उतनी ही अधिक होती। कामकी अच्छाई बुराईकी कसौटी मानव-समाजका हित है, इस प्रश्नको विजेताओंकी भावनाओंपर नहीं छोड़ना चाहिये था।

सातवाँ अध्याय

सहभाव

संयुक्त राष्ट्र संघटनके समयकमें तो प्रादेशिक संघटनोंका विधान है ही परन्तु सम्प्रति कई ऐसी अन्ताराष्ट्रिय गतियाँ देख पड़ती हैं जो संयुक्त राष्ट्रसङ्घटनके विरुद्ध न होते हुए भी उससे असम्बद्ध हैं। एक ओर अख्यरब भावनाको यह प्रेरणा है कि मिस्र, हेजाज, इराक आदि अरब देश मिलकर काम करें और न केवल समान वैदेशिक नीति बरतें वरन् आवश्यकता पड़नेपर संयुक्त सैनिक बलसे भी काम लें। अरब देशोंके बीचमें स्थित इजरेअलके यहूदी राजका अस्तित्व अरबोंको खलता है। उनके सङ्घटनका प्रधान लक्ष्य इजरेअल हुआ करता है।

दक्षिणपूर्व एशियामें विशेष प्रकारकी स्थिति है। भारतकी वैदेशिक नीति बराबर स्वतन्त्र रही है। उसने कई बार यह स्पष्ट कर दिया है कि हम तटस्थ हैं। इस सन्दर्भमें तटस्थताका विशेष अर्थ है। इटली-अबिसीनियाकी लड़ाईमें अमेरिकाने दोनोंके हाथ सैनिक सामग्री बेचना बन्द कर दिया। यह देखनेमें तो तटस्थता थी परन्तु वस्तुतः इससे ऐसे राष्ट्रको सहायता मिल रही थी जो अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें निर्विवाद अपराधी था। यह दाम्भिक तटस्थता है। निर्दोष और अपराधीमें भेद करना ही चाहिये; प्रत्येक ऐसे कार्य्यकी निन्दा करनी ही चाहिये जिससे शान्ति भङ्ग हो। भारत ऐसा करना अपना कर्तव्य समझता है पर वह रूसी और अमेरिकन गुटोंसे अलग रहना चाहता है। एक गुटकी दृष्टिमें दूसरा सदैव दोषी है, किसी छान-बीनकी आवश्यकता ही नहीं है। भारतकी तटस्थताको विवेचनात्मक तटस्थता कह सकते हैं। बर्म्मा और इण्डोनीशिया इस विषयमें भारतके सहयोगी हैं। ऐसा कहा जाने लगा है कि दक्षिणपूर्व एशियाकी विशेष संस्कृति है और इस प्रान्तके देशोंका सहस्रों वर्ष पुराना सम्बन्ध है। अतः इनका एक मार्गपर चलना सर्वथा उचित है। वस्तुतः स्याम और वीतमीन तथा कम्बोडियाको भी इसी पथका अनुसरण करना चाहिये। परन्तु स्याम इस समय अमेरिकन प्रभावमें है और शेष दोनों देश अभी अपना घर नहीं सँभाल पाये हैं। भारत, बर्म्मा और इण्डोनीशियामें कोई लिखित सन्धि-समझौता नहीं है, केवल नैतिक सूत्र इनको एक साथ रख रहा है।

मुसलमानी देशोंके संघटनकी बात भी उठायी जा रही है। पाकिस्तान इसका विशेष समर्थक है। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इस गुटको कितनी दृढ़ता प्राप्त होगी।

सच्चे अन्ताराष्ट्रिय सौहार्दमें सबसे बड़ी अड़चन यही है कि एक ओर तो वह देश बद्ध-परिकर हैं जिनमें कम्युनिस्ट शासन है या जो कम्युनिस्ट प्रभावमें हैं। इनमें केवल राजनीतिक मैत्री नहीं है प्रत्युत् कुछ सिद्धान्तों, विश्वासों और आदर्शोंने इनको एक सूत्रमें ग्रथित कर रक्खा है। दूसरी ओर वह देश हैं जो किसी न किसी अंशमें अमेरिकाको अपना नेता मानते हैं। इनके संग्रथन सूत्रको लोकतन्त्र कह सकते हैं। प्रत्येक पक्षका यह कहना है कि दूसरा पक्ष विश्वशान्तिका शत्रु है। अबतक तो यह बात रही है कि कम्युनिस्ट समुदायकी नीति आक्रमणात्मक थी। कम्युनिस्ट सिद्धान्तकी यह मांग है कि सर्वत्र कम्युनिस्ट शासन स्थापित करनेका यत्न किया जाय। इसके लिए हिंसा वैध उपाय माना गया है। दूसरे देशोंको अपनी रक्षाके उपाय करने पड़ते थे कि हम

कम्युनिज्मसे बच जायं। पर रक्षाके नाम पर इन्होंने भी अब पर्याप्त बल सञ्चय कर लिया है और इनका यह विचार होता जाता है कि रक्षाका सबसे अच्छा उपाय यह हो सकता है कि विरोधीपर पहिले ही धावा किया जाय। किसी पक्षकी बात यथार्थ हो पर इनके संघर्षसे विश्व-शान्ति नष्ट होगी, इसमें सन्देह नहीं है। इसको बचानेका कोई उपाय होना चाहिये। प्रत्येक देशको अपनी आभ्यन्तर व्यवस्थाको यथेच्छ रखनेका अधिकार है परन्तु इस अधिकारकी यह अविच्छेद्य निष्पत्ति है कि एक राज दूसरे राजके भीतर हस्तक्षेप न करे। हस्तक्षेपके बाहरी रूपोंका वर्णन तो आगे होगा, परन्तु उनको बचाते हुए भी हस्तक्षेप किया जा सकता है और किया जाता भी है। यदि एक राज दूसरे राजके भीतरके किसी दल विशेषको धन या परामर्श या अन्य प्रकारसे सहायता देता है, उसको अपनी सरकारसे संघर्ष करनेके लिए प्रोत्साहित करता है, उसके विरुद्ध अपने देशके समाचार पत्रों या रेडिओमें प्रचार होने देता है, तो वह निश्चय ही हस्तक्षेप कर रहा है, चाहे यह हस्तक्षेप किसी प्रकार दण्ड्य न हो। जबतक यह प्रवृत्ति रहेगी तबतक शान्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक प्रकारके विचारका प्रचार होने देना तो सबसे अच्छा है परन्तु यदि कोई राज अपने हितमें ऐसा उचित समझता है तो किसी विशेष प्रकारके विचारोंका प्रसार अपने यहाँ रोक दे। यहाँतक तो सह्य होगा परन्तु 'दूसरेके भीतरी शासनमें दिलचस्पी लेना और उसको उलटनेवालोंसे प्रत्यक्ष सम्पर्क रखना अक्षम्य है।

इधर कुछ दिनोंसे इस प्रसंगमें 'सहभाव'[१] शब्दका चर्चा सुननेमें आ रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकारकी प्रणालियोंसे शासित, और विभिन्न प्रकारके सिद्धान्तोंसे अनुप्राणित राज, एक दूसरेके साथ शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। इस विचारका विरोध तो कोई सिद्धान्तः कर नहीं सकता, सभी समर्थन करने लगे हैं। परन्तु सहभाव कैसे हो? वह कौनसे सिद्धान्त हैं जिनको सब राज मानें? यदि इसका निर्णय हो जाय तो यह बात आप ही सिद्ध हो जायगी कि इन सर्वसम्मत सिद्धान्तोंके बाहर न जाना होगा। उस दिशामें राजोंको आत्मसंयमसे काम लेना पड़ेगा।

अभी जून १९५४ में चीनके प्रधान मंत्री चाउ एन लाई भारत आये थे। उस अवसर पर उनसे और भारतके प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरूसे बहुत-सी आवश्यक बातोंपर विचार-विनिमय हुआ। उसके परिणामस्वरूप उनकी ओरसे एक सम्मिलित वक्तव्य निकला। उस वक्तव्यका अन्ताराष्ट्रिय जगत्‌में बहुत महत्त्व है। वक्तव्यमें उन सिद्धान्तोंका स्पष्ट उल्लेख है जिनके आधार पर स्थायी चीन-भारत मैत्रीकी आशा की जाती है। यह सिद्धान्त पाँच हैं। कहीं-कहीं इनको पञ्चशीलकी उपाधि दी गयी है। सम्मिलित वक्तव्यके अतिरिक्त भी इनको कई बार साग्रह दुहराया गया है। इन शीलोंका यों निर्वचन हो सकता है—

(१) राज्यकी अविच्छिन्नता और प्रभुत्वके लिए पारस्परिक समादर
(२) पारस्परिक अनग्रधर्षण
(३) एक दूसरेकी आभ्यन्तर बातोंमें पारस्परिक अहस्तक्षेप
(४) समता और पारस्परिक लाभ।
(५) शान्तिमय सहभाव।

यदि सब राज सचाईके साथ इन सिद्धान्तोंको मान लें तो युद्धकी आशङ्का बहुत कम हो जाय और सहयोग भावनामें भी उसी अनुपातसे वृद्धि हो। पारस्परिक लाभ तो विजेता और विजित-

१ Coexistence.

के बीचमें भी हो सकता है। जापानने द्वितीय महासमरमें जिन देशोंको जीता था उनको उसने सह-समृद्धि[१] का सन्देश दिया था। परन्तु समताका लिहाज रखनेसे यह डर जाता रहता है। यदि एक दूसरेपर अग्रघर्षण न करे, हस्तक्षेप न करे, प्रभुत्व या राज्यके घटानेका विचार न रक्खे तो सहभाव सम्भव हो जाता है।

भारतसे विदा होकर चाउ-एन-लाइने बर्माके प्रधान मन्त्री यू नू और वीतमीन्हके अध्यक्ष डॉ० हो चिमिनसे बात की। उनके जानेके बाद इण्डोनीशियाके प्रधान मन्त्री शस्त्रविजय भारत आये थे। इन सब देशोंमें पञ्चशीलकी सराहना हो रही है और यह आशा की जा रही है कि विश्व-शान्तिके लिए एशिया यह नया सूत्र बता रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि इस बात-चीतसे अमेरिका क्षुब्ध हुआ है। रूसने स्वागत किया है क्योंकि इस प्रकार एक कम्युनिस्ट देशको शान्तिका अग्रदूत बननेका अवसर मिलता है।

पञ्चशील शान्तिमय सहभावके आधार बन सकते हैं परन्तु एक शर्त है। हस्तक्षेपका पारिभाषिक अर्थ न किया जाय। सैनिक दबाव डाले बिना भी हस्तक्षेप हो सकता है। यदि एक देश दूसरे देशके किसी ऐसे दलको किसी प्रकार प्रोत्साहन देता रहा जो गुप्त रूपसे शासनके स्वरूपको बदलनेके लिए प्रयत्नशील है तो वह निश्चय ही हस्तक्षेप करनेका दोषी है। इस प्रकारके अप्रत्यक्ष हस्तक्षेपका परित्याग करना होगा, तभी सद्भावकी सम्भावना हो सकती है। जबतक ईमानदारीसे सहभावकी भावना न होगी तबतक समयक और संविधिसे विश्वशान्ति नहीं हो सकती।

---

१ Co-Prosperity.

आठवाँ अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय विधानके आधार

जिसके सहारे कोई वस्तु खड़ी रहती है उसे उस वस्तुका आधार कहते हैं। यदि आधार शब्दका यही अर्थ लिया जाता तो कोई भी विधान हो, उसका आधार उस राजका दण्डबल होगा जिसके राज्यमें वह प्रचलित है। जो विधानकी अवहेलना करेगा वह दण्डित होगा—यही मुख्य आधार हो सकता है। पर अन्ताराष्ट्रिय विधानको अभीतक कोई ऐसा सहारा प्राप्त न था, उसका कोई नियत पृष्ठपोषक न था। उसको यदि सहारा था तो अधिकांश सभ्य राजोंका व्यवहार। अब संयुक्त राजसंघटन स्थापित हो गया है। यदि वह स्थायी रहा तो उसके हाथमें दण्डबल भी रहेगा। दूसरा सहारा जनताकी शान्तिप्रियता है। राष्ट्रोंके भीतर अधिकांश नागरिक झगड़ा, उपद्रव और बलप्रयोग नहीं करना चाहते, इसलिए देशका विधान काम कर सकता है। यदि बहुसंख्यक प्रजा कानून तोड़ना ही चाहे तो दण्डबल बहुत दिनोंतक नहीं टिक सकता। यही बात राष्ट्रोंके लिए लागू है। यदि अधिकांश राष्ट्र बलप्रयोग करनेके इच्छुक न होंगे तो अन्ताराष्ट्रिय विधान टिक सकेगा। युद्धमें बलप्रयोग होता है और अभी युद्धको अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें स्थान है परन्तु यथेच्छाचार न करनेसे युद्धकी भीषणता भी नियंत्रित हो सकती है। इस आधारकी दृढ़ता बलवान् राष्ट्रोंकी इच्छापर निर्भर है।

यहाँ हमने आधार शब्दका इस अर्थमें प्रयोग नहीं किया है। आधारसे हमारा तात्पर्य उन मार्गोंसे है जिनसे अन्ताराष्ट्रिय विधानकी उत्पत्ति हुई है। अंग्रेजी ग्रंथकार बहुधा सोर्स[१] शब्दका प्रयोग करते हैं पर उनको इसकी भी लम्बी व्याख्या करनी पड़ती है क्योंकि सोर्सका अर्थ है उद्गमस्थान। यह शब्द बुरा नहीं है पर यह समझ लेना चाहिये कि उद्गमस्थानसे उस देश-विशेषसे अभिप्राय नहीं है जिसमें कोई नियम-विशेष पहले-पहले बर्ता या शब्दोंमें स्पष्टतया व्यक्त किया जाता है।

कानूनोंका सबसे बड़ा उद्गमस्थान विधायक संस्थान हुआ करता है। पार्लमेण्ट, कांग्रेस, चाहे जो नाम हो परन्तु प्रत्येक सभ्य देशमें किसी न किसीको विधान बनानेका अधिकार होता है। कुछ नहीं तो नरेशकी आज्ञा ही विधानका काम करती है परन्तु अन्ताराष्ट्रीय जगत्में अभी इस प्रकारका कोई विधायक नहीं है। इसीलिए हमने पुस्तकके आरम्भमें यह कहा था कि अन्ताराष्ट्रिय विधान उन नियमों और प्रथाओंके समूहको कहते हैं जिनके अनुसार सभ्य राज एक दूसरेके साथ प्रायः बर्ताव करते हैं। संयुक्त राज संघटनके बन जानेके बाद अन्ताराष्ट्रिय विधानमें कुछ अधिक स्थिरता आयी है। इस संबंधमें परिशिष्ट २में दिया हुआ घोषणापत्र विशेष रूपसे द्रष्टव्य है।

उपर्युक्त परिभाषाको ध्यानमें रखते हुए अन्ताराष्ट्रिय विधानके आठ मुख्य आधार हैं—

(१) सर्वसम्मत प्रथाएँ

(२) स्मृतिकारोंके ग्रन्थ,

(३) सन्धियाँ,

---

१ Source

(४) शास्त्रियोंकी व्यवस्था,

(५) अन्ताराष्ट्रिय पञ्चायतोंके निर्णय,

(६) सामरिक न्यायालयोंके निर्णय,

(७) राजोंके पत्र-व्यवहार, और

(८) वह निर्देश जो समय-समयपर राजोंकी ओरसे कर्मचारियों या न्यायालयोंकी सुविधाके लिए निकाले जाते हैं।

जिन प्रथाओंमें निम्नलिखित लक्षण पाये जायँ वह अन्ताराष्ट्रिय विधानका आधार मानी जा सकती हैं—

सर्वसम्मत प्रथाएँ (क) अन्ताराष्ट्रिय संबंधोंके क्षेत्रमें पड़नेवाली किसी विशेष प्रकारकी परिस्थितिमें कई राजोंका एक ही प्रकारसे काम करना,

(ख) उस प्रकारके कामका पर्य्याप्त कालतक कई बार किया जाना,

(ग) यह धारणा कि यह कार्य्यशैली प्रचलित अन्ताराष्ट्रिय विधानसे असंगत नहीं है और

(घ) दूसरे राजोंका उस कार्य्यशैलीको मान लेना।

इस बातका निर्णय कोई न्यायालय ही कर सकता है कि कौनसी प्रथा इन लक्षणोंसे उपेत है। एक उदाहरणसे इस आधारका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। १८७७-७८ में रूस और तुर्कीमें युद्ध हो रहा था। ८ फरवरी १८७९ को संधि हुई। उसकी एक शर्त यह थी कि रूसी प्रजाजनकी जो क्षति हुई है उसके लिए रूसकी माँग पेश होने पर तुर्की हरजाना देगा। तुर्कीने हरजानेकी रकम १८८४ से १९०२ तक पाँच किस्तोंमें अदा की, फिर भी कुछ शेष रह गया। रूसका दावा था कि चूँकि सब रुपया एक साथ नहीं दिया गया, अतः ब्याज मिलना चाहिये। तुर्की कहता था कि राजोंके देयके लिए जबतक स्पष्ट और लिखित शर्त न हो तबतक ब्याज नहीं लगता। १९१० में यह विवाद पाँच व्यक्तियोंकी पंचायतको सौंपा गया। सब बातोंपर विचार कर पंचायतने यह निर्णय किया कि राज भी दूसरे अधमर्णोंके समान है और जो धन एक राजसे दूसरेको मिलता है वह ऋणके समान है, अतः उसपर ब्याज लग सकता है। परन्तु ब्याजके लिए यह आवश्यक है कि उत्तमर्ण लिखकर सूचना दे दे कि यदि अमुक तिथितक रुपया न मिला तो इस दरसे ब्याज लिया जायगा। रूसने शुरूमें ऐसा नहीं किया अतः वह अब ब्याज नहीं माँग सकता।

स्मृतिकारोंसे हमारा तात्पर्य उन विद्वानोंसे है जिन्होंने इस विषयपर प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं। जिस समय ऐसी पुस्तकें पहले-पहल लिखी गयीं उस समय सुनिश्चित सामग्री बहुत कम थी। यूरोपके सभ्य राजोंके व्यवहारोंमें कुछ-कुछ साम्य अवश्य था, पर

स्मृतिकारोंके ग्रन्थ

ऐसा कोई नियम नहीं था जो अनिवार्यतयां परिपाल्य माना जाता हो। जेंटाइलिस, ग्रोशियस, बिङ्करशोएक और वैटेलने जो कुछ लिखा वह केवल साम्प्रत व्यवहारको देखकर नहीं लिखा। उन्होंने कई बातोंपर औचित्यानौचित्यकी दृष्टिसे भी विचार किया और विधानशास्त्र, कर्तव्यशास्त्र तथा मनोविज्ञानके परिज्ञात मौलिक सिद्धान्तोंके अनुसार नियम बनाये। इनमें कहीं-कहीं मतभेद भी है, पर जिन बातोंका समर्थन सबने किया है वह अन्ताराष्ट्रिय विधानके सर्वतन्त्रसम्मत सिद्धान्तोंमें परिणत हो गयी हैं। किसी ऐसी बातकी अवहेलना करनेका, जिसके पक्षमें प्रायः सभी प्रामाणिक आचार्य हों, साहस सभ्य राष्ट्र प्रायः नहीं ही करते।

आरम्भमें इन स्मृतिकारोंके ही हाथमें अन्ताराष्ट्रिय विधानका निर्माण था। पीछेसे जब

सभ्यताकी वृद्धिके साथ-साथ युद्ध, सन्धि, व्यापार, ताटस्थ्य इत्यादिसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारकी भी वृद्धि हो चली तो यह काम राजपुरुषों और राजकर्मचारियोंके हाथमें चला गया। इन लोगोंके निर्णयोंपर विधानका विकास निर्भर हो गया। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ग्रन्थकारोंका कोई काम ही नहीं रहा। उनका काम अब भी बड़े महत्त्वका है। अन्तर इतना ही है कि अब उनको स्मृतिकार न कहकर भाष्यकार या व्याख्याकार कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। उनका प्रधान काम प्रचलित नियमों और विधानोंका ठीक-ठीक अर्थ बतलाना है। यह काम वह अधिक योग्यतासे कर सकते हैं। राजपुरुष अपने-अपने राजको ही प्राधान्य देते हैं और उनका ऐसा करना जघन्य नहीं माना जाता परन्तु ग्रन्थकार या भाष्यकारका पक्षपाती होना अत्यन्त निंद्य है। इसलिए जब राजोंमें किसी नियम-विशेषके विषयमें विवाद उपस्थित होता है तो अब भी प्रामाणिक ग्रन्थोंके वाक्योंके आधारपर उसका निर्णय करनेकी चेष्टा की जाती है।

ग्रन्थोंका एक उपयोग और है। राजपुरुष उन्हीं प्रश्नोंपर विचार कर सकते हैं जो समयोचित अर्थात् उनकी आँखोंके सामने हों पर ग्रन्थकारके लिए यह बन्धन नहीं है। वह बहुतसे प्रश्नोंके भावी महत्त्वका अनुमान करके उनपर भी विचार करता है इसलिए जब उनका समय आता है तो उसकी सम्मति, जो बहुत पहिले दी हुई होनेके कारण स्वभावतः निष्पक्ष होती है, आदरके साथ देखी जाती है।

अन्ताराष्ट्रिय विधानका तीसरा आधार सन्धियाँ हैं। साधारणतः सन्धिसे तात्पर्य उस समझौतेसे होता है जो युद्धके पीछे होता है पर यह इस शब्दका संकुचित अर्थ है। वस्तुतः यह शब्द एक व्यापक अर्थमें प्रयुक्त होता है। दो या दोसे अधिक राज किसी समय और किसी भी उद्देश्यसे जो कुछ भी निर्णय करते हैं वह सन्धि है।

संधियाँ

सन्धियाँ प्रधानतः तीन प्रकारकी होती हैं—

(१) व्यवस्थापक,

(२) अर्थद्योतक, और

(३) विधायक।

अब हम संक्षेपतः इन तीनों प्रकारकी सन्धियोंपर विचार करेंगे।

व्यवस्थापक सन्धियाँ

व्यवस्थापक सन्धियाँ वह हैं जो दो या अधिक राजोंमें कुछ विशेष प्रश्नोंकी व्यवस्था करनेके लिए की जाती हैं। यह प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध अन्य राजोंसे नहीं होता। व्यवस्थापक सन्धियोंको भी दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—(क) विग्रह-शोधक और (ख) समयपत्र। विग्रह-शोधक सन्धियाँ वह हैं जो प्रायः युद्ध या विवादके पीछे होती हैं। यह आपसके समझौतेके रूपमें होती हैं। अमुक राज अमुक राजको इतना राज्य या रुपया देगा, अमुक राज अमुक राजके घरेलू प्रबन्धमें हस्तक्षेप न करेगा, इत्यादि। सन् १८०५ में द्वितीय मराठा युद्धके पीछे होल्कर और अंग्रेजोंमें जो सन्धि हुई थी वह विग्रहशोधक सन्धिका शुद्ध उदाहरण है। उसकी नौ धाराएँ थीं। हम उदाहरणके लिए उसकी दो धाराएँ उद्धृत करते हैं—

द्वितीय धारा—यशवन्तराव होल्कर टोंक रामपुरा, बून्दी, लखेरी, समेदी, भामनगाँव, देस इत्यादि उन सब स्थानोंपरसे, जो बून्दी पहाड़ोंके उत्तर हैं और इस समय ब्रिटिश सरकारके हाथमें हैं, अपना स्वत्व छोड़ते हैं।

तृतीय धारा—कम्पनी इस बातका वचन देती है कि वह होल्कर वंशके राज्यके उस

अंशसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखेगी जो मेवाड़, मालवा या हाड़ावतीमें है और न वह उन नरेशोंसे किसी प्रकारका सरोकार रखेगी जो चम्बल नदीके दक्षिण हैं।...

समयपत्र वह सन्धियाँ हैं जिनका सम्बन्ध किसी युद्धसे नहीं होता। इनमें सन्धि करनेवाले राज परस्पर व्यवहारके लिए कुछ शर्तें तय करते हैं। यद्यपि यह सन्धियाँ थोड़ेसे राजोंमें होती हैं और इनका कोई अन्ताराष्ट्रिय महत्त्व न होना चाहिये पर कभी-कभी इनके द्वारा अन्ताराष्ट्रिय विधानपर प्रभाव पड़ता है। दो प्रभावशाली राज परस्पर व्यवहारके लिए जो नियम बनायेंगे उनका अन्य राजों द्वारा स्वीकृत होकर अन्ताराष्ट्रिय विधानमें सम्मिलित हो जाना असम्भव नहीं है। जिस समय ऐसी सन्धियाँ लिखी जाती हैं उस समय इनको अन्ताराष्ट्रिय विधानके आधारोंमें नहीं गिर सकते। इनमें कभी-कभी ऐसी बातें भी लिखी जाती हैं जो प्रचलित विधानमें नहीं मिलतीं। यदि सब बातें विधानके अनुकूल हों तो पृथक् सन्धि करनेकी आवश्यकता ही न हो। सन् १७८५ में प्रशा और संयुक्त राज (अमेरिका) में जो सन्धि हुई थी उसमें जान-बूझकर दो ऐसी शर्तें रखी गयी थीं जो प्रचलित विधानके विरुद्ध थीं। सन्धिकी तेरहवीं धारा यह थी कि यदि दोनों सन्धिकारी राजों (प्रशा और अमेरिका) मेंसे एकसे किसी तीसरे राजसे लड़ाई छिड़ जाय और दूसरे सन्धिकारी राजके जहाजोंपर शत्रुकी सहायताके लिए ऐसी चीजें (जैसे गोला-बारूद, शस्त्र इत्यादि) लदकर जाती हों जिनको पहुँचाना युद्धके समयमें मना है तो यह जहाज जब्त न किये जाकर युद्धकी मीयाद भर केवल रोक लिये जायँ। तेईसवीं धारा[1] यह थी कि यदि सन्धिकारी राजोंमें ही युद्ध छिड़ जाय तो एक दूसरेके व्यापारी जहाजोंको न जब्त करेंगे, न लूटेंगे, न नष्ट करेंगे और न उनके व्यापारमें विघ्न डालनेका प्रयत्न करेंगे। लिखी जानेके समय ये शर्तें अपवादस्वरूप ही होती हैं पर यदि प्रधान राज इनपर चलने लग जायँ तो काल पाकर नियम अपवाद और अपवाद नियम हो जायगा।

अर्थद्योतक सन्धियाँ

जैसा कि नामसे ही प्रकट है इस प्रकारकी सन्धियाँ कोई नया नियम नहीं बनातीं। इनका उद्देश्य प्रचलित नियमोंको स्पष्ट कर देना है। ऐसा बहुधा होता है कि सभ्य राज कुछ नियमोंका पालन करते आते हैं पर नियमोंका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यह काम अर्थद्योतक सन्धियाँ करती हैं। कभी कभी इस विषयमें मतभेद होता है कि अमुक अवस्थाके लिए कौन-सा नियम उपयुक्त है। ऐसी दशामें यदि कुछ राज मिलकर स्पष्ट शब्दोंमें नियमोंको लिख डालते हैं तो उनका यह लेख अर्थद्योतक सन्धि ही समझा जाता है क्योंकि उसके द्वारा अस्पष्ट प्रचलित नियमोंकी स्पष्ट व्याख्या हो जाती है।

इस प्रकारकी सन्धिका पहला उदाहरण १७८०में मिलता है। उस साल रूस और डेन्मार्कमें एक सन्धि हुई जिसे प्रथम सशस्त्र तटस्थता[2] कहते हैं। उसमें युद्धके समय तटस्थ राष्ट्रोंके अधिकार स्पष्ट किये गये हैं। उसकी कुछ धाराएँ इस प्रकार हैं—

(१) युद्ध करनेवाले राजोंके समुद्र-तटोंपर और उनके नौ-स्थानोंमें सभी जहाज जा सकते हैं।

(२) युद्ध करनेवाले राजोंकी प्रजाओंकी सम्पत्ति तटस्थ राजोंके जहाजोंपरसे जब्त न की जायगी; इत्यादि।

हम ऊपर हेगके अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलनोंका उल्लेख कर आये हैं। इनमें भी प्रायः पूर्वप्रचलित

---

१ १७८६ के बाद यह धारा नहीं दुहरायी गयी। पहिली सन्धिकी मीयाद १८५३ में पूरी हुई थी।

२ Armed Neutrality

नियमोंका स्पष्टीकरण, वर्गीकरण और संग्रह किया जाता था। कभी-कभी इस प्रकारकी सन्धियोंसे एक और काम लिया जाता है। ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जब एक बलवान् राज किसी अल्प बल-शाली राजको कुछ ऐसे नियमोंके माननेपर बाध्य करता है जो प्रचलित विधानके अन्तर्गत नहीं होते। नियम होते तो हैं नये पर छोटे राजकी प्रतिष्ठा बचानेके लिए उन्हें अर्थद्योतक सन्धिके रूपमें लिखते हैं जिससे यह प्रतीत हो कि यह नये नियम नहीं हैं प्रत्युत पुराने नियमोंकी व्याख्या मात्र हैं।

विधायक सन्धियाँ

यह नाम ही बतलाता है कि इस प्रकारकी सन्धियाँ नये नियम बनाती हैं। आजकल अन्ताराष्ट्रिय जीवन इतना जटिल हो गया है कि साधारण और प्रचलित नियम सर्वथा पर्याप्त नहीं होते। इसलिए समय-समयपर नये नियमोंकी आवश्यकता पड़ती है। यह प्रायः निश्चित है कि नये नियमोंके बनाते समय सभी राजोंके प्रतिनिधि एकत्र नहीं होते पर यदि प्रमुख राज मिलकर कुछ नियमोंको बनायें और अन्य राज, कमसे कम अन्य प्रमुख राज, उसका विरोध न करें तो वह काल पाकर सर्वमान्य हो जाते हैं।

इस प्रकारकी सन्धियोंके कई उदाहरण हैं। पहिले यह निश्चय नहीं था कि युद्धकालमें योद्धाओं और तटस्थोंमें समुद्रपर कैसा सम्बन्ध होना चाहिये अर्थात् योद्धाओंको तटस्थोंके साथ छेड़छाड़ करनेका कहाँतक अधिकार है। सन् १८५६ में पेरिस नगरमें एक सन्धि लिखी गयी जिसे पेरिसकी घोषणा[1] कहते हैं। इस घोषणाको इस विषयकी नियमावली कह सकते हैं। जो निमय निर्धारित हुए उनका यथास्थान आगे चलकर उल्लेख होगा। इसपर पहिले-पहिले ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, सार्डिनिया और तुर्कीके हस्ताक्षर हुए। इसके बाद क्रमशः चालीस अन्य राजोंके हस्ताक्षर हो गये; पर अमेरिकाके संयुक्त राजने आजतक हस्ताक्षर नहीं किये। फिर भी जब जब काम पड़ा है वह इस घोषणाके अनुसार ही व्यवहार करता रहा है, इससे यह अनुमान होता है कि उसे भी यह नियम स्वीकार हैं।

कुछ ऐसी सन्धियाँ होती हैं जो नये नियम तो नहीं बनातीं पर इस प्रकारके नये निश्चय करती हैं जिनका प्रभाव अन्ताराष्ट्रिय जगत्पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इनको भी सुविधाके लिए विधायक सन्धियोंके ही अन्तर्गत मानते हैं। १८७८ में बर्लिनकी सन्धिके द्वारा सर्बिया, माण्टिनीग्रो और रूमानिया तुर्क साम्राज्यसे निकालकर स्वतंत्र कर दिये गये। यद्यपि सन्धिमें थोड़ेसे राज ही सम्मिलित थे पर उनके इस निश्चयका प्रभाव सारे अन्ताराष्ट्रिय जगत्पर पड़ा। इसलिए उस संधिको विधायक संधि कह सकते हैं। प्रथम महासमरके पश्चात् यूरोपमें जो संधियाँ हुई थीं इसी ढंगकी थीं।

जब किसी राजके सामने कोई ऐसा अन्ताराष्ट्रिय प्रश्न आता है जिसकी व्यवस्थाके विषयमें उसका मंत्रिमण्डल स्वयं निर्णय करनेमें असमर्थ होता है तो वह अपने देशके प्रख्यात शास्त्रियों अर्थात् विधानशास्त्रके ज्ञाताओंसे सम्मति लेता है। यह विद्वान् लोग जो व्यवस्था देते हैं उसका मानना अनिवार्य तो नहीं होता पर अपने देशके ही शास्त्रियोंसे सम्मति माँगकर फिर उसका तिरस्कार करना भी सुकर नहीं होता। यदि वह राज भी जिससे विवाद चल रहा हो; इस सम्मतिको मान ले तब तो वह सम्मति और भी मान्य हो जाती है। निष्पक्ष विद्वानोंकी सम्मतियोंका यही महत्त्व है कि अधिकांश राज उन्हें मान लेते हैं।

शास्त्रियोंकी व्यवस्था

१ The Declaration of Paris.

यदि दो राजोंमें किसी विषयमें मतभेद हो जाय तो उसे दूर करनेके दो ही मार्ग हैं—युद्ध या समझौता। समझौता कभी-कभी तो आपसकी लिखा-पढ़ीसे हो जाया करता है पर बहुधा नहीं भी होता। तब दोनों राज मिलकर किसी तीसरे राजको या तीन-चार राजोंको पञ्च मान लेते हैं। इस पञ्चायतके निर्णयको दोनों पक्ष मान लेते हैं। राष्ट्रसंघने तो एक अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय ही स्थापित कर दिया था। अब संयुक्त राज-संघटनने पुनः अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय स्थापित किया है। यद्यपि इन न्यायालयोंके सामने विशेष-विशेष प्रश्न ही आते हैं पर इनके निर्णयोंमें बहुधा सिद्धान्तकी बातें रहती हैं। यह ठीक वैसी ही बात है जैसे कि साधारणतः हाईकोर्ट और प्रिवीकौंसिलके न्यायाधीशोंके महत्त्वपूर्ण निर्णय भविष्यत्के लिए प्रमाण (नजीर) हो जाते हैं।

अन्ताराष्ट्रिय पञ्चायतोंके निर्णय

युद्धके समय कई बड़े जटिल प्रश्न उपस्थित होते हैं। प्रत्येक राजको शत्रुके जहाजोंको पकड़ लेने और उनपरकी सारी सम्पत्ति जब्त कर लेनेका अधिकार होता है। विशेष अवस्थाओंमें, जिनका उल्लेख आगे होगा, शत्रुके अतिरिक्त तटस्थ राजोंके जहाज भी पकड़े जाते हैं। पकड़नेवाले जहाज इन्हें अपने देशमें लाते हैं। वहाँ एक विशेष न्यायालय युद्धकालके लिए बैठाया जाता है जिसे सामरिक न्यायालय कहते हैं। इस न्यायालयको इन मामलोंका निर्णय करना पड़ता है। काम बड़ा टेढ़ा होता है। एक ओर न्याय और अन्ताराष्ट्रिय विधानके अस्पष्ट नियम होते हैं, दूसरी ओर अपने देशको युद्धमें फँसा देखकर यह भाव स्वतः होता है कि जो उसके विरोधमें खड़ा हो या विरोधियोंको सहायता दे उसे कड़ा दण्ड दिया जाय, पर जो निष्पक्ष न्यायाधीश होते हैं उनके निर्णय स्वभावतः निर्भीक होते हैं। ऐसे न्यायाधीश अपने देशकी सरकारके विरुद्ध निर्णय करनेमें भी सङ्कोच नहीं करते। ऐसे निर्णय स्वभावतः अन्य देशोंमें भी प्रमाणस्वरूप हो जाते हैं।

सामरिक न्यायालयोंके निर्णय

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं अन्ताराष्ट्रिय प्रश्नोंका सबसे प्रामाणिक निर्णय सन्धियों द्वारा होता है। सन्धियाँ प्रायः प्रकाशित की जाती हैं अतः उनके तात्पर्यसे सभी परिचित हो जाते हैं। राजोंके पत्र-व्यवहारके लिए साधारणतः यह नियम उपयुक्त नहीं है। यह पत्र-व्यवहार प्रायः विशेष प्रश्नोंके सम्बन्धमें होता है जिनसे अन्य लोगोंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए वह प्रायः प्रकाशित भी नहीं किया जाता। यदि प्रकाशित किया भी जाय तो उसका महत्त्व केवल ऐतिहासिक होगा। पर कभी-कभी ऐसे प्रश्न उठ जाते हैं जिनमें कोई सिद्धान्त अन्तर्गत होता है। ऐसे पत्र-व्यवहारके प्रकाशित हो जाने से उस सिद्धान्तपर प्रकाश पड़ता है। इसके कई उदाहरण हैं। जर्मनीके सम्राट् षष्ठ चार्ल्सने कुछ अंग्रेज महाजनोंसे ऋण लिया था और उसे चुकानेके लिए उन्होंने साइलीशिया प्रान्तकी वार्षिक आयका एक भाग नियत कर दिया। सन् १७४२ में यह प्रान्त प्रशाके नरेश फ्रेडरिकके हाथमें आया। उसने भी यह वचन दिया कि ऋण पूर्ववत् चुकाया जाता रहेगा। यह बात दस वर्षतक रही। इसी बीचमें प्रशा और इंग्लैण्डमें कुछ अनबन हो गयी और अंग्रेजोंने प्रशाके कुछ जहाज जब्त कर लिये। फ्रेडरिककी सम्मतिमें यह अन्याय था और उन्होंने इसके बदले अंग्रेज महाजनोंका ऋण देना बन्द कर दिया। इसपर बहुत कुछ पत्र-व्यवहार चला। अंग्रेज सरकारकी ओरसे यह दिखलाया गया कि राजोंकी अनबनके कारण महाजनोंको क्षति पहुँचाना अनुचित है। प्रशाकी सरकारने भी अन्तमें इस तर्कको स्वीकार कर लिया। साइलीशियन ऋणका प्रश्न तो १७५६ में सन्धि द्वारा तय हो ही गया पर जिस सिद्धान्तपर अंग्रेजोंने आग्रह किया था उसे अन्य राजोंने भी

राजोंके पत्र-व्यवहार

स्वीकार कर लिया और इस पत्र-व्यवहारको अन्ताराष्ट्रिय जगत्में एक नया विधान प्रचलित करनेका श्रेय प्राप्त हो गया।

अन्ताराष्ट्रिय विधानके एक आधारका उल्लेख शेष है। अभीतक जितने आधारोंका जिक्र किया गया है उनमें प्रायः दो या तीन राजोंके सहयोगकी आवश्यकता है। कभी-कभी एक राज भी विधानमें प्रामाणिक परिवर्तन कर सकता है। जितने नियम हैं वह सब एक साथ तो बने हैं नहीं, ज्यों-ज्यों आवश्यकता प्रतीत हुई त्यों-त्यों नियम बनते गये। अमेरिकन सरकारने सन् १८६३ में अपनी सेनाके लिए कुछ नियम बनाये। यह नियम शीघ्र ही सर्वमान्य हो गये। यह तो स्पष्ट ही है कि किसी एक राजका अपने भृत्योंके नाम भेजा हुआ निर्देश स्वतः कोई अन्ताराष्ट्रिय महत्त्व नहीं रखता पर जब अन्य नियमोंके अभावमें दूसरे राज भी उस निर्देशके अनुसार व्यवहार करने लग जाते हैं तो वह निर्देश-कोटिसे निकलकर अन्ताराष्ट्रिय विधानका एक अंग हो जाता है।

राजोंके द्वारा दिये गये निर्देश

अब तक तो यही प्रधान आधार रहे हैं परन्तु अब संयुक्त राष्ट्र संघटनका समयक बहुत बड़ा आधार हो गया है। दूसरा आधार उन निर्णयोंसे प्राप्त होगा जिनपर अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयकी छाप होगी। क्रमशः सभी संधियाँ, समझौते, और आदेश समयकके मूल उद्देश्यों और सिद्धान्तोंके अनुरूप ढल जायँगे और सभी प्रथाएँ लेखबद्ध हो जायँगी। अपने निर्णयोंतक पहुँचनेके लिए अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयको सभी विधानोंके मूल आधार—विधानशास्त्रके मौलिक सिद्धान्तों—का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधान भी दार्शनिक सूत्रमें ग्रथित हो जायगा और उसके और देशोंके आभ्यन्तर विधानोंके बीचकी खाई भी पट जायगी।

अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयके विधानकी ३८वीं धारामें बतलाया गया है कि मामलोंका फैसला करते समय इन बातोंका ध्यान रखा जाय।

(क) सामान्य या विशेष अन्ताराष्ट्रिय समझौते, जिनसे ऐसे नियम स्थापित होते हों जिनको उभयपक्ष मानते हों।

(ख) अन्ताराष्ट्रिय प्रथा।

(ग) विधानके वह सार्वभौम सिद्धान्त जिनको सभ्य राष्ट्र मानते हैं।

(घ) न्यायालयोंके निर्णय और विधान शास्त्रके सुप्रतिष्ठित विद्वानोंकी सम्मतियाँ।

इस धाराके द्वारा अन्ताराष्ट्रिय विधानके मुख्य आधारोंकी ओर संकेत होता है।

नवाँ अध्याय

दौत्य

यह एक बड़ा ही रोचक विषय है। प्राचीन कालसे ही एक राजसे दूसरे राजमें दूत भेजनेकी प्रथा चली आती है। जंगली जातियोंतकको इसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। दूत सर्वत्र अवध्य माना गया है। प्राचीन कालमें और जंगली जातियोंमें भी परराजसे आये हुए दूतको मारना घृणित कार्य समझा जाता था।

जिस प्रकार मनुष्योंका काम बिना एक दूसरेसे मिले-जुले नहीं चल सकता, उसी प्रकार राजोंके लिए भी एक दूसरेसे सम्पर्क और संसर्ग रखना आवश्यक और अनिवार्य होता है। जिन व्यक्तियोंके द्वारा यह सम्बन्ध स्थापित और प्रचलित होता है अर्थात् जो व्यक्ति इस कामके लिए राजोंके प्रतिनिधि होते हैं उन्हें दूत कहते हैं। आर्यकालमें एक राजसे दूसरे राजमें दूत भेजनेकी बराबर प्रथा थी। कभी-कभी दूत शब्दके अन्तर्गत 'चार' का भी अर्थ ले लिया जाता है पर दोनोंमें बड़ा अन्तर है। 'चार' गुप्त रूपसे भेष बदलकर भेद लेने जाता था। वह छिपा जासूस था। वह यह नहीं कहता था कि मैं अमुक राजका भेजा हुआ हूँ। उसके पकड़े जानेपर उसको भेजनेवाला राज भी उसकी रक्षाके लिए कोई प्रकट प्रयत्न नहीं करता था। परन्तु दूतकी यह बात न थी। वह स्पष्ट रूपसे आता-जाता था। उसके लिए यह नियम था—'अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा'[1] अर्थात् बिना बतलाये हुए, दूत न तो परस्थानमें प्रवेश करे, न परस्थानसे बाहर निकले। यह हम ऊपर कह चुके हैं कि दूत अवध्य होता था। इस विषयमें यह स्पष्ट निर्देश था 'तेषामन्त्यावसायिनोऽप्यवध्याः' अर्थात् यदि चाण्डालादि दूत बनकर आये हों तो वह भी अवध्य हैं।

प्राचीन आर्य-काल

दूतके हाथमें स्वभावतः बड़ा अधिकार होता था। मनु भगवान् कहते हैं, 'दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्' तथा 'दूते संधिविपर्ययौ' अर्थात् दूत ही बिगड़े हुओंको मिलाता और मिले हुओंको बिगाड़ता है। दूतके ही हाथमें संधि और विपर्यय है।

दूतकर्मके लिए प्रत्येक मनुष्य उपयुक्त नहीं हो सकता। इतने दायित्वका काम सबके हाथमें नहीं सौंपा जा सकता। मनुने दूतके यह लक्षण बतलाये हैं—

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥

राजाका दूत अनुरक्त, शुचि, दक्ष, स्मृतिमान्, देशकालका ज्ञाता, सुन्दर शरीरवाला, निर्भय और सुवक्ता होना चाहिये। यही बात अन्यत्र इस प्रकार कही गयी है—'स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता प्रागल्भ्यं प्रति भावत्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्चेति प्रथमा दूतगुणाः' अर्थात् स्वामिभक्ति, व्यसनोंसे मुक्त होना, चतुरता, पवित्रता, अमूर्खता, सुवक्ता होना, तीव्र बुद्धि, क्षान्ति, दूसरेका रहस्य समझना और जाति—यह दूतके प्रथम गुण हैं।

अधिकार-भेदसे दूत कई प्रकारके होते थे। जिस दूतको सन्धिविग्रहादिक पूरा अधिकार

---

[1] इस अध्यायमें जो गद्य सूत्र दिये गये हैं वह श्रीमत्सोमदेव सूरिके 'नीति वाक्यामृतम्' से लिये गये हैं।

होता था वह 'निसृष्टार्थ' कहलाता था; जिसे कुछ विशेष काम ही सौंपे जाते थे वह परिमितार्थ कहलाता था[1]।

जब बौद्धकालमें भारतका यूनान, चीन आदिसे सम्बन्ध हुआ तो उन देशोंसे भी दौत्य-सम्बन्ध स्थापित हुआ। चन्द्रगुप्तके दरबारमें बलक्षके यूनानी नरेश सेल्यूकसका भेजा हुआ दूत मेगस्थनीज कई बरस रहा था।

मुसल्मानी कालमें दो प्रकारके राजदूत होते थे। जो स्वतन्त्र देशोंसे आते थे वह तो 'एलची' कहलाते थे और जिनको अधीन हिन्दू नरेश अपने प्रतिनिधि-स्वरूप सम्राट्के दरबारमें छोड़ जाते थे वह 'वकील' कहलाते थे। यह नरेश एक दूसरेके दरबारमें जो दूत भेजते थे वह भी वकील ही कहलाते थे।

राजदूतका काम (मध्ययुगीय यूरोपमें)

यूरोपमें दूत भेजनेकी प्रथा निश्चित रूपसे लगभग छः सौ वर्षसे निकली है पहिले-पहिल राजदूत थोड़े दिनोंके लिए और किसी विशेष कार्यके लिए नियुक्त किये जाते थे। उस कामके हो जानेपर वह अपने देश लौट जाते थे। सबसे पहिले फ्रांसके ग्यारहवें लुई (१४६१-१४८३) ने परराजोंमें स्थायी रूपसे दूत भेजे। इन दूतोंको उन देशोंमें रहकर वहाँका सारा वृत्त लुईके पास भेजना पड़ता था। वस्तुतः इनका वही काम था जो आर्यकालमें 'चारों' का होता था। भेद केवल इतना था कि चार गुप्त रहते थे, यह दूत प्रकट थे। लुईने इनको आज्ञा दे रखी थी 'यदि लोग तुमसे झूठ बोलें, तो तुम उनसे और अधिक झूठ बोला करो'। उस समयके राजदूतोंको देखकर ही एक लेखकने लिखा था 'राजदूत उस व्यक्तिको कहते हैं जो अपने देशके हितके लिए विदेशमें झूठ बोलने भेजा जाता है'[2]। यद्यपि उपचार-दृष्टिसे आदर करना ही पड़ता था पर कोई राज पराये राजोंके दूतोंका अपने यहाँ बहुत दिनों तक टिकना पसन्द नहीं करता था। इसका प्रधान कारण यही था कि राजदूत जासूसी करनेके लिए ही नियुक्त होते थे। धीरे-धीरे यह परिस्थिति बदली। अब तो एक राजमें अन्य राजोंके दूतोंका रहना एक साधारण बात हो गयी है।

दूतोंके भेद

यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस समय यह प्रथा पहिले-पहिले यूरोपमें निकली उस समय प्रायः सभी प्रधान और बलशाली देश नरेशाधीन थे। इसलिए जो दूत भेजा जाता था वह न केवल राजका वरन् नरेशका भी प्रतिनिधि होता था। उसको अपने नरेशकी प्रतिष्ठाके अनुसार ठाटबाटसे रहना पड़ता था। पीछेसे इसमें एक अड़चन पड़ने लगी। इस ठाटबाटसे काममें रुकावट पड़ने लगी। इसलिए दूतोंके दो भेद किये गये—एक तो वह जो नरेशकी व्यक्तिके प्रतिनिधि होते थे, दूसरे वह जो उसके व्यावहारिक प्रतिनिधि (अर्थात् राजके प्रतिनिधि) होते थे। पर इतनेसे भी काम न चला। इन दूतोंमें पौर्वापर्यका बड़ा झगड़ा रहता था। प्रत्येक दूत अपनी कुर्सी और अपनी सवारी औरोंसे आगे रखना चाहता था। इस बातके पीछे झगड़े हो जाते थे। प्रत्येक राज अपने दूतका पक्ष लेना

१ बँगला विश्वकोषमें 'युक्तिकल्पतरु' के आधारपर तीन प्रकारके दूत कहे गये हैं। 'विमृष्यार्थो मितार्थश्च तथा शासनहारकः'। जो अपने 'कार्यकाल' में केवल अपने स्वामीकी आज्ञाका प्रतिपालन करे वह 'विमृष्यार्थ', जो अपना काम पूरा करनेके बाद चुप हो जाय, उत्तरप्रत्युत्तर न करे वह मितार्थ और जो लिखित पत्रादि ले जाय वह शासनहारक। कौटिल्यने अमात्यके गुणोंसे युक्त दूतको निसृष्टार्थ, चौथाई गुणोंसे हीन दूतको परिमितार्थ और आधे गुणोंसे हीन दूतको शासनहर माना है।

२. An ambassador is a person who is sent to lie abroad for the benefit of his country—Sir Henry Wotten,

चाहता था इसलिए इस बातके पीछे राजोंमें युद्ध छिड़नेका अवसर आ जाता था। १६६१ में लन्दनमें एक जलूस निकला। उसमें अपनी गाड़ी आगे रखनेके लिए फ्रांस और स्पेनके राजदूत लड़ पड़े। एक स्पेनवालेने फ्रेंच राजदूतके घोड़ोंके गलोंमें रस्सी डालकर फाँसी लगा दी। उस समय तो स्पेनकी गाड़ी आगे निकल गयी पर समाचार पाते ही फ्रेंच नरेशने स्पेनसे युद्धकी ठान ली। अन्तमें हानिपूर्तिके लिए रुपया देकर स्पेनने पिण्ड छुड़ाया।

सन् १८१५ में वियना नगरमें वियनाकी कांग्रेस नामी एक राजसभा हुई। उसमें भिन्न-भिन्न राजोंके प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। उस समय राजदूत निम्नलिखित तीन **दूतोंका पौर्वापर्य** वर्गोंमें बाँट दिये गये—

(क) निःशेष दूत[१] और नंशिओ[२]—यह लोग नरेश[३] की व्यक्ति और राज—दोनोंके प्रतिनिधि होते थे,

(ख) मितार्थदूत[४], विशिष्टदूत[५] इत्यादि, और

(ग) उपदूत[६]।

यह नियम कर दिया गया कि 'क' वर्गवाले 'ख' वर्गवालोंसे और 'ख' वर्गवाले 'ग' वर्गवालोंसे ऊपर होंगे। यदि किसी स्थानमें एक ही वर्गके दो-तीन दूत हों तो उनमें जो अधिक काल-से आया हुआ हो वह ऊपर हो।

यह वर्गीकरण भी सन्तोषप्रद न निकला। 'ख' वर्गमें अड़चनें पड़ीं। ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, रूस उस समय महाशक्ति गिने जाते थे। इनको नियमानुसार आगे-पीछे होनेमें तो कोई आपत्ति न थी पर छोटे राजोंके पीछे जाना इन्हें स्वीकार न था। कभी-कभी ऐसा होता था कि किसी राजके दरबारमें एक तो किसी छोटे राजका बहुत दिनोंसे आया हुआ 'ख' वर्गका दूत और एक किसी महाशक्तिका थोड़े दिनसे आया हुआ 'ख' वर्गीय दूत होता था। अब नियमानुसार उस छोटे राजके दूतको ऊपर बैठना चाहिये पर महाशक्तियाँ इसमें अपना अपमान समझती थीं। उनको सन्तुष्ट करनेके लिए १८१८ में एजला शैपेलकी कांग्रेसमें पुनः वर्गीकरण हुआ। उसने पुराने 'ग' वर्गको 'घ' बनाकर एक नया 'ग' वर्ग बनाया। इस नये वर्ग और 'ख' वर्गके अधिकारादिमें कोई भेद नहीं है। है तो इतना ही कि 'ख' में महाशक्तियोंके और 'ग' में छोटे राजोंके प्रतिनिधि होते हैं।

वर्तमान वर्गीकरण इस प्रकार है—

(क) निःशेष दूत और नंशियो,

(ख) मितार्थ दूत, विशिष्ट दूत इत्यादि,

(ग) परिमितार्थ दूत[७], और

(घ) उपदूत[८]।

---

१ Ambassadors.

२ Nuncio = पोपके दूत.

३ नरेशके स्थानमें अब अध्यक्ष कहना चाहिये, चाहे वह नरेश हो चाहे राष्ट्रपति।

४ Envoys

५ Ministers Plenipotentiary

६ Charges d' Affaires

७ Resident Ministers.

८ वक्तव्य—अन्य वर्गोंके दूत तो जिस देशमें जाते हैं उसके अध्यक्षके पास भेजे जाते हैं, पर 'घ' वर्गवाले उस देशके परराज-सचिवके पास जाते हैं।

राजोंमें बराबरीका ही व्यवहार रहता है अर्थात् वह एक दूसरेके यहाँ बराबर वर्गके ही दूत भेजते हैं। 'क' वर्गवाले दूतोंकी प्रतिष्ठा स्वभावतः अधिक होती थी। पहिले तो यह प्रथा थी कि जब किसी देशमें किसी परराजका 'क' वर्गका दूत आता था तो उसका स्वागत बड़े समारोहके साथ किया जाता था। अब यह प्रथा उठ गयी है। उनको यह भी अधिकार था कि जिस राजमें भेजे गये हों उसके अध्यक्षसे भेंट कर सकें। अब प्रायः सभी वर्गोंके दूतोंको यह अधिकार प्राप्त है। इससे अब कोई विशेष लाभ भी नहीं है क्योंकि अब अध्यक्षसे मिलनेसे ही राजकार्य नहीं हो सकते। यह अधिकार तब उपयोगी था जब नरेश अध्यक्ष हुआ करते थे। एक और बात है कि किसी अधिकारकी सार्थकता वहींतक है जहाँतक उसकी रक्षा की जा सके। रूसमें स्टालिन प्रधान मन्त्री थे, अध्यक्ष नहीं परन्तु वास्तविक शक्ति उन्हींके हाथमें थी। भारतकी ओरसे श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित निःशेष दूत बनाकर भेजी गयी थीं परन्तु जितने दिन रूस रहीं स्टालिनके दर्शन एक बार भी न हुए!

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कोई राज इस बातके लिए बाध्य है कि वह परराजोंके दूतोंको अवश्य ही अपने यहाँ स्थान दे पर पारस्परिक सौजन्य यही है कि स्वतन्त्र राजोंके दूत एक दूसरेके यहाँ रहें। बड़े राजोंका तो इसके बिना काम ही नहीं चल सकता और छोटे राज इसमें अपना गौरव समझते हैं। जब कोई राष्ट्र स्वतन्त्र होता है तो उसका पहिला प्रयत्न यह होता है कि बड़े-बड़े राजोंसे उसका दौत्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

दूत भेजनेका अधिकार

एक बार स्थापित हो जानेके बाद यह सम्बन्ध बराबर जारी रहता है। किसी राजसे अपने दूतको हटा लेना उस राजसे अप्रसन्नताका सूचक माना जाता है। यह हो सकता है कि कभी किसी आकस्मिक घटनाके कारण कोई राज थोड़े दिनोंके लिए अपना दूत किसी अन्य राजसे हटा ले फिर भी कोई विशेष आपत्ति न हो, पर ऐसा बहुत कम होता है। १८०३ में सर्बियामें एक छोटी-सी क्रान्ति हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि सर्बियन नरेश अलेग्जैण्डर मारे गये। इसके बाद खूनियोंमेंसे कुछ लोगोंको उच्च सरकारी पद मिले। इससे रुष्ट होकर सभी बड़े राजोंने सर्बियासे अपने दूत हटा लिये। इससे सर्बियाकी क्षति हुई क्योंकि वह सभ्य समाजमें अछूत-सा हो गया। जब फिर यह अपराधी लोग पदच्युत कर दिये गये तब जाकर सम्बन्ध फिर स्थापित हुआ। ब्रिटेनने १८०६ में फिर दूत भेजा।

दूतको हटा लेना या बिदा कर देना

परन्तु सर्बिया छोटा देश है। उससे और राजोंका विशेष काम नहीं रहता इसलिए उसके साथ तीन वर्षतक अप्रसन्नता दिखलाना सम्भव था। बड़े राजोंके विषयमें ऐसा नहीं हो सकता। उनका पारस्परिक व्यवहार बहुत दिनोंतक अनिश्चित रूपमें नहीं रह सकता। उनमें या तो खुलकर लड़ाई ही होती है या शान्ति ही रहती है। इसलिए प्रचलित प्रथा यह है कि जब दो राजोंमें वैमनस्य इतना बढ़ जाता है कि शान्तिसे काम चलनेकी आशा नहीं रह जाती तो एक राज दूसरेके दूतको बिदा कर देता है। इसका अर्थ यही है कि अब युद्ध छिड़ेगा। कभी-कभी भेजनेवाला राज अपने दूतको आप ही बुला लेता है। सन्धि हो चुकनेके बाद पहिला काम इस सम्बन्धका पुनः स्थापन करना होता है। दक्षिण अफ्रीकामें भारतीयोंके साथ जैसा जघन्य बर्ताव होता है उसके विरोधमें भारतने उस देशसे अपना दूत लौटा लिया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह साधारण सम्बन्धके विषयमें था। राजोंको यह अधिकार

सदैव प्राप्त है कि किसी मित्रके भेजे हुए किसी दूत विशेषको, जिसका आचरण उन्हें पसन्द न हो, अपने यहाँ न आने दें। इसके कई उदाहरण मिलते हैं। १८८५ में अमेरिकन सरकारने काइली नामक एक सज्जनको इटलीमें दूत बनाकर भेजा। इसके पहिले वह एक बार किसी सार्वजनिक सभामें इस आशयका व्याख्यान दे चुके थे कि इटलीका वह भाग जो पोपके अधीन है, पोपके अधीन ही रहने देना चाहिये। इस भाषणके कुछ ही दिनोंके बाद इटलीकी सरकारने बलप्रयोग द्वारा पोपके सारे शासनाधिकार छीन लिये थे। अब काइलीकी नियुक्तिपर उसने इसलिए आक्षेप किया कि वह उसकी आभ्यन्तर नीतिकी विरोधपूर्ण आलोचना कर चुके थे। उसके आक्षेपपर काइली महाशयका जाना रुक गया।

किसी दूतविशेष-को स्वीकार न करनेका अधिकार

इसी प्रकार यदि किसी राजदूतका आचरण अनुचित हो तो वह लौटाया भी जा सकता है। १८८८ में लार्ड सैक्विल अमेरिकामें इंग्लैण्डके राजदूत थे। उस साल वहाँ राष्ट्रपतिका चुनाव होनेवाला था। राजदूतोंको ऐसे आभ्यन्तर प्रश्नोंसे पृथक् रहना चाहिये। यह तो उसका कर्तव्य है कि स्वदेशके हितकी दृष्टिसे उन सब बातोंको ध्यानपूर्वक देखता रहे जो उस राजमें हो रही हों जहाँ वह भेजा गया हो, पर उसे स्वयं किसी दल या वर्गका पक्ष न लेना चाहिये। सैक्विलने एक व्यक्तिको एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने एक वर्गविशेषके साथ सहानुभूति प्रकट की। वह पत्र था तो निजी अतः उसको प्रकाशित करना सरासर अशिष्टता थी, पर जिसके नाम लिखा गया था उसने उसे छपवा ही दिया। इससे उनका एक वर्गका साथ देना सिद्ध हो गया। २७ अक्तूबरको अमेरिकन सरकारने ब्रिटिश सरकारको इस आशयका तार दिया कि सैक्विल लौटा लिये जायँ। उसने उनके दोषका प्रमाण माँगा। प्रमाण मिल जानेपर ब्रिटिश सरकारने उनको लौटाया ही नहीं वरन् निकाल भी दिया।

यदि किसी राजसे यह प्रार्थना की जाय कि आपके दूतका आचरण सन्तोषजनक नहीं है, इसे लौटा लीजिये तो वह इस प्रार्थनाको स्वीकार करनेके लिए बाध्य नहीं है। पहिले उसे दूतके अपराधका प्रमाण मिलना चाहिये, पर बिना पुष्ट प्रमाणके ऐसी प्रार्थना की ही नहीं जाती। इसी प्रकार उधरसे आग्रह होनेपर भी अपने दूतको न हटाना अच्छा नहीं है। दूत वहाँ भले ही जमा रहे पर जब उससे उस देशके मंत्रिगण सब प्रकारका सम्बन्ध परित्याग करके असहयोग ही कर लेंगे तो वह वहाँ रहकर ही क्या कर लेगा। इसलिए ऐसी प्रार्थनाएँ प्रायः स्वीकार ही कर ली जाती हैं। वस्तुतः ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं।

दूतोंके आने और जानेके समय कई प्रकारके उपचार बर्ते जाते हैं। पहिले इन उपचारोंकी संख्या बहुत अधिक थी पर अब इनमेंसे कई छोड़ दिये गये हैं। जब कोई व्यक्ति दूत नियुक्त होता है तो सबसे पहिले उसको अपने यहाँसे निर्देशपत्र मिलते हैं जिनमें उसे यह बतलाया जाता है कि उसे जाकर क्या-क्या करना होगा। सबसे महत्त्वका वह कागज़ होता है जिसे प्रत्ययपत्र[१] कहते हैं। यदि दूत 'क', 'ख' या 'ग' वर्गका हो तो पत्र भेजनेवाले राजके अध्यक्षकी ओरसे दूसरे राजके (अर्थात् जहाँ दूत जायगा) अध्यक्षके नाम होता है, पर यदि यह अध्यक्ष स्थायी नरेश न होकर कुछ कालके लिए चुना गया राष्ट्रपति हो तो पत्र उसके नाम नहीं प्रत्युत उसके राजके ही नाम जाता है। 'घ' वर्गके दूतोंके लिए परराज-सचिव परराज-सचिवके नाम पत्र भेजता है। इन पत्रोंमें

दूतोंके आने और जानेके समयके उपचार

१ Letter of Credence or Credentials

दूतका नाम, उसकी उपाधि और उसके भेजे जानेका उद्देश्य लिखा रहता है और यह प्रार्थना रहती है कि उसके साथ सद्व्यवहार किया जाय और उसकी बातोंपर पूरा-पूरा विश्वास किया जाय। जो दूत किसी विशेष उद्देश्यसे भेजे जाते हैं, अर्थात् जो किसी एक कामको समाप्त करके लौट आनेके लिए जाते हैं उनको एक अधिकार-पत्र दिया जाता है जिसे उनका पूर्णाधिकार[1] कहते हैं। इसपर भेजनेवाले राजके अध्यक्ष और परराज-सचिव दोनोंके हस्ताक्षर होते हैं। जब किसी स्थानपर कोई अन्ताराष्ट्रिय परिषद् एकत्र होती है उस समय जो राज-प्रतिनिधि आते हैं वह अपने साथ जो अधिकार-पत्र लाते हैं वह सामान्य पूर्णाधिकार-पत्र[2] होते हैं। यह किसी व्यक्ति विशेषके नाम नहीं लिखे होते। सब प्रतिनिधि एक दूसरेके पत्र देख लेते हैं। इन पत्रोंके अतिरिक्त प्रत्येक दूतको एक निर्देशपत्र[3] दिया जाता है। इसमें उसे यह बतलाया रहता है कि उसे किस अवसरपर किस प्रकार काम करना होगा। इन सबके साथ उसे एक यात्राधिकार (पास-पोर्ट[4]) भी मिलता है। इसमें उसका नाम और पदवी लिखी होती है ताकि मार्गमें किसी देशमें उसके साथ किसी प्रकारकी रोक-टोक न की जाय।

राजधानीमें पहुँचकर दूत अपने पहुँचनेकी सूचना परराज-सचिवको देता है और यदि वह 'घ' वर्गका है तो उससे मिलनेकी प्रार्थना करता है। यदि वह ऊपरके तीनों वर्गोंका है तो राजके अध्यक्षसे मिलनेका अधिकारी है। 'क' वर्गवालोंका स्वागत खुले दरबारमें होता है, शेष दोनों वर्गवाले एकान्तमें मिलते हैं। दरबार शब्दका अर्थ अब बहुत संकुचित हो गया है। दोनों पक्षोंके थोड़ेसे बड़े अफ़सर ही दरबारका काम देते हैं। भेंट होनेपर वह अपना प्रत्ययपत्र पेश करता है और दोनों ओरसे सौहार्द-सूचक छोटी-छोटी वक्तृताएँ होती हैं। यही उपचार लौटते समय होता है। उस अवसरपर उसे वह पत्र पेश करना पड़ता है जिसमें उसके अध्यक्षकी ओरसे उसे स्वदेश लौटनेकी आज्ञा दी गयी होती है। पहिले ऐसे अवसरोंपर लौटते हुए दूतोंको कुछ भेंट देनेकी प्रथा थी पर अब यह उठ-सी गयी है। यदि भेजनेवाले देशका या जिस देशमें दूत भेजा गया है उस देशका अध्यक्ष नरेश हो तो उसकी मृत्युपर नये दूतकी नियुक्ति (या पुराने दूतकी पुनर्नियुक्ति) होती है। प्रजातन्त्रोंके लिए यह नियम नहीं है। यदि दूतकी वार्गिक उपाधि बढ़ जाय अर्थात् यदि वह किसी नीचेसे ऊपर वर्गमें रख दिया जाय तब भी वही सब उपचार होते हैं जो नयी नियुक्तिके समय होते हैं। भेंटके समय वह अपने एक पदसे बुलाये जाने और दूसरेपर नियुक्त होनेके पत्र साथ ही साथ पेश करता है।

राजदूतोंके विशेषाधिकार

राजदूतोंको अपने कर्तव्यका पालन करनेमें कई प्रकारकी सुविधाओंकी आवश्यकता होती है। इसलिए उनको कई प्रकारके विशेषाधिकार प्राप्त हैं। यह अधिकार दो प्रकारके होते हैं—(क) शरीर सम्बन्धी और (ख) सम्पत्ति सम्बन्धी।

(क) शरीर सम्बन्धी विशेषाधिकार

पहिला अधिकार यह है कि दूत चाहे जिस धर्मको माने, उसे इस बातका अधिकार है कि अपने आवासस्थानमें अपने धार्मिक विचारोंके अनुसार उपासना करे। पर उसको अपनी उपासना निजी रूपसे करनी चाहिये, सार्वजनिक रूपसे नहीं और यदि वह धर्म उस देशमें,

---

१ Full powers

२ General Full powers

३ Instructions

४ Pass-port

जहाँ वह भेजा गया है, निषिद्ध है तो उपासनाके समय उस देशके निवासियोंको उपस्थित नहीं रहने देना चाहिये। मान लीजिये किसी देशमें मुसलमानी धर्म निषिद्ध है। यदि वहाँ कोई मुसल्मान दूत पहुँच जाय तो उसे नमाज़ पढ़नेका पूरा अधिकार होगा पर नमाज़के समय उस देशके किसी निवासीको न आने देना होगा और अज़ान देकर नमाज़की सार्वजनिक सूचना न देनी होगी।

दूत अवध्य तो होता ही है, वह स्थानीय कानूनकी परिधिके भी बाहर माना जाता है। वह किसी दीवानी या फ़ौजदारी अपराधके लिए पकड़ा नहीं जा सकता। उसपर किसी प्रकारका अभियोग नहीं चल सकता। साक्ष्य देनेके लिए भी उसे न्यायालयमें जानेपर विवश नहीं कर सकते। पर यदि वह स्वयं किसीपर अभियोग चलाये तो उसे न्यायालयमें जाना ही होगा। कई अवसरोंपर न्यायमें सहायता देनेके लिए राजदूत स्वतः अपनी इच्छासे साक्ष्य दे जाते हैं। अग्राह्यताके लिए भी अपवाद है। यदि दूत उस राजके विरुद्ध, जिसके पास वह भेजा गया है, कोई षड्यन्त्र करे तो वह पकड़ा जा सकता है पर पकड़कर भी उसे दण्ड नहीं दिया जाता प्रत्युत स्वदेश लौटा दिया जाता है। पर बिना अति पुष्ट प्रमाण और अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकताके ऐसा न करना चाहिये।

इसी प्रकारके अधिकार दूतकी स्त्री और बच्चों, पुजारी और प्राइवेट सेक्रेटरी तथा निजी भृत्योंको भी प्राप्त हैं क्योंकि यह माना गया है कि इनका अस्तित्व दूतके आरामके लिए आवश्यक हैं। पर दूतके पिता, माता, भाई इत्यादि इस कोटिमें नहीं आते। १६५३ में इङ्गलैण्ड-स्थित पुर्तगाली दूतके भाई डान पन्तेलिअन साने एक अंग्रेजकी हत्या कर डाली। अंग्रेज सरकारने उसे पकड़वाया और हत्या सिद्ध होनेपर फाँसी दी। नौकरोंके लिए किसी-किसी देशमें तो यह प्रथा है कि उनपर दीवानी अभियोग नहीं चल सकता पर यदि वह दूतावासके बाहर कोई फौजदारी अपराध करें तो अभियोग चल सकता है। किसी-किसी देशमें उन्हें दोनों प्रकारकी रुकावटोंसे स्वतन्त्रता दी जाती है। ऐसी कठिनाइयाँ थोड़ी सी बुद्धिमत्तासे टल जाती हैं। समझदार दूत अपने नौकरोंपर दीवानी अभियोग चलानेकी आप ही अनुज्ञा दे देते हैं ताकि पुलिस उन्हें पकड़ सके।

अपने आवासस्थानके भीतर दूतको कई अधिकार प्राप्त होते हैं। वह स्वदेशवासियोंके दस्तावेजोंकी रजिस्टरी करता है और उनके विवाहादि भी स्वदेशी प्रथाके अनुसार कराता है। यदि उसके मातहतोंमें छोटे फौजदारी या दीवानी झगड़े हों तो उनका निर्णय करता है और बड़े मामलोंकी मिसिल तैयार करके वादी-प्रतिवादीको न्यायके लिए स्वदेश भेज देता है। इस विषयमें मतभेद है कि दूतोंको न्याय करने और दण्ड देनेका कहाँतक अधिकार है। पहिले उनके अधिकार बहुत विस्तृत थे पर अब ऐसा नहीं है।

(ख) सम्पत्ति सम्बन्धी विशेषाधिकार

जब पहिले-पहिले स्थायी दूत भेजे जाने लगे तो यह कहा गया कि दूतका आवासस्थान, उसके स्वदेशका एक टुकड़ा है। आजकल इतना बड़ा अधिकार तो नहीं माँगा जाता पर यह नियम है कि बिना किसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारणके किसी दूतके आवासमें स्थानीय पुलिस प्रवेश नहीं कर सकती। यदि किसी गम्भीर अपराधके लिए उसके किसी भृत्यको पकड़ना ही हो तो पहिले दूतको सूचना दे कर उससे अनुज्ञा ले ली जाती है। दूतकी सम्पत्ति किसी कारणसे कुर्क नहीं हो सकती, न ऋण आदिके परिशोधमें नीलाम करायी जा सकती है। दूतके कामके लिए जो माल बाहरसे आता है, उसपर ज़कात या महसूल नहीं लगता। उसे किसी प्रकारका सरकारी या

म्युनिसिपल टिकस नहीं देना पड़ता पर बहुधा दूत रोशनी, पानी, सफाई आदिके म्युनिसिपल टिकस आप ही दे देते हैं।

दूतोंके सम्बन्धमें कभी-कभी बड़े रोचक कानूनी प्रश्न उठ जाते हैं। राजक्रान्तिके पहिलेकी रूसी सरकारने अमेरिकाकी लेहाइ वैली रेलरोड कंपनीपर अमेरिकन अदालतमें मुकदमा दायर किया था। कुछ सैनिक सामग्री जो रूस जा रही थी विस्फोट होनेसे नष्ट हो गयी। यह घटना ३० जुलाई १९१६ की है। इसी सिलसिलेमें रेलवे कम्पनीपर हरजानेका दावा था। रूस सरकार जीत गयी। तब प्रतिवादीने अपील की। अपीलमें उसका प्रधान तर्क यह था कि जबकी यह घटना है और जब मुकदमा दायर हुआ था उस समय रूसमें ज़ारकी सरकार थी। अब वहाँ दूसरे ढंगकी सरकार है और इस नयी सरकारको अमेरिकन सरकारने स्वीकृति नहीं दी है। अतः अमेरिकन न्यायालयकी दृष्टिमें उसका अस्तित्व नहीं है। फलतः, कोई वादी है ही नहीं, मुकदमा चल नहीं सकता। अपीलका फैसला १९२७ में हुआ। न्यायाधीशोंने यह निर्णय दिया कि सरकारके स्वरूपमें परिवर्त्तन हो सकता है परन्तु राजसत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। नयी सरकारको भले ही स्वीकृति न मिली हो पर राज तो वही है, इसलिए जबतक नये राजकी स्वीकृति हो और वह अपनी ओरसे कोई नया दूत नियुक्त करे तबतक पुराना दूत ही अपने राजका प्रतिनिधि माना जा सकता है। राजनीतिक कामोंमें उसको भले ही मान्यता न दी जाय पर अपने राजके दीवानी स्वत्वोंकी रक्षा वह कर सकता है। अतः मुकदमा चल सकता है।

दूतके विशेष अधिकारोंका जिक्र ऊपर हुआ है। दूत निजी व्यापार कर सकता है या नहीं? यदि हाँ तो व्यापारीके नाते उसपर मुकदमा चल सकता है या नहीं? जहाँ उसकी नियुक्ति हुई है वहाँ आनेके लिए यदि मार्गमें कोई तीसरा राज पड़ता हो तो वहाँ उसपर दीवानी मुकदमा चल सकता है या नहीं? इन दोनों प्रश्नोंके उत्तर न्यायालयोंने दिये हैं।

सन् १८५९ में मैग्डालीना स्टीम नैविगेशन कम्पनीने ग्वाटिमालाके विशिष्ट दूत मार्टिन पर कुछ रुपयोंकी अदायगीके लिए जो उनपर बाकी थे मुकदमा चलाया। उन्होंने कम्पनीके कुछ शेयर मोल लिये थे। उनके मूल्यका दावा था। न्यायालयने निर्णय किया कि ऐसा मुकदमा नहीं चल सकता। ऐसे व्यक्तियोंको माल देते समय या तो बीचमें किसी जमानतदारको डाल लिया जाय जिसपर मुकदमा चल सकता है या फिर उसकी सरकारसे शिकायत की जाय। दूसरा मामला अमेरिकामें १८३९ में उठा। टेक्ससका राजदूत न्यूयार्कके मार्गसे यूरोप जा रहा था कि मार्गमें हॉल्बुक नेलसन ऐण्ड कम्पनीने उसपर दीवानी मुकदमा दायर कर दिया। अमेरिकन न्यायालयने यह निर्णय किया कि विदेशी राजदूतका किसी देशमेंसे होकर जाना यह सिद्ध करता है कि उसको विश्वास है कि वह देश उसके विशेषाधिकारोंकी रक्षा करेगा अतः मुकदमा नहीं चल सकता। ऐसा मानना चाहिये कि जो सुविधाएँ गन्तव्य स्थानपर पहुँचकर प्राप्त होतीं वह अब भी प्राप्त हैं।

एक पुराना दस्तूर चला आता है कि दूत अपने आवासोंमें अपराधियोंको शरण दें। इस सम्बन्धमें अलग अलग राजोंका अलग-अलग दस्तूर था। यह तो सब मानते थे कि शरण देनेका उद्देश्य कानून तोड़कर उचित दण्डसे भागनेवालोंकी रक्षा करना नहीं है, परन्तु व्यवहारमें बहुत वैषम्य था। १९२८ में हवानामें शरणके सम्बन्धमें जो अन्ताराष्ट्रिय विचार विमर्श हुआ उसके फल स्वरूप यह तय हुआ कि राजनीतिक अपराधियोंको तात्कालिक आवश्यकताकी अवस्थामें शरण दिया जा सकता है। इसमें कई शब्द मीमांसाकी अपेक्षा करते हैं। १९५० में अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयके एक फैसलेने इस विषयपर प्रकाश डाला।

दक्षिण अमेरिकाके पेरू राजमें ३ अक्टूबर १९४८ को सशस्त्र विद्रोह हुआ जो उसी दिन शान्त हो गया। इसके लिए पेरूकी सरकारने अमेरिकन पीपुल्स रेवल्यूशनरी अलायंस नामक दलको दायी ठहराया और उसके प्रमुख व्यक्तियोंपर मुकदमा चलाया। दलके नेता विक्टर रॉल हाया द ला तॉर पहिले तो छिपे रहे, फिर ३ जनवरी १९४९ को कलम्बियाके दूतावासमें पहुँचे। कलम्बियाके दूतने उनको शरण दी और पेरू सरकारको लिखा कि यह हमारे राजके शरणमें हैं, इनके पेरूसे निर्बाध बाहर जानेका प्रबन्ध होना चाहिये। पेरूकी सरकारने यह बात नहीं मानी। उसका कहना था कि द ला तॉरको शरण देना हवाना समझौतेके प्रतिकूल है। इस प्रकार विवाद उत्पन्न हुआ और उभय पक्षकी सहमतिसे न्यायालय पहुँचा।

न्यायालयने यह निश्चय किया कि सशस्त्र विद्रोह राजनीतिक अपराध है। विद्रोहियोंका कोई निजी स्वार्थ नहीं था, वह केवल सरकारको बदलना चाहते थे। इस प्रयासमें उन्होंने कोई ऐसा काम नहीं किया जो सामान्य दण्डविधानके अन्तर्गत हो। इसलिए यह नहीं कह सकते कि वह न्यायसे भागना चाहते थे। ऐसे लोग शरण देनेके पात्र हैं।

परन्तु कौन व्यक्ति पात्र है, कौन नहीं है, इसका निर्णय शरण देनेवाला राज नहीं कर सकता। जिस समय कोई व्यक्ति शरण माँगने आता है उस समय तो राजदूतको तत्काल अपनी बुद्धिसे काम लेना ही होगा। यदि उसको उचित प्रतीत हो तो दूतावासमें ठहरा ले। परन्तु यदि वह राज जिसका वह व्यक्ति प्रजाजन है आपत्ति करे और यह कहे कि यह व्यक्ति राजनीतिक अपराधी नहीं है, तब फिर किसी तटस्थ पंच या न्यायालयसे निर्णय कराना होगा।

एक और आपत्ति की जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि तात्कालिक आवश्यकता नहीं है। पेरूकी ओरसे यह तर्क पेश किया भी गया। न्यायालयने निश्चय किया कि तात्कालिक आवश्यकताका अर्थ यह है कि उस व्यक्तिके प्राण संकटमें हों और आवश्यकता तबतक ही रहती है जबतक उसकी रक्षाका अन्यथा प्रबन्ध न किया जा सके। यदि किसी राजनीतिक विद्रोहीसे रुष्ट होकर भीड़ उसको मारने दौड़े तो निश्चय ही वह संकटमें माना जायगा और उसको शरण देना वैध होगा। यदि देशमें अराजकता फैली हो या किसी कारणसे न्यायालय काम ही नहीं करते हों तब भी संकट माना जा सकता है। इस मामलेमें पेरूके न्यायालयमें मुकदमा चल रहा था, द ला तॉर छिपे रहे, उन्होंने समन और वारण्टसे जान बचायी। जिस समय कलम्बियाके दूतावासमें आये उस समय कोई न उनका पीछा कर रहा था न मारनेका यत्न कर रहा था, पेरूमें अराजकताकी अवस्था नहीं थी, अतः कोई तात्कालिक आवश्यकता नहीं थी, इसलिए शरण देना अवैध था।

बहुधा ऐसा होता है कि जब किसी देशमें सफल विद्रोह होता है तो पुरानी सरकारके मुख्य अधिकारी भागकर किसी दूतावासमें चले जाते हैं और वहाँसे सुरक्षित स्थानको पहुँचा दिये जाते हैं।

दूतावासमें शरण देना उस देशके प्रभुत्वपर आघात पहुँचाता है जिसमें दूतावास स्थित है। राष्ट्रीय सरकार अपने प्रजाजनके साथ यथेष्ट बर्ताव करनेसे वञ्चित रह जाती है। इसलिए यह प्रथा अब उठती जाती है।

एक राज दूसरे राजमें जिन प्रतिनिधियोंको भेजता है वह सबके सब राजदूत ही नहीं होते। एक और प्रकारके प्रतिनिधि भी होते हैं जो दूतोंके किसी भी वर्गमें नहीं आ सकते क्योंकि इनके कर्तव्य और अधिकार दूतोंसे सरासर भिन्न होते हैं। इन प्रतिनिधियोंको वाणिज्य दूत[1] कहते हैं। इन वाणिज्यदूतोंके भी कई भेद होते हैं। उनका प्रधान काम

वाणिज्य दूत

---

१ Consul

अपने देशके व्यापारको सहायता देना है। व्यापारियोंको स्थानीय नियमोपनियमोंका पालन करनेमें सहायता देना, नाविकोंको सहायता देना, स्वदेशवासियोंकी स्थानीय न्यायालयोंमें रक्षा करना, उनको यात्रा करनेकी सुविधाएँ दिलवाना, उनके कानूनी कागजोंकी रजिस्टरी करा देना—यही उनके काम हैं। उनको समय-समयपर स्थानीय व्यापारिक और आर्थिक दशापर रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। प्रत्येक वाणिज्यदूत एक नगर या अन्य परिमित क्षेत्रके लिए नियुक्त होता है। जिस देशमें वह रहता है वहाँका परराजविभाग उसे अनुज्ञापत्र[१] देता है। इसके आधारपर वह स्थानीय शासकोंसे पत्रव्यवहार कर सकता है।

वाणिज्यदूतको वह सब विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते जो दूतको होते हैं। वह पकड़ा भी जा सकता है, उसकी सम्पत्ति भी कुर्क हो सकती है। वह किसीको शरण नहीं दे सकता। उसे इतनी ही सुविधा होती है कि उसे अपने आवासके लिए टैक्स नहीं देना पड़ता और उसके सरकारी कागज़ ज़ब्त नहीं किये जाते।

कभी-कभी सन्धि द्वारा वाणिज्यदूतोंको इससे अधिक अधिकार भी दे दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, एशिया और अफ्रीकाके दुर्बल राज्योंमें इन लोगोंके भी बहुतसे विशेष अधिकार होते रहे हैं। उनके स्वदेशवासियोंके किये अपराधोंका निर्णय उनके ही यहाँ होता था, स्थानीय न्यायालयोंमें नहीं। उनको शरण देनेका भी अधिकार प्राप्त था और उनके आवासोंमें बिना अनुज्ञा पाये स्थानीय अधिकारी प्रवेश नहीं कर सकते थे। इन सब बातोंका केवल एक कारण था—इन प्राच्य राज्योंकी दुर्बलता। अब एशियाके किसी भी देशमें विदेशके वाणिज्यदूतको कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

वाणिज्यदूतके गमनागमनका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। बहुधा तो कोई बड़ा व्यापारी नियुक्त कर दिया जाता है। कभी कभी तो ऐसा होता है कि जिस देशमें वाणिज्यदूत भेजना होता है उसी देशके किसी विश्वस्त निवासीको यह काम सौंप दिया जाता है।

कभी-कभी वाणिज्यदूतको थोड़े दिनोंके लिए दूतका काम सौंप दिया जाता है पर इससे वह दूतकी सुविधाओंका अधिकारी नहीं हो जाता। १८८९ में ग्वाटिमालाके अमेरिका स्थित राजदूतको किसी आवश्यक कामसे थोड़े दिनोंके लिए स्वदेश जाना पड़ा। उनकी जगह कोई दूसरा व्यक्ति नियुक्त नहीं किया गया वरन् उन्होंने अमेरिकन परराष्ट्र सचिवको लिखा कि मेरी अनुपस्थितिमें हमारे वाणिज्यदूत श्री बेज़को आप कृपया यह अधिकार दे दें कि यदि कोइ आवश्यक बात हो तो ग्वाटिमालकी ओरसे उसे आपके सामने रख सकें। यह अनुमति मिल गयी। कुछ दिनों बाद श्री बेज़पर मानहानिका दावा हुआ। उन्होंने कहा कि मुझपर अभियोग नहीं चल सकता क्योंकि मैं इस समय ग्वाटिमालाके राजदूतका काम कर रहा हूँ। न्यायालयने इस तर्कको स्वीकार नहीं किया। उसने यह फैसला दिया कि श्री बेज़ वस्तुतः वाणिज्यदूत हैं। उनको संकुचित क्षेत्रमें कुछ पत्र-व्यवहार करनेकी अनुमति मिल गयी है परन्तु इससे वह दूत नहीं हो सकते। ग्वाटिमाला राजने उनको नियमतः दूत नियुक्त नहीं किया है।

जहाँ वाणिज्यदूत नहीं होता वहाँ दूत वाणिज्यदूतका भी काम कर लेता है। वाणिज्यदूतकी पदोन्नति करके उसे दूत बनाया जा सकता है पर यदि उसी देशका रहनेवाला हो जहाँ दूतका काम करना है तो वह देश इस बातको स्वीकार न करेगा। कोई देश यह बात पसन्द नहीं करता कि उसका कोई नागरिक किसी परराजका प्रतिनिधित्व करे।

१ Exequatur

द्वितीय खण्ड--शान्तिकालीन विधान

पहिला अध्याय

स्वातन्त्र्य सम्बन्धी स्वत्व और कर्तव्य

स्वातन्त्र्यका अर्थ और उसका स्वरूप

हम स्वातन्त्र्यकी परिभाषा पहिले भी कर आये हैं। बिना किसी अन्य राजके दबावके अपने सारे बाह्य और आभ्यन्तर कामोंको सम्पादित करनेके अधिकारको स्वातन्त्र्य कहते हैं। इस परिभाषा और प्रभुत्वकी परिभाषामें विशेष अन्तर नहीं है। वस्तुतः जो राज पूर्णप्रभु है वह स्वतन्त्र है। अन्ताराष्ट्रिय विधानके प्रायः सारे पात्र पूर्णप्रभु अर्थात् स्वतन्त्र होते हैं।

स्वातन्त्र्यका तात्त्विक अर्थ

स्वातन्त्र्य शब्दके तात्विक अर्थपर भी थोड़ासा विचार कर लेना आवश्यक है। साधारणतः स्वतन्त्रका अर्थ होता है 'अपने मनका'। यह समझ लिया जाता है कि जो स्वतंत्र है वह जो चाहे सो कर सकता है। यह भी कहा जाता है कि स्वाधीनता मनुष्यका नैसर्गिक अधिकार है।

यदि यह बात सच है तो फिर वही मनुष्य स्वतन्त्र हो सकता है जो संसारके और सब मनुष्योंसे पृथक् और दूर रहता हो। पर जो सबसे पृथक् रहता है वह मनुष्योंके-से हाथ-पाँव-शरीर रखते हुए भी मनुष्य नहीं है। जैसा कि कार्लाइलने कहा है 'जो एकान्तवासको पसन्द करता है वह या तो देवता है या पशु है।' यह सच है। या तो ब्रह्मीभूत ऋषि-मुनि और देवकल्प तपस्वीगण ही पूर्णतया एकान्तवासी हो सकते हैं या पशुवदाचारी पागल। पर इन दोनों कोटियोंके मनुष्योंका साधारण मनुष्योंसे बहुत कम साधर्म्य है। जङ्गलमें वधिक लोग प्रायः ग्राम बनाकर नहीं रहते। पर जहाँ केवल दो प्राणी—स्त्री और पुरुष—भी साथ रहते हैं वहाँ वह मनमानापन जाता रहता है। एकको दूसरेका लिहाज करना ही पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि दो प्राणियोंके साथ रहनेसे भी पूर्ण स्वातन्त्र्यका लोप हो जाता है। पर मनुष्यका स्वभाव ऐसा है कि वह बिना कुटुम्ब, बिना समाज बनाये रह ही नहीं सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य कभी पूर्णतया मनमाना अर्थात् पूर्णतया स्वतन्त्र रह ही नहीं सकता।

यदि हम स्वातन्त्र्यका अर्थ 'मनमानापन' कर लें तो हम उपर्युक्त विचित्र परिणामपर पहुँचते हैं। वस्तुतः हमारी परिभाषा ही अयुक्त है। यह असन्दिग्ध है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यह भी निश्चित है कि समाजमें मनमानापन चल नहीं सकता। ऐसी दशामें यह कहना पड़ेगा कि स्वातन्त्र्य मनुष्यका नैसर्गिक गुण होनेके स्थानमें उसकी प्रकृतिके विरुद्ध है और मनुष्य तब ही स्वतंत्र हो सकता है जब वह अपनी स्वाभाविक सामाजिकता त्यागकर अमनुष्य बन जाय। ऐसी उलटी बात न कहकर हम यह कहेंगे कि 'अपनी शक्ति और मनःप्रवृत्तिके अनुसार अपनी इच्छाओंको तुष्ट करनेके उस अधिकारको स्वातन्त्र्य कहते हैं जिसकी सीमा यह है कि हम दूसरोंके इसी प्रकारके अधिकारमें विघ्न न डालें।' सबकी ही इच्छाएँ हैं और सभी अपनी-अपनी इच्छाओंको पूरा करना चाहते हैं। यदि सब मनमाना काम करें तो किसीकी कोई इच्छा पूरी न हो और निरन्तर मात्स्य-न्याय, युद्ध लगा रहे। इसलिए यदि इच्छाओंकी पूर्ति करनी है तो इस प्रकार काम करना चाहिये कि हम एक दूसरेके मार्गमें बाधा न डालें। यह बात पृथक्-पृथक् रहनेसे सिद्ध न होगी क्योंकि बहुतसी इच्छाएँ ऐसी हैं जिनकी पूर्ति समाजके सिवाय हो ही नहीं सकती। फिर भी लोग आपसमें टकरा ही जाते हैं। इसी लिए 'राज' और 'दण्ड' की सृष्टि हुई है। एवं विशिष्ट परिमित मनमाना-

पन ही सच्चा स्वातन्त्र्य है और यह स्वातन्त्र्य नर-समाजके भीतर ही सम्भव है। जो समाजके बाहर है वह स्वतन्त्र नहीं है।

जो नियम मनुष्योंके लिए लागू हैं वही नर-समूहों अर्थात् राष्ट्रों और राजोंके लिए लागू हैं। सम्भव है, किसी घने जंगलमें या किसी टापूपर बस्तीसे सैकड़ों कोस दूर कुछ मनुष्य रहते हों। उनका समुदाय एक राज होगा। वह चाहे जैसे विधान बनाये, चाहे जैसी शासन-पद्धति रखे, अपने द्वीपमें चाहे जो करे। उसपर किसी दूसरेका दबाव नहीं है। पर इस राजको हम स्वतन्त्र नहीं कह सकते। उसकी अवस्था उन अल्पप्रभु राजोंसे भिन्न नहीं है जो आभ्यन्तर शासनमें स्वाधीन हैं। जब किसी बाहरवालेसे सरोकार ही नहीं है, फिर स्वातन्त्र्य कैसा ? कारण भिन्न होते हुए भी प्रत्यक्ष फल यही देख पड़ता है कि ऐसा द्वीपस्थ राज अल्पप्रभु राजोंकी भाँति अन्य राजोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता। जब वह राज-समाजमें सम्मिलित होगा उस समय दो बातें होंगी। वह अपने मनमाने ढङ्गसे रहना पसन्द कर सकता है पर मनमाने ढङ्गसे रहनेका जितना अधिकार उसे है उतना ही अन्य राजोंको भी है। परिणाम यह होगा कि जहाँ सभी मनमाने ढङ्गसे रहना चाहेंगे वहाँ किसीके भी मनकी बात न होगी। 'मन' की कई बातें ऐसी हैं जो बिना मन मारे, बिना औरोंसे मिलकर रहे, बिना समाजका अङ्ग बने, पूरी हो ही नहीं सकतीं। अतः अपने हितकी दृष्टिसे ही उसे निरन्तर लड़ाई, निरन्तर मनमानापन, से हाथ खींचना पड़ेगा। इसी अवस्थामें, जब कि मनमानापनमें कुछ कमी हो जाती है, स्वातन्त्र्य देख पड़ता है। यहाँ भी स्वातन्त्र्यकी वही परिभाषा करनी चाहिये जो ऊपर व्यक्तियोंके लिए की गयी है। वस्तुतः स्वतन्त्र राज वही है जो अपनी इच्छा और शक्तिके अनुसार व्यवहार करता है पर इस बातको नहीं भूलता कि अन्य राजोंको भी ठीक वैसा ही अधिकार है। इस जगत्में अन्य किसी प्रकारका स्वातन्त्र्य सम्भव नहीं है। अतः जब कहीं स्वातन्त्र्यका उल्लेख हो तो यह स्मरण रखना चाहिये कि स्वातन्त्र्य और मनमानापनका एक ही अर्थ नहीं है वरन् मनमानापनको त्याग कर ही स्वातन्त्र्यका सुख मिलता है।

व्यक्ति और समाजमें एक बड़ा भेद है जो ध्यान देने योग्य है। जैसा हम ऊपर कह आये हैं व्यक्तियोंके हितोंमें संघर्ष हो ही जाता है पर राज इस संघर्षको मिटाता है। ऐसे किसी समयके ऐतिहासिक अस्तित्वका पता नहीं चलता जब कि मनुष्योंमें किसी प्रकारका राज रहा ही न हो। जबसे मनुष्य हैं तबसे ही राज है क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतः राजका अस्तित्व मनुष्यकी प्रकृतिका एक अनिवार्य परिणाम है। इसीसे बहुतसे दार्शनिक और प्रायः सभी धर्मशास्त्र राजसत्ताको दैवी मानते हैं। राजोंके लिए यह बात नहीं है। राजोंमें भी हितसंघर्ष होता है पर अभीतक सिवाय लड़नेके उसको मिटानेका और कोई उपाय नहीं रहा है। कई बड़े-बड़े बहुदेशशासक नरेश हो गये हैं पर आजतक कोई ऐसा सार्वभौम नहीं हुआ जो सब राजोंका शासन करे। यह एक कविकल्पना ही रही। सम्भव है, संयुक्त राष्ट्र संघटन यह स्थान आगे चलकर ले। जो प्रेरणा राज या राष्ट्रका कारण हुई थी वही संस्कृत होकर राष्ट्रोंके दृढ़ संघटनकी धात्री हो सकती है। अस्तु, यह सब कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि हमने परिभाषा यह की है कि बिना किसी अन्य राजके दबावके अपने सारे बाह्य और आभ्यन्तर कामोंको सम्पादित करनेके अधिकारको स्वातन्त्र्य कहते हैं पर कई दबाव ऐसे हैं जो स्वातन्त्र्यके अन्तर्गत हैं। बिना उन दबावोंके स्वातन्त्र्य ही नहीं हो सकता। शुद्ध स्वेच्छाचार स्वातन्त्र्यका रूप होना तो दूर रहा उसका बाधक है क्योंकि वह उस सामाजिकता, उस संहतिभाव, का विरोधी है जो मनुष्यताका एक प्रधान लक्षण और स्वातन्त्र्यका उपयुक्त क्षेत्र है। हम इस सम्बन्धमें प्रथम खण्डके छठे अध्यायमें पर्याप्त विचार कर चुके हैं।

यह तो तात्विक बात हुई। समय-समयपर पूर्णप्रभु राज अपनी स्वाधीनताको आप भी किसी-किसी अंशमें बद्ध कर देते हैं। यह बन्धन सुविधाकी दृष्टिसे होते हैं और इनसे उन राजोंके स्वातन्त्र्य या प्रभुत्वमें कोई ह्रास नहीं होता। इस प्रकारके बन्धन सन्धियों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। ऐसी सन्धियोंके कई उदाहरण हैं। हम नीचे उस सन्धिसे कुछ अंश उद्धृत करते हैं जो १८५० में ब्रिटेन और अमेरिकामें इस विषयमें हुई थी कि इन दोनोंमेंसे कोई भी मध्य अमेरिकामें अपना राज्य न बढावे। इस सन्धिको बहुधा क्लेटन-बुलवर सन्धि कहते हैं।

प्रभुराजोंके स्वनिर्मित बन्धन

प्रथम धारा

संयुक्त राज और ग्रेट ब्रिटेनकी सरकारें यह बात घोषित करती हैं कि दोमेंसे एक भी उक्त सामुद्रिक नहरपर अपना एकाकी अधिकार न कभी प्राप्त करेगी न स्थापित करेगी; दोमेंसे एक भी उसके किनारे या आस पास किसी प्रकारकी किलाबन्दी न बनवायेगी, न स्थापित करेगी, न निकाराग्वुआ, कॉस्टारिका, मस्कीटो कोस्ट या दक्षिण अमेरिकाके किसी भागपर अपना राज्य स्थापित करेगी, इत्यादि।

इसी प्रकार १९०७ में ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेनमें इस प्रकारकी सन्धि हुई कि इन तीनों राजोंका भूमध्य सागरमें उस समय जितना-जितना राज्य था उसमें वृद्धि करनेका प्रयत्न न किया जाय। १८८६ में ब्रिटेन और जर्मनीने सन्धि-द्वारा यह निश्चय किया कि प्रशान्त महासागरके किस भागमें कौन अपना राज्य तथा प्रभाव बढ़ावे। जब भारतमें अंग्रेज़ आये थे उस समय उनकी देशी राजोंसे इस प्रकारकी कई सन्धियाँ हुई थीं।

स्वनिर्मित बन्धनोंसे तो स्वातन्त्र्यमें कमी नहीं होती पर कभी-कभी स्वतन्त्र राजोंपर अन्य बलवान् राजों द्वारा भी बन्धन डाल दिये जाते हैं। इन बन्धनोंसे वास्तविक स्वातन्त्र्य और प्रभुत्वमें निःसन्देह कुछ कमी पड़ती है पर जबतक उस राजको बिना परायी मध्यस्थताके अन्ताराष्ट्रिय जगत्‌में व्यवहार करनेका अधिकार रहता है तबतक व्यवहारमें उसे स्वतन्त्र ही गिनते हैं। ऐसे बन्धन प्रायः युद्धके पीछे विजेताके द्वारा विजितपर डाले जाते हैं। प्रथम महासमरके बाद जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की आदिपर बड़े बड़े बन्धन डाले गये। तुम्हारी सेनामें इतनेसे अधिक सिपाही न होने पायें, पुलिसमें इतनेसे अधिक मनुष्य न हों, इतनेसे अधिक सैनिक जहाज मत रखना, अमुक-अमुक समुद्रमें तुम्हारे जहाज न रहने पायेंगे, तुम अमुक-अमुक शर्तोंपर ही व्यापार कर सकोगे, इत्यादि।

प्रभुराजोंके परनिर्मित बन्धन

ऐसी शर्तें बहुत दिनोंतक निभतीं नहीं। इतिहासमें इसके कई उदाहरण हैं। १८०८ में नैपोलियनने प्रशाको यह शर्त माननेपर विवश किया कि प्रशाकी सेनामें ४०,००० से अधिक सैनिक न रहेंगे। प्रशाने शर्त तो मान ली पर उसे एक ऐसी युक्ति सूझी जिसके आगे नैपोलियनकी नीति निष्फल हो गयी। प्रशन नरेशने पहिले ४०,००० सैनिक रखे। जब यह लोग काम सीख गये तो इनको पृथक् करके नये ४०,००० भर्ती किये गये, इनके बाद फिर तीसरे ४०,००० की बारी आयी। क्रमशः सारे देशके युवक सैनिक शिक्षा पा गये पर कागजपर सेना ४०,००० ही रही। ब्रिटिश सरकारने इस घटनासे लाभ उठाया। उसने देशी राजोंकी सेनाओंको सीमाबद्ध करनेके साथ-साथ उनसे यह भी शर्त कर रखी थी कि कोई ऐसी युक्ति न की जायगी जिससे सभी नवयुवक रण-शिक्षा प्राप्त कर लें। इसी प्रकार १८५६ में पेरिसकी सन्धिकी १३ वीं धारा द्वारा रूस और तुर्की इस बातके लिए विवश किये गये कि कृष्णसागरमें न तो सैनिक जहाज रखें, न उसके तटपर शस्त्रागार या किले

बनवायें पर १८७१ में यह धारा तोड़ दी गयी। प्रथम महायुद्धकी सन्धियाँ भी इसी प्रकार टूट गयीं। सबसे पहले तुर्कोंने अपने ऊपर लगायी गयी शर्तोंको विफल किया। उसके बाद हिटलरके अधिनायकत्वमें जर्मनीने सारे बन्धनोंको कूड़ेखानेमें डाल दिया और कुछ ही वर्षोंके भीतर पृथ्वीके बलवत्तम राजोंमें परिगणित हो गया।

जब स्वातन्त्र्यका यह अर्थ ही है कि एक राज दूसरेके दबावमें न हो तो यह भी स्पष्ट है कि एक राजको दूसरेके कामोंमें किसी प्रकारकी छेड़छाड़ न करनी चाहिये। युद्धकी अवस्था तो अस्वाभाविक है। उसका उद्देश्य, या कमसे कम परिणाम, यही होता है कि दूसरेके स्वातन्त्र्यमें बाधा डाली जाय। पर इस अस्वाभाविक अवस्थाको छोड़कर प्रत्येक राजको दूसरे राजोंके स्वातन्त्र्यको अपने स्वातन्त्र्यके समान ही पवित्र और अखण्ड्य मानना चाहिये। इस सिद्धान्तकी एक निष्पत्ति यह है कि एक राज दूसरेके राज्यमें किसी प्रकारका अधिकार नहीं रखता। संयुक्त राष्ट्र संघटनकी महासभाने राजोंके अधिकारों और कर्तव्योंका जो संवचन बनाया है उसमें भी यह बात स्पष्ट रूपसे व्यक्त कर दी गयी है। दूसरेके राज्यमें किसी प्रकारका अधिकार स्थापित करनेका प्रयत्न करना अमैत्रीका सूचक माना जाता है। एक उदाहरणसे जो हम भारतवासियोंके लिए विशेषतः रोचक है, यह बातें भलीभाँति समझमें आ जायँगी।

एक राजका दूसरेके राज्यमें अधिकाराभाव

१९०९ में विनायक सावरकरपर राजद्रोहका अभियोग चलाया गया। किसीने मुजफ्फरपुरके जज श्री किंग्सफोर्डके धोखेसे श्री केनेडीकी पत्नी और कन्याको मार डाला। उसी वर्ष नासिकके मजिस्ट्रेट श्री जैक्सन भी मारे गये। इन हत्याओंके लिए उत्तेजना देने, इनकी प्रशंसा करने तथा सरकारके प्रति अशान्ति फैलानेके अपराधमें सावरकर-बन्धु तथा लोकमान्य तिलकपर अभियोग चला। गणेश सावरकरको आजन्म कालापानी और लोकमान्यको ६ वर्ष कारावासका दण्ड दिया गया। विनायक सावरकर उन दिनों इंग्लैण्डमें थे। वह वहाँसे पकड़कर भारत लाये गये। मार्गमें जहाज फ्रांस के मार्सेल्ज नौस्थानमें ठहरा। सावरकर उसपरसे कूद पड़े और तैरकर नगरमें पहुँचे। जहाजवालोंने फ्रेञ्च पुलिसको सूचना दी। सावरकर पकड़कर उनको सौंपे गये। भारतमें आकर उन्हें भी कालेपानीका दण्ड मिला। इसके बाद फ्रेञ्च सरकारने यह आरोप किया कि जब सावरकर एक बार फ्रांसकी भूमिपर पहुँच गये तो फिर वह बिना फ्रेंच सरकारकी आज्ञाके नहीं पकड़े जा सकते थे और न अंग्रेजी जहाजको सौंपे जा सकते थे। ऐसा करना फ्रांसके प्रभुत्वके विरुद्ध हुआ अतः सावरकर एक बार फ्रेंच सरकारको लौटा दिये जायँ और फिर उससे उन्हें सौंपनेकी प्रार्थना की जाय। ब्रिटेनने इसका विरोध किया। अन्तमें १९१० में हेगकी अन्ताराष्ट्रिय पञ्चायतने ब्रिटेनके पक्षमें निर्णय किया। उसने कहा कि यह भूल अवश्य हुई कि फ्रांससे नियमित प्रार्थना नहीं की गयी पर सावरकरको फ्रेञ्च पुलिसने ही पकड़ा और अंग्रेजोंके सपुर्द किया। अंग्रेजोंने उन्हें स्वयं नहीं पकड़ा अतः उन्होंने फ्रेञ्च प्रभुत्वके विरुद्ध जान-बूझकर कोई काम नहीं किया।

स्वातंत्र्यका तो यह अर्थ ही है कि एक राज दूसरेके ऊपर दबाव न डाले क्योंकि जिसपर दबाव डाला जायगा या यों कहिये कि जिसे दबावमें पड़कर काम करना होगा उसको स्वतन्त्र कह ही नहीं सकते, पर व्यवहारमें कभी-कभी इस सिद्धान्तकी अवहेलना भी हो जाती है। एक राज दूसरे राजके ऊपर दबाव डालता है और सारा जगत् जानता है कि दूसरा राज दबावमें पड़कर काम कर रहा है फिर भी उसके स्वातन्त्र्यमें विच्छेद नहीं माना जाता।

हस्तक्षेप

इस प्रकारके दबाव डालनेको हस्तक्षेप[1] कहते हैं। हस्तक्षेप परामर्श देनेसे भिन्न है। एक राज दूसरे राजको मित्र-भावसे सदैव सत्परामर्श दे सकता है और यह भी बहुधा होता है कि जो बात करनेकी इच्छा नहीं होती वह भी कभी-कभी दूसरेके सुझानेसे की जाती है पर इसको दबाव नहीं कह सकते। मित्र किसी प्रकारकी धमकी नहीं देता। वह हितकी बात कह देता है, मानना न मानना हमारी इच्छापर है; पर हस्तक्षेप इस प्रकारका परामर्श नहीं होता। हस्तक्षेप करनेवाला राज अवसर-विशेषपर किसी विशेष आभ्यन्तर या बाह्य नीतिपर आग्रह करता है। उसके शब्द चाहे कैसे ही मधुर हों पर उनके भीतर एक धमकी होती है। यदि हमारी बात न मानी जायगी तो हम उसे बलात् मनवा लेंगे। जब बलात् मनवानेका समय आ जाता है तब तो युद्ध ही छिड़ पड़ता है पर उसके पहिले शान्तिकाल ही कहा जा सकता है।

हस्तक्षेपका सार है शक्ति या शक्तिप्रयोगकी धमकी। प्रायः होता यही है कि पहिले तो नीतिका निर्देश करके धमकी दी जाती है और फिर यदि वह नीति तत्काल न मानी गयी तो बल-प्रयोग किया जाता है। अतः हस्तक्षेप और युद्धमें बहुत कम अन्तर होता है। इसलिए यह विषय बड़ा ही जटिल है और इसके सम्बन्धमें बहुत कुछ मतभेद है।

हस्तक्षेप कई अवसरोंपर और कई बहानोंसे किया जाता है। जो राज हस्तक्षेप करता है उसे ही अपने इस कामके लिए समुचित कारण दिखलाना पड़ता है ताकि लोकमत उसके विरुद्ध न हो जाय। जिसपर दबाव डाला जाता है उसकी भी विचित्र स्थिति होती है। जो राज हस्तक्षेप करता है वह प्रायः यही कहता है कि मैं इसके प्रभुत्वमें विघ्न नहीं डालना चाहता पर केवल इस एक बातमें हाथ डालनेके लिए विवश हूँ। अतः जिसपर दबाव पड़ता है वह दूसरेकी इच्छाके अनुसार चलते हुए भी स्वतंत्र माना जाता है।

हस्तक्षेपका न्याय्य अवसर

बहुधा तो हस्तक्षेप केवल नीतिका परिणाम होता है पर कभी-कभी उसका आधार न्याय्य होता है। यदि दो राजोंमें किसी प्रकारकी सन्धि हो गयी हो और उनमेंसे एक राज उसके विरुद्ध आचरण करता हो तो दूसरेको यह अधिकार है कि सन्धिकी शर्तोंकी रक्षा करे। कभी-कभी सन्धियोंमें भी हस्तक्षेप करनेका अधिकार दिया जाता है। संवत् १९०१ में संयुक्तराज और क्यूबामें एक सन्धि हुई थी जिसके अनुसार संयुक्तराजने क्यूबाके स्वातंत्र्यकी रक्षाका भार अपने ऊपर लिया था। १९०८ में क्यूबामें सशस्त्र विद्रोह हुआ। क्यूबन सरकार उसका दमन न कर सकी। क्यूबाके राष्ट्रपतिने संयुक्तराजकी सरकारको बार-बार लिखा कि आकर शान्ति स्थापित कीजिये और स्वयं त्यागपत्र देनेपर प्रस्तुत हुए। यदि दशा शीघ्र न सुधरती तो अपनी प्रजाओंकी रक्षाके लिए यूरोपियन राज सेनाएँ भेजते। विवश होकर अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्टने अमेरिकन नौसेना भेजी। उसके जाते ही विद्रोह शान्त हो गया। विद्रोहियोंने हथियार डाल दिये। राष्ट्रपतिने पदत्याग कर दिया; पर शासन ठीक न हुआ। नयी कांग्रेस (पार्लमेंट) बुलायी गयी पर लोग जान-बूझकर न आये। तब विवश होकर एक अमेरिकन प्रान्ताधीश नियुक्त किया गया और थोड़ी-सी अमेरिकन सेना रखी गयी। पर यह प्रबन्ध अस्थायी था। अमेरिकन सरकारने स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा कर दी कि ज्यों ही क्यूबामें पार्लमेण्टका नया चुनाव हो जायगा और नयी सरकार स्थापित हो जायगी त्यों ही अमेरिकन प्रबन्ध हटा लिया जायगा।

यह पूर्ण हस्तक्षेपका उदाहरण है। बलप्रयोगकी धमकी देना अनावश्यक था क्योंकि क्यूबन

१ Intervention

अपनी-अपनी सेनाएँ हटा लीं। अब फ्रांस अकेला रह गया। उसने मेक्सिकोमें एक नये सम्राट्को सिंहासनारूढ़ किया और स्वयं उसका रक्षक बना। यह सर्वथा अनुचित था। इसे दूर करनेके लिए अमेरिकाके संयुक्तराजने १८६५ में फ्रांससे बातचीत आरम्भ की। उसने फ्रांसको खुली धमकी दी कि यदि फ्रेंच सेना न हटायी गयी तो हम उसे हटानेके लिए बल-प्रयोग करेंगे। सब बातचीत गुप्त रखी गयी पर पीछेसे खुल गयी। फ्रांस युद्धके लिए तैयार न था अतः फ्रेञ्च सम्राट्को अपनी सेना हटाने-पर विवश होना पड़ा। १८६७ में फ्रेञ्च सेनाने मेक्सिको खाली कर दिया। इस अवसरपर बल-प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी, धमकीसे ही काम चल गया।

ऊपर जो तीन उदाहरण दिये गये हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान किस-किस अवस्थामें हस्तक्षेपको न केवल क्षम्य वरन् वैध समझता है। पर यह सम्भव है कि कोई काम वैध होते हुए भी अनुचित और अन्याय्य हो। ऊपर क्यूबाका ही उदाहरण लीजिये। यदि क्यूबाकी स्वतन्त्रताकी रक्षाके बहाने अमेरिका थोड़ी-थोड़ी-सी बातपर हस्तक्षेप करने लग जाय तो उसका यह कार्य वैध परन्तु अनुचित होगा।

क्या व्यक्ति, क्या समुदाय, आत्मरक्षा सबका ही अनिवार्य कर्त्तव्य है। 'आत्मानं सततं रक्षेत्'की नीति सर्वोपरि मानी गयी है। धर्मशास्त्रोंने आत्मरक्षाके लिए धर्मके प्रमुख सिद्धान्तोंमें अपवाद बनाकर आपद्धर्म स्थिर किये हैं। परन्तु व्यक्तियोंके लिए एक नियम है जो राजोंके लिए नहीं है। व्यक्तियोंकी रक्षाका भार राजपर होता है अतः बहुधा उनको निश्चिन्त रहना पड़ता है। फिर भी यदि कोई ऐसी घटना आ पड़े जब राज रक्षा न कर सके तो जो कुछ किया जाता है वह ठीक माना जाता है। स्त्री यदि अपने सतीत्वकी रक्षाके लिए हत्या भी कर डाले तो वह क्षम्य मानी जाती है। राजोंके ऊपर कोई दूसरा रक्षक नहीं है, अतः उनको सदैव सावधान रहना पड़ता है।

आत्मरक्षाके लिए हस्तक्षेप

कभी-कभी किसी राजको किसी पड़ोसी राजकी ओरसे आशंका हो जाती है कि यह हमारे ऊपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहा है या हमारे राज्यमें हस्तक्षेप करनेवाला है। ऐसी अवस्थामें भावी हस्तक्षेप या आक्रमणको रोकनेके लिए वह आप ही अग्रसर होकर तैयारीको रोक देता है। जो हस्तक्षेप करनेवाला है उसके यहाँ आप ही हस्तक्षेप किया जाता है ताकि उसके दाँत तोड़ दिये जायँ। यह तो निश्चित है कि साधारण सन्देहपर ऐसा नहीं करना चाहिये। जिसने देखनेमें अपनी कोई क्षति नहीं की उसके साथ छेड़ छाड़ करना उचित नहीं है। अपने सन्देहको जगत्के सामने सहैतुक सिद्ध करना बड़ा कठिन होता है। यदि हस्तक्षेप किया भी जाय तो उतना ही जितना आत्मरक्षाके लिए अत्यन्त आवश्यक हो, उससे रत्तीभर अधिक नहीं। इस सम्बन्धमें अमेरिकाके एक भूतपूर्व सचिव श्री वेब्स्टरने कहा था कि जो राज हस्तक्षेप करे उसे यह प्रमाणित करना चाहिये कि 'उसकी आत्मरक्षाकी आवश्यकता तात्कालिक और अति प्रबल है और उसमें न तो साधना-न्तरका स्थान है, न सोचनेका अवसर है' और उसे कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये 'जो अयुक्त या आवश्यकतासे अधिक हो क्योंकि जो काम आत्मरक्षाके नामपर किया जाय वह उस आवश्य-कतातक ही परिसीमित रहना चाहिये।'[१] १८०७ में ब्रिटेन और फ्रांसमें लड़ाई थी। रूस भी फ्रांसकी ओर था। उन दिनों डेन्मार्ककी नौसेना बहुत अच्छी थी। ब्रिटेनको पता चला कि डेन्मार्क उसके

१ 'A necessity of self-defence, instant, overwhelming and leaving no moment for deliberation,'—'nothing unreasonable or excessive, since the act justified by the necessity for selfdefence must be limited by that necessity and kept clearly within it.'

शत्रुओंसे मिल जानेवाला है। यदि डेन जहाज़ फ्रांसको मिल जाते तो उसका पक्ष बहुत प्रबल हो जाता। ब्रिटेनने यकायक एक बेड़ा डेन्मार्क भेजा और डेन सरकारसे कहा कि अपने जहाज हमें दे दीजिये, हम युद्धके पीछे इन्हें ज्यों-का-त्यों लौटा देंगे। डेन सरकारके नहीं करने पर बल-प्रयोग द्वारा बेड़ा छीन लिया गया और लड़ाई समाप्त होने पर लौटाया गया। इस घटनाके सम्बन्धमें आजतक मतभेद चला आता है। एक पक्ष कहता है कि ब्रिटेनने सरासर बलात्कार किया, दूसरेका कहना है कि उसने जो कुछ किया वह केवल आत्मरक्षाकी दृष्टिसे किया। हाँ, यदि उसने बेड़ा लेकर डेन्मार्कके साथ कुछ और छेड़छाड़ की होती तो निःसन्देह बलात्कार होता।

पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि हस्तक्षेप करना वहीं उचित होगा जहाँ कि यह सबल सन्देह हो कि यदि हस्तक्षेप न किया गया तो इस राज द्वारा हमारी आत्मरक्षाको धक्का लगेगा। ऊपरके उदाहरणमें ब्रिटेनको यह आशंका थी कि डेन नौसेना फ्रेंच नौसेनासे मिल जायगी और फिर दोनों मिलकर ब्रिटेनपर आक्रमण करेंगी। प्रथम यूरोपीय महायुद्धमें इस प्रकारके कई प्रश्न उठे। जर्मनीने फ्रांसपर आक्रमण करनेके लिए बेल्जियमसे मार्ग माँगा। उसने अपने राज्यमेंसे मार्ग देना अस्वीकार किया। इसपर जर्मन सेनाने बेल्जियमपर आक्रमण किया और बलात् मार्ग निकाला। यह हस्तक्षेप सर्वथा अनुचित हुआ। अपने शत्रुपर आक्रमण करना आत्मरक्षा नहीं है। कोई राज यह बात पसन्द नहीं करेगा कि उसका राज्य दो शत्रु-सेनाओंके लिए सड़क बन जाय पर कई जर्मन नीतिज्ञोंका यह कहना है कि फ्रांस स्वयं जर्मनीपर आक्रमण करनेवाला था और ब्रिटेन उसके साथ था। बेल्जियमने फ्रेंच सेनाके लिए मार्ग देना भी स्वीकार कर लिया था। यदि जर्मनी अग्रसर न होता तो पहिले उसपर ही आक्रमण हो जाता। यह कहना कठिन है कि इस वक्तव्यमें कहाँतक सत्यका अंश है। कोई प्रमाण प्रकाशित नहीं हुआ है। जर्मनी हार गया नहीं तो स्यात् कुछ प्रमाण देख पड़ता। यदि यह बात ठीक है कि बेल्जियमकी ओरसे फ्रेञ्च सेना जर्मनीपर आक्रमण करनेवाली थी तो जर्मनीका बेल्जियममें हस्तक्षेप करना उचित था।

यों तो प्रत्येक प्रभुराज अपने आभ्यन्तर शासनमें स्वतन्त्र है पर कभी-कभी इस स्वातन्त्र्यमें अपवाद भी होता है। यदि कोई मनुष्य अपने लड़केको निर्दयतासे पीट रहा हो तो उससे कुछ कहनेका किसीको वैध अधिकार हो या न हो पर नैतिक कर्तव्य अवश्य है। किसीको अनाचार करते देखकर रोकना एक ऐसा धर्म है जो मनुष्यके बनाये सब कानूनोंके ऊपर है। इसी प्रकार यदि कोई राज कोई ऐसा काम कर रहा हो जो मनुष्यताके सर्वथा विपरीत हो तो दूसरे राजोंका यह नैतिक कर्तव्य है कि हस्तक्षेप करके उसे रोकें।

मनुष्यताके नाते हस्तक्षेप

कई बार ऐसा किया भी गया है। मनुष्यताके नामपर यूरोपियन राजोंने कई बार अन्य राजोंके शासनमें हस्तक्षेप किया है। पर इस प्रकारका कोई ठीक उदाहरण देना कठिन है। सिद्धान्त समुचित है पर कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसे सर्वथा साधु कह सकें। इसका प्रधान कारण यह है कि यूरोपके राज इतने स्वार्थी, कूटाचारी और दम्भी हैं कि उनका विश्वास नहीं होता। वह चाहे जितना मनुष्यताका नाम लें पर सन्देह यही होता है कि भीतर कोई गुप्त चाल है। तुर्कीके लेबनान प्रदेशमें ईसाइयोंकी हत्या हो रही थी और उनके साथ घोर अत्याचार किये जा रहे थे, इसलिए १८६० में प्रधान यूरोपियन शक्तियोंने तुर्कोंपर दबाव डालकर इस बुराईको दूर कराया। तुर्कीकी ईसाई प्रजाकी रक्षा और भी दो-तीन बार की गयी है। पर इन हस्तक्षेप करनेवालोंमें ही रूस था जहाँ प्रतिवर्ष कई सौ यहूदी बातकी बातमें केवल यहूदी होनेके कारण मार डाले जाते थे।

लूटपाट तथा अन्य अत्याचारोंकी तो कोई गणना ही न थी। अमेरिका ऐसे सभ्य देशमें सैकड़ों हबशी यों ही लात-घूसोंसे पीटकर, पानीमें डुबाकर तथा गोलियोंसे मार डाले जाते हैं पर न तो किसी-ने अमेरिकामें हस्तक्षेप किया, न रूसमें। इससे अनुमान यह होता है कि मनुष्यताका ध्यान तो कम था, तुर्कोंको दबाना और उसकी ईसाई प्रजाको उभारना ही मुख्य उद्देश्य था।

१८२७ में यूनानवालोंने तुर्कोंके विरुद्ध विद्रोह किया। तुर्क प्रबल थे, उन्होंने विद्रोहको दबा दिया; पर यूरोपके महारथियोंसे न देखा गया। उन्होंने मनुष्यताके नामपर हस्तक्षेप किया और हारे हुए यूनानियोंको १८३२ में स्वाधीन करा दिया। पर सैकड़ों वर्षोंतक पोल जाति आस्ट्रिया, जर्मनी और सर्वोपरि रूसमें दुःख भोगती रही, उसकी सहायता किसीने न की। मनुष्यताका पवित्र नाम स्वार्थसिद्धिका साधन मात्र था।

यूरोपके प्रधान राजों—जर्मनी, रूस, फ्रांस, नवीन इटली, ब्रिटेन—का अभ्युदय गत दो सौ वर्षोंके प्रायः भीतर ही हुआ। इनमें फ्रांस पुराना है। ब्रिटेनका उदय फ्रांसके पीछे पर जर्मनी आदिके पहिले हुआ। इन उन्नतिशील राजोंमें स्पर्धा और अविश्वासका होना

शक्तिसाम्यकी रक्षाके लिए हस्तक्षेप

स्वाभाविक था। अतः व्यवहार चलानेके लिए शक्ति-साम्यका[1] सिद्धान्त निकला। इसका तात्पर्य यह था कि कोई एक राज इतना प्रबल न हो जाय कि दूसरोंको उससे क्षति पहुँचनेकी सम्भावना हो। यदि कोई राज बहुत बढ़ने लगता था तो कई राज मिलकर उसे दबानेका प्रयत्न करते थे। इस कारण बहुतसे दीर्घकाल-व्यापी युद्ध हुए परन्तु प्रत्येक युद्धके पीछे शक्तिसाम्यके रूपमें अन्तर पड़ जाता था। जो जीतता था उसका राज्य और बल कुछ न कुछ बढ़ ही जाता था, जो हारता था उसका राज्य और बल घट ही जाता था। वस्तुतः प्रबल राज दुर्बलोंको दबानेके लिए शक्तिसाम्यकी रक्षाका बहाना करते थे। फ्रांसके अन्तिम सम्राट् तृतीय नैपोलियनने यह नियम निकाला कि यदि यूरोपके किसी राजके राज्य-की वृद्धि हो तो शक्ति-साम्य बनाये रखनेके लिए फ्रांसकी भी उतनी ही वृद्धि होनी चाहिये।

इस सिद्धान्त या नीतिके मूलमें एक सत्य है। यह पूर्णतया ठीक है कि किसी राजके लिए यह उचित नहीं है कि दूसरोंकी क्षति करे। यदि कोई राज ऐसा करना चाहे तो यह उचित है कि और सबल राज मिलकर उसे रोकें। सब दुर्बल राजोंको चाहिये कि मिलकर उसका सामना करें। पर शक्ति-साम्यका तो यह अर्थ था कि यूरोपके बड़े-बड़े राजोंकी शक्ति तुल्यप्राय रहे। यदि मैत्री भी हो तो इस प्रकार कि यदि एक ओर दो या तीन मित्र-राज हों तो दूसरी ओर भी उतने ही बलवाले मित्र-राज हों। इससे दुर्बलोंकी रक्षा नहीं होती थी, यदि कभी रक्षा हो गयी होगी तो वह अकस्मात् हो गयी होगी। रक्षाकी कौन कहे, यहाँ तो यह होता था कि यदि एकने एक दुर्बल देश दबा लिया तो दूसरा उसकी बराबरी करनेके लिए तत्काल ही दूसरा दुर्बल देश दबा बैठता था। प्रान्तों और छोटे देशोंकी जनता खिलौनेकी भाँति इस हाथसे उस हाथ फिंकी फिरती थी।

अभीतक हस्तक्षेपके जिन कारणोंका उल्लेख हुआ है वह ऐसे हैं कि उनको किसी-न किसी दृष्टिसे न्याय्य कह सकते हैं और किसी-न-किसी प्रामाणिक आचार्यने उनका समर्थन भी किया है। परन्तु दो ऐसे कारण हैं जो सर्वथा अयुक्त, अन्याय्य और अनुचित हैं, किसी भी

अनुचित हस्तक्षेप

प्रकार उनका समर्थन नहीं हो सकता। वस्तुतः कारण दो नहीं, एक ही है पर बहुधा एकके ही दो भेद करके उनका पृथक् विचार किया जाता है, इसलिए हम भी पृथक् ही उल्लेख करेंगे।

---

१ Balance of Power

पहिला कारण है विद्रोहका शमन करना। यह निश्चित है कि नरेशाधीन राज अपनी शासन-पद्धतिको अच्छा समझते हैं और प्रजातन्त्र अपनीको, पर प्रत्येक स्वतन्त्र राजका यह स्वत्व है कि अपने यहाँ चाहे जैसी शासन-पद्धति रखे; दूसरेको इस विषयमें बोलनेका अधिकार नहीं है। यदि किसी प्रजातन्त्रमें किसी नरेशको सिंहासनारूढ़ करनेके लिए विद्रोह हो तो अन्य प्रजातन्त्र राजोंको हस्तक्षेप न करना चाहिये; इसी प्रकार यदि किसी नरेशाधीन राजकी जनता नरेशको उतारकर प्रजातन्त्र स्थापित करना चाहती है तो अन्य नरेशाधीन राजोंको हस्तक्षेप न करना चाहिये। यदि किसी देशकी जनता, जिसपर विदेशियोंका शासन हो, विदेशियोंको निकालकर स्वराज्य स्थापित करना चाहती हो तो अन्य राजोंको तटस्थ रहना चाहिये।

विद्रोह-शमनके लिए हस्तक्षेप

प्रायः ऐसा ही होता है पर कभी-कभी अपवाद भी हो जाता है अर्थात् कभी-कभी परराज विद्रोह-शमन करनेके लिए हस्तक्षेप कर बैठते हैं। प्रायः इसमें उनका भी कोई-न-कोई स्वार्थ होता है और सभ्य जगत् उनके व्यवहारको अच्छा नहीं समझता। १७९२ में फ्रांसकी प्रसिद्ध राजक्रान्ति हुई। फ्रेञ्च प्रजाने नरेशको प्राणदण्ड दे डाला और प्रजातन्त्र स्थापित किया। इसका उसे पूर्ण अधिकार था, पर ब्रिटेन, प्रशा इत्यादि उससे लड़ पड़े। उन्होंने इस बातका पूर्ण प्रयत्न किया कि फ्रांसका राजवंश फिर अधिकार पा जाय। यह काम निःस्वार्थ भावसे नहीं किया गया था। ब्रिटेन आदि स्वयं नरेशाधीन थे और इन्हें डर था कि कहीं फ्रांसका रोग हमारे देशतक संक्रमण करके हमारे राजवंशोंको भी सत्ता-हीन न कर दे। १८४९ में आस्ट्रियाकी हंगेरियन प्रजाने स्वाधीन होनेके लिए विद्रोह किया पर रूसने आस्ट्रियाकी सहायता की। इसका कारण यह था कि आस्ट्रियाकी भाँति रूस भी कई देशोंको बलात् दबाये बैठा था और उसे डर था कि हंगरीकी देखादेखी हमारे यहाँ भी विद्रोह न होने लगे।

'पवित्र मैत्री'[१] का इतिहास भी बड़ा ही रोचक है। १८१५ में आस्ट्रिया, रूस और प्रशामें एक सन्धि हुई जिसके द्वारा यह तीनों राज मित्र-राज हुए। इनकी मैत्री 'पवित्र मैत्री' कहलायी। उस सन्धिके कुछ अंश देखने योग्य हैं—

उन घटनाओंको देखकर जो गत तीन वर्षोंसे यूरोपमें हो रही हैं और विशेषतः उन उपकारों पर दृष्टि डालकर जिनको जगन्नियन्ताने दया करके उन राजोंमें वितरित किया है जिन्होंने उस (ईश्वर) को ही अपनी श्रद्धा और आशाका एकमात्र आधार बनाया है, आस्ट्रियाके सम्राट् , प्रशाके महाराज और रूसके सम्राटको इस बातका पूर्ण विश्वास हो गया है कि राजोंको चाहिये कि अपने परस्पर सम्बन्धोंका आधार उन दिव्य सत्योंको बनायें जिनकी शिक्षा पवित्र त्राता (ईसा) के सनातन धर्मसे मिलती है।......इत्यादि।

सारी सन्धि इसी ढङ्गपर लिखी गयी है। बात-बातमें ईश्वर, ईसा, ईश्वरके उपदेश (बाइबिल) तथा धर्मका नाम आता है। मनुष्योंमें प्रेम और भ्रातृभाव फैलाना ही सन्धिका उद्देश्य बतलाया गया है। शब्दोंको देखकर तो सचमुच 'पवित्र मैत्री' कहनेको जी चाहता है, पर इस शब्दाडम्बरके भीतर उद्देश्य कुछ और ही था। यह तीनों नरेश शासन-सुधारके कट्टर विरोधी थे। इनकी हार्दिक इच्छा यह थी कि सारा शासनाधिकार नरेशोंके ही हाथमें रहे, इसलिए यूरोपके जिस किसी देशमें प्रजा सिर उठाकर शासन-सुधार कराना चाहती वहीं पवित्र मित्रोंके सिपाही पहुँच जाते। तीनों ही राज प्रबल थे इसलिए इनके हस्तक्षेपका विरोध करना कठिन था। धीरे-धीरे इन्होंने अपना क्षेत्र बढ़ाना चाहा।

१ Holy Alliance

उन दिनों स्पेनके दक्षिणी अमेरिकावाले उपनिवेश स्वाधीन होकर प्रजातन्त्र स्थापित करना चाहते थे। १८२३ में मित्रोंने स्पेनकी सहायताके लिए दक्षिण अमेरिकामें सेना भेजनी चाही, पर संयुक्त राजसे यह न देखा गया। उसने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि यदि कोई यूरोपियन राज अमेरिका महाद्वीपके किसी देशकी घरेलू बातोंमें हस्तक्षेप करेगा तो संयुक्त राज उसका सशस्त्र विरोध करेगा। इस धमकीके आगे मित्र रुक गये क्योंकि अमेरिका इतना दूर था कि वहाँ संयुक्त राजका सामना करना इनके लिए असम्भव था। जैसा कि हम कह चुके हैं, विद्रोह-शमनके लिए हस्तक्षेप करना अच्छा नहीं समझा जाता।

हस्तक्षेपका दूसरा अयुक्त कारण भी इसका रूपान्तर मात्र है। कभी-कभी किसी राज्यमें शासनाधिकारके लिए दो दलोंमें युद्ध होता है और उनमेंसे एक किसी बाहरीको सहायतार्थ बुलाता है। ऐसे अवसरपर हस्तक्षेप न करना ही उचित है। बाहरवालोंको देखना चाहिये कि यादवीय (आपसकी लड़ाई) में कौन दल जीतता है, जो जीतता है वही सरकार चलायेगा। कुछ लोगोंकी सम्मति है कि यदि स्थापित सरकारके विरुद्ध विद्रोह हुआ हो और सरकार सहायता माँगे तो देना चाहिये पर विद्रोहियोंको न देना चाहिये। यह नीति अधिकांश आचार्योंको सम्मत नहीं है और और प्रायः सभ्य जगत् इसे बुरा समझता है। जैसा कि हॉल कहते हैं 'विदेशी सहायता माँगना ही यह सिद्ध करता है कि उसके बिना युद्धका परिणाम अनिश्चित प्रतीत होता है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा दल अन्तमें राजका इष्टप्रभु बन सकेगा'। ऐसे अवसरपर विदेशियोंका तटस्थ रहना ही उचित है। प्रायः ऐसा होता भी है,पर इसके भी अपवाद मिलते हैं। १९१९में रूसमें सोविएत सरकार स्थापित हुई। यूरोपके सभी पूँजीपति बोल्शेविज्मसे घबराते हैं अतः पूँजीपतियोंके प्रमुख ब्रिटेनने सोविएतके उन्मूलनका बीड़ा उठाया। नयी सरकार तो थी ही, उसके विरोधी भी थे। डेनिकिन, कॉल्चक आदि कई सेनापतियोंने बारी-बारी सिर उठाया और ब्रिटिश सरकारने सबकी पूरी-पूरी सहायता की। रूसका सौभाग्य था कि ब्रिटेनकी एक न चली। जिस ब्रिटिश सरकारने १८२१में 'पवित्र मैत्री' के उत्तरमें कहा था 'जहाँ किसी राजके आभ्यन्तर कामोंसे अन्य राज या राजोंकी तात्कालिक रक्षा या प्रधान हितोंको आघात पहुँचता हो वहाँ ब्रिटिश सरकार हस्तक्षेप करनेके अधिकारका सबसे पहले समर्थन करनेको तैयार है पर उसकी यह धारणा है कि इस अधिकारसे अत्यन्त आवश्यकताके समय ही और आवश्यकताके अनुसार ही काम लेना चाहिये'[1] वही रूसमें हस्तक्षेप करने लगी। स्वार्थ ऐसी बुरी वस्तु है कि वह बड़े-बड़े सिद्धान्तोंकी विस्मृति करा देता है।

यादवीयमें हस्तक्षेप

अभीतक ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे विदित हो गया होगा कि स्वाधीनता क्या वस्तु है। फिलिमोरने उसकी दस अधिकारोंमें इस प्रकार व्याख्या की है—

स्वाधीनता और हस्तक्षेप

१. बिना किसी विदेशी राजके हाथ डाले, अपनी शासनपद्धतिको जब जैसी इच्छा हो तब वैसी बनाने और परिवर्तन करनेका अधिकार,

---

१ Though no government could be more prepared than the British Government was to uphold the right of any State or States to interfere where their own immediate security or essential interests are seriously endangered by the internal transactions of another State, it regarded the assumption of such a right as only :to be justified by strongest necessity, and to be limited and regulated thereby.—Lord Castlereagh's Circular.

२. अपने राज्यको अखण्ड रखने और सम्पत्तिका उपभोग करनेका अधिकार,
३. सर्वप्रकारेण आत्मरक्षा करनेका अधिकार,
४. व्यापार द्वारा राष्ट्रिय सम्पत्तिकी वृद्धि करनेका अधिकार,
५. नवीन राज्य और अधिकार प्राप्त करनेका अधिकार,
६. अपने राज्यके भीतर, और विशेष अवस्थाओंमें बाहर, के सब मनुष्यों और वस्तुओंपर एक मात्र और अनियंत्रित शासन करनेका अधिकार,
७. अपने प्रजावर्गके मनुष्य चाहे कहीं हों, उनकी रक्षा करनेका अधिकार,
८. विदेशी राजों द्वारा अपनी राष्ट्रिय सरकारको स्वीकृत करानेका अधिकार,
९. (राष्ट्र-समुदायमें समत्व-सूचक) प्रतिष्ठा पानेका अधिकार, और
१०. अन्ताराष्ट्रिय सन्धियों और इकरारनामोंके लिखनेका अधिकार।

हस्तक्षेपसे इन अधिकारोंमेंसे कइयोंमें बाधा पड़ती है। उपचार-दृष्टिसे स्वातन्त्र्यमें कमी न मानी जाय पर वस्तुतः जिस राजके साथ हस्तक्षेप किया गया उसकी स्वाधीनतामें अवश्य कमी आती है। वह अपने पूर्णप्रभुत्वसे काम नहीं ले सकता। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हस्तक्षेप कभी किया ही न जाय। जैसा कि हमने ऊपर दिखलाया है कभी-कभी हस्तक्षेप करना परमावश्यक होता है पर जबतक हस्तक्षेप करनेवाला अपने सद्भाव और हस्तक्षेप करनेकी अनिवार्य आवश्यकताको प्रमाणित न कर दे तबतक वह अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें अपराधी है।

अभी थोड़े दिन हुए स्पेनमें जो यादवीय युद्ध हुआ था उसके सम्बन्धमें हस्तक्षेप शब्दका बहुत प्रयोग किया गया। इस प्रयोगसे हस्तक्षेपके सिद्धान्तको समझनेमें विशेष सहायता तो नहीं मिलती परन्तु यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अबतक राष्ट्रोंके स्वार्थ-संघर्षके कारण इस शब्दका कोई निश्चित और सर्वसम्मत अभिधेयार्थ नहीं बन पाया है। संन् १९३७ में स्पेन प्रजातन्त्र राज था। उस साल जेनरल फ्रैंकोने सेनाके एक अंशकी सहायतासे विद्रोहका झण्डा उठाया। उन दिनों जर्मनीमें हिटलर और इटलीमें मुसोलिनीके हाथोंमें राजसत्ता थी। यह दोनों ही लोकतन्त्रके कट्टर विरोधी थे। इनके ही बलपर फ्रैंकोने विद्रोह किया था। जर्मनी और इटलीने फ्रैंकोकी सहायता केवल धन और सैनिक सामग्रीके रूपमें नहीं की वरन् कई हजार जर्मन और इटैलियन स्वयंसेवक नामसे फ्रैंकोकी सेनामें सम्मिलित थे। यह बात खुलकर की जा रही थी। हिटलर और मुसोलिनीने कई बार यह कहा कि हम फ्रैंकोके सहायक हैं और स्पेनकी लोकतन्त्र सरकारका अन्त देखना चाहते हैं। उधर सरकारके पास रण-सामग्रीका प्रायः अभाव था। उसने बाहरसे सामान मोल लेना चाहा परन्तु ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांसने, जो लोकतन्त्र सिद्धान्तके समर्थक होनेका सदा दावा करते हैं, उसके हाथ सामान बेचनेसे इनकार कर दिया और अपने देशके व्यापारियोंको भी ऐसा करनेसे रोक दिया। बहाना यह किया गया कि सरकारको युद्ध-सामग्री मोल लेनेकी सुविधा देना स्पेनके आभ्यन्तर शासनमें हस्तक्षेप करना होगा जब कि जर्मनी और इटली फ्रैंकोकी सहायता करके स्पेनके शासनके स्वरूपको बदलनेका प्रत्यक्ष उद्योग कर रहे थे। ऐसे समय ब्रिटेन आदिका अहस्तक्षेप[1] की दुहाई देना कोरा दम्भ था। उनके इस व्यवहारके दो कारण थे। फ्रांस जर्मनीकी बढ़ती शक्तिसे घबराता था इसलिए वह इटलीको मिलाये रखना चाहता था, उधर ब्रिटेन हिटलरको नाराज नहीं करना चाहता था। उसका यह खयाल था कि यदि हिटलरके विरुद्ध कोई कार्रवाई न की गयी तो वह एक-न-एक दिन रूससे लड़ जायगा। इसमें ब्रिटेनको दो लाभ देख पड़ते थे—

१ Non-intervention

एक तो पूँजीशाहीका एकमात्र शत्रु रूस यदि नष्ट नहीं तो दुर्बल तो हो ही जाता; दूसरे, ब्रिटिश साम्राज्य हिटलरसे बचा लिया जाता। ब्रिटेन और फ्रांसकी स्वार्थबुद्धिका परिणाम यह हुआ कि फ्रैंकोकी विजय हुई। परन्तु उनको शीघ्र ही उनकी अदूरदर्शिताका दण्ड भी मिल गया; उनको जर्मनी और इटलीसे लड़ना ही पड़ा। जिसको ब्रिटेन और फ्रांस अहस्तक्षेप कहते थे उसको और लोग प्रसादन-नीति[१] के नामसे पुकारते थे क्योंकि उसका एकमात्र उद्देश्य इटली और जर्मनीकी खुशामद करना था।

भारत

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं वह पाश्चात्य जगत्के हैं पर भारतको हस्तक्षेप नियमके हाथों भयानक क्षति उठानी पड़ी है। अंग्रेजी राज्यकी अधिकांश वृद्धि हस्तक्षेपके द्वारा ही हुई है। कहीं मनुष्यताके नामपर हस्तक्षेप करके पीड़ित प्रजाकी सहायता की गयी, कहीं विद्रोहशमन करनेके लिए हस्तक्षेप करके नरेशके गले भारी ऋण बाँध दिया गया, कहीं आपसकी लड़ाईमें भाग लिया गया, कहीं आत्मरक्षाका बहाना पेश किया गया। देशी राज दुर्बल थे, जो कुछ बल था वह आपसके कलहमें लग रहा था, ब्रिटेनकी चाल सदैव फलवती रही और भारतका बहुत बड़ा हिस्सा उसके कब्जेमें आ गया।

---

१ Appeasement

दूसरा अध्याय

समत्व-सम्बन्धी स्वत्व और कर्तव्य

यह बात बहुत दिनोंसे मानी चली आती है कि सब राज एक दूसरेके बराबर हैं पर इस स्थलपर 'बराबरी' शब्दका अर्थ विचारने योग्य है। यह तो कोई कह नहीं सकता कि राज, धन, बल या प्रभावमें सब बराबर हैं। कुछ लोग इसका अर्थ यह लगाते हैं कि राजनीतिक दृष्टिसे असम होते हुए भी वैध दृष्टिसे यह सब बराबर हैं अर्थात् कानूनके सामने इनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है। सबके स्वत्व और कर्तव्य एकसे हैं। जिस प्रकार प्रत्येक सभ्य समाजमें कानूनके सामने धनी-निर्धन, बलवान-दुर्बल सभी बराबर होते हैं, उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधानके सामने सब राज बराबर हैं।

समत्वका सिद्धांत

पर यह उदाहरण भी ठीक नहीं है। साधारण समाजमें राज सर्वोपरि होता है। उसके हाथमें दण्डाधिकार होता है, इसलिए वह अपने बनाये विधानकी मर्यादा रख सकता है। इसीलिए वैध समता सब विषमताओंको दबा देती है। राज-समाजमें यह बात नहीं है। अन्ताराष्ट्रिय विधान राजोंकी इच्छामात्रपर निर्भर है। उसका कोई पृथक रक्षक नहीं है, इसलिए जो बात राजसमाजमें चलती हो उसीको वैध कहना चाहिये। यदि इस दृष्टिसे देखा जाय तो बराबरीका कहीं पता नहीं चलता। बात-बातमें विषमता है। जैसा कि प्रसिद्ध जर्मन नीतिविशारद ट्रेशे[1] ने कहा है 'तुल्यप्राय क्षेत्रफलके बड़े राजोंमें ही अन्ताराष्ट्रिय विधान बर्ता जा सकता है क्योंकि इतिहास दिखलाता है कि अवनत छोटे राजोंसे बड़े राज बराबर ही बनते रहते हैं। बेल्जियम ऐसा छोटा राज यदि अपनेको अन्ताराष्ट्रिय विधानका क्षेत्र समझे तो यह हास्यास्पद बात होगी।

इस सम्बन्धमें राजोंकी वर्तमान अवस्था और कार्यप्रणालीपर एक दृष्टि डालनेसे लाभ होगा क्योंकि इससे पता चलेगा कि व्यवहारमें बराबरी कहाँतक बर्ती जाती है।

सबसे पहले हम यूरोपका ही विचार करते हैं क्योंकि आजकलके अन्ताराष्ट्रिय विधानका यूरोपमें ही जन्म हुआ है। आरम्भमें हम जो उदाहरण देंगे वह सब प्रथम महायुद्धके पहिलेके ही होंगे।

शक्ति-गोष्ठी

१९ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें फ्रांसमें राजक्रान्ति हुई। तबतक यद्यपि कोई राज बड़ा, कोई छोटा था पर उपचारतः सब बराबर कहे जाते थे। फ्रेंच राजक्रान्तिका परिणाम यह हुआ कि फ्रांससे प्रायः सारे महाद्वीपसे लड़ाई छिड़ गयी। नैपोलियनके उदयने फ्रांसको एक बार सर्वजेता बना दिया पर अन्य राज उसके पीछे पड़ गये और अन्तमें उसे हराकर ही छोड़ा। इस काममें आस्ट्रिया, रूस, प्रशा और ब्रिटेन अग्रणी थे। अतः इन चारोंका प्रभाव बढ़ जाना स्वाभाविक था। यह चारों महाशक्ति[2] कहलाये। महाशक्तियोंके गुटको शक्ति-गोष्ठी[3] कह सकते हैं। फ्रांस हार तो गया था पर अब भी वह बहुत बलवान था, अतः १८१८ में वह भी महाशक्ति माना गया। १८६७ में इटली भी इस कोटिमें आ गया। अतः यूरोपकी शक्ति-गोष्टीमें ब्रिटेन, रूस, जर्मनी (जब प्रशा और जर्मनीके अन्य छोटे राजोंके मिलनेसे जर्मन साम्राज्यकी सृष्टि हुई तो प्रशाका स्थान जर्मनीने लिया) फ्राँस, आस्ट्रिया और इटलीकी गणना थी। यह

---

१ Treitschke
२ Great Powers
३ Concert of Powers

स्मरण रखना चाहिये कि महाशक्तियोंमें गिने जानेकी कोई विशेष रीति नहीं है। जो राज बलवान् और प्रभावशाली हो जाय और जिसे अन्य महाशक्तियाँ अपने बराबर मानकर अपने परामर्शमें सम्मिलित करने लगें वही महाशक्ति गिना जायगा।

शक्ति-गोष्ठीका यह अर्थ नहीं है कि इन राजोंमें आपसमें लड़ाइयाँ नहीं हुई हैं। लड़ाइयाँ तो कई हुई हैं पर कई काम ऐसे हैं जिन्हें इन्होंने मिलकर किया है और इनके निर्णयको यूरोपके अन्य राजोंने मान लिया। यदि सब राज बराबर हों तो कोई राज उसी बातको माननेके लिए बाध्य होगा जो उसकी सम्मतिसे किया जाय पर ऐसा होता नहीं। यह छः राज मिलकर जो बात कर डालते थे उसे आगे-पीछे सभी राज मान लेते थे। १८३२ में इन्होंने मिलकर तुर्कीपर दबाव डालकर यूनानीको स्वतन्त्र कराया और १८३९ मे बेल्जियमको हालैंडसे पृथक् करके उसे एक तटस्थीकृत राज बनाया। बाल्कन-प्रायद्वीपके प्रबन्धमें बहुधा इनका हाथ रहा था यद्यपि वह इनमेंसे किसीके राज्यमें नहीं था।

इस गोष्ठीका कार्य-क्षेत्र यूरोपतक ही परिमित नहीं था। अफ्रीकाका बहुत बड़ा भाग यूरोपवालोंके ही अधिकारमें है और वहाँ भी शक्ति-गोष्ठीके मतके अनुसार काम होता रहा है। स्वयम् अफ्रीकामें कोई सबल राज नहीं है। मिस्र इस योग्य था कि वह अफ्रीकामें प्रमुख स्थान लेता पर वह अपने आपको भी स्वतन्त्र नहीं कर सका था।

एशियाकी दशा अफ्रीकासे अच्छी थी पर सन्तोषजनक नहीं थी। नामको चीन, श्याम, फारस, अफगानिस्तान स्वतन्त्र थे पर वस्तुतः एक चीन ही ऐसा राज था जिसका एशियाके बाहर कुछ प्रभाव था। रूसको हरानेके पीछे जापानकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। १९०७ में उसकी भी गणना महाशक्तियोंमें हुई।

अमेरिकाकी अवस्था और सब महाद्वीपोंसे भिन्न है। वह सबसे दूर है। उसके कुछ भागोंको छोड़कर शेषमें छोटे-बड़े स्वतन्त्र प्रजातन्त्र राज हैं। सिद्धांतदृष्ट्या यह सब बराबर हैं; पर एक ऐसी बात है जो यह सिद्ध करती है कि समता-सिद्धान्त इनके लिए एक प्रकारसे नहीं लगता। हम बतला चुके हैं कि १८२३ में पवित्र मैत्री (अर्थात् आस्ट्रिया, प्रशा और रूस) ने यह चाहा कि स्पेनको उसके दक्षिणी अमेरिकाके उपनिवेशोंको दबानेमें सहायता दें। उन दिनों संयुक्त राजके राष्ट्रपति श्री मनूरो थे। उन्होंने एक विज्ञप्ति द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि 'यूरोपियन राजोंका पश्चिमी गोलार्द्ध अर्थात् अमेरिकामें अपना विस्तार करनेका प्रयत्न करना अमेरिकाकी शान्ति और रक्षाके लिए भयङ्कर समझा जायगा।' एक दूसरी विज्ञप्तिमें यह कहा गया कि अमेरिकन महाद्वीपके दोनों भाग अब इस प्रकार स्वाधीन हो गये हैं कि उनमें यूरोपियन शक्तियोंको उपनिवेश स्थापित करनेका क्षेत्र नहीं है।

इन दोनों विज्ञप्तियोंको मिलानेसे जो नीति निर्धारित होती है उसे 'मनूरो सिद्धान्त' कहते हैं। उसका सारांश यह है कि भविष्यत्में (अर्थात् १८८० के बाद) कोई यूरोपियन राज अमेरिकन

मनूरो सिद्धान्त

महाद्वीपके किसी भागमें न तो नया उपनिवेश स्थापित कर सकेगा न अपना राज्य बढ़ा सकेगा। यदि कभी ऐसा प्रयत्न किया गया तो संयुक्त राज उसका विरोध करेगा।

यह सिद्धान्त अच्छा हो या बुरा पर समताके विरुद्ध है। संयुक्त राज अपने आप ही अमेरिकाके सब राजोंका संरक्षक बन बैठा है। यदि कोई अमेरिकन राज हारकर या किसी अन्य कारणसे अपने राजका कुछ भाग किसी यूरोपियन राजको देना चाहे तो स्वाधीनताका यह अर्थ है कि

वह ऐसा कर सकता है, पर संयुक्त राज ऐसा करने नहीं देता। यूरोपियन राजोंने यह नियम प्रायः स्वीकार कर लिया है, कमसे कम इसका व्यावहारिक विरोध किसीने नहीं किया है, इससे यह सिद्धान्त अन्ताराष्ट्रिय विधानका एक अंग हो गया है।

संयुक्त राजने कई अवसरोंपर इससे काम लिया है। १८२४ में रूसने अमेरिकन महाद्वीपके वायव्य कोणमें एक उपनिवेश स्थापित करना चाहा पर संयुक्त राजकी सरकारने उसे रोक दिया। १८९५ में ब्रिटेन और वेनेज्वीलामें सीमा-सम्बन्धी झगड़ा था। वेनेज्वीला ब्रिटिश गियाना नामी अंग्रेजी उपनिवेशसे मिला-जुला है। वह स्वतन्त्र राज था पर संयुक्त राज बीचमें पड़ गया। उसने कहा कि हम अंग्रेजोंकी सीमा न बढ़ने देंगे। युद्ध होते-होते बच गया। पीछे यह निश्चय हुआ कि इस प्रश्नका निर्णय निष्पक्ष पञ्चोंपर छोड़ दिया जाय, पर पञ्चोंके सामने भी वेनेज्वीलाकी ओरसे संयुक्त राज ही वकालत करता रहा।

इस काममें बड़ा दायित्व उठाना पड़ता है। इसी वेनेज्वीलाके ऊपर बहुतसा ऋण हो गया था। १९०१ में ब्रिटेन, जर्मनी और इटलीने तंग आकर उसपर शस्त्र-प्रयोग करनेकी ठानी। उस अवसरपर राष्ट्रपति रूजवेल्टने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि 'हम (अर्थात् संयुक्त राज) यह नहीं कहते कि यदि कोई राज दुराचारी हो जाय तो उसे दण्ड न दिया जाय। हम इतना ही चाहते हैं कि उसे चाहे और जो दण्ड दिया जाय, पर उसके राज्यका कोई अंश किसी अनमेरिकन राजके कब्जेमें न जाय।' इसी प्रकार साण्टो डोमिंगोपर बहुत ऋण हो गया था और उसमें ऐसी अराजकता-सी फैली हुई थी कि उस ऋणके चुकनेकी कोई आशा न थी। विवश होकर यूरोपियन राज हस्तक्षेप करते। इसलिए संयुक्त राजने उसका शासन स्वयं सँभाला और आभ्यन्तर प्रबन्धमें बाधा न डालते हुए भी यह इन्तिजाम किया कि जकात (बाहरसे आये मालपर कर) का ५५/१०० भाग ऋण चुकानेमें लगाया जाय।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि संयुक्त राजने अपनेको एक प्रकारसे अमेरिकाके सभी राजोंसे बड़ा ठहराया और उनके बाह्य सम्बन्धोंको निश्चित करानेका अधिकार अपने आप ही ले लिया। वह महाशक्ति तो था ही, उसकी नीति भी हितकर थी, इसलिए कुछ दिनोंतक तो अमेरिकाके अन्य राजोंने इस विषयमें कोई आपत्ति न की; पर धीरे धीरे अमेरिकामें भी ब्रैजिल, मेक्सिको, चिली आदि बल-वैभययुक्त राजोंका उदय हुआ। इनको संयुक्त राजका यह प्राधान्य सह्य न था। यह स्वतन्त्र तो थे ही अतः इस बातको माननेके लिए सम्मत न थे कि संयुक्तराजको इनके बीचमें बोलनेका कोई अधिकार है। संयुक्त राजने भी देखा कि अब नीतिमें परिवर्तन करना ही श्रेयस्कर है। अतः अब एक नये भावका जन्म हुआ है। इसे अभ्यमेरिकन (अभि + अमेरिकन) भाव[1] कहते हैं। धीरे-धीरे अमेरिकन राजोंमें मैत्री बढ़ानेका प्रयत्न हो रहा है। कई अन्ताराष्ट्रिय अमेरिकन महासभाएँ हो चुकी हैं जिनमें सभी अमेरिकन राजोंके प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इन सभाओंने आपसके कई प्रश्नोंको सुलझाया है और एक स्थायी समिति भी वाशिंगटन (संयुक्तराजकी राजधानी) में स्थापित कर दी गयी है। यह एक प्रकारकी अमेरिकन शक्ति-गोष्ठीका जन्म हो रहा है।

इस गोष्ठीका स्वरूप उस सन्धिसे व्यक्त होता है जो इन राजोंके बीच १९४७ में ब्रैजीलकी राजधानी रायोडि जैनाडरोमें हुई। इसको पारस्परिक सहायताकी अन्तरमेरिकन संधि[2] कहते हैं। इसकी धारा ३ (१) इस प्रकार है—

१ Pan-Americanism

२ Inter-American Treaty of Reciprocal Assistance

संधि करनेवाले पक्ष यह बात मानते हैं कि किसी अमेरिकन राजके ऊपर सशस्त्र आक्रमण सभी अमेरिकन राजोंपर आक्रमण माना जायगा और इसलिए संयुक्त राष्ट्रोंके समयकके धारा ५१ में दिये गये व्यक्तिगत या सम्मिलित आत्मरक्षाके अधिकारसे काम लेकर सभी संधि करनेवाले राज उस आक्रमणका सामना करनेमें सहायता करेंगे।

इधर हालमें यह प्रस्ताव कई बार उठा है कि भारत, इण्डोनेशिया, बर्मा आदि मिलकर दक्षिण-पूर्व एशियाके लिए कुछ इसी प्रकारका संघटन करें। सबसे बड़ा होनेसे सबसे अधिक भार भी भारतपर ही पड़ेगा। अभीतक इनमेंसे किसी भी राजने इस बातका समर्थन नहीं किया है।

ऊपरके संक्षिप्त वर्णनसे पता चलता है कि कुछ बड़े-बड़े राज प्रधान स्थान पाते रहे हैं और बहुतसी बातोंमें अन्य राजोंको उनका परामर्श और नियन्त्रण मानना पड़ा है। एक यूरोपियन शक्ति-गोष्ठी थी ही जो यूरोपमें कर्ताहर्ता बनी हुई थी, एक जगच्छक्तिगोष्ठी भी थी। इसमें ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, इटली, संयुक्तराज और जापान सम्मिलित थे।

वर्तमान युग

यह आठों महाशक्तियां थीं और अन्य राजोंपर इनका आतंक था। बहुतसे अवसरोंपर इस गोष्ठीने उपयोगी काम भी किये। रेल, तार, डाकके लिए अन्ताराष्ट्रिय नियम बनाये गये, अफीम रोकनेका अन्ताराष्ट्रिय प्रयत्न किया गया, कुछ रोगोंके प्रतिकारका अन्ताराष्ट्रिय प्रबन्ध किया गया। इसके साथ ही सारा अफ्रीका भी आपसमें बाँट लिया गया, यह प्रश्न भी न उठा कि अफ्रीकावालोंकी क्या इच्छा है।

यह दशा १९१४ तक रही। उस साल प्रथम महायुद्ध छिड़ा। युद्धका परिणाम यह हुआ कि आस्ट्रिया और जर्मनी छिन्न-भिन्न हो गये। ब्रिटेन, फ्रांस, इटली फिर भी महाशक्ति बने रहे। संयुक्तराज और जापान भी महाशक्ति थे। रूसके बलवान् होनेमें कोई सन्देह नहीं था क्योंकि उसने अकेले इन सब महाशक्तियोंके बलप्रयोग और आर्थिक कौटिल्यको नीचा दिखाया था पर वह बहुत दिनोंतक राजसमाजसे बहिष्कृत रहा। राष्ट्र-संघमें छोटे राज भी सम्मिलित थे परन्तु उसकी कार्यकारिणीमें छोटे-बड़ेका भेद प्रत्यक्ष देख पड़ जाता था। महाशक्तियोंमें परिगणित राज इस कार्यकारिणीके स्थायी सदस्य थे। इस सूचीमें ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान तो थे ही पीछेसे रूस और हारे हुए जर्मनीको भी स्थान दिया गया। इनके अतिरिक्त थोड़े-थोड़े समयके लिए चुनकर अस्थायी सदस्यके रूपमें दूसरे राज भी आते थे।

पिछले महायुद्धकी समाप्तिके साथ-साथ राष्ट्र-संघकी भी अन्त्येष्टि हो गयी। अब जो नया संघटन बना है उससे बड़ी आशाएँ बाँधी जा रही हैं। और तो चाहे जो कुछ भी हो परन्तु सिद्धान्ततः समताकी रक्षा इसमें भी नहीं हुई है। इसके सदस्योंमें भी पाँच महाशक्तियाँ हैं जिनके नाम ब्रिटेन, संयुक्तराज (अमेरिका) रूस, फ्रांस और चीन हैं। संयुक्तराष्ट्र संघटनने कहनेको तो सभी राजोंकी समताको सिद्धान्ततः मान लिया है परन्तु उसके भीतर जो वास्तविक विषमता है उसका उल्लेख प्रथम खण्डमें किया जा चुका है। इस समय बलकी दृष्टिसे तो पृथ्वीपर केवल दो महाशक्तियाँ हैं, अमेरिका और रूस। यह दोनों साम, दान, दण्ड-और भेदसे काम लेकर दूसरे राष्ट्रोंको अपने पक्षमें करना चाहते हैं। भारत बलदृष्ट्या इनसे बहुत कम है पर उसने जो स्वतन्त्र शान्ति-नीति बरती है उससे सभी प्रभावित हुए हैं। उसने कोई गुट नहीं बनाया है, फिर भी दूसरे शांतिप्रिय देश उसको अपना नेता मानते हैं और वह महाशक्ति-पद-भाजन बनता जा रहा है। चौथा भावी महाराष्ट्र चीन प्रतीत होता है।

ऊपर जितने उदाहरण दिये गये हैं उनसे यह तो स्पष्ट है कि वास्तविक समताका कहीं पता

नहीं है। बड़े राजोंका प्रभाव छोटोंसे अधिक होता है और छोटोंको बड़ोंकी बात माननी ही पड़ती है। छोटे-बड़ेका भेद एक प्रत्यक्ष सत्य है। पर समता सिद्धान्तसे यह लाभ हुआ है कि उसने उद्दण्डताको कुछ-न-कुछ रोका। यों तो जो प्रबल होता है उसे कोई रोकता नहीं, फिर भी प्रबल-से-प्रबल राजको दुर्बल-से-दुर्बल राजपर आक्रमण करनेके पहले कुछ-न-कुछ बहाना ढूँढ़ना पड़ता है। किसी बराबरवालेकी स्वाधीनता नष्ट करना अपराध है और लोकमतके सामने कोई अपराधी नहीं बनना चाहता, इससे कोई-न कोई कारण, हेतु नहीं तो हेत्वाभास ही सही, दिखलाना पड़ता है। इससे छोटोंकी कुछ रक्षा हो जाती है।

समता और विषमता

आपसके मिलने-जुलने, पत्र-व्यवहार और सलामी आदिके नियम सब बराबरीकी नींवपर बने हैं। सिद्धान्त यह है कि सब स्वतन्त्र राज बराबर हैं पर कभी-कभी व्यावहारिक उपचारोंमें इसे बर्तनेमें अड़चन पड़ती है। पहले इस बातके पीछे ही युद्ध छिड़ जाते थे। सभी देशोंमें उपचारोंका बड़ा आदर रहा है। भारतके राजोंमें भी बहुतसे नियम रहे हैं। किसका स्वागत कमरेके बाहरतक आकर किया जाय, किसके लिए आधे कमरेतक आया जाय, किसके लिए केवल खड़ा हुआ जाय, कौन आगे चले, किसको छत्र और डंकेके साथ निकलनेका अधिकार है, यदि दो नरेश मिलें तो कब कौन दाहिने बैठे, कौन बायें बैठे—यह सब टेढ़े प्रश्न हैं। आजकल पाश्चात्य जगत्में इनपर कम ध्यान दिया जाता है पर दिया अवश्य जाता है। किसी नियमके उल्लङ्घनके लिए युद्ध चाहे न हो पर कुछ मनमुटाव अवश्य हो जाता है। सरकारी भोजमें किसी देशके राजदूतकी पत्नीको गलत जगह बैठनेको कह देनेसे राष्ट्रके मानापमानका प्रश्न उठ खड़ा होता है।

उपचारोंका महत्व

आजकल एक दूसरेसे मिलनेके समय प्रायः निम्न-लिखित पौर्वापर्य बर्ता जाता है—

सम्मिलन-कालके उपचार

(१) पहले पूर्णप्रभु राज आते हैं।

(२) यदि किसी स्थलपर पोप उपस्थित हो तो रोमन कैथलिक सम्प्रदायानुयायी राजोंके ऊपर उनका स्थान होगा। अन्य मतावलम्बी उनको प्रतिष्ठा नहीं देते।

(३) स्वतन्त्र राजोंमें भी जिनके मुख्याधिष्ठाता अभिषिक्त नरेश होते हैं उनका स्थान दूसरोंसे पहले होता है। जहाँ अभिषिक्त नरेशोंके साथ छोटे अनभिषिक्त नरेश (जैसे ड्यूक, एलेक्टर या भारतमें ठाकुर या सरदार) मिलते हैं वहाँ तो यह नियम चलता है पर संयुक्तराज और रूस जैसे प्रबल प्रजातन्त्र इसे नहीं मानते। उनका स्थान बड़े नरेशाधीन राजोंके साथ ही होता है।

इन नियमोंका पालन उन सब स्थलोंपर होता है जहाँ कई राजोंके प्रतिनिधि किसी कार्य विशेषसे सम्मिलित होते हैं, चाहे वह प्रतिनिधि स्वयं मुख्याधिष्ठाता (नरेश या राष्ट्रपति) हों या कोई मुख्य कर्मचारी।

सन्धिपर हस्ताक्षर करनेके समय किस क्रमसे हस्ताक्षर किये जायँ, इसका भी बड़ा झगड़ा था। कभी तो यह करते थे कि चिट्ठी डालकर क्रम निश्चित होता था पर सन्धिकी जो प्रति जिस राजमें रहती थी उसपर राजके प्रतिनिधिका हस्ताक्षर सबसे ऊपर होता था। आजकल प्रायः दूसरा नियम बर्ता जाता है। यह देखा जाता है कि राजोंके नामके प्रथम अक्षर फ्रेंच वर्णमालाके अनुसार किस प्रकार आगे-पीछे आते हैं और फिर उसी क्रमसे उन राजोंके प्रतिनिधि हस्ताक्षर करते हैं। इससे आपसकी बराबरीकी बात बनी रहती है।

सन्धिपर हस्ताक्षर करनेके नियम

जहाजों तथा जहाजों और किलोंकी सलामीके नियम भी बहुत महत्त्व रखते हैं। पहले तो यह सर्वथा अनिश्चित थे और इनके पीछे झगड़ा हो जाता था। इस आये दिनके झगड़ेसे तंग आकर १७८७ में फ्रांस और रूसने आपसकी सलामी बन्द ही कर दी। आजकल यह नियम प्रचलित हैं—

सलामीके नियम

(१) यदि कोई लड़ाईका जहाज किसी विदेशी बन्दरमें प्रवेश करता है या उसके सामनेसे निकलता है तो वह पहले सलाम करता है; पर यदि उसपर उसके राजका मुख्याधिष्ठाता या राजदूत हो तो पहले बन्दर सलामी देता है, फिर सलामीका जबाब दिया जाता है। यदि बन्दरमें कोई किला हो तो वह सलामी देता है नहीं तो कोई लड़ाईका जहाज देता है। जवाबमें भी उतनी ही बार तोप दागते हैं।

(२) यदि कई राजोंके जहाज मिलते हैं तो पहले वह जहाज सलाम करता है जिसका नायक छोटे दर्जेका होता है।

(३) यदि सैनिक जहाज और व्यापारी जहाजका सामना हो तो व्यापारी जहाज सलाम करता है। यदि उसपर तोप न हो तो वह अपना टापसेल (ऊपरवाला मस्तूल) झुका देता है।

(४) सलामी २१ तोपोंसे अधिककी नहीं होती।

उपाधियोंकी स्वीकृति

प्रत्येक राजको अधिकार है कि वह अपने प्रधान अधिष्ठाताको जो उपाधि चाहे दे। उपाधिसे अधिकारमें कोई भेद नहीं पड़ता। भारतमें ही महाराणा, महाराजा, राजा, राणा, ठाकुर, नवाब महारावल आदि अनेक प्रकारकी उपाधियाँ हैं। अन्य राज इस बातके लिए बाध्य नहीं हैं कि किसी अधिष्ठाताकी नयी उपाधिको अंगीकार करके पत्र-व्यवहारादिमें उसका ही प्रयोग करें। बहुधा ऐसा होता है कि यदि नयी उपाधि पुरानी उपाधिके ही दर्जेकी होती है, तो वह अंगीकार कर ली जाती है, पर यदि सन्देह होता है तो यह स्पष्ट कह दिया जाता है कि हम उपाधिको माने लेते हैं पर इससे आपके पदमें कोई वृद्धि न होगी। १६९५ में रूसके नरेशने जार (सम्राट) की उपाधि धारण की पर कई राजोंने लगभग ६० वर्षतक उसे न माना। फ्रांसने १७८४ में उसे माना भी तो उपर्युक्त शर्त लगाकर।

वैधानिक-समता और राजनीतिक असमता

यह बात बराबर ही कही जाती रही है कि सब राज बराबर हैं। वैटेलके शब्दोंमें मनुष्यत्वेन बौना और भीम बराबर हैं, परन्तु व्यवहारकी दृष्टिसे सब बराबर नहीं हैं। इसको कुछ विधानशास्त्री यों कहते हैं कि राजोंमें वैधानिक समताके साथ-साथ राजनीतिक असमता है। इसका अर्थ यह है कि सबके अधिकार और कर्तव्य एकसे हैं, अपने कामोंके लिए सब एकान्त रूपसे दायी हैं और सबके आचरणकी कसौटी अन्ताराष्ट्रिय विधान है परन्तु इन अधिकारोंको मनवाने और कर्तव्योंके पालन करनेकी योग्यता सबमें एकसी नहीं है। भीमके कन्धे बौनेसे पुष्ट और विशाल हैं। राष्ट्रोंके भीतर नागरिकोंमें भी ऐसी असमता होती है पर वहाँ राजकी सर्वोपरि शक्ति असमताको अधिक हानिकर होनेसे रोके रहती है। अन्ताराष्ट्रिय जगत्में अभी कोई ऐसा सर्वोपरि अधिकारी नहीं है। जिस अन्तरमेरिकन सन्धिका ऊपर चर्चा हुआ है उसकी तृतीय धाराकी चौथी उपधारा कहती है कि जबतक संयुक्त राष्ट्रकी सुरक्षा परिषद् अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाका प्रबन्ध करनेमें समर्थ नहीं होती तबतक यह अमेरिकन राज अपनी आत्मरक्षाका स्वयं प्रबन्ध करेंगे। जबतक आत्मरक्षाका भार अपने ऊपर है तबतक असमता दूर नहीं हो सकती। बड़े-छोटे रहेंगे और छोटोंको बड़ोंसे दबना पड़ेगा।

समताका एक निष्कर्ष यह भी है कि कोई राज किसी ऐसी बातको माननेके लिए बाध्य नहीं है जो उसे सम्मत न हो। यदि दस बीस बड़े राज मिलकर कोई समझौता कर लें तो भी वह उन लोगों पर ही लागू होगा। जिस छोटेसे भी राजके उसपर हस्ताक्षर न हों वह उसको न मानने का पूरा अधिकारी है, यद्यपि जिस बातको दो चार बड़े राज कह देते हैं उसको दूसरे भी व्यवहारमें मान ही लेते हैं। संयुक्तराष्ट्र समयकके अनुसार जो बातें तय होती हैं उनको भी बहुधा तभी मान्यता प्राप्त होती है जब उनको प्रत्येक राष्ट्र स्वीकृति देता है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब-तक कोई राज स्वीकृति नहीं देता तबतक वह निश्चय उसपर लागू नहीं होगा। इससे समताके सिद्धान्तका आदर तो हो जाता है पर व्यवहारमें कठिनाई पड़ सकती है। जिस प्रकार राष्ट्रीय पार्लमेण्टमें कानून बन जानेके बाद प्रत्येक नागरिकसे पृथक् पृथक् स्वीकृति नहीं माँगी जाती उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रीय विधायिकामें किसी बातके तय हो जानेपर पृथक् राजोंकी स्वीकृतिकी अपेक्षा न रहनी चाहिये। जबतक ऐसा नहीं होगा तबतक असमता बनी रहेगी।

तीसरा अध्याय

सम्पत्ति-सम्बन्धी स्वत्व और कर्तव्य

प्राचीनकालसे ही यह माना गया है कि राजोंको सम्पत्ति रखनेका अधिकार है। जिस समुदायका किसी भूमिविशेषपर कब्जा न हो उसे राज ही नहीं कहते। पर राजोंकी सम्पत्ति भूमिके अतिरिक्त अन्य प्रकारकी भी होती है। उनके पास घर, मशीन, रुपया-पैसा, पशु, शस्त्र, पुस्तकें, कुर्सियाँ, इत्यादि अनेक वस्तुएँ होती हैं। इनका क्रय-विक्रय प्रत्येक देशके घरेलू कानूनके अनुसार होता है जिससे अन्ताराष्ट्रिय विधानसे कोई सम्बन्ध नहीं है, पर यदि युद्धके समय शत्रुसेना इनपर कब्जा कर लेती है, तो अलबत्ता अन्ताराष्ट्रिय विधान उनके उपयोग और उपभोगके नियय बताता है।

इन फुटकर वस्तुओंके अतिरिक्त राजके स्वत्वक्षेत्रमें भूमि, जल और वायु सम्मिलित हो सकते हैं। इन तीनोंपर पृथक्-पृथक् विचार करना होगा, फिर अन्तमें यह निश्चय हो सकेगा कि राजके स्वत्वकी क्या सीमा हो सकती है।

यहाँ एक बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिये। हम इस स्थलपर जिस स्वत्वपर विचार कर रहे हैं उसका संबंध शासनसे है, सम्पत्तिसे नहीं। किसी किसी राजमें सारी भूमि राजकी सम्पत्ति होती है। रूसमें ऐसा ही है। बहुधा भूमि व्यक्तियोंको, चाहे वह जमींदार हों या कृषक, सम्पत्ति होती है। प्रत्येक राजमें कुछ भूमि राजकी सम्पत्ति होती है और कोई न कोई ऐसा विधान होता है जिससे आवश्यकता पड़ने पर राज जिस भूमिको चाहे अपनी सम्पत्ति बना सकता है। परन्तु यह सब घरेलू विषय हैं, इनसे अन्ताराष्ट्रीय जगत्से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इस अध्यायमें शासनाधिकारके बारेमें विचार करेंगे, स्वाम्याधिकारके नहीं। यदि स्वामी शब्दका प्रयोग सुविधाके लिए हुआ भी है तो शासनाधिकारीके अर्थ में।

भूमिपर अधिकार

सबसे पहले यह देखना है कि राजोंकी भौम सम्पत्ति किस प्रकार बढ़ती है। इसके दो प्रकार हैं—प्राथमिक और गौण[१]। प्राथमिकके भी दो भेद हैं—अधिकृति और प्राकृतिक वृद्धि[२] और गौणके तीनभेद हैं—हस्तान्तर, विजय और उपभोग[३]। दोनोंमें भेद यह है कि जो भूमि किसी अन्य सभ्य राजके कब्जेमें नहीं थी या यदि कभी बहुत पहले थी तो अब उसपर किसी सभ्य राजका न तो कब्जा है न स्वत्व, उसपर अधिकार प्राप्त करनेके प्रकारको प्राथमिक कहते हैं और किसी अन्य सभ्य राजके कब्जेकी भूमिपर कब्जा करनेके प्रकारोंको गौण कहते हैं।

अधिकृति

जो भूमिखण्ड किसी अन्य सभ्य राजके अधिकारमें न हो उसे अपने हाथमें लेनेको अधिकृति कहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वह निर्जन हो। इतना ही पर्याप्त है कि उसके निवासी किसी

१ Original, derivative.
२ Occupation, accretion.
३ Cession, conquest, prescription.

ऐसे राजकी प्रजा न हों जो अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र हो। जब पहले-पहले अमेरिका महाद्वीपका पता लगा तो यूरोपके राजोंके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इसपर किसका और किस नियमके अनुसार अधिकार हो। अन्तमें प्राचीन रोमन विधानकी शरण ली गयी। उसमें एक नियम था कि यदि सड़कपर कोई लावारिस चीज पड़ी हो तो जिसके हाथ वह पहले लगे वह उसे ले सकता था। इस नियमका विचार इस प्रकार किया गया कि जो पहिले अमेरिका पहुँचा अर्थात् जिस राजके जहाजने अमेरिकाका पहले पता लगाया वही उसका स्वामी होगा। पर इससे काम न चला। स्पेनवाले कहते थे कि १४९८ में अमेरिगो वेस्पूची[१] जो स्पेनवासी था, उत्तरी अमेरिकाके तटपर सबसे पहले उतरा था इसलिए उत्तरी अमेरिका हमारा है। अंग्रेज कहते थे, जान कैबट यहाँ १४९७ में ही आ चुका था। फ्रांस और पुर्तगाल भी इसी प्रकारकी बातें कहते थे। तत्कालीन पोप षष्ठ सिकन्दरने सारे अमेरिकाको स्पेन और पुर्तगालमें बाँटना चाहा पर उनकी बात कौन सुनता। फ्रेञ्च नरेशने स्पेनके पञ्चम चार्ल्ससे इस प्रयत्नकी हँसी उड़ाते हुऐ पूछा था—'आप और पुर्तगालके नरेश किस अधिकारसे सारी पृथ्वीके स्वामी बनना चाहते हैं ? क्या बाबा आदमने आपको ही अपना एकमात्र उत्तराधिकारी बनाया है ? यदि ऐसा है तो वसीयतनामेकी प्रतिलिपि तो दिखलाइये।' कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी स्थान-विशेषका पहले-पहले पता लगा लेना पर्याप्त नहीं है। केवल इतनेसे उसपर स्वाम्य नहीं होता। हाँ, पहले पता लगाना एक गौण प्रमाण निःसन्देह है। आजकल केवल इतनेसे अधिकार नहीं मिलता पर प्रचलित प्रथा यह है कि यदि किसी राजका जहाज किसी नये भू-खण्डका पता लगाता है तो अन्य राज थोड़े दिन ठहरकर देखते हैं कि वह उसपर कब्जा करता है या नहीं। उसको ऐसा करनेका पर्याप्त अवकाश दिया जाता है।

अधिकृतिका प्रकार

अस्तु, तो पता लगाना ही कब्जा नहीं है। जिस राजका जहाज पता लगाये या जो अन्य राज कब्जा करना चाहे उसे चाहिये कि यह स्पष्ट प्रकट कर दे कि इस स्थानपर कब्जा करनेकी हमारी इच्छा है। इसका साधारण नियम यह है कि वहाँ राजका झण्डा गाड़ दिया जाय और कब्जेकी घोषणा कर दी जाय। पर यह घोषणा उस राजकी सरकारकी तरफसे होनी चाहिये। कोई अन्य व्यक्ति चाहे वह राजका उच्च कर्मचारी ही क्यों न हो, घोषणा नहीं कर सकता। इसलिए ऐसे अवसरपर एक कर्मचारी विशेष अधिकार देकर इसी कामके लिए भेजा जाता है। १६९९में डेम्पियर नामक एक ब्रिटिश नाविकने आस्ट्रेलियाके निकट न्यूब्रिटेन और न्यूआयरलैण्ड नामक दो नये द्वीपोंका पता लगाया। १७६७में कप्तान कोर्टरेटने ब्रिटेनके नामपर इनपर कब्जेकी घोषणा कर दी। वह ब्रिटिश जल-सेनाके ऊँचे दर्जेके अफसर थे पर उन्हें ब्रिटिश सरकारकी कोई विशेष आज्ञा न थी अतः उनकी घोषणा अन्य राजोंके लिए मान्य न थी। १८८४में जर्मनीने इन द्वीपोंपर अपना अधिकार जमा लिया। कभी-कभी ऐसा होता है कि अधीन संस्थाएँ या कर्मचारी बिना आज्ञाके ही किसी प्रदेश-विशेषपर कब्जेकी घोषणा कर देते हैं पर ऐसी अवस्थामें यथासम्भव शीघ्र ही उनकी सरकार उनके ऐसा करनेका स्वयं समर्थन करती है। यदि वह ऐसा न करे तो घोषणा निरर्थक होती है।

पर केवल घोषणासे काम नहीं चलता। जिस प्रकार साधारण कानूनमें दाखिलखारिज अर्थात् सम्पत्तिपर नाम चढ़ानेके लिए यह देखा जाता है कि वस्तुतः उस सम्पत्तिका उपभोग कौन करता रहा है, उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधान भी यह देखता है कि वस्तुतः उस भूखण्डका कोई

१ Amerigo Vespucci

उपभोग भी हुआ है या नहीं। इसलिए घोषणाके बाद ही थोड़ी-बहुत बस्ती बसानी पड़ती है। यदि जगह छोटी हो तो कुछ सरकारी कर्मचारी ही रख दिये जाते हैं, नहीं तो शीघ्र ही कृषकों और व्यापारियोंको बसानेकी चेष्टा की जाती है। बस्ती भी निरन्तर होनी चाहिये। थोड़े दिनोंके लिए हट जाना दूसरी बात है पर यदि कुछ कालतक बस्ती इस प्रकार हटा ली जाय कि इस बातका कोई प्रमाण न रह जाय कि फिर आकर बसना है तो दूसरे राजोंको वहाँ कब्जा करनेका पूर्ण अधिकार है। यह स्मरण रखना चाहिये कि बस्तीमें कुछ सरकारी कर्मचारियोंका, जो वहींके लिए नियुक्त हुए हों, रहना परमावश्यक है। केवल व्यापारियों या कृषकोंके बसनेसे सरकारी कब्जा नहीं होता। बहुधा पहले सरकार कब्जा जमा लेती है फिर बस्ती बसाती है, पर कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। दक्षिणी अफ्रीकाके नेटाल प्रदेशमें १८२४में ही कुछ अंग्रेज बस गये थे पर सरकारी घोषणा १८४३में हुई। इसमें डर यही था कि यदि बीचमें कोई और राज उसे अधिकृत करना चाहता तो अंग्रेज सरकार उसे वैध रूपसे नहीं रोक सकती थी।

अतः यह निश्चय हुआ कि किसी लावारिस भूमिपर पूर्ण अधिकार जमानेके लिए यह आवश्यक है कि अधिकार जमानेकी घोषणा करके उसके शासनके लिए कुछ सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये जायँ जो वहीं रहें।

अधिकृत भूमिका क्षेत्रफल

इस समय यह प्रश्न बड़े महत्त्वका इसलिए नहीं प्रतीत होता कि पृथ्वी इस प्रकार छान डाली गयी है कि कोई ऐसा देश ही नहीं बच गया है जिसपर किसी-न-किसी सभ्य राजका अधिकार न हो। कभी-कभी भूकम्प आदिके कारण प्रशान्त महासागरमें एकाध छोटासा द्वीप भले ही उत्पन्न हो जाय पर किसी बड़े द्वीप या देशके मिलनेकी आशा नहीं है। पर दो बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं। एक तो अब भी अफ्रीकाके बहुत बड़े भागपर किसी सभ्य राजका कब्जा नहीं है, दूसरे, यह असम्भव नहीं है कि जिन देशोंपर आज सभ्य राज अधिकार जमाये बैठे हैं वहाँसे भविष्यत्में उनका अधिकार उठ जाय। किसी समय ब्रिटेनपर रोमका अधिकार था पर जब रोमके पतनका समय आया तो वह इतना दुर्बल हो गया कि उसे ब्रिटेनसे हाथ खींचना पड़ा और ब्रिटेन लावारिस हो गया।

बड़े महत्त्वका प्रश्न यह है कि एक बार घोषणा करने और कुछ कर्मचारी नियुक्त कर देनेसे कितनी भूमिपर अधिकार हो जाता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि छोटे द्वीप या द्वीपसमूहपर एक साथ ही कब्जा हो जाता है पर समूचे महाद्वीपपर इस प्रकार कब्जा नहीं हो सकता। फ्रांस या स्पेन चाहते थे कि सारा अमेरिका ही उन्हें मिल जाय पर उनकी बात किसीने न मानी। एक-दो नहीं, दस-पाँच बस्तियाँ बसानेसे भी महाद्वीप या बड़ा देश नहीं अपनाया जा सकता।

विधानशास्त्रका यह एक सिद्धान्त है कि स्थलसे संलग्न जल होता है, जलसे संलग्न स्थल नहीं। स्थलपर स्वाम्य होनेसे जलपर स्वाम्य हो जाता है परन्तु जलपर स्वाम्य होनेसे स्थलपर स्वाम्य नहीं होता। यदि किसी नदीके मुहानेपर कब्जा कर लिया जाय तो उस सारे भूखण्डपर कब्जा नहीं माना जायगा जिसमेंसे वह नदी या उसकी सहायक नदियाँ बहती हैं, पर यदि समुद्र-तटके पासके बड़े भूखण्डपर कब्जा हो जाय तो उस ऊँची भूमि या पहाड़ीतक कब्जा माना जाता है जहाँसे नदियाँ इस तटकी ओर झुकती हैं। यदि दो राजोंकी बस्तियोंके बीचमेंसे नदी बहती है तो दोनोंका नदीके अपने-अपने तटतक कब्जा माना जाता है और नदीके जिस भागमें नाव चल सकती है उसके मध्यकी कल्पित रेखा दोनों बस्तियोंकी सीमा मानी जाती है। जहाँ नदी, पहाड़ इत्यादि प्राकृतिक सीमाएँ नहीं मिलतीं वहाँ कल्पित और कृत्रिम सीमाएँ बनानी पड़ती हैं। बहुधा यह

करते हैं कि दोनों ओरकी अन्तिम इमारतोंके बीचकी भूमिके बीचोबीचकी कल्पित रेखाको सीमा मान लेते हैं।

इन नियमोंका पालन करनेसे झगड़े बहुत कम हो जाते हैं पर उनके लिए अवकाश निकल ही आते हैं। इसीको बचानेके लिए अफ्रिकाके विषयमें ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, पुर्तगाल इत्यादिने आपसमें समझौता कर यह निश्चय कर लिया कि कौन देश कहाँतक कब्जा करेगा। आजकल तो यह नियम हो गया है कि कब्जा करनेवाला राज स्वयं पहलेसे ही कह दे कि वह कहाँतक कब्जा करना चाहता है। १८८८ में लोसानमें अन्ताराष्ट्रिय विधान-परिषद्ने पहले-पहले यह परामर्श दिया था। यह कहना आवश्यक है कि यदि वह राज बहुत बड़े भूखण्डको दबाना चाहेगा तो अन्य राज उसकी एक न सुनेंगे। साथ ही यह भी शर्त है कि वह जितनी भूमिपर कब्जा करे उसमें ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न न होने दे जिससे सभ्य मनुष्य उसमें बस ही न सकें या वहाँ व्यापार, कृषि आदि करना असम्भव हो जाय।

हम देख चुके हैं कि जिस देशपर किसी सभ्य राजका शासन न हो उसपर कब्जा हो सकता है। यदि वह देश निर्जन हो तो कोई अड़चन नहीं होती पर यदि वहाँ कुछ मनुष्य पहलेसे बसे हों तो एक प्रश्न उठता है। माना कि यह लोग असभ्य हैं पर हैं तो मनुष्य। क्या

आदिम निवासी

इनका इस भूमिपर कोई अधिकार नहीं है? आजसे सौ दो सौ वर्ष पूर्व तो यह प्रश्न किसीको नहीं सताता था पर आजकल लोगोंकी विवेक-बुद्धि कुछ तीक्ष्ण हो गयी है अतः यह बात खटकती है। पहलेके लोगोंका तो यह भाव था कि आदिम निवासियोंका कोई अधिकार नहीं है। आजकल ऐसा नहीं कहा जाता। उत्तरी अमेरिकामें अंग्रेजोंने जो बस्तियाँ स्थापित कीं उनके सम्बन्धमें फिलिमोर कहते हैं—'उत्तरी अमेरिकाके आदिम निवासियोंको यह अधिकार था कि अपनी आखेट-भूमियोंमें अंग्रेज व्यापारियोंको न बसने देते, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसलिए यह समझना चाहिये कि भूमिके स्वाम्यमें अंग्रेज भी सम्मिलित कर लिये गये।' फिलिमोर इस बातको छिपाते हैं कि उन जंगलियोंने प्रेमवश होकर अंग्रेजोंको अपना हिस्सेदार (!) नहीं बनाया वरन् तोप-बन्दूक और शराबके आगे उनकी एक न चली। अस्तु, आजकल बहुधा यह मत है—'कोई विधान हो वह अपने पात्रोंका ही नियन्त्रण कर सकता है, उन्हींके अधिकारों और कर्तव्योंका निर्णय कर सकता है। सभ्य राज अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र हैं अतः वह विधान उनके ही लिए नियम बना सकता है। उसने कब्जा करनेके सम्बन्धमें कुछ नियम बनाये हैं। यदि उसके पात्र अर्थात् सभ्य राज उन नियमोंका पालन करते हैं और उनके अनुसार कब्जा करते हैं तो वह सन्तुष्ट है। असभ्य या अर्द्ध-सभ्य समुदाय उसके पात्र नहीं हैं इसलिए वह न तो उनके अधिकारोंको जानता है, न कर्तव्योंको। इसलिए यदि सभ्य राज इस प्रकारके देशोंपर कब्जा कर लेते हैं तो उनका ऐसा करना पूर्णतया वैध है।' परन्तु विधानके अतिरिक्त धर्म भी एक वस्तु है और न्याय धर्मका एक प्रधान अंग है। धर्म यह कहता है कि जो समुदाय, चाहे वह कैसा ही जंगली हो, किसी भूखण्डपर बस गया है उसका उसपर अधिकार हो गया है। अतः सभ्य राजोंपर वैध नहीं तो नैतिक दबाव अवश्य है। इसलिए आजकल यह चाल चल पड़ी है कि एक बार अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार कब्जा करके फिर तत्रस्थ जंगली सरदारोंसे सन्धियाँ की जाती हैं। इन सन्धियोंके अनुसार उस भूखण्डका कुछ भाग तो आदिम निवासियोंके लिए छोड़ दिया जाता है, कुछ उनसे ले लिया जाता है। जो भाग लिया जाता है उसका मूल्य भी उन्हें दिया जाता है। इस युक्तिसे यूरोपकी सभ्यता अपनी धर्मपरताका परिचय देती है। पर यह स्मरण रखना

चाहिये कि यह सरदार जङ्गली होते हैं, यह बेचारे लिखित सन्धियोंके ढंगसे अपरिचित होते हैं, कानूनी शब्दोंके दाव-पेंचसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं, धनके महत्त्वको समझते नहीं, पाश्चात्य सभ्यताकी शक्तिसे घबराते हैं और उसके प्रलोभनोंमें फँस जाते हैं। अतः उन्हें बहकाकर ऐसी सन्धियाँ लिखवायी जाती हैं कि थोड़ेसे ही कालमें सारा देश यूरोपियनोंका हो जाता है और वह बेचारे या तो अन्नादिके कष्टसे प्रायः सारे नष्ट हो जाते हैं या गुलामीसे भी बुरी दशामें जा गिरते हैं। दक्षिणी और पूर्वीय अफ्रीका तथा उत्तरी अमेरिकाका इतिहास ऐसी घटनाओंसे परिपूर्ण है। जिन राजोंको राष्ट्र-संघने शासनादेश दिये हैं उनसे यह शर्त की है कि इन देशोंका शासन इस प्रकार करो कि आदिम निवासी सभ्य हो जायँ और उनको किसी संरक्षककी आवश्यकता ही न रहे। देखा चाहिये क्या होता है, परन्तु किसीने भी ईमानदारीसे इस नियमका पालन नहीं किया। अभी तो सर्वत्र ऐसा ही शासन रहा है कि यदि कल यूरोपियन सभ्यता उन देशोंसे उठ जाय तो वहाँके निवासी हर्षोत्फुल्ल होकर परमात्माकी वन्दना करेंगे और मनायेंगे कि हे भगवान्, अब हमें इन सभ्य मूर्तियोंके दर्शन न दीजिये। यूरोपियन राज कहते अवश्य हैं कि हम जब कहीं कब्जा करते हैं तो केवल अपने बलवैभवकी वृद्धि या उपनिवेश स्थापित करनेके उद्देश्यसे नहीं प्रत्युत आदिम निवासियोंको सुसभ्य बनाना भी हमारा एक प्रधान लक्ष्य रहता है; पर आजतक ऐसी बातें देखनेमें नहीं आयीं जिनसे इस कथनकी सत्यतापर विश्वास हो।

आदिम निवासियोंमें कुछ तो व्रात्य होते हैं जो एक स्थानसे दूसरे स्थानपर घूमते रहते हैं। इनके सम्बन्धमें तो यह कहना कठिन हो सकता है कि इनका किसी भूखण्डपर कोई निश्चित स्वत्व है पर जो लोग बसे हुए हैं और खेती-बारी करते हैं उनके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता। उनका भूमिसे कुछ तो स्थायी सम्बन्ध है ही। इस सम्बन्धका एक मुकदमा अमेरिकाके सुप्रीम कोर्टमें गया था। किसी समय यहाँकी बसनेवाली जातियोंने कुछ भूमि किन्हीं व्यक्तियोंको दे दी थी। सरकार उस हस्तान्तरणको अवैध मानती थी। अदालतने यह निर्णय किया कि आदिम निवासियोंको उतने ही स्वत्व हैं जितने कि दखीलकारोंको होते हैं। उस प्रदेशपर उनका शासन नहीं माना जा सकता अतः उनके दान और पट्टे सब अवैध हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघटनने राष्ट्रसंघके दिये शासनादेशोंको मान लिया है, परन्तु इस व्यवस्थाकी बड़ी छीछालेदर है। अफ्रीकाके कुछ भागका शासनादेश दक्षिण अफ्रीकाको दिया गया था। अतः उसका कर्तव्य है कि वहाँके निवासियोंको स्वशासनके योग्य बनाये और अपने कामकी रिपोर्ट अभिभावक समितिको भेजता रहे। उसने ऐसा करनेसे इनकार कर दिया है। उसका कहना है कि शासनादेश लुप्त हो गया, अब यह भूखण्ड हमारे राज्यमें मिल गया है। यदि बल-प्रयोग न किया जाय तो दक्षिण अफ्रीकाका हठ निभ जायगा और राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रोंका निश्चय रद्दी काग़ज़ मात्र रह जायगा।

प्राकृतिक वृद्धि

यह कोई महत्त्वका विषय नहीं है क्योंकि इस प्रकार राज्यवृद्धि बहुत कम होती है और यदि कभी होती है तो उसके विषयमें प्रायः मतभेद और विवाद भी नहीं होता। प्राकृतिक वृद्धि समुद्र या नदी-तटपर ही सम्भव है। कभी-कभी पानी हट जाता है और इस प्रकार कुछ नयी भूमि बढ़ जाती है। यह उसी राजकी सम्पत्ति होती है जिससे मिली होती है। यदि पानीमें कुछ नये द्वीप बन जायँ तो वह भी उसी राजकी सम्पत्ति माने जाते हैं जिसके राज्यके निकट होते हैं। यदि दो राजोंके बीचमें पानी पड़ता हो और ठीक बीच धारमें ही नयी भूमि निकल आये तो वह बीच

धारकी उस कल्पित रेखा द्वारा, जो दोनों राजोंकी सीमा मानी जाती है, दो भागोंमें बाँट दी जाती है। पर यदि दो राजोंके बीचमें कोई नदी या झील हो और वह किसी दैवी दुर्घटनाके कारण यकायक अपना मार्ग ही छोड़ दे या विलुप्त हो जाय तो दोनों राजोंके राज्योंमें कुछ भी वृद्धि ह्रास न होगा प्रत्युत उनकी सीमा पुरानी अदृश्य धाराको कल्पित मध्य-रेखा ही मानी जायगी और इसीके अनुसार पानीके हट जानेसे जो नयी भूमि निकल आयेगी वह आपसमें बाँट ली जायगी। प्रायः इसी प्रकारके नियम सभी देशोंमें खेतों और उन जमीनदारियोंके लिए प्रचलित हैं जो नदीके किनारे होती हैं।

हस्तान्तर

एक सभ्य राजसे दूसरे सभ्य राजके हाथमें बहुधा हस्तान्तरित होकर ही भूखण्ड जाया करते हैं। इसका अर्थ तो यह है कि भूखण्ड अपनी इच्छासे दिया जाय पर कभी-कभी ऐसा होता है कि भूखण्ड लिया तो जाता है बलात् ही पर दिखलानेको, ताकि देनेवालेकी अप्रतिष्ठा न हो, हस्तान्तरका स्वरूप दिया जाता है। हस्तान्तर सन्धि द्वारा होता है। सन्धिपत्रमें यह लिखा जाता है कि नये अधिकारीको पुराने अधिकारीके ऋणका कौनसा भाग अपने ऊपर लेना होगा, हस्तान्तरित प्रदेशकी प्रजाके किन-किन स्वत्वोंकी विशेष रक्षा की जायगी, इत्यादि। हस्तान्तर कई प्रकारोंसे होता है। उनमें विक्रय, भेंट और विनिमय मुख्य हैं।

आजकल विक्रय कम होता है क्योंकि राजोंके पास ऐसी परती भूमि ही नहीं है जिसे अनावश्यक समझकर बेच डाला जाय; पर कभी-कभी अब भी विक्रय होता है। १८६७ में संयुक्त राजने रूससे उत्तरी अमेरिकाके वायव्य कोणका अलास्का प्रान्त ७२,००,००० डालर (अर्थात् लगभग ३६०,००,०००) रुपयेमें मोल ले लिया। भेंट आपसके सौहार्दकी द्योतक है। इस प्रकार की भेंट स्यात् ही कभी होती है। पहिले होती थी। १७६२में फ्रांसने स्पेनको लूइज़ीआनाका उपनिवेश भेंट कर दिया था। बम्बईका द्वीप ब्रिटिश नरेश प्रथम चार्ल्सको पुर्तगालसे अपने विवाहके उपलक्ष्यमें मिला था। जबरदस्तीकी भेंट अब भी होती है। यदि दो राज्योंमें युद्ध होकर एक हार जाता है और उसे कुछ भूखण्ड विजेताको देना पड़ता है तो इसे भी भेंट कहते हैं। १८७१ में फ्रांसको जर्मनीने हराया। परिणाम यह हुआ कि फ्रांसने अल्सास और लारेन दो प्रान्त जर्मनीको भेंट किये। यह भेंट फ्रांसको कभी न भूली। उसीका प्रतिकार उसने जर्मनीसे प्रथम महायुद्धमें लिया। कभी-कभी भेंट और विक्रयको मिलाकर हस्तान्तर होता है। १८९८ में संयुक्तराजने स्पेनको हराया और उसे फिलिपीन द्वीपसमूह भेंट करनेपर विवश किया पर स्वतः द्वीपके लिए २,००,००,००० डालर (१० करोड़ रुपये) देना स्वीकार किया। इसे जबरदस्तीका विक्रय कह सकते हैं। कभी-कभी आपसमें विनिमय भी होता है। १८९० में जर्मनीने ब्रिटेनको अपने पूर्वीय अफ्रीकाके राज्यका एक भाग दे दिया जिसके स्थानमें ब्रिटेनने जर्मनीको हेलिगोलैण्ड दिया।

पुराने समयमें भूमि हस्तान्तरणके अवसरपर तत्रस्थ प्रजाकी राय नहीं ली जाती थी, परन्तु अब यही अच्छा समझा जाता है कि मतगणना[१] कर ली जाय। यदि जनताका बहुमत नये राजके अधीन जानेको तैयार न हो तो हस्तान्तरण न हो। कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि लोग इस पक्षके होंगे ही। प्रथम महासमरके बाद जब आस्ट्रिया, जर्मनी और रूससे काटकर पोलैण्ड, यूगोस्लाविया और जेकोस्लोवाकिया बनाये गये तो यह मान लिया गया कि राष्ट्रीय भावनासे प्रेरित होकर पोल, यूगोस्लाव और जेक इन नये राजोंमें निश्चय ही जाना चाहेंगे। १८६० में ब्रिटेनने

१ Plebiscite.

आइओनियन द्वीप-समूहको यूनानको दे देना स्वीकार कर लिया पर शर्त यह लगायी कि जनमत इसके पक्षमें हो। भारत और फ्रांसके बीच भी यही समझौता हुआ कि यदि जनमत इस पक्षमें हो तो पाण्डिचेरी, माही और कराकल भारतमें मिला लिये जायँ। गणना हो गयी और १ नवम्बर १९५४ को यह भारतमें मिल गये।

विजय

जब किसी राजके राज्यके किसी भागमें किसी दूसरे राजकी सेना उसकी सेनाओंको हराकर अपना अधिकार जमा लेती है तो वह राज जिसकी सेना जीत गयी होती है उस प्रदेशका विजेता कहलाता है अर्थात् यह कहा जाता है कि उस प्रदेशमें उसकी विजय हुई है। पर यह सैनिक विजय-मात्र है, इससे वह विजेता उस प्रदेशका स्वामी नहीं हो जाता। गत युद्धमें तीन चार वर्षतक बैल-जियम, फ्रांस, नारवे, हालैण्ड आदिका सारा भूखण्ड जर्मन सेनाओंके अधीन था पर जर्मनी उन भूखण्डोंका स्वामी नहीं हुआ। ऐसे प्रान्तोंमें विजेताकी सेना तो रहती है पर शासन पुरानी सरकारके कर्मचारी ही करते हैं। उसीके बनाये कानून बरते जाते हैं, उसीके न्यायालय होते हैं, उसीका सिक्का चलता है। यह अवश्य होता है कि विजेता सरकारी कोषका स्वयं उपयोग कर लेता है और सैनिक सुविधाके लिए कुछ नियमोपनियम बना देता है पर वह आभ्यन्तर शासनमें हस्तक्षेप नहीं करता। यदि वह जबरदस्ती कुछ हस्तक्षेप कर दे, कुछ निरपराधियोंको दण्ड दे दे, अपराधियोंको छोड़ दे, किसीकी सम्पत्ति कुर्क कर ले, तो जब युद्धकी समाप्ति पर यह प्रान्त फिर पुराने स्वामीके अधीन जायगा तो वह बातें वैध न मानी जायँगी और उलट दी जायँगी।

यदि विजेता उस भूखण्डको अपने राज्यमें मिलाना चाहे तो उसे चाहिये कि इस बातकी स्पष्ट घोषणा कर दे और अन्य राजोंको इसकी सूचना दे दे। फिर उसको अपनी ओरसे शासक नियुक्त करना होगा, अपने बनाये कानून चलाने होंगे, अपने न्यायालय नियुक्त करने होंगे जो एक सभ्य सरकार करती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि विजेता न तो घोषणा करता है न सूचना देता है पर शासन करने लग जाता है। कुछ दिनोंतक ऐसा करते जाना सूचना देनेके बराबर ही है। कानूनकी दृष्टिमें इसीका नाम विजय है। इस प्रकार विजयके द्वारा किसी भूखण्डको अपने राज्यमें मिला लेना वैध माना जाता है। ऐसी अवस्थामें विजेता जो कानून बनाये, जो और सरकारी काम करे, सब वैध हैं। यह निश्चय है कि कोई राज तभी अपना शासन बैठाता है जब उसे इस बातका दृढ़ निश्चय हो जाता है कि युद्धमें मेरी ऐसी पक्की जीत होगी कि फिर यह प्रान्त मेरे हाथसे न निकलेगा। जहाँ ऐसा निश्चय नहीं होता या सचमुच राज्यवृद्धिकी इच्छा नहीं होती वहाँ युद्धके अन्ततक सैनिक अधिकारमात्र रखा जाता है।

विजय और हस्तान्तरमें एक बड़ा भेद है। हस्तान्तर चाहे बलात् ही कराया जाय पर वह लिख-पढ़कर होता है। सन्धिपत्रपर दोनों ओरके हस्ताक्षर होते हैं, कुछ शर्तें होती हैं। यदि बलका प्रयोग या धमकी हुई भी तो वह छिपी रहती हैं। विजय शुद्ध शक्तिकी मूर्ति है। विजेता अपनी इच्छामात्रसे उस प्रान्तका स्वामी हो जाता है। यदि शत्रुका सारा राज्य ही मिला लिया जाय तो कोई सन्धि करनेवाला रह ही नहीं जाता, पर यदि एक टुकड़ा ही इस प्रकार मिलाया जाता है—और प्रायः यही होता है—तो युद्धके अन्तमें जो सन्धिपत्र लिखा जाता है उसमें बहुधा उस प्रदेशका नाम ही नहीं लिखा जाता। लज्जा छिपानेके लिए विजित राज उस विषयमें चुप रह जाना ही पसन्द करता है।

कुछ लोगोंका मत है कि विजय द्वारा राज्य-वृद्धि करना अनैतिक है। छोटे राज बहुधा

ऐसा कहते हैं पर अभीतक अन्ताराष्ट्रिय विधान विजयको वैध मानता आया है। प्रबल राज बराबर इस प्रकार अपना राज्य बढ़ाते आये हैं। हाँ, यह अवश्य हुआ है कि कभी-कभी बड़े राजोंने छोटे राजोंको विजय द्वारा राज्य-वृद्धि करनेसे रोक दिया है। १९३६ में इटलीने अबिसीनियाको हराकर सारे देशपर अपना कब्जा घोषित कर दिया और इटलीके नरेशने अबिसीनियन सम्राट्की नयी उपाधि धारण कर ली। जर्मनी और जापानने इस विजय और नयी उपाधिको तत्काल स्वीकार कर लिया परन्तु ब्रिटेनने ऐसा नहीं किया। अन्तमें १९३९ में उसने भी स्वीकृति दे दी। ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डलका ख्याल था कि ऐसा करनेसे इटली मित्र बन जायगा, किन्तु यह आशा पूरी नहीं हुई।

कुछ विधान शास्त्री विजयको वैधानिक चोला पहिनाना चाहते हैं। उनका यह कहना है कि जहाँ आंशिक विजय हो वहाँ यह मानना चाहिये कि पुराने राजने उस भूखण्डपरसे अपना अधिकार किसी कारणसे हटा लिया। किसी और सभ्य राजका वहाँ स्वत्व था नहीं, अतः विजेता, जिसके कब्जेमें उस समय वह भूमि थी, उसका अधिकारी हो गया। १९१२ के तुर्क-इटालियन युद्धमें तो ऐसा स्पष्ट रूपसे हुआ। तुर्की हारा। उसने अफ्रीकाके लीबिया और सिरेनाइका प्रदेशोंसे अपना शासन स्वयं हटा लिया। इटलीने इनपर कब्जा कर लिया। निश्चय ही यह बात दोनों राजोंमें गुप्त रूपसे तय हो गयी थी परन्तु बाह्य रूप यही रहा। पूर्ण विजयके सम्बन्धमें भी यह कहा जाता है कि जब वहाँ कोई सरकार रही ही नहीं और पुरानी राजसत्ता नष्ट हो गयी तो यह मानना चाहिये कि वह भूखण्ड लावारिस है। जो वहाँ पहिले पहुँचा उसका वहाँ अधिकार हुआ।

उपभोग

अन्ताराष्ट्रिय विधानमें भी उपभोग या दखलका वही स्थान है जो साधारण विधानमें है। यदि कोई मकान या जमीन किसी मनुष्यके पास बहुत दिनोंसे चली आती हो तो वह उसकी ही हो जाती है, चाहे उसका उसपर कोई स्वत्व हो चाहे न हो। यदि किसीका घर गिर जाय और बहुत दिनोंतक लोग उसमेंसे आते-जाते रहें तो वह सड़ककी गिनतीमें आ जाता है। इसी प्रकार यदि कोई भूखण्ड बहुत दिनोंतक किसी राजके दखलमें रहे तो चाहे उसका उसपर कोई न्याय्य स्वत्व हो या न हो पर वह उसकी ही सम्पत्ति हो जाता है। एक अन्तर है। साधारण विधानमें कुछ नियम होता है कि इतने वर्षोंके दखलके बाद स्वाम्य मिल जाता है पर राजोंपर कोई अधिष्ठाता न होनेसे इस प्रकारका अबतक कोई नियम नहीं रहा है। बस इतना ही देखा जाता है कि बहुत दिनोंसे दखल चला आता है।

जो प्रदेश उपर्युक्त किसी भी प्रकारसे किसी राजके राज्यका अंश बन जाता है उसपर तो वह राज अपने पूर्ण प्रभुत्वसे काम लेता है पर आजकल बड़े राजोंके अधीन कई ऐसे भी भूखण्ड हैं जो उनके राज्यके अंश नहीं हैं। उनके सम्बन्धमें यह विचारणीय होता है कि उन राजोंका उनपर कहाँतक स्वाम्य है और क्या-क्या अधिकार हैं। पुरानी राजनीति स्वाम्य और प्रभुत्वके विच्छेदसे परिचित न थी। जो राज जिस भूखण्डका प्रभु था वही उस भूखण्डका स्वामी था। ऐसा अवश्य होता था कि एक बड़े राजके अधीन कई छोटे राज होते थे। इसका तात्पर्य केवल इतना था कि इन छोटे राजोंने अपने प्रभुत्वका कुछ अंश बड़े राजको सौंप दिया था। पर राज्यपर वह स्वयं प्रभु थे, और स्वयं स्वामी थे। बड़ा राज अपनेको स्वामी नहीं समझता था। आजकल स्वाम्य और प्रभुत्वमें अन्योन्याश्रय नहीं रहा। कहीं तो राज किसी भूखण्डका स्वामी और प्रभु दोनों है, कहीं प्रभु है पर स्वामी नहीं है, कहीं स्वामी है पर प्रभु नहीं है। यह विचित्र अवस्था चार पाँच प्रकारके उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जायगी।

सबसे पहिले संरक्षणको लीजिये। आजकल संरक्षण तीन प्रकारका होता है। पहिला संरक्षण तो वह है जो एक सभ्य और प्रभु राज दूसरे सभ्य और प्रभु राजके ऊपर करता है। इस व्यापारके दोनों पक्ष अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र होते हैं पर इनमेंसे एक किसी कारण अपने प्रभुत्वका अंश दूसरेको सौंप देता है, इसीलिए यह दूसरा संरक्षक कहलाता है। १९१४ से चार सालतक ब्रिटेन और मिस्रका इसी प्रकारका सम्बन्ध था।

संरक्षण और संरक्षित प्रदेश

दूसरा संरक्षण वहाँ होता है जहाँ संरक्षक तो पूर्ण प्रभु होता है पर संरक्षित राज सभ्य होते हुए भी अन्तराष्ट्रिय विधानका पात्र नहीं होता। १८९० में ब्रिटेनने इसी प्रकारका संरक्षण जंजीबार-पर स्थापित किया।

उपर्युक्त दोनों प्रकारोंमें यह स्पष्ट है कि भूमिपर स्वाम्य संरक्षित राजका ही रहता है। यदि वह बलवान् हो गया तो धीरे-धीरे स्वतंत्र भी हो जाता है जैसा मिस्र अब है। १८९६ में हब्शाका अर्धसभ्य राज इटलीके संरक्षरणसे निकल गया; पर यदि संरक्षित राज बहुत दुर्बल हुआ तो वह धीरे-धीरे संरक्षकमें ही मिल जाता है और संरक्षकको आंशिक प्रभुत्वके साथ पूर्ण प्रभुत्व और पूर्ण स्वाम्य भी प्राप्त हो जाता है।

भारतके देशी राज भी ब्रिटिश संरक्षणमें थे। एक समय था जब कि इनमेंसे कई अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र थे। उस समय यदि इनपर ब्रिटिश संरक्षण था भी तो मिस्र आदिके ढंगका पर पीछेसे पात्रत्व जाता रहा। यह नितान्त दुर्बल हो गये। ब्रिटिश सरकारने कह दिया कि यह अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र नहीं हैं और इन्होंने एक बार उफ भी न किया। १९४७ में जब अंग्रेजोंने भारत छोड़ा तो विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हुई। अधिकांश नरेशोंने तो इस बातको मान लिया कि उनका नये भारत सरकारके साथ वही सम्बन्ध है जो ब्रिटिश सरकारके साथ था। पर कुछने यह रुख लिया कि अब हम पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। इसमें त्रावणकोर, हैदराबाद और कश्मीर प्रमुख थे। भारत सरकारने इस दावेको स्वीकार नहीं किया। त्रावणकोर तो बहुत जल्द मान गया, हैदराबादमें सेना भेजनी पड़ी। कश्मीरकी समस्याने नया ही रूप ले रखा है। उसकी भौगोलिक स्थितिने उसको विशेष महत्त्व दे दिया। परिणाम यह हुआ है कि उसको सब राजोंसे पृथक् और ऊँची हैसियत मिल गयी है। यह बातें सबको विदित हैं अतः विस्तारसे लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

तीसरे प्रकारका संरक्षण वह है जिसे औपनिवेशिक संरक्षण कहते हैं। जैसा कि हम पहिले खण्डमें ही दिखला चुके हैं कई राजोंने अफ्रीकामें इस प्रकारके संरक्षण स्थापित किये हैं। एक बड़ा प्रदेश अपना लिया जाता है। यह कह दिया जाता है कि यह हमारे संरक्षणमें है। वहाँ कोई सभ्य या अर्द्ध-सभ्य राज तो होता नहीं जिसका संरक्षण किया जाय; प्रदेशके प्रदेशका ही संरक्षण किया जाता है। इच्छा तो वहाँ उपनिवेश स्थापित करनेकी होती है पर सुविधा या सामग्री न होनेसे आरम्भमें ऐसा नहीं किया जाता। बस इस संरक्षणका इतना ही अर्थ है कि अब इस प्रदेशमें कोई और पाँव न रखे।

ऐसे प्रदेशोंके सम्बन्धमें कई प्रश्न उठते हैं। नाम है संरक्षण अतः कोई संरक्षित भी होना चाहिये। यदि वहाँ रहनेवाले आदिम निवासियोंको संरक्षित मानें तो फिर प्रदेशका स्वामी कौन हुआ। और जगहोंमें तो संरक्षित ही स्वामी होता है। यदि संरक्षकसे किसी अन्य राजसे युद्ध हो तो वह राज इस प्रदेशपर आक्रमण करेगा या नहीं? यदि यह संरक्षककी सम्पत्ति नहीं है, तो आक्रमण न होना चाहिये? यहाँके निवासी किसकी प्रजा हैं, संरक्षकको या अपने सरदारोंकी? इन प्रश्नोंका उत्तर किसी सिद्धान्तपर नहीं दिया जा सकता, पर यूरोपियन राजोंके व्यवहारको

देखकर यह कह सकते हैं कि ऐसी अवस्थामें संरक्षक सभी बातोंमें स्वामी-सा ही आचरण करता है और अन्य राज भी उसके साथ उस प्रदेशके स्वामी-सा ही व्यवहार करते हैं। औपनिवेशिक संरक्षण एक निरर्थक नाम मात्र है। वह उपनिवेशका पूर्वरूप है और अपनेको पूर्ण स्वामी कहनेका रूपान्तरमात्र है। जैसा कि हॉलने कहा है, औपनिवेशिक संरक्षण और पूर्णप्रभुत्वमें वही सम्बन्ध है जो तिलक (या मँगनी) और विवाहमें है।

प्राचीन कालमें प्रभाव-क्षेत्रोंका भी पता न था। इनकी उत्पत्ति भी अफ्रीकामें हुई है। आपसमें समझौता करके बड़े-बड़े यूरोपियन राजोंने इस महाद्वीपको अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रोंमें बाँट लिया। यह बात बिना समझौतेके हो भी नहीं सकती थी। अब भी जिन राजोंने समझौतेमें भाग नहीं लिया है वह उसे माननेके लिए बाध्य नहीं हैं। प्रभाव-क्षेत्रका अर्थ यह है कि इतनी दूरतक कोई हमारे कामोंमें बाधा न डाले। हमारे जीमें आयेगा यहाँ औपनिवेशिक संरक्षण स्थापित करेंगे, जीमें आयेगा उपनिवेश स्थापित करेंगे, जीमें आयेगा कुछ न करेंगे।

प्रभावक्षेत्र

पिछले पचास साठ वर्षोंमें एक नया प्रश्न महत्त्वशाली हो गया है। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव प्रदेश बर्फसे ढँके भूखण्ड हैं जिनकी ओर किसीका विशेष ध्यान नहीं था। परन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ कई प्रकारके खनिज मिल सकते हैं। फिर वायुयानोंके सम्बन्धमें जो उन्नति हुई है उससे इनकी महत्ता और बढ़ गयी है। स्थल या जलमार्गसे जानेकी अपेक्षा वायुमें समय कम लगता है। पृथिवीकी गोलाईके कारण जो देश नीचे बहुत दूर हैं वह उत्तरी ध्रुव प्रदेशमें बहुत निकट हैं। रूस, अमेरिका, कनाडा, नार्वे और डेन्मार्क सभी एकएक टुकड़ेके दावेदार हैं। सब अपने टुकड़ोंको अपने राजसे आरम्भ करके ध्रुवविन्दु तक ले जाना चाहते हैं। दावेका आधार यह है कि यह भूभाग हमारे निकट है। भूखण्डपर स्वत्वके इस आधारको सान्निध्य सिद्धान्त[१] कहते हैं।

सान्निध्य

दक्षिणी ध्रुव प्रदेश किसी भी राजके बहुत पास नहीं पड़ता फिर भी किसी न किसी बहाने ब्रिटेन, न्यूजीलैण्ड, ऑस्ट्रेलिया, चिली, आर्जेण्टिना और अमेरिका खण्डोंके हकदार हैं। नार्वे और फ्रांस भी पीछे नहीं हैं।

निजी सम्पत्तिकी भाँति राज्यको बाँटने और दान देनेकी प्रथा तो बहुत दिनोंसे चली आती है पर राज्य या उसके कुछ अंशको दूसरे राजके यहाँ भोगबन्धक रख देना या उसका दायमी पट्टा लिख देना अब प्रचलित हुआ है। जब सबल राज दुर्बल राजोंके राज्यका कुछ अंश दबाना चाहते हैं तो संसारको दिखलानेके लिए यह चाल चली जाती है। उसका दीर्घकालीन पट्टा लिखवा लिया जाता है। कहा यह जाता है कि यह भूमि अब भी अपने पुराने स्वामीकी है और वही इसका प्रभु है पर जितने दिनों तककी शर्त है उतने दिनोंतक पट्टा लिखानेवाला इससे काम लेगा। सबसे अधिक चीनपर हाथ साफ किया गया था। १८९८ में जर्मनीने किआउचाउका ९९ वर्षका पट्टा लिखाया, फिर तो फ्रांस, रूस, ब्रिटेन सभी पट्टे लेकर दौड़े। पूर्वीय समुद्र-तटके कई अच्छे-अच्छे बन्दर इन पट्टोंमें निकल गये। २५ वर्षसे कमका कोई पट्टा न था।

दायमी पट्टा

कहनेके लिए तो केवल कुछ नियत वर्षोंके लिए पट्टा लिखा गया था, वस्तुतः चीन ही स्वामी और प्रभु था पर यह केवल कहनेकी बात थी। जब रूस और जापानमें युद्ध आरम्भ हुआ तो

१ Principle of Contiguity.

जापानने रूसके पट्टेवाली भूमिके साथ वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि रूसी राज्यके साथ हो सकता था। यह किसीने चीनसे पूछना आवश्यक न समझा कि यह भूमि आपकी है, इसपर आपका पूर्ण प्रभुत्व है अतः यदि आप अनुज्ञा दें तो हम इसपर अपनी सेना रखें और युद्ध करें। युद्धके पीछे रूसने अपना पट्टा जापानके हाथ हस्तान्तरित कर दिया, चीनसे यह न पूछा गया कि वह जापानको पट्टा देना चाहता है या नहीं। प्रथम महायुद्धके समय जापानने किआउचाउ पर जिसका पट्टा जर्मनीके नाम था, कब्जा कर लिया। सच्ची बात यह थी कि पट्टा तो एक बहाना था, चीन बेचारेसे उन भूखण्डोंका स्वाम्य और प्रभुत्व छीन लिया गया था।

ऊपर जिस प्रकारके पट्टेका उल्लेख किया गया है वह ऐसा है जो समझमें आता है, पर कभी-कभी अन्ताराष्ट्रिय जगत्में ऐसी विलक्षण बातें हो जाती हैं जिनका कुछ ठीक अर्थ ही नहीं होता। १८९४ में ब्रिटेनने अपने पूर्वी अफ्रीकाके प्रभाव-क्षेत्रके कुछ भागका पट्टा बेलजियमके नाम लिख दिया। फ्रांसको यह बात न भायी। उसने बेलजियम-नरेशको किसी प्रकार राजी करके उन्हें इस बातपर सम्मत किया कि वह इस पट्टेवाली भूमिके अधिक भागपर अपना कब्जा न करें। इसके कुछ काल बाद उस प्रान्तमें मेहदीने विद्रोह किया। विद्रोहके शान्त होनेपर बेलजियमने फिर उस पुराने पट्टेके अनुसार उस भूमिपर अधिकार जमाना चाहा परन्तु ब्रिटेनने कहा कि तुमने फ्रांससे समझौता किया था उससे पट्टा रद्द हो गया। इसपर दोनों ओरसे सात वर्ष तक गरमागरम विवाद होता रहा, अन्तमें ब्रिटेनकी बात रही।

विवादका तो अन्त हो गया। सम्भवतः इसका एक कारण यह भी था कि ब्रिटेन बड़ा राज है, बेलजियमने चुप रहना ही उचित समझा। पर यहाँ कई महत्त्वके प्रश्न उठ सकते हैं। प्रभाव-क्षेत्रपर स्वाम्य नहीं होता, फिर ब्रिटेनने उसका पट्टा बेलजियमको कैसे दे दिया? क्या ऐसी वस्तुका भी पट्टा लिखा जा सकता है जो अपनी है ही नहीं? इस प्रदेशमें जो विद्रोह हुआ था उसका दमन करना किसका कर्त्तव्य था, ब्रिटेनका या बेलजियमका? इन प्रश्नोंका कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दिया गया है। पर इस घटनासे एक लाभ यह हुआ कि अब स्यात् कोई राज ऐसी भूल न करेगा जैसी ब्रिटेन और बेलजियमने की। पिछले महायुद्धमें ब्रिटेनको अमेरिकासे बहुत दबना पड़ा। उसको रुपये तथा सैनिक सामग्रीकी बहुत आवश्यकता थी। अमेरिका सहायता करनेको तैयार था पर वह यह भी नहीं चाहता था कि यह सहायता मुफ्त दी जाय। फलतः उसने ब्रिटेनसे कई ऐसी जगहोंके पट्टे लिखवा लिये हैं जो उसकी समझमें सामरिक महत्त्व रखते हैं।

शासनादेश

प्रथम महायुद्धके बाद शासनादेशोंकी उत्पत्ति हुई। कई विस्तृत भूखण्डोंको राष्ट्रसंघने अपने अधिकारमें लेकर उनके शासनके निरीक्षणका भार भिन्न-भिन्न राजोंको दिया। इन राजोंको यह आदेश दिया गया कि इन देशोंके निवासियोंको स्वायत्त-शासनके योग्य बनाओ जिससे कि शीघ्र ही यह स्वतन्त्र कर दिये जायँ।

शासनादिष्ट देश दो प्रकारके थे। प्रथम कोटिमें इराक ऐसे देश थे जिनकी जनता सभ्य है। वहाँके लोग विदेशी निरीक्षण स्वतः नापसन्द करते हैं अतः वहाँ किसी न किसी प्रकारका स्वराज स्थापित हो ही गया और निरीक्षकका अधिकार क्षीण होता ही गया। ऐसे देश बहुत शीघ्र स्वाधीन हो सकते हैं। इराकको ही लीजिये। नाम तो यह था कि ब्रिटेनको राष्ट्रसंघने उसका शासनादेश दिया था पर ब्रिटिश नीतिसे यह प्रकट होता था कि ब्रिटेन उसे अपना ही करना चाहता है। अरबोंने उसे ऐसा करने न दिया। अब इराककी गणना पूर्ण स्वतन्त्र देशों में है।

हम पहिले देख चुके हैं कि यूरोपियन राज बहुधा व्यापारियोंको इस बातका अधिकार दे देते हैं कि वह जाकर नये देशोंमें व्यापार करें और अपनी रक्षाके लिए स्वतः समुचित प्रबन्ध कर लें। धीरे-धीरे इस प्रकारकी कई व्यापारिक मण्डलियोंके हाथमें बड़े-बड़े राज्य आ जाते हैं। भारत, ईस्ट इण्डिया कम्पनी नामक व्यापारिक-मण्डलीके द्वारा ही ब्रिटिश सरकारके हाथमें गया। जबतक व्यापारिमण्डल शासन करता है तबतक उस भूमिका स्वामी वही है पर यह प्रबन्ध बहुत दिनोंतक नहीं चलता। किसी न किसी कारण उस राजको स्वयं शासनकी डोर अपने हाथमें लेनी पड़ती है। १८५७ में ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी मूर्खतासे ही भारतमें तथोक्त सिपाही-विद्रोह हुआ और ब्रिटिश सरकारने कम्पनीको हटाकर स्वयं शासन सँभाला। ब्रिटिश साउथ अफ्रीकन कम्पनीने ही ट्रांसवालसे छेड़छाड़ करके बोअर युद्धकी नींव डाली जिसमें ब्रिटिश सरकारको भाग लेना पड़ा। अतः जिस जिम्मेदारीसे बचनेके लिए कम्पनियोंको इस प्रकारके अधिकार दिये जाते हैं वह जिम्मेदारी घूम फिरकर आ ही जाती है। कोई व्यापारि-मण्डल अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र नहीं हो सकता इसलिए परराज उस राजको ही दायी ठहराते हैं जिसकी ओरसे कम्पनीको अधिकार मिला होता है।

व्यापारियोंके अधीन देशों पर अधिकार

कभी-कभी एक ही भूखण्डके दो-दो (सम्भवतः और अधिक) स्वामी हो जाते हैं। जब कभी एक ही भूमिके दो या अधिक हकदार होते हैं जो न तो आपसमें यह निश्चय कर पाते हैं कि सचमुच किसका हक है, न बटवारा करना चाहते हैं और न लड़ना ही चाहते हैं तो वह उस राजके सम्मिलित स्वामी (और प्रभु) के रूपसे काम करते हैं। मिस्रके दक्षिणमें जो सूदान प्रदेश है उसको किसी समय मिस्रके नरेशोंने विजय किया था, पीछेसे वहाँ मेहदी आदिने उपद्रव उठाया और वह अराजकतामें जा पड़ा। फिर ब्रिटिश और मिस्री सेनाने मिलकर उसे विजय किया। अब ब्रिटेन कहता था कि सूदान मेरा है, मिस्र कहता था मेरा है। जबतक इसका कुछ निर्णय नहीं होता तबतक वह इन दोनोंके सम्मिलित स्वाम्यमें माना गया। बादमें एक और परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। सूदान-निवासी यह कहने लगे कि हम न तो ब्रिटेनके अधीन और न मिस्रके वरन् अपना स्वतन्त्र राज बनाना चाहते हैं। इस आन्दोलनने बहुत जोर पकड़ा। अब यह बात मान ली गयी है कि सूदान अपना काम आप सँभालेगा। अभी हालमें वहाँ चुनाव हुआ है और नयी सरकार स्थापित हुई है।

सम्मिलित स्वाम्य[१]

भूमिपर स्वाम्यका एक और प्रकार है जो पट्टेवाली रीतिसे मिलता-जुलता है। १८७८ में तुर्कीने साइप्रसका द्वीप ब्रिटेनको ९९ वर्षके लिए दे दिया। सन्धिमें स्पष्ट शब्दोंमें लिख दिया गया कि ब्रिटेनको इस द्वीपपर शासन करनेका पूर्ण अधिकार होगा परन्तु यह माना जायगा तुर्की राज्यका टुकड़ा। यह भी निश्चय हुआ कि शासनका सारा व्यय चुका कर जो बचत होगी वह ब्रिटेन तुर्कीको प्रतिवर्ष देता जायगा। इस प्रकारके शर्तनामोंका वास्तविक अर्थ क्या है यह इसी बातसे प्रकट है कि उसी साल तुर्कीने बोस्निआ और अर्जेगोना नामक दो प्रान्त इन्हीं शर्तोंपर आस्ट्रियाको दिये थे पर १८९८ में आस्ट्रिया उन्हें अपना बैठा। तुर्की देखता ही रह गया। आजकल साइप्रसमें ब्रिटिश शासनके बाहर जानेका आन्दोलन चल रहा है।

भोगबन्धक

अन्तमें एक और प्रकारके अधिकारका उल्लेख करना है। इसे प्रतीक्षात्मक अधिकार कह

१ Condominium

सकते हैं। सन् १८८४ में फ्रांसने कांगो राजसे यह शर्तनामा लिखाया कि यदि आप कभी अपने राज्यका कुछ भाग निकालें तो पहिले हमसे कहें, हम उसे मोल लेंगे। १८९८ में चीनने प्रतिज्ञा की कि यांग्त्सीकियांग नदीके पासकी भूमि किसी शर्तपर ब्रिटेनके सिवाय अन्य किसीको न दी जायगी। जिन राजोंके हितमें यह शर्तनामे लिखे गये उनको तत्काल तो कुछ नहीं मिला पर उन्हें यह प्रतीक्षा करनेका हक मिल गया कि एक-न-एक दिन इस भूमिपर हमारा ही अधिकार होगा।

प्रतीक्षात्मक अधिकार[१]

जलपर अधिकार

इस प्रश्नपर विचार कर लेनेपर कि भूमिपर किस प्रकारका स्वत्व होता है और वह किस-किस प्रकार प्राप्त होता है हमें यह देखना है कि जलपर कहाँतक अधिकार होता है।

खुला समुद्र आजकल स्वतन्त्र समझा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि खुला समुद्र किसी राजकी सम्पत्ति नहीं हो सकता। जो राज चाहे अपने सैनिक और व्यापारी जहाज खुले समुद्रके चाहे जिस भागमें ले जाय, पर पहिले यह बात नहीं मानी जाती थी। वह राज जिनकी नौ-सेना प्रबल थी सैकड़ों कोस लम्बे-चौड़े जलखण्डोंको अपनी सम्पत्ति मानते थे। परराजोंके जो जहाज उनमेंसे होकर जाते थे उनसे कुछ कर लेनेका प्रयत्न किया जाता था और उन्हें उस राजके झण्डेको सलाम करना पड़ता था। ऐसा न करनेसे लड़ाइयाँ हो जाती थीं। वेनिस सारे भूमध्यसागरका स्वामी बनता था, हालैण्ड आइसलैण्डके पासतक ऋक्षसागर तथा उत्तरीय सागरका, पुर्तगाल भारतीय महासागरका और स्पेन प्रशान्त महासागरका। ब्रिटेन सबसे बढ़ा चढ़ा था। जैसा कि द्वितीय चार्ल्सके समयके एक उच्च अधिकारी (सर लीओलीन जेङ्किंस) ने कहा था "ईश्वरने अपने विधानके अनुसार अपने प्रतिनिधि श्रीमान् नरेशको इतनी विशाल भुजा दी है"[२] कि "सारी पृथ्वीमें जहाजोंकी रक्षाकी व्यवस्था कायम रखना और सार्वजनिक शान्तिकी रक्षा करना"[३] उनका स्वत्व और कर्तव्य था। ब्रिटिश अधिकारी यह तो मान लेते थे कि दूर-दूरके समुद्रोंके तटपर जो राज थे उनको भी अपने निकटके समुद्रोंपर कुछ अधिकार था पर वह यह नहीं मानते थे कि ब्रिटेनके पासके समुद्रमें किसी अन्यका कुछ अधिकार था।

खुला समुद्र

यह सब बातें आजकल नहीं मानी जातीं। समुद्रपर सबका अधिकार समान है; हाँ, युद्धकालमें योद्धा राजोंको अब भी कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हैं जिनका उल्लेख उचित स्थलमें होगा। प्राचीन कालमें इनसे एक लाभ भी होता था। उन दिनों समुद्रमें डकैती बहुत होती थी। जो राज जिस जलखण्डके स्वामी बनते थे उसमें पुलिसका काम करना उनका कर्तव्य था। जो कर वह परराजोंके जहाजोंसे लिया करते थे वह इसी काममें व्यय होता था। इससे यह होता था कि समुद्रके एक-एक भागकी रक्षाका भार एक-एक राजने ले लिया था। समुद्रमात्रमें तो कोई क्या प्रबन्ध करता पर जिन मार्गोंसे व्यापारी पोत प्रायः आया जाया करते थे उनकी रक्षा बहुत कुछ हो जाती थी।

ऊपर हम बराबर लिखते आये हैं कि खुला समुद्र किसीकी सम्पत्ति नहीं है पर समुद्रका

---

१ Expectant Power

२ "So long an arm hath God by the Laws given to His Viceregent the King" ३ "To preserve the public peace and to maintain the freedom and security of navigation all the world over"—Sir Leoline Jenkins

जो भाग तटसे मिला होता है वह उसी राजकी सम्पत्ति माना जाता है जिसके राज्यमें वह तट होता है। समुद्रके इस भागको तटलग्न समुद्र या तटलग्न जल[१] कहते हैं। इसमें शान्तिकालमें अन्य राजोंके जहाज़ आ जा सकते हैं परन्तु युद्धके समय तटवर्त्ती राजको यथेच्छ नियम बनानेका अधिकार रहता है।

तटलग्न समुद्र या जल

इस प्रश्नपर पहिले बहुत मतभेद था कि तटका क्षेत्र कितना हो। कोई-कोई ५० कोस तक इसकी सीमा रखना चाहते थे। बादको यह सिद्धान्त निकला कि तटवर्ती किलेसे जितनी दूरतककी रक्षा हो सके उतनेको तटलग्न जल मानना चाहिये। उन दिनों तोपका गोला डेढ़ कोसके आगे नहीं जाता था अतः तटवर्ती किला डेढ़ कोसके आगे रक्षा नहीं कर सकता था। इसलिए यह निश्चय हुआ कि तटसे डेढ़ कोस तकका जल तटलग्न अर्थात् तटवर्ती राजकी सम्पत्ति माना जायगा। पहिले-पहिले बिङ्करशोएक नामक विधानशास्त्रीने यह सम्मति दी थी। धीरे-धीरे सभी राजोंने इसे मान लिया। आजकल फिर इसके विषयमें कभी-कभी विवाद होता है क्योंकि अब तोपके गोले बहुत दूरतक जा सकते हैं। किसी-किसीकी सम्मति है कि अब तटलग्न समुद्रकी सीमा ढाई या तीन कोस कर दी जाय। सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो यह ठीक है पर अभीतक अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें डेढ़ कोसवाला नियम ही चलता है। सम्भव है, आगे चलकर कुछ परिवर्तन हो। १८९४ में अन्ताराष्ट्रिय विधान समिति[२] ने यह परामर्श दिया था कि अब सीमा दूनी अर्थात् ३ कोस कर दी जाय।

इस नियमके होते हुए भी स्वास्थ्य आदिकी दृष्टिसे तथा कर वसूल करनेके लिए कई राजोंने ऐसे नियम बनाये हैं जिनके अनुसार डेढ़ कोसके बाहर भी उन्होंने अपना अधिकारक्षेत्र दिखलाया है।

यदि कोई जहाज़ तटलग्न सीमाके भीतर या उसके बाहर निकलते-निकलते कोई अपराध करे तो उसका पीछा करके खुले समुद्रमें भी गिरफ्तार किया जा सकता है। इसको तीव्र अनुधावन[३] का नियम कहते हैं।

प्रत्येक राज तटलग्न जलपर ही अधिकार नहीं रखता वरन् जलके नीचेकी भूमि भी उसी-की मानी जाती है। यदि उस भूमिके गर्भमें कोई खनिज पदार्थ हो तो उसको निकालनेका अधिकार उसी राजको होता है। अमेरिकाके भूलग्न जलके नीचे मिट्टीका तेल है, इसलिए सबसे पहिले उसीने इस अधिकारका साग्रह उद्घोष किया।

खाड़ियों और उपसागरोंके लिए नियम तो यह है कि इनका तटलग्न या मुक्त होना इनकी चौड़ाईपर निर्भर है परन्तु कुछ खाड़ियाँ ऐसी हैं जो बहुत चौड़ी होनेपर भी तटलग्न ही मानी जाती हैं। इसका कारण केवल यह है कि इनके तटपर बलवान् राजोंके राज्य हैं। ईरानकी खाड़ीको ईरानके लिए तटलग्न ही मानना चाहिये पर बंगालकी खाड़ी इतनी चौड़ी है कि उसे भारत तटलग्न नहीं कह सकता।

खाड़ी और उपसागर

खाड़ी किसे कहना चाहिये इस विषयमें भी मतभेद है। भूगोलकी पुस्तकोंमें तो यह परि-भाषा दी रहती है कि खाड़ी जलके उस भागको कहते हैं जिसके तीन ओर भूमि हो। यह परि-भाषा ठीक है पर इससे अन्ताराष्ट्रिय विधानमें कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती। बंगालकी खाड़ी इस

१ Territorial, marginal, jurisdictional or littoral waters

२ Institute of International Law

३ Hot pursuit

परिभाषाके अनुसार तो खाड़ी है पर वह इतनी चौड़ी है कि उसके लिए वही नियम लगते हैं जो खुले समुद्रके लिए लगते हैं। किसीने यह कहा है, खाड़ीका लक्षण यह है कि उसके एक तटसे दूसरे तटतक गोला जा सकता हो अर्थात् वह डेढ़ कोस चौड़ी हो। कोई उसका तीन कोस चौड़ा होना मानता है। तात्पर्य यह है कि इस विषयमें मतभेद है।

झील और स्थलसे घिरा समुद्र

झीलों और चारों ओर स्थलसे घिरे हुए समुद्रोंके लिए जो नियम है वह बहुत ही सरल हैं। यदि वह झील या समुद्र एक राजके राज्यमें है तो वह उस राजकी सम्पत्ति है पर यदि उसके किनारे पर कई राज हों तो प्रत्येक राजका अपने तटलग्न जलपर अधिकार होगा। कभी कभी विशेष अवस्थामें इसके विपरीत भी होता है। कश्यपायन सागरके किनारे ईरान और रूसका राज्य है पर गुलिस्ताँ और तुर्क मनशाई (१८१३ और १८२८) की सन्धियों द्वारा ईरानने अपने अधिकार रूसको दे दिये। अब उसमें अकेले रूसके सैनिक जहाज रह सकते थे। १९२७ में ईरानने कह दिया कि अब हम इस शर्त्तको नहीं मानते।

यदि समुद्रका कोई भाग तीन ओर स्थलसे घिरा हो और एक ओर जलडमरूमध्य द्वारा खुले समुद्रसे मिला हो तो अवस्थानुसार उसकी व्यवस्था कई प्रकारकी होगी। यदि उसके तीनों तटों और डमरूमध्यके दोनों ओर किसी एक ही राजका राज्य है तो उसे बन्द समुद्र अर्थात् उस राजकी सम्पत्ति मान सकते हैं। यदि तटपर कई राज हैं तो उसपर सबका बराबर अधिकार है और जो राज डमरूमध्यके मुहानेपर हो उसे चाहिये कि किसीके साथ अनावश्यक रोक-टोक न करे। जहाँ डमरूमध्य बहुत चौड़ा हो वहाँ तो उस समुद्रको खुला समुद्र मानना चाहिये पर 'बहुत चौड़ा' के ठीक अर्थके विषयमें मतभेद है। कोई कहता है कि चौड़ाई तीन कोसकी होनी चाहिये, कोई कहता है कि वह इतनी होनी चाहिये कि उसके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक किले गोले न फेंक सकें।

जल-डमरूमध्य

साधारणतः डमरूमध्योंके लिए निम्नलिखित नियम व्यवहारमें आते हैं—(क) यदि वह डमरूमध्य किसी बन्द समुद्रमें निकलता है और उसके दोनों किनारे तथा वह समुद्र किसी एक राजकी सम्पत्ति है तो वह डमरूमध्य भी उस राजकी ही सम्पत्ति है परन्तु शान्तिकालमें परराजोंके व्यापारी जहाजोंको उसमें जाने देना चाहिये।

(ख) यदि वह डमरूमध्य खुले समुद्रमें निकलता है और उसके दोनों किनारे किसी एक राजकी सम्पत्ति हैं तो उस राजको यह अधिकार है कि अपनी रक्षाकी दृष्टिसे युद्धकालमें उसमेंसे पर-राजोंके सैनिक जहाजोंका आना-जाना बन्द कर दे।

(ग) यदि ऐसा डमरूमध्य जो तीन कोस या इससे अधिक चौड़ा है दो भिन्न राजोंके बीचमें पड़ता हो तो प्रत्येक राज अपने-अपने तटलग्न जलका स्वामी होगा। यदि चौड़ाई तीन कोससे कम हो तो मध्य धारकी रेखाके दोनों ओर दोनोंका तटलग्न जल माना जायगा।

(घ) जहाँ शान्तिकालमें परराजोंके जहाजोंको आने-जानेका अधिकार हो वहाँ उनसे किसी प्रकारका कर न लेना चाहिये। बहुधा तटवर्ती राजोंको ऐसे डमरूमध्योंमें प्रकाशालय स्थापित करना पड़ता है और प्रवेश करनेवाले जहाजोंकी सुविधाके लिए अन्य कई उपयोगी प्रबन्ध करने पड़ते हैं। इन आवश्यक कामोंका व्यय पूरा करनेके लिए कर लेना नहीं मना है।

यह तो सामान्य शर्तें हैं पर कुछ डमरूमध्योंके लिए विशेष शर्तें हैं। इनमें कई दृष्टियोंसे दरेदानियाल और बास्फरस विशेष महत्त्व रखते हैं। इन्हींके द्वारा कृष्णसागर भूमध्यसागरसे मिलता

दरेदानियाल और बास्फ़रस

है। इस्तम्बूल (कुस्तुन्तुनिया)[१] इन्हींके पास है। इस्तम्बूलके हाथमें कृष्णसागरकी कुञ्जी तो है ही, यूरोपसे एशिया आनेके द्वारपर भी उसका पहरा है। इसलिए यूरोपके राजोंका बहुत दिनोंसे इसपर दाँत था। पहिले तो कृष्णसागरके चारों ओर तुर्कोंका साम्राज्य था, इसलिए तुर्क उसे बन्द रखते थे, पीछेसे जब वहाँ रूसका भी कुछ राज्य आया तो उसमें रूसी सैनिक जहाज भी रहने लगे। तुर्कोंने अन्य राजोंके व्यापारी जहाजोंको तो दरेदानियालसे आने-जाने की अनुज्ञा दे दी पर लड़ाईके जहाजोंको नहीं। इस नियमको यूरोपियन राजोंने स्वीकार कर लिया। उधर रूसकी निरन्तर यही इच्छा रही है कि किसी तरह इस्तम्बूलपर कब्जा किया जाय, पर दूसरे यूरोपियन राज ऐसा नहीं होने देते थे क्योंकि वह जानते थे कि इससे रूसका बल बहुत बढ़ जायगा। प्रथम महायुद्धमें तुर्कोंने गीबेन और ब्रेस्लाउ नामक दो जर्मन जहाजोंको दरेदानियालके मार्गसे जाने और तुर्की तटलग्न जलमें मित्रराष्ट्रोंके जहाजोंपर आक्रमण करने दिया। उस समयतक वह प्रत्यक्ष रूपसे युद्धमें सम्मिलित नहीं हुआ था। इन बातोंसे मित्रराष्ट्र कुढ़े। कुछ गुप्त कागजोंसे, जो बादमें प्रकट हो गये, यह भी पता चलता है कि ब्रिटेन और फ्रांसने रूसको यह प्रलोभन दिया था कि यदि तुम हमारी सहायता करो तो हम तुम्हें कुस्तुन्तुनियापर कब्जा करनेसे न रोकेंगे। अस्तु, युद्धके समाप्त होनेपर तुर्कोंकी शक्ति तो नष्ट ही प्रतीत होती थी, विजेताओंने यह निश्चय किया कि कुस्तुन्तुनियापर कब्जा कर लिया जाय—यद्यपि वह नामको तुर्कोंकी राजधानी कहलाता था पर तुर्क सरकारके अधिकार नहींके बराबर थे—और दरेदानियाल-पर अन्ताराष्ट्रिय शासन रहे। इसका अर्थ यह होता कि यूरोपके दो चार प्रबल राज जो चाहते सो करते। पर कमालपाशाकी जीतोंने इन आशाओंपर पानी फेर दिया। अब कुस्तुन्तुनिया तो खाली करना ही पड़ा, दरेदानियालपरसे भी मित्रों (अर्थात् तुर्कीके अमित्रों) का शासन उठ गया। इस डमरूमध्यके सम्बन्धमें जो अन्तिम समझौता १९३६ में हुआ उसे माँत्रो समयपत्र[२] कहते हैं। उसके अनुसार तुर्कीको उस क्षेत्रमें पूरा अधिकार प्राप्त है और वह वहाँ किलेबन्दी भी कर सकता है। उस मार्गसे व्यापारी और सैनिक दोनों प्रकारके पोत आ जा सकते हैं, परन्तु शान्ति-कालमें भी यदि तुर्कीको युद्धकी आशंका हो तो वह विशेष प्रकारके प्रतिबन्ध लगा सकता है। युद्धकालमें तुर्की चाहे तो यह नियमन कर सकता है कि केवल वही सैनिक जहाज जायँ जो राष्ट्रसंघके सुरक्षा नियमोंके अनुसार काम करने जा रहे हों। यदि तुर्की स्वयं युद्धमें सम्मिलित हो तो वह अपनी रक्षाकी दृष्टिसे जो उचित समझे करे।

जलडमरूमध्य तो सागरोंको मिलाते हैं, कुछ ऐसे जलमार्ग भी हैं जो महासागरोंको मिलाते हैं। इनमें दो विशेष महत्त्व रखते हैं, स्वेज नहर और पनामा नहर। दोनों कृत्रिम हैं। स्वेज

महोदधियोजक नहर

पहिले एक संकीर्ण स्थलडमरूमध्य था जो एशिया और अफ्रिकाके महाद्वीपोंको जोड़ता था और भूमध्यसागर (तद्द्वारेण अटलांटिक महासागर) तथा भारत महासागरको पृथक् करता था। इसी प्रकार पनामा भी स्थलडमरूमध्य था जो उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकाको मिलाता तथा अटलाण्टिक और प्रशान्त महासागरोंको पृथक् करता था। अब यह दोनों डमरूमध्य काट दिये गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि एशिया और अफ्रिका तो पृथक् हो गये पर भूमध्यसागर और भारत महासागर मिल गये;

---

१ अब कुस्तुन्तुनियाका नाम इस्तम्बूल हो गया है।

२ Montreux Convention

एवं उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका पृथक् हो गये पर अटलाण्टिक और प्रशान्त महासागर मिल गये। इससे समुद्रयात्राको बड़ा लाभ पहुँचा है। भारतसे यूरोप जानेका समय आधेसे भी कम हो गया।

स्वेज़ नहरके लिए यह शर्तें सर्वसम्मतिसे स्वीकृत हुई हैं—(क) यह नहर सभी राजोंके सब प्रकारके जहाजोंके लिए खुली रहेगी, (ख) कोई राज इसके भीतर या इसके दोनों सिरोंके डेढ़ डेढ़ कोसके भीतर कोई युद्धात्मक काम न करेगा,(ग) नहरके दोनों सिरे सदा खुले रहेंगे अर्थात् कोई राज उन्हें किसी प्रकार बन्द करनेका प्रयत्न न करेगा, (घ) नहरके पास कोई किलाबन्दी न की जायगी, (ङ) बिना अत्यन्त आवश्यकताके किसी युद्धकारी राजके जहाज न तो नहरमें २४ घण्टेसे अधिक ठहरेंगे, न अपने खाद्यभण्डारकी पूर्ति करेंगे, न सैनिकोंको चढ़ायेंगे या उतारेंगे (विशेष आवश्यकताके अवसरोंके लिए विशेष नियम बने हुए हैं), (च) यदि नहरमें या उसके किसी बन्दरमें एक ही समय दो युद्धकारी राजोंके जहाज़ हों तो दोनों एक साथ न चलेंगे। एकको दूसरेके जानेके २४ घण्टे बाद जाना होगा, (छ) नहरमें लड़ाईके जहाज़ स्थायी रूपसे नहीं रखे जा सकते पर जो राज युद्ध न कर रहे हों वह स्वेज या पोर्ट सईदमें दो जहाज़ रख सकते हैं।

इस नहरका प्रबन्ध यों तो एक कम्पनीके हाथमें था जिसमें फ्रांस, ब्रिटेन और मिस्र तीनोंके हिस्से थे परन्तु ब्रिटेनने मिस्रके हिस्से मोल ले लिये और मिस्र उसके संरक्षणमें भी आ गया। इसलिए नहर एक प्रकारसे पूर्णतया अंग्रेजी प्रबन्धमें आ गयी। भारत और ब्रिटिश साम्राज्यके दूसरे पूर्वीय राज्यांशों तक पहुँचनेका सुगम मार्ग इधरसे ही है। अतः अंग्रेज इसे छोड़ना नहीं चाहते थे। जब १९३६ में ब्रिटिश मिस्री सन्धिके द्वारा मिस्रकी स्वाधीनता स्वीकार की गयी तब भी यह शर्त रक्खी गयी कि जबतक मिस्री सेना इस बोझको उठाने योग्य न हो जाय तबतक स्वेज़ प्रदेशकी रक्षा अंग्रेज़ करेंगे। अब मिस्रका आग्रह है कि ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओंको तत्काल हटा ले। इसके पीछे काफ़ी संघर्ष हुआ है परन्तु अब ब्रिटिश सरकारने इस बातको स्वीकार कर लिया है और शीघ्र ही स्वेज़ प्रान्त मिस्री सेनाकी रक्षामें आ जायगा। २० जून १९५६ तक सारी अंग्रेजी सेना इस क्षेत्रको खाली कर देगी परन्तु यदि तुर्की या किसी अरब राज पर आक्रमण हो तो फिर लौट सकती है। मिस्र इसके लिए हर प्रकारकी सुविधा देगा।

पनामा नहरकी शर्तें भी प्रायः वही हैं जो स्वेज़ नहरकी हैं। पर उनमें दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह नहर पूर्णतया संयुक्त राजके शासनमें है। इसके आस-पासकी भूमि पनामा राजकी है। पनामाने संयुक्त राजको एक पाँच कोस चौड़ा भूखण्ड दे दिया और निकटस्थ टापू भी दे दिये। इसके लिए संयुक्त राजने उसे एक करोड़ डालर (लगभग पाँच करोड़ रुपये) तत्काल दिये और नौ वर्ष बादसे अढ़ाई लाख डालर (लगभग साढ़े बारह लाख रुपये) प्रति वर्ष देनेका वचन दिया। दूसरी विशेषता यह है कि संयुक्त राजको नहरके पास किलाबन्दी करने और सेना रखनेका अधिकार प्राप्त है।

मछली मारनेके अधिकार

प्रत्येक राजके तटलग्न जलके भीतर केवल उसीकी प्रजाको मछली मारनेका अधिकार होता है; परन्तु इसके बाहर सभी राजवाले मछली मार सकते हैं। कभी-कभी कोई राज किसी दूसरे राजवालोंको अपने राज्यके किसी विशेष भागके तटलग्न जलमें मछली मारनेका अधिकार दे देता है। आरम्भमें तो यह बात मैत्रीके कारण की जाती है पर पीछेसे बड़े झगड़े होते हैं। १७८३ में संयुक्त राज और ब्रिटेनमें एक सन्धि हुई जिसमें एक शर्त यह भी थी कि न्यूफाउण्डलैण्डके जिस तटपर अंग्रेज़ मछुआहे मछली

मारें वहीं संयुक्त राजके मछुआहे भी मछली मार सकेंगे। १८१२ में दोनों राजोंमें युद्ध हुआ। उस समय इस अधिकारसे काम न लिया जा सका। १८१४ में पुनः सन्धि हुई पर उसमें इस अधिकार-का उल्लेख न था। तबसे ८७ वर्षतक इस विषयमें विवाद होता चला आया। अन्तमें इसका निर्णय हेग न्यायालयपर छोड़ा गया। विवादका कारण यह था कि ब्रिटेनका यह कहना था कि संयुक्त राजके मछुआहोंको हमारे तटलग्न जलमें मछली मारनेका जो कुछ अधिकार था वह १७८३ की सन्धिके कारण था। युद्ध होनेसे वह सन्धि नष्ट हो गयी और १८१४ की सन्धिमें इस अधिकार-का उल्लेख न होनेका कारण यह था कि हमने पुनः यह अधिकार नहीं दिया। संयुक्त राजका कहना यह था कि हमारे मछुआहे इस जलमें उस समयसे मछली मारते आते हैं जब हम ब्रिटेनके अधीन थे। अतः १७८३ की सन्धिने हमको कोई नया अधिकार नहीं दिया, केवल हमारे पुराने अधिकारका उल्लेख कर दिया। युद्धके दिनोंमें हम अपने उस अधिकारसे काम न ले सके पर वह ज्यों-का त्यों बना रहा। उसके बार-बार जतानेकी आवश्यकता न थी इसलिए १८१४ की सन्धिमें उसका पुनः उल्लेख नहीं किया गया। १९१० में हेगमें ब्रिटेनके पक्षमें फैसला हुआ।

जो नदियाँ एक ही राजके भीतर बहती हैं उनके विषयमें कोई मतभेद हो ही नहीं सकता, वह तो उस राजकी सम्पत्ति हैं ही; पर जो नदियाँ ऐसी हैं कि उनके दोनों किनारोंपर भिन्न-भिन्न राज हैं उनके लिए यह नियम है कि उनकी मध्य धारा, या कभी-कभी सबसे वेगवती धाराके मध्यसे, दोनों राजोंकी सीमा मानी जाती है। यह बातें आपसके समझौतेसे तय होती हैं। कभी-कभी दोनों तटोंपर दो राज होते हुए भी सारी नदी एक ही राजको दे दी जाती है।

नदियाँ

जो नदियाँ कई राजोंमेंसे होकर बहती हैं उनके विषयमें बहुत कुछ मतभेद रहा है। जो लोग नदीके उद्गमस्थानके निकट होते थे अर्थात् उसके ऊपरी तटोंपर बसते थे, वह प्रकृत्या यही चाहते थे कि उनको बेरोक-टोक नदीके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक आने-जाने दिया जाय पर जो राज मुहानेके निकट होते थे अर्थात् उसके नीचेके तटोंपर बसे थे, वे ऊपरसे आनेवाली नावोंको प्रायः कर लिये बिना जाने नहीं देते थे। जिसको अड़चन पड़ती थी वह नदियोंको खुली रखनेके लिए जोर लगाता था पर ऐसा क्यों किया जाय इसका कोई कारण नहीं बताया जाता था। १७८३ में संयुक्त राज और स्पेनमें मिसिसिपी नदीको खुली रखनेके विषयमें विवाद चल रहा था। उस समय संयुक्त राजकी ओरसे कहा गया था कि 'नदीकूल-वासियोंके लिए' नदियोंको खुली रखना 'एक ऐसा भाव है जो गहरे अक्षरोंमें मनुष्यके हृदयपर लिखा हुआ है'। मनुष्यके हृदयपर चाहे जो लिखा हो पर अन्ताराष्ट्रिय व्यवहार नदियोंका खुला रहना मनुष्यका नैसर्गिक स्वत्व नहीं मानता था। जहाँ-जहाँ नदियाँ खुली थीं वहाँ आपसके विशेष समझौतेके कारण ऐसा होता था।

एशियामें ऐसी नदियाँ कम हैं जो कई राजोंमें होकर बहती हों; हाँ, आजकल सतलज नदी के सम्बन्धमें भारत और पाकिस्तानमें काफी खींचातानी चल रही है। पाकिस्तानका कहना है कि भारत हमको इस नदीके जलसे वंचित करना चाहता है। यह आरोप निराधार है पर ऐसी बातें कटुता बढ़ानेका प्रबल साधन बन जाती हैं। यूरोपमें राइन, स्कैल्ट, डैन्यूब, आदि कई नदियाँ इस प्रकारकी हैं। इसी प्रकार अमेरिकामें सेण्टलारेन्स और अफ्रीकामें कांगो तथा नाइजर हैं। अब यूरोपियन राजोंमें इन सबके सम्बन्धमें आपसमें समझौते हो गये हैं और यह नदियाँ मुक्त कर दी गयी हैं। सभी राष्ट्रोंकी नावें इनपर आ-जा सकती हैं। पर यह मुक्ति केवल शान्तिके समय और व्यापारी नावोंके लिए है। सैनिक नावोंके लिए मुक्ति नहीं है। युद्धके दिनोंमें प्रत्येक राजको अधिकार है कि

नदीके उस भागमें जो उसके राज्यमें पड़ता है यथेच्छ नियम प्रचलित करे, पर यह नियम ऐसे होने चाहिये जिनसे तटस्थोंको अनावश्यक कष्ट न हो।

यों तो प्रत्येक राजको अपने राज्यमें बहनेवाली नदियोंसे नहर निकालनेका अधिकार है परन्तु यदि कोई ऐसी कार्य्यवाही की जाय जिससे नदीकी धार ही बदल जाय और उसका जल अपनी सीमाके बाहरके देशोंमें पहुँच ही न सके तो उनको आपत्ति करनेका वैध अवसर होगा। कोई ऐसी क्रिया भी निषिद्ध है जिससे नीचेवालोंको जो जल मिले वह गंदा या स्वास्थ्यके लिए हानिकर हो जाय।

वायुपर अधिकार

आजकल यह सर्वसम्मत मत है कि प्रत्येक राजको अपने राज्यके ऊपरकी वायुपर पूर्ण अधिकार है। किसीका मत यह है कि वायु मुक्त है। खुले समुद्रकी भांति उसपर सबका अधिकार है। जहाँतक साँस लेनेका प्रश्न है वहाँतक तो इस सिद्धान्तको सभी मान लेंगे पर आगे मतभेद है। दूसरोंका कहना यह है कि प्राचीन रोमन विधानके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको अपने घरके ऊपरकी सारी वायुपर स्वत्व था। पर यहाँ प्रश्न वायुका नहीं है क्योंकि उसे तो कोई छीनता नहीं, प्रश्न तो यह है कि परायोंको उस वायुमेंसे मार्ग निकालकर आनेजानेका स्वत्व है या नहीं।

इस समय यह बात मान ली गयी है और व्यवहारकी दृष्टिसे ऐसा मानना ठीक भी प्रतीत होता है कि भूमिके ऊपरके वायुमण्डलपर देशके स्वामीका अधिकार है। कुछ लोग यह सम्मति देते हैं कि जिस प्रकार तटसे कुछ दूरतक तटलग्न जल[1] होता है उसी प्रकार भूमिसे कुछ ऊँचाईतक भूलग्न वायु मानी जाय। पर यह नियम व्यर्थ है। तटलग्न जलके बाहरसे शत्रु तटवासियोंको क्षति नहीं पहुँचा सकता पर भूलग्नवायुसे ऊपरका शत्रु क्षति पहुँचा सकता है क्योंकि ऊपरसे फेंका हुआ बम नीचेके सिवाय और कहीं जा ही नहीं सकता। अतः यह उचित है कि शान्तिकालमें तो चाहे सभी राजोंके वायुयान आते-जाते रहें पर प्रत्येक राजको यह अधिकार रहे कि यह आज्ञा निकाल दे कि उसके राज्यके ऊपरसे कोई विदेशी यान न जाने पावे। इस सम्बन्धमें अबतक जो व्यवहार है वह इन तीन सिद्धान्तोंसे व्यक्त होता है। इनको लिसित्‌जीनने शब्दबद्ध किया है।

(१) प्रत्येक राजको अपने राज्यके, जिसमें तटलग्न जल भी अन्तर्भूत है, ऊपरकी हवा पर प्रभुत्व और शासनाधिकार है।

(२) प्रत्येक राजकी इच्छापर है कि अपने प्रभुत्वकी हवामें किसी वायुयानको आने दे या न दे।

(३) खुले समुद्रपर तथा ऐसे भूखण्डपर जहाँ किसी राजका शासनाधिकार नहीं है, हवा-मुक्त है। उसमें सभी राजोंके वायुयान चल सकते हैं।

प्रायः सभी राज दूसरे राजोंके नागरिक विमानोंको ऊपरसे चले जाने और विशेष अवस्थाओंमें नीचे उतरनेकी अनुमति दे देते हैं परन्तु सैनिक यानोंको यह सुविधा नहीं दी जाती। पाकिस्तान शान्तिकालमें भी पंजाबके ऊपरसे भारत और अफगानिस्तानके बीच वायुयानोंको आने-जानेकी अनुमति नहीं देना चाहता।

यदि हवापर प्रतिबन्ध लग सकता है तो राजको यह भी अधिकार होगा कि अपने राज्यके ऊपरकी हवामें से हाट्‌र्ज़ेयन लहरोंके द्वारा जानेवाले रेडियोके सन्देशोंको भी रोक दे। इस सम्बन्धमें कई अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन और समझौते हुए। इस प्रकारका अन्तिम सम्मेलन एटलाण्टिक सिटीमें १९४७ के सितम्बरमें हुआ। इसके निश्चय १ जनवरी १९४९ से लागू हुए। उन सब राजोंका

जिनमें तार और रेडियोके विषयमें सद्भावना है, एक संघटन है जिसको अन्ताराष्ट्रिय दूरसंचार संघ[१] कहते हैं। इसके इस समय ९० सदस्य हैं। इसके द्वारा यह तय होता है कि किस देशका रेडियो किस फ्रीक्वेंसी अर्थात् कितने मीटरपर संदेश भेजा करेगा। सदस्य राजोंका यह कर्तव्य है कि सभी राजोंके रेडियो सन्देशोंकी गति निर्बाध रहे पर यह स्पष्ट है कि यदि किसी राजको ऐसा प्रतीत हो कि किसी राजसे आनेवाले सन्देश उसके लिए अहितकर हैं तो वह उनमें निश्चय ही रुकावट डाल सकता है ताकि वह स्पष्ट न सुनाई दें। इसको जैम करना[२] कहते हैं। संघ आपसी तार व्यवस्थाकी देख भाल करता है और रेडियो तथा तारको उन्नत बनानेके लिए प्रयोग भी करता है और सदस्य राजोंको वैज्ञानिक परामर्श भी देता है।

ऊपर जो वर्णन दिया गया है वह बहुत विस्तृत नहीं है पर उसमें प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त और नियम आ गये हैं। उससे यह विदित हो जाता है कि राजोंका भूमिपर किस-किस प्रकारका स्वत्व होता है और वह किन-किन उपायोंसे प्राप्त होता है। यह भी दिखला दिया गया है कि जल और वायुपर कहाँतक स्वाम्य होता है। इन बातोंको मिलानेसे यह समझमें आ जाता है कि राजोंके स्वाम्यकी सीमा क्या है।[३]

---

१ International Tele-communiation union

२ Jamming.

३ पृष्ठ १२६में हमने लिखा है कि तटलग्नजल डेढ़ कोसतक होता है, वास्तविक विस्तार १ लीग (३ समुद्री मील) अर्थात् ६०८० फुट है

चौथा अध्याय

शासनाधिकार सम्बन्धी स्वत्व और कर्तव्य

शासनाधिकारके सम्बन्धमें दो मुख्य सिद्धान्त हैं, इनमेंसे किसी एकके आधारपर वह नियम निकल सकते हैं जो आजकल प्रायः प्रचलित हैं। एक सिद्धान्त तो यह है कि प्रत्येक राजका अपनी प्रजाओंपर अधिकार बना रहता है चाहे वह कहीं हों। दूसरा यह है कि प्रत्येक राजका अपने राज्यके भीतरके सभी व्यक्तियों और वस्तुओंपर अधिकार है। इनमें द्वितीय अधिक व्यापक है अतः हम उसे ही प्रधान मानते हैं, पर पहिला गौण होते हुए भी त्याज्य नहीं है।

शासनाधिकारके दो सिद्धान्त

किसी राजाके राज्यके निवासियोंमेंसे जो लोग उसकी असन्दिग्ध रूपसे प्रजा हैं उनमें प्रथम स्थान अनन्य प्रजा[1]का है। अनन्यका अर्थ है जो दूसरेका न हो। अनन्य प्रजा वह है जो पहिले भी कभी किसी दूसरेकी प्रजा न थी अर्थात् जो जन्मसे ही प्रजा है। पर जन्मसे किसे प्रजा कहना चाहिये इस विषयमें मतभेद है। किसी देशमें तो यह नियम है कि बच्चा जहाँ जन्म लेता है वहींकी प्रजा होता है, चाहे उसके माता-पिता किसी राष्ट्रके हों। अन्य देशोंमें यह नियम है कि बच्चेके माता-पिताकी राष्ट्रीयतापर बच्चेका प्रजा होना निर्भर है। किसी-किसी देशमें केवल यही देखा जाता है कि अकेले पिता या अकेली माता किस राष्ट्रकी है। जो लोग राजकी ही प्रजा हैं उनके उन बच्चोंके लिए जो राजके भीतर ही पैदा होते हैं कोई कठिनाई न होगी। वह तो अनन्य प्रजा होंगे ही, चाहे कोई नियम बरता जाय, पर दूसरे लोगोंके लिए इन भिन्न-भिन्न नियमोंसे भिन्न-भिन्न परिणाम होंगे। जो मनुष्य एक नियमके अनुसार एक राजकी प्रजा होगा वही दूसरे नियमके अनुसार दूसरे राजकी प्रजा हो जायगा।

अनन्य प्रजा

ब्रिटेनमें यह नियम है कि ब्रिटिश प्रजाकी सन्तति ब्रिटिश ही रहती है चाहे उसका जन्म कहीं हो। संयुक्त राजमें भी ऐसा ही नियम है पर वहाँ एक शर्त यह है कि यदि उसका जन्म विदेशमें हुआ हो तो १८ वर्षका होनेपर उसे किसी अमेरिकन वकीलके सामने जाकर यह इच्छा प्रकट करनी चाहिये कि मैं अमेरिकन प्रजा रहना चाहता हूँ और २१ वर्षका हो जानेपर राजके प्रति भक्तिकी शपथ खानी पड़ेगी। इन दोनों देशोंमें यह भी नियम है कि विदेशियोंके बच्चे भी इनके राज्यमें जन्म लेनेसे इनकी ही प्रजा हो जाते हैं। फ्रेंच विधानके अनुसार फ्रेंच प्रजाकी सन्तति फ्रेंच ही रहती है चाहे उसका जन्म कहीं हो। विदेशियोंके लिए यह नियम है कि यदि माता-पितामेंसे एकका भी जन्म फ्रांसमें हुआ हो तो बच्चा फ्रेंच माना जायगा पर यदि वह माताके फ्रांसमें जन्म होनेके कारण फ्रेञ्च माना गया है तो उसे अधिकार है कि अपनी इक्कीसवीं बरस गाँठके एक सालके भीतर यह कह दे कि मैं फ्रेंच प्रजा नहीं बनूँगा। ऐसी दशामें वह अपने माता-पिताके राष्ट्रका माना जायगा। स्वीडनमें यह नियम है कि यदि विदेशी माता-पिताकी सन्तति २२ वर्षके वयतक स्वीडनमें रह जाय तो वह स्वीड मानी जाती है। जर्मनी, स्वीजरलैण्ड, यूनान इत्यादि पिताकी राष्ट्रीयतापर सन्ततिकी राष्ट्रीयता निर्भर करते हैं। इटलीमें नियम है कि जो पिता दस

१ Natural-born Subjects

वर्षतक इटलीमें बस चुका हो उसकी सन्तति इटालियन प्रजा मानी जायगी। आज प्रायः सभी देशोंमें दो नियम प्रचलित हैं। विदेशियोंकी सन्ततिको यह अधिकार रहता है कि पूर्णवयस्क (२१ वर्षकी) होनेपर यह निश्चित करे कि वह किस राजकी अर्थात् अपने जन्मस्थानकी या पिता-माताके देशकी प्रजा, होकर रहेगी। दूसरे यह कि जो सन्तति विवाहेतर सम्बन्धसे पैदा होती है उसकी राष्ट्रीयता माताकी राष्ट्रीयतापर निर्भर मानी जाती है। विवाहिता स्त्रियोंकी राष्ट्रीयता प्रायशः पतिकी राष्ट्रीयताके अनुकूल मानी जाती है।

इन भिन्न-भिन्न नियमोंसे कभी अड़चनें पड़ सकती हैं। यदि कोई फ्रेंच दम्पती ब्रिटेनमें बसे हों या दस-पाँच दिनके लिए ही गये हों और वहाँ उन्हें बच्चा हो जाय तो वह ब्रिटिश विधानके अनुसार तो ब्रिटिश और फ्रेंच विधानके अनुसार फ्रेंच प्रजा हुआ। यदि किसी बच्चेका, जिसके माँ-बाप दोनों ब्रिटिश हों, फ्रांसमें जन्म हो तो वह दोनों देशोंके विधानके अनुसार ब्रिटिश ही होगा पर यदि बड़ा होनेपर उसे भी दैवात् फ्रांसमें ही बच्चा हो तो वह ब्रिटिश विधानके अनुसार ब्रिटिश और फ्रेंच विधानके अनुसार फ्रेंच प्रजा हुआ। ऐसी बातोंसे बड़े झगड़े खड़े हो सकते हैं पर प्रायः राजोंकी बुद्धिमत्ता उन्हें उभड़ने नहीं देती। जो लोग सन्दिग्ध राष्ट्रीयताके हैं उनपर कोई राज अपने राज्यके बाहर अधिकार चलानेका प्रयत्न नहीं करता।

अबतक चीन यह मानता रहा है कि चीनी चाहे जहाँ बसें उनकी सन्तान चीनी ही होगी। इससे मलाया और स्याम जैसे देशोंमें जहाँ लाखों चीनी हैं, बड़ी कठिनाई पड़ती थी। आजकल चीनकी सरकारका रुख बदला प्रतीत होता है। चीनके प्रधानमन्त्री चाउ एन लाइने उन लोगोंको परामर्श दिया है कि जिन देशोंमें बसे हैं अपनेको वहाँका नागरिक समझें।

लंका और दक्षिण अफ्रीकासे भारतका संघर्ष दूसरे प्रकारका है। भारत कहता है कि वहाँ जो भारतीय बसे हैं अब वह हमारी प्रजा नहीं हैं परन्तु वह देश उनको अपने नागरिक माननेको तैयार नहीं है।

अंगीकृत प्रजा

अनन्य प्रजाके बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण वर्ग अङ्गीकृत प्रजा[१]का है। अनन्य प्रजा तो वह है जो जन्मसे ही प्रजा है पर अंगीकृत प्रजा वह है जो जन्मतः अपनी प्रजा न थी परन्तु पीछेसे मान ली गयी। जिस प्रक्रिया द्वारा ऐसा होता है उसे प्रजांगीकरण[२] कहते हैं। पर कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें बिना इस प्रक्रियाके ही कुछ व्यक्तियोंको अंगीकृत प्रजाकी स्थिति प्राप्त हो जाती है। जो भूभाग जीत कर या हस्तान्तरित होकर अपनाया जाता है उसके निवासी स्वतः अपनी प्रजा हो जाते हैं पर उनको कुछ समय दिया जाता है जिसमें वह निश्चय कर लें और यदि पुराने राजकी ही प्रजा होकर रहना चाहते हों तो विजित या हस्तान्तरित भूखण्डको छोड़कर चले जायँ। स्त्रियाँ चाहे कहींकी निवासी हों, उनको विवाह होनेके उपरान्त बहुधा अपने पतिके राजका प्रजात्व मिल जाता है। कुछ राजोंने इसके लिए कुछ विशेष शर्तें लगा रखी हैं पर अधिकांश राजोंमें या तो शर्तें हैं ही नहीं या बहुत ही नरम हैं।

भिन्न-भिन्न देशोंमें प्रजाङ्गीकरणकी प्रक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है पर सबका प्रधान अंग होता है नये राजके प्रति भक्तिकी शपथ लेना और पुराने राजके प्रति भक्तिकी शपथको तोड़ना। किसी किसी देशमें तत्काल ही प्रजाङ्गीकरण हो जाता है, किसीमें कई वर्ष निवास करनेपर। प्रायः सबमें एक शर्त यह होती है कि प्रार्थीको उस देशकी भाषा आती हो। अङ्गीकृत प्रजाके कर्तव्य वही

१ Naturalized subjects

२ Naturalization

होते हैं जो अनन्य प्रजाके होते हैं और न्यायकी बात यह प्रतीत होती है कि उसके अधिकार भी वही हों पर कुछ देशोंमें उसके अधिकारोंमें कुछ न्यूनता होती है। अङ्गीकृत प्रजाकी सन्तति सभी देशोंमें पूर्णतया अनन्य प्रजा मानी जाती है।

कभी-कभी प्रजाङ्गीकरणके सम्बन्धमें अन्ताराष्ट्रिय झगड़े खड़े हो जाते हैं। यह तो प्रत्येक स्वतन्त्र राजको अधिकार है कि अपनी बनायी शर्तोंपर विदेशियोंको अपनी प्रजा बनाये पर यह भी प्रत्येक स्वतन्त्र राजको अधिकार है कि अपनी प्रजाको अपने अधिकारके बाहर न जाने दे। कुछ लोगोंका यह मत है कि मनुष्य अपनी मातृभूमिसे ऐसा बँधा हुआ है कि वह किसी अन्य राजका प्रजात्व स्वीकार कर ही नहीं सकता। दूसरोंका यह मत है कि प्रत्येक व्यक्तिको यह अधिकार है कि चाहे जिस राजका प्रजात्व स्वीकार करे।

अड़चन उस समय पड़ती है जब कोई ऐसा मनुष्य जो एक देशकी अङ्गीकृत प्रजा हो गया है अपने पुराने देशमें फिर किसी कारण लौटता है। सम्भव है कि पुराना राज कुछ न बोले और उसे उस विदेशी राजकी प्रजा मान ले पर यह भी सम्भव है कि वह उसे अब भी अपनी प्रजा माने। आजसे लगभग १००-१२५ वर्ष पहले ब्रिटेनमें यह प्रथा थी कि हट्टे-कट्टे मनुष्य बलात् नौसेनामें भरती कर लिये जाते थे। इससे बचनेके लिए बहुतसे युवक अमेरिका भाग जाते थे और संयुक्त राजकी प्रजा बन जाते थे। पर अंग्रेजी जहाज उन्हें जहाँ पाते थे वहीं पकड़ते थे। ब्रिटेन कहता था यह हमारी प्रजा हैं, संयुक्त राज कहता था यह हमारी प्रजा हैं। १८१२ में दोनोंमें लड़ाई हो गयी। अन्तमें ब्रिटेनने अपना आग्रह छोड़ दिया। फ्रांस इत्यादिमें नियम है कि अमुक वयके मनुष्यको सेनामें कुछ नियत कालतक काम करना ही होगा। यह देश ऐसा करते हैं कि यदि इससे बचनेके लिए कोई मनुष्य भागकर अन्यत्रकी प्रजा हो जाय तो अवसर पाने पर उससे फिर काम लेते हैं। इसी प्रकार यदि वह स्वदेश छोड़नेके पहले कोई अपराध कर गया हो तो अवसर मिलने पर उसे दण्ड दिया जाता है। यदि वह पुराने स्वदेशके विरुद्ध नये स्वदेशकी ओरसे शस्त्र उठाये तो पकड़े जाने पर प्राणदण्ड पाता है।

अब भी नियमोंमें कोई समता नहीं है न कोई एक ऐसा सिद्धान्त है जो सर्वमान्य हो पर स्वतन्त्र राजोंका व्यवहार ऐसा हो रहा है कि उनकी जो प्रजा बाहरकी अङ्गीकृत प्रजा हो जाती है उसपरसे अपना स्वत्व शीघ्र नहीं हटाते और यदि उनके पास कोई ऐसा प्रमाण होता है कि उसने उनके प्रति किसी वैध कर्तव्यका पालन करनेसे जी चुराकर विदेशी प्रजात्व ग्रहण किया है तो अवसर मिलने पर उसे दण्ड भी देते हैं। पर विदेशियोंको अपनी प्रजा बनानेके नियम प्रायः सर्वत्र सुकर हैं। प्रत्येक राज अपनी अंगीकृत प्रजाकी रक्षा अन्य प्रजाके ही समान करता है पर यदि उसका पुराना राज अपने नियमोंके अनुसार अवसर पाकर उसपर शासन करता है तो उसका नया राज चुप रह जाता है जबतक कि कोई प्रत्यक्ष अन्याय न होता हो। यदि कोई मनुष्य कहीं अन्यत्र अंगीकृत होकर फिर स्वदेश आ जाय और वहाँ कुछ दिन बस जाय तो उसका नया प्रजात्व जाता रहता है और वह फिर पुराने राजकी प्रजा हो जाता है। कितने दिन बस जाने पर ऐसा मानना चाहिये इसके लिए भी सब जगह पृथक् पृथक् नियम हैं। जर्मनीमें दो वर्षका नियम है। यदि कोई जर्मन जो अन्यत्र अंगीकृत हो गया हो पुनः जर्मनी लौट आये और दो वर्षतक रहकर भी जर्मन प्रजा न बनना चाहे तो वह निकाल दिया जाता है।

इस सम्बन्धमें दो अन्ताराष्ट्रिय समझौते जिनपर १२ अप्रैल १९३० को हेगमें हस्ताक्षर

नहीं अपनी इच्छासे ऐसे देशमें आये जहाँ ऐसे प्रतिबन्ध लगते हैं, फिर उनको सब कुछ सहना चाहिये। यदि उनकी सरकार उनका पक्ष लेकर कुछ कहे तो भीतरी प्रबन्धमें हस्तक्षेप करना होता है, फिर भी यदि किसी राजके प्रजाजनके साथ बहुत अनुचित व्यवहार होता है तो वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अपना विरोध प्रकट कर ही देता है।

विरोध करनेका अवसर उस समय और भी उपस्थित हो जाता है जब यकायक नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायँ। मेक्सिकोमें बहुतसे अमेरिकन बसे थे और उन्होंने बड़ी भूमि खरीद ली थी। इस भूमिके नीचे तेल भी था। १९३७ में मेक्सिकोकी सरकारने इन लोगोंको बेदखल करना आरम्भ किया। अमेरिकन सरकार यह तो कह नहीं सकती थी कि ऐसा न किया जाय परन्तु उसने यह आग्रह किया कि इनको जो रुपया मुआविजेमें दिया जा रहा है वह बहुत कम है और देरमें मिलता है। अतः उनके स्वत्वोंकी रक्षाके लिए बोलनेका हमको अधिकार है। मेक्सिकोका कहना था कि ऐसा कोई अन्ताराष्ट्रिय नियम नहीं है जो हमारी नीतिमें बाधक हो। मुआविजा क्या दिया जाय इसका निर्णय करनेका अधिकार एकमात्र मेक्सिकोको है। मुआविजेके लिए हमने अपनी प्रजाके लिए भी वही नियम रक्खे हैं अतः कोई अन्याय नहीं हो रहा है और अमेरिकाको इस सम्बन्धमें कुछ कहनेका अधिकार नहीं है।

अन्तमें यह तय पाया कि दोनों राजोंके एक-एक प्रतिनिधिका आयोग मुआविजेकी दर निश्चित कर दे परन्तु यह केवल व्यावहारिक समझौता माना जायगा। उभय पक्षने अपने अधिकारोंके सम्बन्धमें सिद्धान्तकी जो बातें कही थीं उनपर आयोग कोई सम्मति न दे।

बसे विदेशी और विदेशी यात्री

विदेशी यात्रियोंके लिए प्रायः वही नियम हैं जो उन विदेशियोंके लिए हैं जो विदेशमें बसते हैं पर वहाँकी अंगीकृत प्रजा नहीं हुए हैं। इन लोगोंको सब प्रकारके स्थानीय और सरकारी कर देने होते हैं और प्रचलित दीवानी तथा फौजदारी विधान इनके लिए भी लागू होते हैं। इनको उस देशकी रक्षाके लिए सैनिक कार्य नहीं करना पड़ता पर यदि उसपर यकायक असभ्य जातियाँ आक्रमण कर दैठें और उसके अस्तित्वको आघात पहुँचनेकी आशंका हो तो इन्हें सैनिक कार्य भी करना पड़ेगा। साधारण शान्तिरक्षाके लिए यह भी दायी हैं। यदि देशमें कुछ दंगा या अन्य प्रकारका उपद्रव हो जाय तो विशेष पुलिसका काम इन्हें भी करना होगा। यदि कोई बसा हुआ विदेशी अंगीकृत होनेकी इच्छा प्रकट कर दे तो इतनेसे ही उसकी रक्षा अंगीकृत या अनन्य प्रजाकी भाँति नहीं हो सकती। उसके पुराने राजको अधिकार है कि यदि वह उसे पकड़ पाये तो उसके साथ अपनी प्रजाका सा बर्ताव करे। पर संयुक्त राजका यह मत है कि यदि वह इच्छा प्रकट करनेके पीछे दीर्घकालतक बसा रहे तो यह समझना चाहिये कि उसकी वास्तविक इच्छा यह थी कि अंगीकृत हो जाय और यद्यपि उसकी इच्छा पूरी न हुई अर्थात् अंगीकरणकी प्रक्रिया न हुई तो भी वह जिस देशमें जा बसा है उसकी प्रजाके ही तुल्य है और यदि अवसर पाकर उसका पुराना राज उसके साथ अपनी प्रजा जैसा बर्ताव करना चाहे तो उसकी रक्षा करनी चाहिये।

विदेशियोंपर दण्डाधिकारके सम्बन्धमें चार आधारभूत सिद्धान्त प्रायः सर्वमान्य हैं—

(१) भौम सिद्धान्त[१]—जिस जगह अपराध किया गया उसकी दृष्टिसे अधिकार

(२) राष्ट्रीयता सिद्धान्त[२]—अपराधी किस राष्ट्रका है, इस दृष्टिसे अधिकार

---

१ Territorial Principle

२ Nationality Principle

(३) संरक्षक सिद्धान्त[१]—किस राष्ट्रके हितको क्षति पहुँची है, इस दृष्टिसे अधिकार

(४) सार्वभौमता सिद्धान्त[२]—अपराधी सम्प्रति किसकी कैदमें है, इस दृष्टिसे अधिकार

इनमेंसे प्रथम तीनको सभी राष्ट्र स्वीकार करते हैं और विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह औरोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्वके हैं। किसने किसको कहाँ हानि पहुँचायी, इसी आधारपर यह निर्णय होना भी चाहिये कि दण्ड देनेका अधिकारी कौन हो।

उदाहरणके लिए हम एक रोचक मुकदमेका जिक्र करते हैं। विलियम जॉयस नामका एक अमेरिकन नागरिक कई सालतक ब्रिटेनमें रहा था। द्वितीय महासमरके पहले वह जर्मनी चला गया और युद्धकालमें जर्मन रेडियोसे लार्ड हॉ हॉके नामसे ब्रिटेनके विरुद्ध विषवमन करता रहा। युद्धके बाद पकड़कर ब्रिटेन लाया गया। वहाँ उसपर राजद्रोहका मुकदमा चलाया गया। सफाईमें यह कहा गया कि अमेरिकन नागरिक होनेके कारण वह ब्रिटिश प्रजा नहीं है। इसलिए ब्रिटेनके प्रति राजभक्तिका कर्तव्य उसपर लागू नहीं है अतः उसपर राजद्रोहका मुकदमा नहीं चल सकता। जॉयसका विदेशी होना तो निश्चित ही था। ब्रिटिश सरकार इस अवसरपर संरक्षक सिद्धान्तका हवाला दे सकती थी क्योंकि हॉ हॉ नामसे उसके हितोंका ही आघात किया गया था। पर उसने दूसरा तर्क पेश किया। जॉयस कई सालतक ब्रिटेनमें रहा था और ब्रिटिश सरकारसे यात्रादेश लेकर जर्मनी गया था। इसका यह तात्पर्य निकला कि विदेशी होते हुए भी वह उन सुविधाओंका उपभोग कर रहा था जो ब्रिटिश नागरिकोंको प्राप्त हैं। इसलिए अस्थायी रूपसे उसपर राजभक्तिका कर्तव्य लागू होता था। जर्मनी जाकर उसने यात्रादेश लौटाया नहीं, अतः ऐसा मानना चाहिये कि तब भी वह ब्रिटिश प्रजाकी सुविधाओंका लाभ उठाता जा रहा था। इसलिए उसे राजभक्त होना चाहिये था। चूँकि उसका आचरण इसके विपरीत था इसलिए उसपर राजद्रोहका मुकदमा चल सकता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि बसे हुए विदेशियों और विदेशी यात्रियोंको सब प्रकारके कर देने होते हैं और आवश्यकता पड़नेपर पुलिसका काम भी करना पड़ता है तथा दीवानी और फौजदारी विधान उनपर भी लागू होते हैं। पर इस साधारण नियमके कुछ अपवाद हैं। कुछ अवस्थाओंमें बसे हुए विदेशियों तथा विदेशी यात्रियोंके लिए यह सब नियम ढीले कर दिये जाते हैं।

अपवाद

विदेशी नरेशोंको न तो कोई कर देना पड़ता है न उनपर कोई विधान लागू होता है। उनपर किसी प्रकारका अभियोग चल ही नहीं सकता। यदि कोई विदेशी नरेश किसी प्रकारकी अनुचित कार्यवाही करे तो उसे अपने यहाँसे बलात् बिदा कर देनेके सिवाय और कोई युक्ति नहीं है। पर यदि कोई विदेशी नरेश विदेशमें कुछ सम्पत्ति या जमींदारीका स्वामी है तो उसे उस उतने भूखण्डके लिए प्रजाकी भाँति ही रहना पड़ेगा। यदि कोई विदेशी नरेश स्वयं न्यायालयमें किसीपर किसी प्रकारका आरोप करे तो फिर वह न्यायालयके क्षेत्रमें आ गया। ब्रिटिश-साम्राज्यमें तथा उसके बाहर भी हमारे भारतीय नरेशोंके साथ भी यही नियम बर्ते जाते रहे हैं अर्थात् इनपर किसी प्रकारका अभियोग नहीं चल सकता था। लगभग ३०-३५ वर्ष हुए एक व्यक्तिने गायकवाड़पर इंग्लैण्डमें फौजदारीका अभियोग चलाना चाहा। उसका कहना था कि भारतीय नरेश ब्रिटिश-सरकारके अधीन हैं अतः इनको

विदेशी नरेश

---

१ Protective Principle

२ Universality Principle.

स्वतन्त्र विदेशी नरेशोंके विशेषाधिकार नहीं मिल सकते, पर न्यायालयने स्वयं कहा कि यह विदेशी नरेश हैं और ब्रिटिश सरकारके अधिपतित्वमें होनेपर भी अपने राजमें प्रभु हैं, अतः हमारे अधिकार-क्षेत्रके बाहर हैं। विदेशमें यात्रा करते समय नरेशोंको अपने भृत्योंपर भी अधिकार रहता है या नहीं इस विषयमें मतभेद है। जो नियम नरेशोंके लिए हैं वही राष्ट्रपतियोंके साथ भी बरते जाते हैं।

राजदूत तथा विदेशी सेना

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि विदेशी राजदूतोंपर जिस देशमें वह भेजे जाते हैं, किसी प्रकारका अभियोग नहीं चल सकता। इस बातका अवसर बहुत ही कम आता है कि एक राजकी सेना दूसरे राजमेंसे होकर निकले पर यदि कभी ऐसा हो तो उसपर भी वह राज, जिसके राज्यमेंसे होकर वह निकलती है, किसी प्रकारका शासन नहीं करता।

विदेशी सैनिक जहाज

इसी प्रकार विदेशी सैनिक जहाजोंपर जो किसी कारणसे कुछ कालके लिए अपने नौस्थानमें आ गये हों, कोई शासन नहीं किया जाता। उनपर सर्वतः उनके अफसरोंका ही शासन रहता है पर यदि जहाजके अफसर या सिपाही जमीनपर उतरें तो उनके साथ विदेशी यात्रियोंकी तरह व्यवहार होता है अर्थात् उनपर पूर्णतया शासन हो सकता है। यदि कोई राजनीतिक अपराधी भागकर या तैरकर किसी विदेशी सैनिक जहाजपर चला जाय तो फिर वह रक्षाका अधिकारी हो गया। कुछ लोगोंका मत है कि सैनिक जहाज अपने राजके राज्यका चल टुकड़ा है।

राज्यके बाहर शासनाधिकार

अब हमको यह देखना है कि अपने राज्यके बाहर किस व्यक्तिपर और किस-किस अवस्थामें शासन किया जाता है।

विदेशप्रवासी स्वप्रजा

सबसे पहले अपनी विदेश-प्रवासी प्रजापर शासनाधिकार होता है। यह तो निश्चय है कि यदि अपनी प्रजामेंसे कोई व्यक्ति विदेशमें कोई अपराध करे तो उसे वह विदेशी सरकार दण्ड देगी पर किसी-किसी राजका ऐसा विधान है कि यदि वह स्वदेश लौटे तो वहाँ भी उसे दण्ड दिया जाता है। पर यह सब नहीं वरन् कुछ ऐसे अपराधोंके लिए होता है जो बहुत ही दूषित समझे जाते हैं। यूरोपियन राजोंने दुर्बल एशियाई और अफ्रीकन राजोंमें अपने लिए विशेष शासनाधिकार ले रखे थे। यदि कोई यूरोपियन इन देशोंमें कोई फौजदारी अपराध करता था तो उसको वहाँकी सरकार दण्ड नहीं देती थी वरन वह यूरोपियन जिस राजका होता था या तो उसका कोई प्रतिनिधि, जिसे न्यायाधीशके अधिकार होते थे निर्णय करता था या निर्णय और दण्डके लिए स्वदेश भेज देता था या कई यूरोपियन जजोंका एक पंचायती न्यायालय होता था वह निर्णय करता था। कभी-कभी इस पंचायती न्यायालयमें उस देशका भी एक जज रख दिया जाता था पर उस बेचारेकी सुनता कौन था। मिस्रमें पञ्चायती न्यायालय ही था। यदि किसी भारतीय राजमें कोई अंग्रेज किसी प्रकारका अपराध करता था तो उसका फैसला स्थानीय न्यायालय नहीं वरन् अंग्रेजी न्यायालय करते थे।

यह प्रथा इन प्राच्य राजोंकी दुर्बलता और पाश्चात्य राजोंकी हठधर्मीकी सूचक तो थी ही, इसमें अन्यायकी भी बहुत जगह थी। जिस अपराधके लिए उस देशका निवासी कड़ा दण्ड पाता था उसी अपराधके लिए यूरोपियन बेदाग छूट सकता था। यह जानकर कि स्थानीय सरकार हमारा कुछ नहीं कर सकती यूरोपियनोंका सिर भी चढ़ा रहता था।

चोरों, खूनियों, व्यभिचारियोंका सभ्य समाजमें कहीं भी आदर नहीं होता। इसीलिए आज-

कलके सभ्य राजोंमें यह प्रथा है कि एक देशका अपराधी यदि दूसरे देशमें भाग जाय तो उसे पकड़ कर उसके देशकी सरकारके हवाले कर देते हैं। इसके लिए आपसमें विशेष सन्धियाँ होती हैं। उनमें यह निश्चित हो जाता है कि किस-किस प्रकारके अपराधी लौटाये जायँगे। सब सन्धियाँ एक-सी नहीं होतीं। ब्रिटेनमें इस सम्बन्धमें जो नियम हैं प्रायः वैसे ही नियम अन्य सभ्य देशोंमें भी हैं, इसलिए हम उनका सारांश देते हैं।

अपराधिप्रत्यर्पण

जब कोई अपराधी भागकर ब्रिटेनमें आ जाता है तो उसके देशका राजदूत ब्रिटेनके स्वराष्ट्र सचिवको लिखता है कि अमुक व्यक्ति अमुक अपराध करके भाग आया है, उसे हमें दे दीजिये। तब इस बातकी जाँच की जाती है कि यह अपराध उन अपराधोंमें है या नहीं जिनके विषयमें आपसमें सन्धि हुई है। राजनीतिक अपराधी नहीं दिये जाते। इसी लिए श्याम जी कृष्ण वर्मा, अरविन्द घोष इत्यादि फ्रांसके राज्यमें शरण पा गये। यदि अपराधी यह सिद्ध कर सके कि मुझे राजनीतिक कामोंके लिए दण्ड देनेके उद्देश्यसे माँगा जा रहा है तो वह नहीं दिया जाता। सम्भाम्य ब्रिटिश जजोंकी सम्मति है कि जो अपराध राजनीतिक आन्दोलन और विद्रोहके आवश्यक अंग हों उनके लिए अपराधियोंका प्रत्यर्पण[1] नहीं हो सकता परन्तु राजनीतिक आन्दोलनके समयके सभी अपराध क्षम्य नहीं हो सकते। राजक्रान्तिके समय सरकारी कोषको हस्तगत कर लेना, जहाँसे और जैसे हो शस्त्र संग्रह करना, शत्रु, अर्थात् सरकारके सहायकोंको प्राणदण्डतक देना, सरकारी सेनाको उभाड़ना, यह सब आवश्यक हो सकता है। यदि कोई मनुष्य ऐसे काम करके किसी सभ्य देशकी शरण ले तो वह उसे कदापि न सौंपेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि राजक्रान्तिके समय प्रत्येक प्रकारकी लूट और हत्या क्षम्य है। फ्रांस ही नहीं, ब्रिटेनने बहुतसे राजनीतिक शरणागतोंकी रक्षा की है। इटलीके मत्सिनी और गैरिबाल्डी, चीनके सनयातसेन इत्यादि अनेक देश-भक्तोंने ब्रिटेनमें शरण पायी है। अस्तु, जब यह निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः अपराध ऐसा है जिसके लिए ब्रिटिश विधानके अनुसार भी मनुष्य दण्ड्य होता है तो अपराधीको ब्रिटिश पुलिस पकड़कर हवालातमें डाल देती है। यहाँ वह पन्द्रह दिनतक रखा जाता है। यदि इस बीचमें कोई नयी बात न खुली तो वह अपने राजकी पुलिसको सौंप दिया जाता है पर यदि किसी कारणसे वह दो महीनेतक न सौंपा गया तो हाईकोर्टका कोई भी जज अपनी आज्ञासे उसे मुक्त करा सकता है। प्रत्यर्पण करते समय एक शर्त यह भी रहती है कि जिस विशेष अपराधका नाम लेकर उसका प्रत्यर्पण कराया गया है उसके सिवाय किसी और अपराधके लिए उसे दण्ड न दिया जाय। इसको विशेषता सिद्धान्त[2] कहते हैं। यदि उसके देशकी सरकारको ऐसा करनेकी आवश्यकता प्रतीत हो तो उसे चाहिए कि या तो उस अपराधीको एक बार आपही ब्रिटिश राजके भीतर पहुँचा दे या उसे इतना अवकाश दे कि यदि वह चाहे तो ब्रिटिश राजके किसी अंशमें प्रवेश कर जाय। यह सब इस बातका सूचक है कि राजोंमें अभी इतना सौहार्द नहीं है कि अपराधियोंका प्रत्यर्पण अनिवार्य कर्तव्य समझा जाय। अभी तो केवल आपसके समझौतेके कारण ऐसा किया जाता है। धार्मिक अपराधी भी प्रत्यर्पित नहीं किये जाते। यदि किसी देशमें इस्लामी शरा कानून लागू हो और कोई व्यक्ति उसके विरुद्ध आचरण करके अन्यत्र भाग जाय तो उसका प्रत्यर्पण नहीं होगा।

प्रत्यर्पण बराबरीके ढंगपर होना चाहिये। स्वतन्त्र राजोंमें ऐसा होता भी है। यह नहीं हो सकता कि एक राज तो अपराधियोंको सौंपना स्वीकार करे पर दूसरा ऐसा न करे। परन्तु भारत-

१ Extradition

२ Speciality Principle

वर्षमें सभी बातें निराली थीं। यहाँ प्रत्यर्पण विषयक सन्धियाँ कई ढंगकी थीं। कुछ तो बराबरीकी थीं। यह वह सन्धियाँ थीं जो देशी राजोंमें आपसमें हुई थीं। पर इनमें भी कहीं-कहीं एक विषमता देख पड़ती थी। कुछ ऐसी बातें हैं जिनको एक राज भीषण अपराध मानता था दूसरा नहीं। हिन्दू राजोंमें गोहत्या दण्ड्य थी अतः आपसमें कई हिन्दू राज गोहिंसकका प्रत्यर्पण करते थे पर मुसलमान राज ऐसा नहीं करते थे। पर ब्रिटिश राजके सामने सब ही भारतीय राज एकसे थे। उसकी सन्धियाँ बराबरी नहीं वरन् ऊँचे नीचेकी दृष्टिसे लिखी गयी थीं। उदाहरणके लिए, यदि ब्रिटिश सरकारका कोई सैनिक बिना नियमित रूपसे छुट्टी पाये किसी भारतीय राजमें भाग जाय तो उस राजका कर्तव्य होता था कि उसे पकड़ कर प्रत्यर्पित करे पर यदि किसी राजका सैनिक भागकर ब्रिटिश राजमें आ जाय तो ब्रिटिश सरकार उसे पकड़ कर सौंपनेका भार अपने ऊपर नहीं लेती थी।

अब धीरे-धीरे सभी सभ्य देशोंके विधान एक-से होते जाते हैं। अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयकी स्थापना भी हो गयी है। सम्भव है अब अपराधियोंके प्रत्यर्पणमें इतनी अड़चनें न पड़ें।

सैनिक जहाज

यह हम पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक राजको अपने सैनिक जहाजोंपर पूर्ण अधिकार रहता है। यह एक प्रकारसे अपने अपने राज्यके तैरते हुए टुकड़े माने जाते हैं और इनके सम्बन्धमें किसी प्रकारसे और किसी कारणसे हस्तक्षेप करना उस राजके साथ हस्तक्षेप करना और युद्धके लिए निमन्त्रण देना है। यदि शान्तिकालमें एक राजका सैनिक जहाज दूसरेके नौस्थानमें जाकर किसी प्रकारका उपद्रव करे तो वह राज उसे आप दण्ड न देगा प्रत्युत उसे यह आज्ञा देगा कि हमारे तटके पाससे चले जाओ और फिर उसके उपद्रवके कारण जो कुछ क्षति हुई होगी उसके लिए उसके राजसे पत्र-व्यवहार करेगा।

व्यापारी जहाज

व्यापारी जहाजोंके लिए यह नियम नहीं है। जबतक वह खुले समुद्रमें हैं तबतक तो कोई दूसरा राज नहीं है जो उनपर शासन कर सके इसलिए उनके कप्तानको वह सब अधिकार प्राप्त रहते हैं जो स्थलपर मजिस्ट्रेटको रहते हैं और वह अपने राजके ही विधानोंको बरतता है। पर ज्यों ही जहाज किसी सभ्य राजके भूलग्न जलके भीतर आ जाता है त्यों ही उसपर उस राजका शासनाधिकार हो जाता है। फिर तो इस राजको यह अधिकार होता है कि यदि भूलग्न जलके भीतर आनेके पहिले भी जहाजपर किसी प्रकारका उपद्रव इत्यादि हुआ हो तो उसकी जाँच-पड़ताल करके यथोचित कार्यवाही करे। यदि भूलग्न जलके भीतर कुछ उपद्रव हो और फिर जहाज भाग जाय तो खुले समुद्रमें भी उसका पीछा करके पकड़ सकते हैं।

जल-दस्यु

प्रत्येक राजको अपने जहाजों द्वारा पकड़े गये जलदस्युओंपर पूर्ण अधिकार होता है। केनीने जल-दस्युता (जलमें डकैती) की परिभाषा इस प्रकार की है—प्रत्येक ऐसा सशस्त्र हिंसात्मक काम जो युद्धका वैध अंग न हो, दस्युता है। दस्युता सभ्य समाज मात्रकी दृष्टिमें अपराध है क्योंकि दस्युके कामोंसे सभी सभ्य राजोंके व्यापारको आघात पहुँच सकता है और सभी देशोंके यात्रियोंके चित्तमें आशंका उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अशान्तिजनक वस्तुको दूर करना सबका ही कर्तव्य है, इसलिए प्रत्येक सभ्य राजको यह अधिकार है कि वह दस्युओंको पकड़े और दण्ड दे। अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारके अनुसार दस्युको प्राणदण्ड दिया जाना चाहिये। कभी-कभी कोई राज किसी विशेष कामको अपने विधानमें दस्युता मान लेता है। ब्रिटेनने कुछ दिनोंतक अफ्रिकासे गुलाम ले जाकर बेचनेको दस्युता घोषित कर दिया था। अंग्रेज

सैनिक जहाज उन सब जहाजोंको पकड़ लेते थे जिनपर गुलाम होते थे, चाहे वह किसी देशके हों। पर अन्य राजोंने इसका विरोध किया और अन्तमें ब्रिटेनको विवश होकर इस कामसे हाथ खींचना पड़ा।

अन्ताराष्ट्रिय विधान जिसे जलदस्युता कहता है उसके मुख्य लक्षण यह हैं—

(१) वह सशस्त्र और हिंसात्मक होनी चाहिये पर यह आवश्यक नहीं है कि सचमुच डकैती की जाय। यदि किसी जहाजके नाविक अपने अफसरोंके विरुद्ध सिर उठायें तो जबतक वह असफल रहेंगे तबतक तो वह विद्रोहके अपराधी माने जायँगे पर यदि उनका प्रयत्न सफल हो जाय तो वह दस्यु माने जायँगे, चाहे अपने अफसरोंको दबानेके सिवाय वह फिर कोई भी अनाचार न करें।

(२) दस्युता उसी कामको कह सकते हैं जो ऐसे स्थानमें किया जाय तो किसी राजके भी शासनमें न हो। इसका तात्पर्य यह है कि दस्युता खुले समुद्रमें ही होती है। यदि किसी ऐसे द्वीप या अन्य भूखण्डपर जो किसी सभ्य राजकी सम्पत्ति न हो, कुछ लोग बसते हों और उन्हें लोग समुद्र-मार्गसे आकर लूट लें तो ऐसा करनेवाले जलदस्यु माने जायँगे पर यदि किसी सभ्य राजके भूलग्न जलके भीतर जहाजोंपर डाका पड़े या तटपर उतरकर लूटपाट मचायी जाय तो इसे दस्युता नहीं कहते। ऐसा करनेवाले लुटेरे साधारण विधानके अनुसार दण्ड्य हैं। जिस राजके भूलग्न जलमें या तटपर वह उपद्रव करें उसे चाहिये कि उन्हें दण्ड दे, अन्ताराष्ट्रिय विधानसे इससे कुछ सम्बन्ध नहीं।

(३) तीसरा और अन्तिम लक्षण यह है कि दस्युता बिना किसी सभ्य राज या समाजकी आज्ञाके होती है। यदि दो राजोंमें लड़ाई हो तो एकको दूसरेके सैनिक जहाजोंसे जो कुछ क्षति होगी उसे दस्युता नहीं कह सकते। कभी-कभी सभ्य राज सैनिक जहाजोंके अतिरिक्त अन्य जहाजोंको भी यह अनुज्ञा दे देते हैं कि वह शत्रुसे लड़ें या उसे तंग करनेका प्रयत्न करें। ऐसे जहाजोंके कामोंको भी दस्युता नहीं कह सकते।

हम प्रथम खण्डमें कह चुके हैं कि यदि कोई सभ्य समुदाय अन्ताराष्ट्रिय नियमोंका पालन करता हुआ किसी सभ्य राजके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करता है तो कुछ अंशोंमें उसे भी अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पात्रता मिल जाती है। स्वराजके लिए प्रयत्न करनेवाले राष्ट्रोंकी आरम्भमें यही स्थिति होती है। ऐसे समुदायोंकी आज्ञासे जो जहाज विरोधी सरकारसे लड़ते हैं वह दस्यु नहीं माने जाते पर एक बात ध्यान रखनेकी है, यदि इस प्रकारका समुदाय हारकर हथियार रख दे तो फिर उसकी आज्ञा भी रद हो जाती है और जो जहाज उसकी आज्ञासे लड़ते रहे हों उन्हें चाहिये कि हथियार डाल दें नहीं तो उनकी गणना दस्युओंमें होने लगेगी।

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे सिद्धान्तों और मुख्य-मुख्य नियमोंका ज्ञान तो हो जाता है पर कई अवस्थाएँ ऐसी हैं जो बड़ी ही सन्दिग्ध होती हैं। कभी-कभी यह समझमें नहीं आता कि क्या किया जाय।

सन्दिग्ध अवस्थाएँ

हम ऊपर लिख आये हैं कि राजनीतिक अपराधियोंका प्रत्यर्पण नहीं होता पर कभी-कभी यह निश्चय करना बड़ा कठिन होता है कि कौनसा अपराध राजनीतिक है, कौनसा नहीं। प्रमुख ब्रिटिश जजोंकी यह सम्मति है कि राजनीतिक अपराध तब ही माना जा सकता है जब राजमें दो दल अपनी-अपनी इच्छाके अनुकूल सरकार स्थापित करनेका प्रयत्न कर रहे हों। परन्तु 'दल' शब्द भी सन्तोषजनक नहीं है। यह सम्भव है कि कोई सच्चा देशभक्त यह समझता हो कि वर्तमान सरकार अच्छी

नहीं है और उसे दूर करना चाहता हो, इस प्रयत्नमें उससे कोई अपराध हो जाय। अब इस एक मनुष्यको दल नहीं कह सकते अतः वह राजनीतिक अपराधी न माना जायगा पर उसका उद्देश्य परम शुद्ध था। मनुष्योंके वास्तविक उद्देश्योंका पता लगाना कठिन है। यदि कोई मनुष्य अपने देशके भलेके उद्देश्यसे नरेश या किसी प्रधान कर्मचारीको विष या शस्त्र या बम द्वारा मार डालता है तो उसे राजनीतिक अपराधी समझें या सामान्य हत्यारा। ऐसी दशामें बहुतसे राज प्रत्यर्पण करनेमें संकोच नहीं करते।

यदि कोई मनुष्य विदेशमें अपराध करके अपने देश लौट आये और विदेशी सरकार उसका प्रत्यर्पण चाहे तो ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये? इस विषयमें एक मत नहीं है। कोई-कोई राज तो ऐसी दशामें कुछ नहीं करते, कोई-कोई प्रत्यर्पण तो नहीं करते पर उस आरोपकी अपने यहाँ जाँच करते हैं और यदि वह सच निकलता है तो अपराधीको दण्ड देते हैं। कोई-कोई प्रत्यर्पण कर देते हैं। यदि एकदूसरेकी न्यायपरतापर विश्वास हो और आपसमें सौहार्द हो तो प्रत्यर्पण अवश्य कर देना चाहिये। कुछ न करना तो बुरा है ही, अपने यहाँ जाँच करना भी सन्तोषजनक नहीं हो सकता क्योंकि दूसरे देशमें प्रमाणादिका पहुँचना कठिन है।

उनलोगोंकी अवस्था भी कुछ हदतक सन्दिग्ध है जो राजहीन[१] हैं। उदाहरणके लिए, लंकामें ऐसे बहुतसे भारतीय हैं जिनको लंका अपना नागरिक नहीं मानता। वह कहता है कि यह लोग भारतीय हैं। भारत कहता है कि यह लंकामें बस गये हैं अतः अब भारतीय नहीं हैं। ऐसे लोग किसी भी राजके नागरिक नहीं हैं अतः कोई राज इनका रक्षक नहीं है।

---

१ Stateless

पाँचवाँ अध्याय

विदेशियोंके प्रति दायित्व और परराजोंके प्रति अधिकार

इस अध्यायका विषय एक प्रकारसे तो पूर्ववर्ती अध्यायोंके अन्तर्गत है। परन्तु उसका महत्त्व-देखते हुए उसका पृथक् निरूपण करना अधिक उचित प्रतीत होता है।

जब कोई व्यक्ति परदेशमें जाकर रहता है तो ऐसा मानना चाहिये कि वह अपना भला-बुरा सोचकर ही ऐसा करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह उस राजके शासनके स्वरूप, वहाँ की जनताका शील और उस देशके कानूनोंको अपने लिए अहितकर नहीं समझता, यद्यपि उसे यह ज्ञात होगा कि उसका राज उसकी रक्षा नहीं कर सकता। जब यह जानते हुए कि परदेशमें वह किसी प्रकारकी सहायता नहीं कर सकता, कोई राज अपने प्रजाजनको कहीं अन्यत्र जाने देता है तो यह मानना चाहिये कि उतने कालके लिए वह उनपरसे अपनी रक्षा हटा लेता है। और यह भी मान लेना चाहिये कि जब कोई राज परदेशियोंको अपने यहाँ बसने देता है तो वह उनके हितोंकी रक्षाका भार अपने ऊपर लेता है। चूँकि परदेशी होनेके कारण उनका कोई राजनीतिक प्रभाव नहीं है अतः उनके प्रति और भी अधिक दायित्व है। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि प्रत्येक प्रभु राजको अपनी सीमाके भीतरके हर व्यक्ति और हर वस्तुपर अच्छेद्य अधिकार है। यदि इस अधिकार पर कोई रोकथाम है तो वही जो कि अन्ताराष्ट्रिय समाजका सदस्य होनेके नाते उस राजने स्वयं स्वीकार कर ली है।

किसी राजका किसी दूसरे राजके आभ्यन्तर प्रबन्धके सम्बन्धमें कुछ कहना अनुचित हस्तक्षेप है परन्तु अन्ताराष्ट्रिय समाजकी सदस्यताने प्रत्येक राजके लिए कुछ अधिकार और कर्तव्य निर्धारित कर दिये हैं जिनको अन्ताराष्ट्रिय विधान व्यक्त करता है। यदि कोई राज इस विधानकी प्रत्यक्ष अवहेलना करता है या ऐसा आचरण करता है जो अन्ताराष्ट्रिय विधानके मूलभूत सिद्धान्तों या अन्ताराष्ट्रिय सौजन्यके विपरीत प्रतीत हो तो दूसरे राजोंको विरोध करनेका स्वत्व प्राप्त हो जाता है। यह विरोध पत्रव्यवहारतक समाप्त हो सकता है और युद्धका रूप ले सकता है। अच्छा यही है कि विवाद न्यायालयोंके आगे न जाय।

यदि किसी राजके विधानमें देशी-परदेशीका भेद है, अर्थात् परदेशियोंके लिए देशियोंसे भिन्न प्रकारका दीवानी फौजदारी कानून है, तो निश्चय ही शिकायतकी बात है। न्यायालयोंकी व्यवस्था, वकील और अपील करने और साक्ष्य देनेके नियम आदि वैसे ही होने चाहिये जैसे अन्य सभ्य देशोंमें होते हैं।

उत्तरी अफ्रीकामें मरक्को नामका देश है। यों तो वहाँ एक सुल्तान है परन्तु देशका बहुत बड़ा भाग फ्रांसके आधिपत्यमें है। कुछ अंशपर इसी प्रकार स्पेनका आधिपत्य है। इस स्पेनी भू-भागमें १९२१–२२ में विद्रोह हुआ। काफी उपद्रव रहा परन्तु दमन करके जनता दबा दी गयी। अस्तु, उस प्रदेशमें कुछ अंग्रेज रहते थे। उनकी भी क्षति हुई। जब उनकी बात कहीं और न सुनी गयी तो ब्रिटिश सरकारने उनका पक्ष लिया। अन्तमें १९२३ में उभय पक्षमें मैड्रिडमें यह समझौता हुआ कि सारा प्रश्न किसी एक व्यक्तिको समीक्षक बनाकर सौंप दिया जाय और उसकी रिपोर्टमें

जो सुझाव हो वह पञ्चके निर्णयकी भाँति मान लिया जाय। स्थायी न्यायालयके न्यायाधीश ह्यूबर समीक्षक नियुक्त हुए। उनकी रिपोर्टमें कई ऐसी बातें हैं जो उन सिद्धान्तोंपर प्रकाश डालती हैं जिनके अधीन उन प्रश्नोंका निर्णय हो सकता है जिनका विचार इस अध्यायमें हो रहा है।

ब्रिटेनका कहना था कि अंग्रेज प्रवासियोंकी क्षतिपूर्ति स्पेनकी सरकारको करनी चाहिये क्योंकि वह उनकी रक्षा नहीं कर सकी। रक्षा न कर सकना अन्ताराष्ट्रिय विधानको तोड़ना है। स्पेन सरकार कहती थी कि जब यह लोग हमारे राज्यमें बसे थे तो इनके लिए हमारे न्यायालयोंके सिवाय कोई दूसरी गति नहीं है। यह विवाद पञ्चायतके योग्य नहीं है। अन्ताराष्ट्रिय पञ्चायतों और न्यायालयोंमें वही लोग जा सकते हैं जो अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र हों। यह अंग्रेज साधारण नागरिक हैं और अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें इनकी पात्रता नहीं है।

चूँकि स्पेन इस विचारको पंचायतके योग्य मानता ही न था इसीलिए निर्णायकको समीक्षक[1] कहा गया और घुमा फिराकर यह स्वीकार किया गया कि उसके सुझावोंको पञ्चके निर्णयके समान मान लिया जाय।

पहिला प्रश्न यह था कि यह प्रश्न पंचायतके योग्य है या नहीं। इस सम्बन्धमें श्री ह्यूबरने कहा है कि जो भी प्रश्न अन्ताराष्ट्रिय विधानके भीतर आते हैं वह सभी पंचायतके योग्य हैं। यह समझ लेना चाहिये कि पंचायतके भीतर न्यायालय भी है। जो प्रश्न पंचायतके सामने जा सकता है वह न्यायालयके सामने भी जा सकता है। विधान ही कर्तव्यों और अधिकारोंका विनिश्चय करता है। विवादियोंमें किसका क्या कर्तव्य और अधिकार है यह कानूनी प्रश्न है अतः अन्य कानूनी प्रश्नोंकी भाँति इसका भी निर्णय होना चाहिये। चूँकि दो राजोंका प्रश्न है इसलिए किसी एक देशका कानून नहीं वरन् अन्ताराष्ट्रिय विधान निर्णयका आधार होगा। यहाँ सीधा प्रश्न यह है कि यदि एक राजकी प्रजाका दूसरे राजके भीतर नुकसान हो जाय तो क्या प्रथम राज दूसरे राजसे क्षतिपूर्तिकी माँग कर सकता है?

निर्णय प्रश्न

इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया गया। साधारणतः ऐसा नहीं हो सकता। चोरी, मारपीट, अग्निकाण्ड जैसे काण्डोंसे नुकसान होता ही रहता है। यह घटनाएँ तो जीवनकी एक प्रकारसे आनुषंगिक हैं, कहीं भी हो सकती हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने देशमें रहे तब भी उसे यह सब भुगतना पड़ सकता है। कभी-कभी न्यायालयमें सच्चा अभियोग हार जाता है। ऐसी बातोंमें कोई राज अपनी प्रजाकी ओरसे परराजसे शिकायत नहीं कर सकता। परन्तु जब कोई व्यक्ति विदेशमें बसता और व्यापार करता है तो वह इसी भरोसे रहता है कि यहाँ सुरक्षाकी व्यवस्था रहेगी। यदि ऐसा न हो, व्यापक विद्रोह फैल जाय, मारकाट और लूटमार होने लगे, लोगोंकी सम्पत्ति जला दी जाय तो दूसरी अवस्था उत्पन्न होती है। जिस अव्यक्त आश्वासनके भरोसे विदेशी आये थे उसकी पूर्ति नहीं हो रही है और जो राज अपने यहाँ यह सब होने देता है वह अपने अन्ताराष्ट्रिय विधान द्वारा सम्मत कर्तव्यसे च्युत होता है और उस विधानके विरुद्ध आचरण करनेका दोषी है। इस दशामें दूसरेको अपने प्रजाजनकी ओरसे क्षतिपूर्तिकी माँग उपस्थित करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। भले ही इसको हस्तक्षेप कहा जाय परन्तु इस अधिकारको स्वीकार न करनेका तात्पर्य यह होगा कि अन्ताराष्ट्रिय विधानके पास अन्यायके प्रतिकारका कोई साधन ही न रह जायगा।

अन्ताराष्ट्रिय कर्तव्यसे च्युति

पात्रताके प्रश्नपर समीक्षकने यह राय दी कि भले ही प्रत्येक नागरिक अन्ताराष्ट्रिय विधान-

१ Reporter

का पात्र न हो परन्तु जब कोई राज अपने प्रजाजनकी ओरसे ऐसा प्रश्न उठाता है तो यह मानना चाहिये कि वह प्रजाकी क्षतिको अपनी क्षति समझता है। ऐसी अवस्थामें कोई व्यक्ति नहीं वरन् राज वादी हो गया। अतः यह प्रश्न अन्ताराष्ट्रिय विधानके अन्तर्गत है।

इस मुकदमेके निर्णयका बहुत महत्त्व है। इससे राजोंके अधिकारों और कर्तव्योंपर बहुत प्रकाश पड़ता है। इससे कुछ मिलता-जुलता मुकदमा १९२६ में हुआ। बायरन एवरेट जेन्स नामके एक अमेरिकन नागरिककी मेक्सिकोमें हत्या की गयी। कार्बाजाल नामके एक व्यक्तिने उसे दिन-दहाड़े बहुतसे लोगोंके सामने गोली मार दी। प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि मेक्सिकोकी पुलिसने उसको पकड़नेका यत्न नहीं किया। अमेरिकन सरकारने जेन्सकी विधवा और उसके दो बच्चोंकी ओरसे मेक्सिकोकी सरकारसे क्षतिपूर्तिकी माँग की। दो जजोंके आयोगके सामने विवाद पेश हुआ। उन्होंने अमेरिकन माँगको न्याय्य पाया।

कोई राज उसी परिस्थितिमें दोषी ठहराया जा सकता है जब कि उसके किसी अंग—विधायिका, न्यायालय या शासनके कर्मचारी—के किसी कामसे वह परिस्थिति उत्पन्न हुई हो। भले ही वह अंग अपने राजके विधानके अनुसार काम कर रहा हो परन्तु यदि उसके कामसे अन्ताराष्ट्रिय विधानकी अवहेलना होती है तो वह राज दोषी है, यद्यपि राजकी दृष्टिमें वह अंग निर्दोष है। यदि कोई सरकारी कर्मचारी अपने राजकी आज्ञाके विरुद्ध या अपने देशके विधानको तोड़कर कोई ऐसा काम कर दे जो अन्ताराष्ट्रिय विधानके विरुद्ध है तो वह राज दोषी माना जायगा। यदि वह अपने सब अंगोंपर नियन्त्रण नहीं रख सकता तो यह उसकी दुर्बलता है।

राजका दोषित्व

किसी राजके प्रवासी नागरिकको कुछ नुकसान पहुँच जाने मात्रसे अन्ताराष्ट्रिय समस्या नहीं उठ खड़ी होती। कोई विशेष, असाधारण, परिस्थिति होनी चाहिये परन्तु ऐसी परिस्थिति है या नहीं इसका निर्णय करना कभी-कभी बहुत कठिन होता है। इस सम्बन्धमें स्थानीय क्षतिनिग्रह नियम[१]से बहुत सहायता मिलती है। इस नियमका तात्पर्य यह है कि जो विदेशी जिस देशमें बसा हो अर्थात् जहाँ उसकी क्षति हुई हो पहिले वहाँ ही पूर्ति करानेका यत्न करे अर्थात् स्थानीय न्यायालयोंकी शरण ले। उस देशके नागरिक जिस बड़ेसे बड़े अधिकारी या न्यायालयतक जा सकते हों वहाँतक जाया जाय। यदि इस प्रकार सन्तोषजनक क्षतिनिग्रह न हो तब ही प्रश्न दूसरे स्तरपर लाया जा सकता है। स्थानीय निग्रहकी अप्राप्ति इस बातका प्रमाण होगी कि अन्ताराष्ट्रिय विधानकी अवहेलना की जा रही है। ऐसी दशामें उस व्यक्तिकी ओरसे उसके राजको बोलनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है।

स्थानीय क्षति-निग्रह नियम

कुछ लोगोंका कहना है कि स्थानीय निग्रहके सम्बन्धमें सन्तोषजनक असन्तोषजनकका प्रश्न नहीं उठना चाहिये। जब किसीका मुकदमा अदालतमें जाता है तो वह यह आशा नहीं रख सकता कि उसकी इच्छाके अनुरूप ही निर्णय हो। १८८६ में सैन साल्वाडोरने अपने यहाँ एक विधान बनाया जिसकी ३९ वीं धाराके अनुसार कोई विदेशी अन्ताराष्ट्रिय हस्तक्षेपका प्रश्न तब ही उठा सकता था जब वह क्षतिनिग्रहके सब स्थानीय साधनोंसे काम ले चुका हो, निर्णय करनेमें जान-बूझकर देर की जाय या न्यायकी अप्राप्ति[२]

न्यायकी अप्राप्ति

१ The Rule of Local Remedy.

२ Denial of Justice.

हो। चालीसवीं धारामें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि अप्राप्ति तब ही मानी जायगी जब न्यायालय यह कहे कि हम निर्णय करेंगे ही नहीं। न्यायालयका निर्णय हो जाने पर, चाहे वह निर्णय गलत या कानूनके विरुद्ध ही क्यों न हो, न्यायकी अप्राप्तिकी आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। दूसरे राजोंके दूतोंने अपनी सरकारोंकी ओरसे सैन साल्वाडोरकी सरकारको सूचित किया कि यह विधान हमको अमान्य है। इसका परिणाम यह होगा कि कोई राज, जिसके यहाँ विदेशियोंकी भारी क्षति हुई हो अपने न्यायालयोंसे कुछ उल्टा-सीधा फैसला कराके परराज्योंका मुँह बन्द कर सकता है। यदि निर्णय अन्ताराष्ट्रिय विधानके विरुद्ध है तो वस्तुतः न्यायकी अप्राप्ति हुई है और विवादका रूप अन्ताराष्ट्रिय हो गया।

ऐसे विवादोंको अन्ताराष्ट्रिय रूप न मिले इस उद्देश्यसे कुछ राज एक विशेष युक्तिसे काम लेते हैं जिसे काल्वो सिद्धान्त[१] कहते हैं। इसका उपयोग बहुधा दक्षिणी अमेरिकामें हुआ। १८९७ में स्पेन और पेरूमें एक सन्धि हुई थी जिसकी छठीं धारासे यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। "पेरूमें स्पैनिअर्ड और स्पेनमें पेरूवियन लोगोंको तत्तद्देशके नागरिकोंके सब मुल्की स्वत्व होंगे⋯⋯जबतक न्यायके विषयमें प्रमाद या स्पष्ट अप्राप्ति न हो तबतक पेरूमें स्पैनिअर्ड और स्पेनमें पेरूवियन, लोगोंको अन्ताराष्ट्रिय हस्तक्षेप का अधिकार न होगा।

काल्वो सिद्धान्त

इसका तात्पर्य यह हुआ कि भले ही निर्णय अन्ताराष्ट्रिय विधानके प्रतिकूल हों परन्तु इन दोनों राजोंका कोई विवाद स्थानीय न्यायालयोंके आगे न जायगा और यह एक दूसरेके प्रति अपनी अपनी प्रजाकी ओरसे कभी कोई माँग पेश न करेंगे। कुछ और सन्धियाँ भी इसी प्रकारकी लिखी गयी हैं।

जबतक बहुत गम्भीर और अनन्यथासिद्ध कारण उत्पन्न न हों तबतक ऐसे प्रश्नोंका न उठाया जाना ही अच्छा है। एक परिस्थिति जिसमें ऐसा विवाद खड़ा हो जाता है उस समय उत्पन्न हो जाती है जब कोई राज किसी विदेशीसे कोई काम कराता है, उदाहरणके लिए किसी विदेशी कम्पनीसे बिजलीका कारखाना बनवाता है और फिर यथोचित रुपया देनेमें आनाकानी करता है या विदेशियोंके हाथ ऋणके कागज बेचकर नियत तिथिपर चुकता नहीं करता। ऐसे विवादोंका अन्ताराष्ट्रिय रूप हो ही जाता है। ऋणके पीछे तो पहिले सशस्त्र हस्तक्षेप भी हो जाता था परन्तु हेगमें १९०७ में यही तय पाया कि ऐसे विवाद शान्तिमय उपायोंसे ही सुलझाये जायँगे पर यदि ऋणी राज पञ्चायतके प्रस्तावका उत्तर ही न दे या पंचके निर्णयको न माने तो उत्तमर्णराज पर कोई बन्धन न होगा।

---

१ Calvo Doctrine

छठवाँ अध्याय

सन्धियाँ

हम पहिले ही खण्डमें देख आये हैं कि सन्धियाँ कितने प्रकारकी होती हैं और उनका अन्ताराष्ट्रिय विधानमें क्या महत्त्व है। यदि स्थूल परिभाषा की जाय तो हम यह कह सकते हैं कि सन्धियोंका अन्ताराष्ट्रिय विधानमें वही स्थान है जो इकरारनामोंका सामान्य विधानमें है। जिस प्रकार दो या अधिक व्यक्ति इकरारनामा लिखकर किसी विशेष कामको करने या न करनेके लिए अपनेको बाध्य कर देते हैं उसी प्रकार सन्धिपत्रके द्वारा दो या अधिक राज अपनेको बाध्य करते हैं।

परन्तु इकरारनामों और सन्धियोंमें दो-एक बड़े महत्त्वके भेद हैं। पहिली बात यह है कि इकरारनामा सदैव अपनी इच्छासे लिखा जाता है। यदि यह बात प्रमाणित की जा सके कि उसके लिखते समय एक पक्षने दूसरेपर किसी प्रकारका दबाव डाला था तो वह रद कर दिया जायगा। सन्धियोंमें यह बात नहीं है। बहुतसी सन्धियाँ दबाव डालकर ही लिखवायी जाती हैं और सारा जगत् यह बात जानता है। युद्धके पीछेकी सन्धियाँ तो सर्वथा इसी प्रकारकी होती हैं पर इस कारणसे वह रद नहीं की जा सकतीं। हाँ, यदि हस्ताक्षर करते समय एक राज दूसरेके प्रतिनिधिको बन्द करके या मारपीटकी धमकी देकर उससे कुछ लिखवा ले तो वह रद समझा जायगा। राजपर दबाव डालना अवैध नहीं है पर उसके प्रतिनिधिपर शारीरिक या अन्य प्रकारका निजी दबाव डालना अवैध है।

सन्धि और इकरारनामेमें भेद

दूसरा भेद यह है कि इकरारनामा तब ही टूट सकता है जब या तो एक पक्ष उसकी शर्तोंको न पूरा करे या दोनों पक्ष पृथक् होनेपर स्वतः सहमत हो जायँ या एक पक्ष किसी न्यायालयको यह सिद्ध कर दे कि अब वह परिस्थिति नहीं है जो तब थी जब यह इकरारनामा लिखा गया था अतः मैं इसके पालनसे मुक्त कर दिया जाऊँ और न्यायालय इस प्रकारकी आज्ञा दे दे। पर सन्धियोंके लिए यह बात नहीं है। यदि एक पक्षकी समझमें परिस्थितिमें परिवर्तन हो गया हो तो वह पृथक् हो सकता है। सौजन्यकी बात यह है कि वह दूसरे पक्षको पर्याप्त सूचना दे दे। पर बलवान् राज ऐसा नहीं भी करते और उन्हें दबाने या दण्ड देनेवाला कोई है नहीं। आत्मरक्षाके नामपर सब कुछ किया जा सकता है। कूटनीतिके आचार्य मैकिआवेलीने यह उपदेश दिया है कि समझदार शासकको चाहिये कि जहाँ अपनी हानि होते देखे वहाँ प्रतिज्ञा तोड़ दे। इसी नीतिके अनुसार जर्मनीने उस सन्धिको जिसके द्वारा बेल्जियम तटस्थीकृत राज बनाया गया था और जिसपर स्वयं उसके प्रतिनिधिके हस्ताक्षर थे, 'कागजका एक टुकड़ा' बतलाकर तोड़ दिया।

राष्ट्रसंघने यह नियम बनाया था कि सब राज अपनी आपसी सन्धियोंकी संघके कार्यालयमें रजिस्ट्री करा लें। संयुक्त राष्ट्रोंके समयकने इस कर्तव्यको और स्पष्ट कर दिया है। उसकी धारा १०२ इस प्रकार है—

(१) वर्तमान समयकके लागू होनेके बाद संयुक्तराष्ट्र संघटनका कोई सदस्य अगर कोई सन्धि या अन्ताराष्ट्रिय समझौता करता है तो उसको सचिवालय जल्दीसे जल्दी अपने यहाँ रजिस्टर करके प्रकाशित करेगा।

(२) अगर कोई सन्धि या समझौता इस धाराकी उपधारा (१) के अनुसार रजिस्टर नहीं हुआ है तो कोई भी फरीक संयुक्तराष्ट्र संघटनके किसी अंगके आगे उस सन्धि या समझौतेका उल्लेख नहीं कर सकेगा। यहाँ अंगके अन्तर्गत अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय भी है। इन शर्तोंका उद्देश्य गुप्त सन्धियोंपर प्रतिबन्ध लगाना है। इस उपधारा (२) का उत्तरार्ध बहुतसी पुरानी सन्धियोंको एक प्रकारसे रद्द कर देता है। उसके शब्दोंमें अगर संयुक्तराष्ट्र संघटनके किसी सदस्यके वर्तमान समयकके दायित्व किसी दूसरे अन्ताराष्ट्रिय समझौतेके दायित्वोंके विरुद्ध पड़ते हों तो उस स्थितिमें वर्तमान समयकके ही दायित्वोंको माना जायगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सन्धि या समझौतेकी मान्यता वहींतक है जहाँ तक वह समयकके प्रतिकूल न हो।

सन्धियोंके लिखे जानेके पहिले उनके विषयमें बहुत कुछ बातचीत और पत्र-व्यवहार होता है। जहाँ साधारण सन्धियोंका प्रश्न होता है वहाँ तो एक राजका राजदूत दूसरेके परराज-सचिवसे मिलकर सब बातें ठीक कर लेता है। बीच-बीचमें वह अपनी सरकारसे भी परामर्श लेता जाता है। सब कुछ निश्चित हो जानेपर दोनों ओरसे हस्ताक्षर हो जाते हैं। यदि किसी कारणसे राजदूतको अपनी सरकारका उत्तर ठीक समय-से न मिल सके और काम आवश्यक हो तो वह अपने दायित्वपर हस्ताक्षर कर देगा पर यह समझ लिया जायगा कि यह हस्ताक्षर तभी पक्का माना जायगा जब उसके पास उसकी सरकारकी अनुकूल आज्ञा आ जाय।

सन्धि लिखे जानेका क्रम

विशेष अवसरोंपर साधारण राजदूतोंसे काम नहीं लिया जाता वरन् उस अवसर विशेषके लिए ही विशेष अधिकार देकर प्रतिनिधि नियुक्त होते हैं। युद्धके पीछे जो सन्धियाँ होती हैं उनमें प्रायः ऐसा ही होता है। ऐसे प्रतिनिधियोंको अपने-अपने राजसे सन्धि करनेके पूर्ण अधिकार दिये जाते हैं क्योंकि यदि उन्हें कोई अधिकार ही न हो तो उनके साथ वादविवाद करना व्यर्थ है। १९२० में रूस और पोलैण्डमें सन्धि होनेकी बातचीत चली परन्तु पोलैण्डवालोंने ऐसे प्रतिनिधि भेजे जिन्हें सन्धि करनेका पूर्णाधिकार ही न था। रूसके प्रतिनिधियोंने उनसे बातचीत करना अस्वी-कार कर दिया। जब पोलिश सरकारकी ओरसे उन्हें अधिकार मिल गये तब बातचीत आरम्भ हुई।

जब आपसकी बातचीतमें सन्धिकी मूल शर्तें निश्चित हो जाती हैं तो फिर वह लेखबद्ध की जाती हैं। यह बड़ा ही कठिन काम होता है क्योंकि अस्पष्ट भाषा आगे चलकर झगड़े उत्पन्न कर सकती है। यदि दोनों पक्ष भिन्न-भिन्न भाषाओंका प्रयोग करते हैं तो काम और बढ़ जाता है क्योंकि सभी भाषाओंमें सन्धियाँ लिखनी पड़ती हैं और प्रत्येक राजके पास उसीकी भाषावाली प्रति रहती है। वह राज उसीको प्रामाणिक मानता है। अन्तमें जब यह सब झगड़े समाप्त हो जाते हैं और भाषाके विषयमें कोई मतभेद नहीं रह जाता तो सब प्रतिनिधि अपने-अपने हस्ताक्षर कर देते हैं।

पर इतनेसे ही सन्धि पक्की नहीं समझी जाती न उसकी शर्तोंके अनुसार काम होने लगता है। प्रत्येक राजमें किसी-न-किसीको युद्धकी घोषणा करने और युद्ध बन्द करनेका अधिकार देना ही पड़ता है। यह अधिकार किसी व्यवस्थापक सभा या पार्लमेण्टको नहीं दिया जा सकता। ऐसी संस्थाओंमें सैकड़ों सदस्य होते हैं, यदि उनके सामने यह प्रश्न रखे जायँ तो समय बहुत लगे और रहस्य खुल जाय। जिसको अधिकार रहता है वह सरकारका मुख्याधिष्ठाता होता है। राजतन्त्रोंमें नरेश व प्रजातन्त्रोंमें राष्ट्रपतिको ऐसा अधिकार रहता है। ब्रिटेनको ही लीजिये। नरेशको अधिकार है जब जिससे चाहें युद्ध छेड़ सकते हैं; पर स्वेच्छाचारिताके लिए रोक भी है। बिना पार्लमेण्टकी

अनुज्ञाके एक पैसा व्यय नहीं हो सकता, अतः नरेश ऐसा युद्ध कदापि नहीं छेड़ते जो पार्लमेण्टको अनुमत न हो। इसी प्रकार वह जब चाहें युद्ध बन्द कर सकते हैं पर सन्धि पार्लमेण्टके सामने पेश होती है और जब वह उसे स्वीकार कर लेती है तब पक्की होती है। अमेरिकामें सेनेटकी स्वीकृति आवश्यक है। स्वीजरलैण्डमें यह नियम है कि जिस सन्धिकी मीयाद पन्द्रह वर्ष या अधिक हो वह, यदि वोटरोंकी एक नियत संख्या प्रार्थना करे, तो सारे देशके वोटरोंके सामने पेश की जाती है। अस्तु, कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक देशकी शासन-पद्धतिने किसी-न-किसी संस्थाको यह अधिकार दे रखा है कि वह सन्धिपर विचार करे ताकि सरकार और उसके प्रतिनिधि मनमानी शर्तें न मान बैठें। इस रोकका फल यह होता है कि प्रत्येक सरकार पहिले तो ऐसे प्रतिनिधियोंको सन्धि-परिषद्में भेजती है जिनके ऊपर जनताका विश्वास होता है और फिर उनको आदेश देती है कि खूब सोच विचारकर हस्ताक्षर करें। कभी-कभी बड़ी अड़चन पड़ जाती है। प्रथम महासमरके बाद जर्मनीसे वर्साईकी जो सन्धि हुई उसपर अमेरिकाके राष्ट्रपति विल्सनने हस्ताक्षर कर दिया। वह स्वयं अमेरिकन प्रतिनिधि बनकर गये थे। जब यह सन्धि अमेरिकन सेनेटके सामने आयी तो उसने उसे अस्वीकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी और अमेरिकामें युद्ध तो राष्ट्रपतिकी घोषणासे बन्द हो गया पर सन्धि न हुई। अन्तमें लगभग डेढ़ वर्षके बाद दोनोंमें एक पृथक् सन्धि हुई।

जब इस प्रकार सन्धिका समर्थन[1] हो जाता है तो उसकी एक-एक समर्थित प्रतिका आपसमें विनिमय होता है। यह इस बातका प्रमाण है कि अब सन्धि दोनों राजोंको पूर्णतया स्वीकृत है। फिर प्रत्येक राज अपने यहाँ घोषणा कर देता है कि हमसे अमुक राजसे अमुक-अमुक शर्तोंपर सन्धि हुई और वह अमुक तिथिसे व्यवहारमें आयेगी। यहींपर सारी प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।

यह विचार करने योग्य प्रश्न है कि जो राज सन्धिके सम्बन्धमें उदासीन रहते हैं उनके लिए सन्धियोंका क्या परिणाम होता है। जो राज स्वतन्त्र हैं वह किसी ऐसी सन्धिसे नहीं बाँधे जा सकते जिसपर उनके हस्ताक्षर न हों, पर व्यवहारमें यह होता है कि यदि नयी सन्धिमें कोई ऐसी बात नहीं है जिससे सन्धि करनेवालोंके अतिरिक्त और किसीका अप्रत्यक्ष हिताहित होता है या जो अन्ताराष्ट्रिय विधानके किसी सर्वसम्मत सिद्धान्तके विरुद्ध है तो अन्य राज भी उसे मान लेते हैं। उनका मान लेना यही है कि उसके विरुद्ध किसी प्रकारका आचरण न करें।

उदासीन राजोंके लिए परिणाम

परिशिष्टमें हम कुछ आधुनिक सन्धियोंके उदाहरण देंगे।

अब हमें यह देखना है कि सन्धियाँ किस प्रकार समाप्त होती हैं। कुछ सन्धियाँ तो ऐसी हैं जिनकी उत्पत्ति और समाप्ति साथ-ही-साथ होती है। यदि एक राज दूसरे राजको अपने राज्यका कुछ भाग दे देता है या बेच देता है तो यह ऐसे काम हैं जो सन्धि लिखी जानेके बाद अति शीघ्र सम्पादित हो जाते हैं अतः सन्धिपत्रकी फिर कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। कुछ सन्धियोंमें स्वतः मीयाद दी रहती है कि यह संधि इतने दिनोंके लिए है। यह अवधि बीत जाने पर वह संधि आप ही समाप्त हो जाती है। यह दूसरी बात है कि दोनों पक्ष सहमत होकर अवधिको फिर बढ़ा लें।

सन्धियोंकी समाप्ति

कुछ सन्धियाँ दोषारोप[2] करके समाप्त कर दी जाती हैं। यदि सन्धि लिखे जानेके कुछ दिन

१ Ratification

२ Denunciation

बाद एक पक्षको यह देख पड़े कि उसमें कोई ऐसी शर्त है जो अन्ताराष्ट्रिय विधानके विरुद्ध है या लिखते समय प्रतिनिधियोंपर अनुचित दबाव डाला गया था या दूसरा पक्ष उसका पालन नहीं कर रहा है तो उसे अधिकार है कि सन्धिको दूषित ठहराकर उसका पालन करना अस्वीकार कर दे। यदि वह यह दिखला सके कि जिस परिस्थितिमें सन्धि लिखी गयी थी वह अब नहीं रही या अब यह सन्धि उसकी सत्ताके लिए हानिकारक प्रतीत हो रही है या जिस लाभकी आशासे लिखी गयी थी वह नहीं हो रहा है तब भी सन्धि रद हो जायगी परन्तु ऐसी दशामें यदि दूसरा पक्ष यह दिखला सके कि सन्धिके यकायक तोड़ दिये जानेसे उसकी क्षति होगी तो पहिले पक्षको इस क्षतिकी पूर्ति करनी होगी।

राज जब चाहते हैं किसी-न-किसी बहाने सन्धियोंको रद कर डालते हैं। १८७८ में तुर्कीके बोस्निआ और हर्जेगोविना प्रान्त आस्ट्रियाको इसलिए दिये गये कि वह उनपर शासन करे पर यह स्पष्ट लिख दिया गया कि इनपर प्रभुत्व तुर्कीका रहेगा। १९०८ में आस्ट्रियाने इन्हें अपने राज्यमें मिला लिया। कहनेको उसने कई बहाने बतलाये और यह दिखलानेका प्रयत्न किया कि सन्धिका उल्लंघन और लोग बहुत पहिलेसे करते आ रहे हैं और स्वयं तुर्की कई बातोंमें उसके विरुद्ध आचरण कर चुका है। जो कुछ हो, आस्ट्रियाकी कार्यवाही किसी दृष्टिसे न्याय्य न थी, यूरोपके अन्य राजोंने भी उसकी निन्दा की। इसपर उसने तुर्कीको क्षतिपूर्तिस्वरूप कुछ धन देना तो स्वीकार किया पर दोनों प्रान्तोंको न छोड़ा। हम जर्मनी और बेल्जियमका उदाहरण दे चुके हैं। ऐसे उदाहरण बहुतसे होते रहते हैं। यदि आपसकी सन्धिके होते हुए भी एक राज दूसरेपर सहसा आक्रमण कर बैठे तो उसके बलात्कारसे सन्धि आप ही टूट जाती है।

सन्धियोंपर युद्धका प्रभाव

पहिले तो यही विचार होता है कि युद्ध छिड़ते ही सन्धियोंका अन्त हो जाता होगा पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। कुछ सन्धियाँ ऐसी हैं जिनका निःसन्देह लोप हो जाता है पर सबका नहीं। कुछ सन्धियाँ युद्धकालके लिए ही लिखी जाती हैं। उनमें यह शर्तें होती हैं कि यदि हममें युद्ध छिड़ गया तो आपसमें कैसा बर्ताव होगा। यह सन्धियाँ स्वतः चालू रहती हैं। ऐसी सन्धियाँ भी चालू रहती हैं जिनमें दोनों योद्धा दलोंके अतिरिक्त कोई और भी सम्मिलित हो। १८१५ में रूस, ब्रिटेन और हालैण्डमें एक सन्धि हुई। उस समय रूसका हालैण्डपर ऋण था। सन्धि द्वारा ब्रिटेनने इसका आधा चुकाना स्वीकार किया और इसके बदले उसे डच उपनिवेशोंका एक अंश मिला। १८५४ में क्रीमियन युद्ध हुआ जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस और तुर्की एक ओर थे, रूस दूसरी ओर था। ब्रिटिश पार्लमेण्टमें यह प्रश्न उठा कि ऐसी दशामें रूसको रुपया देना बन्द कर दिया जाय पर अन्तमें यही निश्चय हुआ कि १८१५ की सन्धिको तोड़ना राष्ट्रीय मानके विरुद्ध होगा अतः युद्धके समय भी रूस सरकारको ब्रिटेनसे बराबर रुपया मिलता रहा।

सन्धियोंकी मीमांसा

चाहे कितनी भी सावधानी बरती जाय परन्तु कभी-कभी सन्धियोंके ठीक अर्थके सम्बन्धमें मतभेद हो ही जाता है। प्रत्येक राष्ट्र अपने देशकी भाषामें लिखी प्रतिको प्रामाणिक मानता है परन्तु कभी-कभी हर भाषामें भावका व्यञ्जन तुल्य रूपसे नहीं हो पाता। बहुधा सन्धियोंके साथ एक विवृत्ति[१] जोड़ दी जाती है जिसमें शंकास्पद स्थलोंका स्पष्टीकरण रहता है। इतने पर भी कभी-कभी विवाद उठ जाता है और यदि आपसमें

---

१ Protocol, Proce's-verbal

बात तय न हो गयी तो अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयको निर्णय करना पड़ता है। इसके पहिले हेगका स्थायी न्यायालय कई सन्धियोंकी व्याख्या कर चुका है।

सन्धियोंके शब्दोंकी मीमांसा करनेमें उन्हीं सिद्धान्तोंसे काम लिया जाता है जिनका उपयोग अन्य प्रकारके सन्दिग्धार्थ कागजों मुख्यतः इकरारनामोंके विषयमें होता है। इस सम्बन्धमें छः बातोंका ध्यान रक्खा जाता है—

(क) शब्दोंका वही अर्थ लेना चाहिये जो उस प्रसंगमें साधारणतः हो सकता है।

(ख) पारिभाषिक शब्दोंका पारिभाषिक अर्थ लेना चाहिये।

(ग) समूची सन्धिका चित्र सामने रखना चाहिये। किसी अंशका ऐसा अर्थ न लगाना चाहिये जिससे सन्धि बेमेल अंगोंका समुच्चय बन जाय।

(घ) ऐसा अर्थ न करना चाहिये जिससे ऐसा निष्कर्ष निकले जो बुद्धिसे असंगत हो या जिसका परिणाम यह है कि सन्धि अव्यावहारिक हो जाय।

(ङ) ऐसा अर्थ करना चाहिये जिससे उभय पक्षपर कमसे कम बोझ पड़े और उनकी स्वाधीनतामें कमसे कम बाधा पड़े।

(च) जो देखनेमें स्पष्ट है उसकी व्याख्या करने और उसमेंसे कोई गूढ़ अर्थ निकालनेका प्रयत्न न करना चाहिये।

मीमांसाका उद्देश्य होता है सन्धिका अर्थ निकालना अर्थात् यह बात स्पष्ट करना कि सन्धि लिखते समय दोनों पक्षोंका क्या तात्पर्य रहा होगा। इसके लिए यह तो मान ही लेना होता है कि एक दूसरेको धोखा देनेका विचार नहीं था और चाहे यथार्थ शब्दोंमें व्यक्त न करते बना हो परन्तु जो कुछ भी भाव था वह अन्याय और कपट मूलक नहीं था। इस भूमिकामें विधान शास्त्रके मौलिक सिद्धान्तों, व्याकरण तथा तर्कशास्त्रके सहारे काम किया जाता है। परन्तु कभी-कभी एक कठिनाईका सामना होता है। मीमांसकको निहित अर्थ ढूँढ़ना ही नहीं होता, नया अर्थ पहिनाना भी पड़ता है। सन्धि जब लिखी गयी तबसे परिस्थिति बदल गयी हो या यह बात स्पष्ट हो जाय कि उनके अन्तर्गर्भित गम्भीर अर्थों पर पूर्णतया विचार किये बिना ही कुछ शब्दोंका प्रयोग कर दिया गया है तो सन्धिकर्ताओंके सन्धि लिखते समयके तात्पर्यको खोलना व्यर्थ होगा। ऐसी अवस्थामें न्यायालय ऐसी टीका करनेका यत्न करता है जो वर्तमान परिस्थितिके अनुकूल हो और उभय पक्षके हितोंकी यथासम्भव अधिकसे अधिक रक्षा करता हो।

अब न्यायालयोंके सामने संयुक्त राष्ट्र संघटनका समयक है। उसके प्रकाशमें व्याख्याएँ की जाती हैं। इसका परिणाम यह होना चाहिये कि कुछ दिनोंमें सभी सन्धियोंका स्वरूप प्रायः एकसा हो जायगा।

कभी-कभी सन्धियोंकी एकपक्षीय व्याख्याका अवसर भी आ जाता है। किसी देशके न्यायालयमें किसी मुकदमेके सम्बन्धमें किसी सन्धिके ठीक अर्थ लगानेकी आवश्यकता पड़ जाती है। ऐसी दशामें बहुधा न्यायालय अपने देशके विधानोंका मानदण्ड मानकर चला करते थे। यह ठीक नहीं है। सन्धि अन्ताराष्ट्रिय समयपत्र है। उसको अन्ताराष्ट्रिय विधान, अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयके अबतकके फैसलों तथा संयुक्त राष्ट्र संघटनके समयकके प्रकाशमें ही देखना चाहिये, अन्यथा अन्याय होनेकी सम्भावना है।

सातवाँ अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय पञ्चायतें और न्यायालय

यदि राजोंमें झगड़े न हों या आपसके समझौतेसे उनका निपटारा हो जाय तो बहुत ही अच्छा हो पर सदैव ऐसा नहीं होता। कभी-कभी बात इतनी बढ़ जाती है कि साधारण बातचीत या लिखा-पढ़ीसे काम नहीं चलता। उस समय सिवाय युद्धके और कोई उपाय नहीं सूझता। पर यह सम्भव है कि यदि कोई तीसरा राज बीचमें पड़ जाय तो आपसमें फिर मेल हो जाय। यदि युद्ध छिड़ भी गया हो तो किसी तीसरेके बीचबिचाव करनेसे उसका शीघ्र समाप्त होना सम्भव है नहीं तो उभय पक्षमेंसे कोई भी लज्जाके मारे बन्द करनेका नाम न लेगा, जबतक कि दोनों या कम-से-कम एक पूर्णतया निकम्मा न हो जाय।

कभी-कभी एक और युक्तिसे वैमनस्य दूर हो जाता है। जिन दो राजोंमें विवाद होता है वह एक अनुसन्धान-मण्डल[1] नियुक्त करते हैं जिसमें दोनों ओरके तुल्य-संख्यक प्रतिनिधि होते हैं।

अनुसन्धान-मण्डल

इसका सभापति या तो किसी तीसरे राजका निवासी होता है या मण्डलके सदस्योंको अधिकार दिया जाता है कि अपनेमेंसे किसीको सभापति चुन लें या बारी-बारी दोनों देशोंके प्रतिनिधियोंमेंसे सभापति चुने जाते हैं। यह मण्डल विवादग्रस्त विषयोंकी पूरी-पूरी जाँच करता है। चूँकि इसमें दोनों ओरके प्रतिनिधि होते हैं इसलिए इसपर पक्षपातका आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसकी रिपोर्ट देखकर आपसमें समझौता हो जाता है।

परन्तु यदि इन सब युक्तियोंसे काम न चला और युद्ध छिड़ ही गया या छिड़नेके लगभग हुआ तो अन्य राजों (एक या अनेक) को बीचमें पड़ना पड़ता है। इसके दो प्रकार हैं। एकको सत्सेवा[2] और दूसरेको मध्यस्थता[3] कहते हैं। इन दोनोंमें बहुत भेद है।

सत्सेवा और मध्यस्थता

यदि तीसरा राज दोनों पक्षोंसे इतना ही कहता है कि आप लोग लड़िये मत, मैं अमुक स्थानपर प्रबन्ध कर देता हूँ, वहाँ अपने-अपने प्रतिनिधियोंको भेज दीजिये, वह लोग मिलकर समझौतेकी शर्तें तय कर लें तो उसका ऐसा करना सत्सेवा कहलाता है। युद्धके समय दोनों पक्षोंमें आपसका पत्र-व्यवहार बन्द हो जाता है इसलिए सत्सेवा करनेवालेको ही यह कहना पड़ता है कि आप लोग जिन शर्तोंपर मेल करनेको राजी हों मुझे बतलाइये मैं एककी बातें दूसरेतक पहुँचा दूँ। बस इसके आगे उसका दायित्व नहीं होता। वह मेलका बाह्य अवसर उत्पन्न कर देता है, उसके आगे विवादी जो चाहें करें।

मध्यस्थका काम इससे गम्भीर है। वह केवल मार्ग बताकर नहीं रह जाता प्रत्युत मेल करानेका पूरा प्रयत्न करता है। वह दोनोंको समझा-बुझाकर शर्तें तय कराता है, थोड़ा-बहुत दबाव भी डालता है। इसलिए मध्यस्थ वही हो सकता है जिसकी निष्पक्षतापर उभय पक्षको

---

१ Commission of Enquiry

२ Good offices

३ Mediation

विश्वास हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं होता। एक तो शान्ति-स्थापनमें सबका ही हित है, दूसरे यदि उसके पड़ोसमें लड़ाई हो रही है तो अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे उसकी भी क्षति होती होगी या वह समझता होगा कि यदि युद्ध बहुत दिनोंतक चला तो एक या दोनों पक्ष इतने जर्जर हो जायँगे कि वह व्यापार इत्यादिमें भाग न ले सकेंगे जिससे अन्य देशोंकी भी हानि होगी। अस्तु, इस प्रकारका उदार स्वार्थ रखते हुए भी मध्यस्थका निष्पक्ष होना सम्भव है। उसका दायित्व बहुत बड़ा होता है। १८७१ में स्पेनसे पेरू, चिली और इक्वेडरसे युद्ध हुआ। उसमें संयुक्त राज मध्यस्थ बना और उसने सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर तक किया। १९०५ में रूस-जापानमें जो युद्ध हुआ था उसमें भी अमेरिका ही मध्यस्थ था।

सत्सेवा बहुधा मध्यस्थतामें परिणत हो जाती है। रूस-जापान युद्धमें भी पहिले अमेरिकाने सत्सेवाका ही प्रयत्न किया था। मध्यस्थताका सबसे विलक्षण उदाहरण प्रथम महासमरमें मिलता है। एक ओर जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बलगेरिया लड़ रहे थे, दूसरी ओर ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बेल्जियम और अमेरिका थे। युद्ध आरम्भ होनेके चार वर्ष पीछे १९१८ में जर्मनीने स्वीजर-लैण्डकी सत्सेवाके द्वारा अमेरिकासे, जो उस समय स्वयं विरोधी था, यह प्रार्थना करायी कि वह मध्यस्थ बनकर सन्धि करा दे। शत्रुको मध्यस्थ बनाना अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें एक सरासर नयी बात थी।

सत्सेवा या मध्यस्थता दो-तीन अवस्थाओंमें हो सकती है। सबसे सरल तो वह है जिसमें दोनों पक्ष किसी तीसरेसे बीचमें पड़नेकी प्रार्थना करें। उसे अधिकार है कि इस प्रार्थनाको अस्वी-कार कर दे पर बहुधा ऐसा नहीं होता। कभी-कभी एक ही पक्षकी ओरसे प्रार्थना की जाती है। इस दशामें सफलता तभी हो सकती है जब कि दूसरा पक्ष भी सत्सेवा या मध्यस्थता स्वीकार करे। कभी-कभी कोई प्रार्थना नहीं करता वरन् तीसरा राज स्वतः बीचमें पड़ता है। इस दशामें उसकी सफलता दोनोंकी स्वीकृतिपर निर्भर है।

हमारे भारतीय राजोंके सब झगड़े ब्रिटिश सरकारकी सत्सेवा और मध्यस्थतासे तय होते थे। विशेषता यह थी कि वह इन सबकी अधिपति थी, इसलिए उसकी बात कोई टाल नहीं सकता था।

परन्तु कभी-कभी कोरी मध्यस्थतासे काम नहीं चलता। दोनों पक्ष अपने-अपने स्वार्थपर अड़े रहते हैं, मध्यस्थ उनका ध्यान अन्ताराष्ट्रिय व्यवहार या नीति और न्यायकी ओर भले ही आकृष्ट करे पर उसकी सुनता कौन है। विशेष करके, यदि एक पक्ष बलवान् है तो वह अपनी इच्छाके अनुसार ही सब कुछ चाहता है। इसलिए कई बार समझदार राज मध्यस्थ बनना अस्वीकार कर देते हैं। वह कहते हैं कि हमें पंच मान लो तो हम हाथ डालें। यदि उभय पक्ष सहमत हुए तो पहिले एक पंचनामा[1] लिखा जाता है। पंच कौन होगा, कहाँ और कब निर्णय होगा, किस प्रकार दोनों ओरसे प्रमाण उपस्थित किये जायँगे, किन-किन भाषाओंका प्रयोग किया जायगा, इत्यादि निर्णय प्रश्नोंका पूरा विवरण इस पंचनामेमें दिया रहता है। कोई राज पंचायतके सामने ऐसा प्रश्न नहीं रखता जिसका सम्बन्ध उसकी प्रतिष्ठा और स्वाधीनतासे हो। अस्तु, जब सब बातें तय हो जाती हैं तो जो पंच चुने जाते हैं वह न्याया-लयोंके समान पूरी कार्यवाही करके अपना निर्णय सुनाते हैं। चूँकि दोनों पक्ष पहिले ही वचन दे चुके होते हैं कि हम पंचोंकी बात मान लेंगे इसलिए फिर कोई झगड़ा नहीं होता, कमसे कम इस समयतक इसका कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता।

पञ्चायत

१ Compromis d' arbitrage

अब पंचायतकी प्रथा इतनी अच्छी प्रतीत होने लगी है कि बहुती पंचायत-विषयक संधियाँ हो गयी हैं। यह सन्धियाँ कई प्रकारकी हैं। किसी-किसीमें तो दोनों पक्ष यह प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि भविष्यत्‌में हम दोनोंमें अमुक-अमुक विषयोंपर (या अमुक-अमुक विषयोंको छोड़कर अन्य किसी भी विषयपर) विवाद हुआ तो हम उसका पंचायतसे निर्णय करायेंगे। किसी-किसी सन्धिपर कई राजोंके इस विषयके हस्ताक्षर होते हैं कि हम अब अमुक-अमुक प्रकारके सभी विवादोंका निर्णय पंचायतसे करायेंगे। इसे अनिवार्य पंचायत[1] कहते हैं।

मध्यस्थता और पंचायतमें यह बड़ा अन्तर है कि मध्यस्थतामें कोई परम्परा नहीं होती। उसमें जो कुछ होता है वह दोनों पक्षोंके बलाबलको देखकर होता है परन्तु पंचायत न्यायालयके ढंगकी होती है। उसमें सिद्धान्त और विधान तथा परम्पराका ही विचार प्रधान होता है अतः उसका महत्त्व स्थायी होता है।

प्रथम खण्डके छठें अध्यायमें हेगके स्थायी पंच न्यायालयका जिक्र हुआ है। उसके नाममें न्यायालय शब्द भ्रामक था, वस्तुतः उसका काम पंचायत करना ही था। जो राज चाहते थे अपने विवाद उसके पास ले जाते थे। इसलिए कोई फैसला भविष्यत्‌के लिए नजीर नहीं बन सकता था। यह स्पष्ट कर दिया गया था कि कोई भी निर्णय वादी प्रतिवादीके सिवाय और किसीके लिए बाध्य-कारी न होगा और वादी प्रतिवादीको भी उस मुकदमेके विषयमें ही बाँध सकेगा। अपने विवादोंको पंचायतमें ले जाना यों तो ऐच्छिक था परन्तु एक विषयमें अनिवार्य था। १९०७ में यह तय पाया कि यदि एक राजका दूसरे राजपर ऋण हो तो युद्ध करनेके स्थानमें विवाद पंच न्यायालयमें लाया जाय। यदि दूसरा पक्ष पंचायतके सामने आनेको तैयार न हो या पंचायतका फैसला न माने तब विवश होकर ऋणकी वसूलीके लिए युद्ध किया जा सकता है।

यद्यपि पंचायत न्यायालय नहीं होती फिर भी फैसलोंके पीछे कुछ सिद्धान्त तो होते ही हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे अन्ताराष्ट्रिय विवादोंको सुलझानेके लिए उपयुक्त सिद्धान्तोंका संग्रह तैयार हो गया।

प्रथम महासमरके बाद सच्चे अर्थोंमें न्यायालय बनानेकी बात फिर उठायी गयी और १६ दिसम्बर १९२० को न्यायालयकी संविधिपर जिसको राष्ट्रसंघकी महासभाने स्वीकार कर लिया था, हस्ताक्षर हो गये। परन्तु न्यायालय संघके अधीन नहीं था। उसके जजोंको संघकी महासभा और कार्य्यकारिणीके सदस्य चुनते थे, और उसका आयव्ययक संघके आयव्ययकका अंश था। यह भी ठीक है कि कोई ऐसा राष्ट्र जिसका संघके साथ सहयोग न हो न्यायालयसे लाभ नहीं उठा सकता था परन्तु न्यायालयका पृथक् समयपत्र था और उसपर पृथक् हस्ताक्षर हुए थे। बहुतसे अंशोंमें इस स्थायी न्यायालयका काम भी पंचन्यायालयसे मिलता जुलता था परन्तु कुछ अंशोंमें उसके अधिकार विस्तृत थे। वैधानिक विवादोंमेंसे बहुतसे ऐसे थे जो स्थापनाके बाद उसके पास आने लगे थे क्योंकि सम्बन्धित राष्ट्रोंने स्वयं यह तय कर दिया था कि ऐसे विवाद अनिवार्यतया इसके पास भेजे जाया करेंगे। इस प्रकार इसको बहुतसे अन्ताराष्ट्रिय प्रश्नोंपर निर्णय देनेका अवसर प्राप्त हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका कई दृष्टियोंसे स्पष्टीकरण और संवर्द्धन हुआ।

अब इसका स्थान अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयने लिया है। उसका अधिकार-क्षेत्र बहुत विस्तृत है, जैसा कि प्रथम खण्डमें दिखलाया जा चुका है।

---

१ Obligatory arbitration

तृतीय खण्ड—युद्ध-कालीन विधान

पहिला अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय जीवनमें युद्धका स्थान

मानव समाजके आरम्भसे ही युद्ध होता आया है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं पर युद्ध करना अच्छा है या बुरा, इसपर बहुत कम विचार किया गया है। एक ओर वेदादि धर्म-ग्रन्थ और बुद्धादि धर्मप्रवर्तक अहिंसाकी महिमा गाते चले आते हैं, दूसरी ओर युद्ध करनेवालोंकी प्रशंसा भी होती चली आयी है। लड़नेवालेसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाता है कि जीत जानेपर तुम्हें पृथ्वीपर नाना प्रकारके सुख मिलेंगे और यदि लड़ाईमें मारे गये तो सीधे स्वर्ग जाओगे। युद्ध एक आवश्यक या अनिवार्य विपत्ति नहीं समझा जाता था प्रत्युत धर्मका एक प्रधान अङ्ग था। केवल इतना नहीं था कि जब कोई दुष्ट हमारे ऊपर आक्रमण कर ही दे तो उससे लड़ा जाय वरन् यह भी भाव था कि यदि अपनेमें बल हो तो अकारण भी दूसरोंको जीतना चाहिये। स्वयं वेदमें 'योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः' (जो हम लोगोंसे द्वेष करता है, जिससे हम लोग द्वेष करते हैं) के ऊपर विजयकी प्रार्थना की जाती है। बलवान् नरेश अश्वमेध यज्ञ करते थे और उसके लिए घूम-घूमकर दूसरे नरेशोंसे लड़ाई करते थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि युद्ध करना, युद्धमें कुशल होना, पराक्रम दिखलाना, बड़ी प्रशंसाकी बात समझी जाती थी। क्षात्रधर्म केवल स्वरक्षात्मक न था, परायेपर आक्रमण करना उसका मुख्य अंग था।

पाश्चात्य जगत्‌में भी बहुत कुछ ऐसे ही विचार थे। ऐसे भी लेखक और दार्शनिक हुए हैं जो युद्धको बुरा कह गये हैं; पर उसकी प्रशंसा करनेवालोंकी संख्या भी कम नहीं है। आधुनिक जर्मनीके कई प्रसिद्ध दार्शनिकोंने युद्धका समर्थन किया है। उभय-पक्षकी सम्मतियाँ पढ़ने योग्य हैं। हम कुछ अवतरण दोनों ओरके देते हैं।

इरैज्मसने कहा है 'यदि मनुष्योंके जीवनमें कोई ऐसी वस्तु है जिसका प्रतिवाद करना, जिससे हर प्रकार बचना, जिसे रोकना और बन्द करना, हमारे लिए पूर्णतया उचित है तो वह युद्ध ही है। इससे अधिक बुरी, हानिकारक, विनाशकारक और कोई वस्तु नहीं है। इसको दूर करना अत्यन्त कठिन है। ईसाइयोंका तो कहना ही क्या है, मनुष्यमात्रके लिए यह अत्यन्त निंद्य वस्तु है।' हाब्ज् कहते हैं 'युद्धके समय व्यवसायके लिए कोई स्थान नहीं रहता क्योंकि उसका फल अनिश्चित होता है; कृषि बन्द हो जाती है; समुद्रयात्रा बन्द हो जाती है और समुद्रमार्गसे आनेवाली वस्तुका आयात बन्द हो जाता है; बड़े-बड़े घर नहीं बनते; पृथ्वीतलका ज्ञान नहीं होता; समाजका अभाव हो जाता है; सबसे बुरी बात है कि आकस्मिक मृत्युका बराबर भय बना रहता है; और मनुष्यका जीवन अकेला, अल्प, दुःखमय और पशुवत् हो जाता है।'

दूसरे पक्षवालोंके विचार इससे नितान्त भिन्न प्रकारके हैं। जनरल बर्नहार्डि कहते हैं 'यदि युद्ध न हो तो निम्न और पतित जातियाँ स्वस्थ और उन्नत जातियोंको दबा लें और सबकी ही अवनति हो जाय। युद्ध नीति-धर्मका एक आवश्वक अङ्ग है। ट्राइट्श्केका कहना है—'युद्ध वास्तविक राजनीतिशास्त्र है। युद्धमें ही राष्ट्रोंमें सचमुच राष्ट्रियता आती है। युद्धसे ही नये राजोंका जन्म होता है और स्वतन्त्र राजोंके विवादोंका निपटारा होता है। युद्ध राष्ट्रिय अनैक्यकी रामवाण

औषध और वीरोचित गुणोंका प्रधान शिक्षक है। शस्त्रप्रयोग द्वारा अपने नागरिकोंकी रक्षा करना प्रत्येक राष्ट्रका पहिला कर्तव्य है। इसलिए इतिहास (अर्थात् मानवसमाज) के अन्ततक युद्ध होते रहेंगे। सभ्य राजोंमें भी यही ऐसा न्यायालय है जिसमें उनके पृथक् और परस्परविरोधी स्वत्वोंका निर्णय हो सकता है। क्या मनुष्य-जातिसे वीरभावको निर्मूल करनेका प्रयत्न उलटी नीति नहीं है? यदि भविष्यत्में युद्ध कम भी हो जायँ तो भी चरित्र-शिक्षाके लिए नागरिकोंकी सेना रखनी चाहिये।' एक स्थलपर वह कहते हैं 'पृथक् राजोंका निरन्तर संघर्ष ही इतिहासकी शोभा है......शक्ति ही सबसे बड़ा धर्म है और धर्म या न्याय क्या है इसका निर्णय युद्धसे होता है।'

यह तो विद्वानोंकी सम्मतियाँ हुईं। यदि व्यवहारकी ओर दृष्टि डाली जाय तो यह बहुत कुछ द्वितीय पक्षकी ओर ही रहा है। इसका कारण यह था कि आपसमें इतना अविश्वास और द्वेष था कि किसी अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी। आत्मरक्षा तथा सम्मानरक्षाके लिए, स्वराज-स्थापनके लिए, दुर्बलकी सहायताके लिए, सिवाय युद्धके और कोई साधन ही न था।

अब धीरे-धीरे समय बदल चला है। राष्ट्रसंघों और अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयोंकी स्थापना हो रही है। अभी यह संस्थाएँ सन्तोषप्रद अवस्थामें नहीं हैं परन्तु बीज अच्छा पड़ा है। युद्धके पूर्णतः बन्द हो जानेकी नहीं तो कम हो जानेकी तो अवश्य सम्भावना है। अच्छा है, लोगोंमें यह भाव तो फैले कि आपसके झगड़े बिना युद्धके निपट सकते हैं। इधर महात्मा गान्धीने अहिंसात्मक असहयोगको युद्धका स्थान दिया है। देखा चाहिये, यह नया शस्त्र कहाँतक हिंसात्मक शस्त्रोंका स्थान लेता है। यह तो निर्विवाद है कि भारत यदि आज अपने पूर्ण स्वाधीनताके लक्ष्यपर पहुँच गया है तो यह बात बहुत कुछ अहिंसानीतिके कारण ही सम्भव हुई है। विदेशोंमें भी कई सम्भ्रान्त विचारक अहिंसाके पक्षमें हो रहे हैं।

इतना अब पाश्चात्य देशोंके समझदार मनुष्य मानने लगे हैं कि युद्ध मनुष्यकी चरित्रोन्नतिका साधन नहीं है और न वह राजोंका अपरिहेय कर्तव्य है। अब यह धारणा होने लगी है कि युद्ध करना मनुष्योचित प्रवृत्ति नहीं किन्तु हीन प्रवृत्ति है। जैसा कि 'दि स्टेट इन पीस ऐण्ड वार' में अध्यापक वाट्सन कहते हैं 'राज वह संस्था है जिसका उद्देश्य उस परिस्थितिको स्थापित करना है जिसमें उसके नागरिक सर्वश्रेष्ठ जीवन व्यतीत कर सकें। लोग ऐसा समझते हैं कि यह उद्देश्य दूसरे राजोंको क्षति पहुँचाये बिना पूरा नहीं हो सकता पर यह धारणा सत्यके विपरीत है। यह सच है कि राजका पहिला कर्तव्य अपने नागरिकोंके प्रति है पर ऐसा मानना भ्रम है कि यदि और राजोंके साथ उदार व्यवहार किया जाय तो इस कर्त्तव्यका पालन नहीं हो सकता। प्रत्येक राष्ट्रके सामने पृथक्-पृथक् प्रश्न हैं पर उनको सुलझानेके लिए यह माननेकी आवश्यकता नहीं है कि उसकी और राष्ट्रोंके साथ अनिवार्य शत्रुता है। एक राजका हित दूसरे राजके हितसे पृथक् नहीं किया जा सकता। राजोंका अन्योन्याश्रित होना ही सत्य है।'

ज्यों-ज्यों सभ्य राज इस बातको समझते जायँगे कि वह एक दूसरेके आश्रित हैं त्यों-त्यों लड़ाई कम होती जायगी। जब एकके बिना दूसरेका काम ही नहीं चल सकता तो आपसमें मिलकर रहनेमें ही लाभ है। पर अभी इन विचारोंके अनुसार काम नहीं हो रहा है। युद्ध बुरी चीज सही पर उसे अभी मिटा नहीं सकते। ऐसी दशामें यही सम्भव और उचित है कि उसकी भीषणता कम की जाय, उसे ऐसे नियमोंसे बाँधा जाय कि लोग एक दूसरेको अनावश्यक कष्ट न दें

और जो नागरिक शान्तिमय कामोंमें लगे हों उनके साथ व्यर्थकी छेड़छाड़ न हो तथा जो तटस्थ हों उनके स्वत्वोंकी रक्षा होती रहे।

प्राचीन कालमें भी इस प्रकारके नियम बर्ते जाते थे। मनुस्मृतिके सातवें अध्यायमें बहुतसे नियम दिये हुए हैं; उनमेंसे कुछको हम उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत करते हैं—

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्। न कर्णिभिर्नापिदिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबन्न कृताञ्जलिम्। न मुक्तकेशन्नासीनं न तवास्मीतिवादिनम्॥
न सुप्तं न विसन्नाहन्न नग्नन्न निरायुधम्। नायुध्यमानं पश्यन्तन्न परेण समागतम्॥
नायुधव्यसनप्राप्तन्नार्तन्नातिपरीक्षितम्। न भीतन्नपरावृत्तं सतान्धर्म्ममनुस्मरन्॥
(मनु ७-९०,९१,९२,९३)

अर्थात् विषसे बुझे हुए, अग्निसे तप्त, शरीरको फाड़ देनेवाले शस्त्रों द्वारा शत्रुसे युद्ध न करे। जो भूमिपर खड़ा हो, नपुंसक हो, हाथ बाँधे हुए हो, जिसके सिरके बाल बिखरे हों, बैठा हो, 'मैं आपका ही हूँ' कहकर अभयदान माँगता हो, सोया हो, निष्कवच हो, नग्न हो, निःशस्त्र हो, केवल तमाशा देख रहा हो, दूसरेके साथ युद्धस्थलमें यों ही आ गया हो, जिसके शस्त्र छिन गये हों, घायल हो, दुःखी हो, डर गया हो या भाग गया हो, इन सबको सद्धर्मका जाननेवाला न मारे।

यह नियम बहुत ही उदार हैं और जिन दिनों युद्ध करना केवल क्षत्रियोंका काम था उन दिनोंके लिए पर्याप्त थे। आर्य नरेशोंकी केवल आपसमें लड़ाइयाँ होती थीं। कोई ऐसा प्रबल राज न था जो आर्य सभ्यतासे टक्कर लेता। जब मुसलमानोंका सामना हुआ तो एक नयी ही परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। उनके लिए सभी आर्य एकसे थे, गो-ब्राह्मणकी उन्हें कोई प्रतिष्ठा न थी, मन्दिरोंपर उनका हाथ पहिले उठता था। उस समय यह नियम भी अधूरे ठहरे।

पर आर्यकालमें भी कई ऐसी बातें होती थीं जो बहुत अच्छी नहीं प्रतीत होतीं। युद्धमें जीते हुए मनुष्य बराबर 'दास' बनाये जाते थे, लूट भी होती थी, स्त्रियाँतक पकड़ ली जाती थीं। स्वयं मनुजी कहते हैं—

रथाश्वं हस्तिनं क्षेत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यञ्च यो यञ्जयति तस्य तत्॥
(मनु ७-९६)

अर्थात् रथ, घोड़ा, हाथी, खेत, धन, धान्य, पशु, स्त्री, सब प्रकारके धात्वादि द्रव्य—इन सबको जो जीते वही इनका स्वामी होता है।

आजकल ऐसे नियम नहीं हैं। बुराइयाँ अब भी बहुत हैं, जब मनुष्यकी पाशव प्रवृत्तियोंको खुल खेलनेका अवसर मिलता है तो सब नियम रखे रह जाते हैं पर यह मानना पड़ता है कि फिर भी पहिलेसे बहुत कुछ आशाजनक सुधार हुआ है। कम-से-कम खुलकर ऐसी बातोंका समर्थन नहीं किया जाता।

दूसरा अध्याय

असामरिक बलप्रयोग और रण-घोषणा

समर एक ऐसा शब्द है जो सुननेमें बड़ा साधारण प्रतीत होता है पर इसकी परिभाषा बहुत सरल नहीं है। समरका पर्याय लड़ाई समझा जाता है परन्तु प्रत्येक लड़ाई समर नहीं है। अन्ताराष्ट्रिय विधानने इस शब्दके अर्थको संकुचित कर दिया है। समरके दो मुख्य लक्षण हैं—

समरकी परिभाषा

(क) वह ऐसी लड़ाई है जिसके दोनों पक्ष या तो राज हैं या एक पक्ष राज है और दूसरा पक्ष ऐसा समुदाय है जो इस लड़ाईको अन्ताराष्ट्रिय विधानके नियमोंके अनुसार लड़ रहा है और इस लड़ाईके लिए वह सब अधिकार दे दिये गये हैं जो राजोंको प्राप्त होते हैं।

(ख) वह ऐसी लड़ाई है जिसके दोनों पक्ष आपसके शान्तिमय सम्बन्धको तोड़कर अपने विवादका निर्णय शस्त्रप्रयोग द्वारा करना चाहते हैं।

इनमें दूसरा लक्षण कुछ अनावश्यक-सा प्रतीत होता है क्योंकि साधारण धारणा यह है कि जहाँ लड़ाई अर्थात् शस्त्र-प्रयोग होगा वहाँ शान्तिमय सम्बन्धको तोड़नेकी इच्छा भी अवश्य ही होगी। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। कई ऐसी दशाएँ हैं जिनमें शस्त्रप्रयोग होता है पर दोनों पक्ष एक दूसरेके प्रति युद्ध लग्नता[1] की अवस्थामें नहीं माने जाते अर्थात् उनका सम्बन्ध अरियों (शत्रुओं) जैसा नहीं माना जाता। लड़ाई होती है पर उसे समर नहीं कहते। इनका विस्तृत वर्णन आगे होगा। पहिला लक्षण भी महत्त्वका है। पहिले समयमें प्राच्य और पाश्चात्य सभी देशोंमें ऐसी लड़ाइयाँ होती थीं जिनसे किसी राजका कोई सम्बन्ध न था। यदि दो बड़े ठाकुरों या धनिकोंका आपसमें मनमुटाव होता था तो दोनों सैनिक भर्ती करके आपसमें लड़ पड़ते थे। आजकल यदि ऐसी लड़ाइयाँ हों तो उन्हें समर नहीं कहेंगे और जो लोग ऐसी लड़ाइयोंकी आयोजना करेंगे उनपर फौजदारीका अभियोग चलाया जायगा। अधीन सरकारोंके काम उनके अधिपतियोंके काम माने जाते हैं। भारत जबतक स्वतन्त्र राज नहीं था उन दिनों भारत सरकार जो लड़ाइयाँ लड़ती थी वह ब्रिटिश राजके नामपर होती थीं। अतः इन लड़ाइयोंको समर कह सकते थे। यही नियम व्यापारिक कम्पनियोंके लिए भी लागू है।

असामरिक बलप्रयोग कई प्रकारसे किया जाता है। बलवान् राज दुर्बल राजोंके विरुद्ध बहुधा इस साधनसे काम लेते हैं। नामको लड़ाई नहीं होती परन्तु देखनेमें लड़ाईके सभी लक्षण विद्यमान रहते हैं। धन-जनकी हानि होती है, साधारण काम-धन्धे रुक जाते हैं, पर कहा यही जाता है कि आपसमें समर नहीं हो रहा है। अमित्रावस्था भले ही हो परन्तु शत्रुभाव नहीं है।

पिछले महायुद्धके पहिलेसे चीन-जापानमें जो लड़ाई हो रही थी वह अपने ढंगकी विलक्षण वस्तु थी। बरसों युद्ध हुआ, चीनके बड़े भूभागपर जापानका कब्जा हो गया परन्तु जापानने उसे समर नहीं कहा, उसको 'चाइनीज इंसिडेण्ट' (चीनी घटना) कहता रहा।

यों तो असामरिक बलप्रयोगके, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कई प्रकार हैं पर यहाँ हम उनमेंसे दो-तीन मुख्य-मुख्यका दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

१ Belligerency

(क) प्रतिपीड़न[१]

कभी-कभी कोई राज ऐसा काम कर बैठता है जो उसके वैधानिक अधिकारके भीतर होते हुए भी किसी दूसरे राजको अहितकर प्रतीत होता है। ऐसी दशामें वह भी इसका बदला ले सकता है। यदि एक राज दूसरेके मालपर कर बढ़ा दे तो वह भी बदलेमें ऐसा कर सकता है। इस प्रकारके बदलेको प्रतिपीड़न कहते हैं।

प्रतिपीड़न

(ख) प्रतिघात[२]

प्रतिघातका भी अर्थ है बदला। प्रतिपीड़न और प्रतिघातमें अन्तर यह है कि प्रतिपीड़न तो दूसरेके अप्रिय किन्तु कानून-सम्मत कामोंके विरुद्ध किया जाता है और प्रतिघात ऐसे कामोंके विरुद्ध होता है जो गैर-कानूनी प्रतीत होते हैं। बलप्रयोगात्मक प्रतिघातके भी कई उदाहरण हैं।

प्रतिघात

१८८४, १८८५ में फ्रांसवाले तांकिन प्रदेशपर अपना अधिकार स्थापित कर रहे थे। यह प्रदेश चीनके दक्षिणमें है और यद्यपि चीन साम्राज्यका अंग नहीं था परन्तु चीन सरकार बहुत दिनोंसे इसे अपने अधिकार और प्रभावक्षेत्रमें मानती आयी थी। तांकिनके स्वदेशरक्षक सिपाहियोंमें बहुतसे चीनी भी देख पड़े। फ्रांसने चीनसे कहा कि आप इस बातको रोकिये। चीनने टालमटोल करना चाहा क्योंकि उसे यह पसन्द भी न था कि तांकिनपर फ्रांसका आधिपत्य हो। इसपर फ्रांसके एक बेड़ेने फू-चाउके किलेपर गोलाबारी की और फार्मोसा द्वीपके कुछ स्थानोंपर कब्जा कर लिया। इस प्रकार चीनपर दबाव डाला गया पर नामको फ्रांस और चीनमें शत्रुभाव नहीं माना गया। अन्तमें फ्रांसकी विजय रही और चीनने उसकी बात मान ली।

पहिले महायुद्धके बादकी बात है कि छः इटालियन अफसरोंको किसीने यूनानी सीमाके भीतर मार डाला। इटलीने यूनानके सामने कई कड़ी शर्तें रखीं जिनको अपमानजनक समझकर यूनानने अस्वीकार किया। तत्काल ही इटालियन सेनाने यूनानके कार्फू नगरपर कब्जा कर लिया और इटालियन सरकारने यह घोषणा कर दी कि जबतक यूनान सरकार उसकी शर्तोंको न पूरा करेगी तबतक वह कार्फू न खाली करेगी।

रूर प्रान्तका उदाहरण भी इसी प्रकारका है। पहिले महायुद्धके पीछे यह निश्चय हुआ कि जर्मनी अपने विजेताओंको हर्जाना देगा पर उससे जो माँगा गया वह इतना अधिक था कि उसका चुकाना जर्मनीकी सामर्थ्यके बाहर था। उसने कई बार यह बात पेश की परन्तु फ्रांस और बेल्जियम-को विश्वास न होता था। उनका बराबर यही कहना था कि जर्मनी बहाना करता है। जर्मनी नियत समयपर माँगकी किस्तें पूरी न कर सका इसपर फ्रांस और बेल्जियमने उसके रूर और राइनलैण्ड प्रदेशोंपर कब्जा कर लिया। बहुतसे जर्मन जेलमें ठूँसे गये, कितने हताहत हुए, कितनोंकी सम्पत्तियाँ जब्त कर ली गयीं। उन प्रदेशोंमें ठीक वही परिस्थिति देख पड़ी जो विजित प्रदेशोंमें युद्धके पीछे देख पड़ती है। वहाँकी जनता फ्रेंच सरकारकी भद्र अवज्ञा करने लगी। फ्रांसका कहना था कि जब भद्र अवज्ञा बन्द कर दी जायगी और जर्मनी हमारे कथन और निर्देशके अनुसार हर्जाना देने लग जायगा और हमारे हाथमें ऐसी जमानतें रख देगा जिनसे हमें यह विश्वास हो जाय कि वह भविष्यत् में हमें धोखा न देगा तब हम इस प्रांतको खाली कर देंगे। यह सब कुछ था पर जर्मनी और फ्रांसमें

---

१ Re-tortion

२ Reprisals

युद्धावस्था नहीं मानी गयी। मैत्री नहीं थी पर शत्रुता भी नहीं थी। फ्रांस और बेल्जियम जर्मनीके साथ समर नहीं वरन् केवल असामरिक बलप्रयोग कर रहे थे।

१९०८ में हालैण्ड और वेनेज्वीलामें कुछ मतभेद हो गया। हालैण्डकी कई शिकायतें थीं जो पत्रव्यवहारसे दूर न हो सकीं। अन्तमें उसने वेनेज्वीलाके दो तटरक्षक जहाजोंको पकड़ लिया और उनको तबतक न छोड़ा जबतक शिकायतें दूर न हो गयीं।

इन उदाहरणोंसे प्रतिघातके स्वरूपका कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है। प्रतिघात और समरमें प्रधान भेद यही है कि प्रतिघातकी अवस्थामें पहिलेकी सन्धियोंका पूरा-पूरा पालन होता है, आपसमें पत्रव्यवहार जारी रहता है और जो कुछ झगड़ा होता है उसका क्षेत्र परिमित और संकुचित होता है।

(ग) नाववरोध[1]

नाववरोध

नाववरोधका अर्थ है जहाजोंको रोकना। यह दो प्रकारका होता है—शान्तिमय[2] और युद्धात्मक[3]। जब कोई राज किसी कारण विशेषसे कुछ कालके लिए अपने देशके जहाजोंको बन्दरमें रोक देता है तो उसे शान्तिमय नाववरोध कहते हैं। इससे बलप्रयोगसे कोई सम्बन्ध नहीं है। युद्धात्मक नाववरोध वह है जिसमें कोई राज किसी परराजके व्यापारिक जहाजोंको अपने बन्दरमें रोक लेता है।

१८०३ में फ्रांस और ब्रिटेनमें लड़ाई हो रही थी। ब्रिटेनको यह आशंका हुई कि हालैण्ड शीघ्र ही फ्रांससे मिल जायगा। उन दिनों हालैण्डके बहुतसे व्यापारिक जहाज ब्रिटेनके बन्दरोंमें पड़े हुए थे। ब्रिटेनने उन सबका बाहर जाना बन्द कर दिया। बस यहाँतक नाववरोध है। यदि आपसमें समझौता हो जाय तो जहाज छोड़ दिये जाते हैं, यदि समझौता न हुआ वरन् समर छिड़ गया तो उन जहाज़ोंके साथ वैसा ही बर्ताव किया जाता है जैसा समरकालमें शत्रु-सम्पत्तिके साथ किया जाता है। इसका वर्णन आगे होगा।

१९ वीं शताब्दीके आरम्भमें यह प्रथा-सी चल पड़ी कि जब कोई राज किसी अन्य राजसे समर ठानना चाहता था तो वह उसके जितने जहाज मिलते थे उन्हें पहिलेसे ही रोककर जब्त कर लेता था। पर आजकल ऐसा करना अनुचित और अन्याय समझा जाता है। इतना ही नहीं, युद्ध छिड़ जानेपर भी शत्रु-राजके जहाजोंको दो चार दिनका अवकाश दिया जाता है कि वह चाहें तो चले जायँ। १९०७ की हेग-कान्फरेन्समें यह निश्चय कर दिया गया कि व्यापारिक जहाज जब्त न किये जायँ। परन्तु जिन जहाजोंकी बनावट ऐसी हो कि उनको सुगमतासे युद्धके जहाजमें परिणत कर सकते हैं उन्हें अब भी जब्त कर सकते हैं।

नाववरोधकी विशेषता यह है कि इसमें राजपर सीधे दबाव न डालकर उसकी प्रजाके एक अंशपर दबाव डाला जाता है ताकि उसके द्वारा राजपर दबाव पड़े।

(घ) तटावरोध[4]

तटावरोधका अर्थ है तट रोकना या रास्ता बन्द करना। इसके भी दो प्रकार हैं, शान्तिमय और युद्धात्मक। युद्धात्मक तटावरोधका वर्णन आगे चलकर किया जायगा, यहाँ

१ Embargo
२ Pacific
३ Hostile
४ Blockade

शान्तिमय तटावरोधसे तात्पर्य है। जब एक राज दूसरे राजके बन्दरोंके सामने अपने सैनिक

तटावरोध

जहाजोंको खड़ा करके उनमेंसे आना-जाना बन्द कर देता है तो उसे तटावरोध कहते हैं।

पहिले-पहिले १८२७ में ब्रिटेन, फ्रांस और रूसने यूनानके बन्दरोंका अवरोध किया। उन दिनों यूनान तुर्कोंके अधीन था पर स्वाधीन होना चाहता था। उपर्युक्त तीनों राज उसकी सहायता करना चाहते थे पर तुर्कोंसे लड़ना भी नहीं चाहते थे। अवरोध करनेका उद्देश्य यह था कि तुर्कोंके सैनिकोंको किसी प्रकारकी रसद न पहुँच सके और तुर्क सरकार विवश होकर इन लोगोंकी बात मानकर यूनानको स्वाधीन कर दे।

इसके बाद अवरोधकी युक्तिसे कई बार काम लिया गया है। आरम्भमें इसका स्वरूप अनिश्चित था। ब्रिटेनका कहना था कि केवल उसी राजके जहाजोंको रोकना चाहिये जिसके विरुद्ध अवरोध किया गया है, फ्रांसका कहना था कि सभी राजोंके जहाजोंको भीतर आने-आनेसे रोकना चाहिये। अधिकांश राज ब्रिटेनसे सहमत थे। १८८७ में अन्ताराष्ट्रिय विधानसमिति[१]ने निम्नलिखित तीन नियम प्रकाशित किये।

(१) अवरोधकी अवस्थामें भी अन्य राजोंके जहाज भीतर जा सकते हैं।

(२) अवरोधकी पर्याप्त घोषणा करनी चाहिये और घोषणाके पीछे उसको समुचित बल द्वारा स्थापित रखना चाहिये। (केवल घोषणासे काम नहीं चल सकता। अवरोध करनेकी सामर्थ्य भी होनी चाहिये और उस सामर्थ्यसे काम भी लेना चाहिये।)

(३) अवरुद्ध राजके जो जहाज भीतर घुसना चाहें उन्हें रोक लेना चाहिये पर अवरोधकी समाप्ति पर उन्हें ज्योंका त्यों उनके स्वामियोंको लौटा देना होगा।

इस तीसरी शर्तपर कुछ विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि यह उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि प्रतीत होती है। १९०७ में हेगमें यह निश्चय हुआ था कि यदि किसी राजकी प्रजाका रुपया किसी

तीसरी शर्तका अर्थ

दूसरे राजके ऊपर बाकी हो तो ऋण वसूल करनेके लिए बलप्रयोग न किया जायगा पर यदि ऋणी राजसे समझौतेके लिए या किसीको मध्यस्थ बनानेके लिए कहा जाय और वह इस बातपर ध्यान न दे या मध्यस्थकी बात न माने तो महाजन राजको अधिकार है कि जो चाहे करे। इस नियममें बलवान् राजोंके लिए बहुत अवकाश है। यदि वह समझौता करने या किसीको मध्यस्थ बनानेका नाम ही न लें प्रत्युत किसी दुर्बल राजपर यह कहकर कि तुम्हारे यहाँ हमारा रुपया चाहिये आक्रमण कर दें तो इसके लिए कोई रोक नहीं है। वह चाहे बलप्रयोग करें चाहे अवरोध करके जहाजोंको जब्त कर लें। लारेंसका मत है कि यदि रुपयेके लिए विवाद हो तो अवरोधकको अधिकार है कि उतने मूल्यके जहाजोंको पकड़कर जब्त कर ले जितना रुपया कि उसको मिलना चाहिये।

हम यह देख चुके हैं कि असामरिक बलप्रयोगमें वास्तविक समरके कई अंश वर्तमान हैं।

असामरिक बल-प्रयोगका औचित्य और उपयोग

प्रधान भेद यही है कि इसका क्षेत्र छोटा होता है और भीषणता भी कम होती है। इसके दुरुपयोगकी सम्भावना कम नहीं है। बड़े राज इसके द्वारा छोटे राजोंको तंग कर सकते हैं और उनको अपनी अनुचित माँगोंको पूरा करनेपर विवश कर सकते हैं। पर इसका एक महान् उपयोग है। चाहे औचित्य हो या

१ Institute of International Law

न हो परन्तु नर-पीड़ा अवश्य कम होती है। उद्दण्ड राज समर करके भी छोटोंको सता सकते हैं परन्तु समरमें जितनी भीषणता होती है उतनी इसमें नहीं है।

यह तो स्पष्ट ही है कि अल्प-बलवाले राजोंके विरुद्ध ही इसका सफल प्रयोग हो सकता है। बलवान् राज तत्काल ही इसके उत्तरमें रण-घोषणा कर देंगे क्योंकि इस प्रकारके दबावको मान लेना उनके स्वाभिमानके विरुद्ध समझा जायगा।

रण-घोषणा

यह प्रश्न बहुत दिनोंसे विवादग्रस्त चला आता है कि समर आरम्भ करनेके पहिले रण-घोषणा करनी चाहिये या नहीं। पुराने आचार्योंकी सम्मतिमें तो ऐसा करना आवश्यक था परन्तु जैसा कि एक लेखकने दिखलाया है १७०० से १८७२ अर्थात् १७२ वर्षमें लग-भग १२० समर हुए जिनमें स्यात् १० में उचित रण-घोषणा हुई। घोषणाका अर्थ तो यह है कि लड़ाई छिड़नेके पहिले स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया जाय कि अब हमसे तुमसे लड़ाई होगी। ऐसा न करके यह निःसन्देह किया जाता था कि लड़ाई छिड़ जानेके पीछे इस आशयकी विज्ञप्ति निकाल दी जाती थी। फ्रांस और ब्रिटेनमें १७५४ में समर आरम्भ हुआ पर उसकी विज्ञप्ति १७५६ में निकाली गयी। १९ वीं शताब्दीके अन्तमें कुछ प्रसिद्ध समरोंमें विज्ञप्तियाँ दी गयीं परन्तु कोई निश्चित नियम न बना। रूस और जापानमें १९०३ की गर्मियोंसे लिखा-पढ़ी हो रही थी। अन्तमें ६ फरवरीको जापानी राजदूतने रूसी परराज सचिवको एक पत्र दिया जिसमें स्पष्ट लिखा था कि 'अब हमारा आपका मैत्री-सम्बन्ध विच्छिन्न होता है और जापानकी सरकारको यह अधिकार रहेगा कि अपनी शंकामय स्थितिको सुरक्षित और सुदृढ़ बनानेके लिए चाहे जिस उपायका अवलम्बन करे'। इसका यही अर्थ हो सकता था कि लड़ाई शीघ्र ही छिड़ेगी पर कोई स्पष्ट घोषणा नहीं की गयी। जब जापानी बेड़ेने रूसी बेड़ेपर धावा किया तो रूसने शिकायत की कि बिना सूचना दिये ही जापानने धोखेसे आक्रमण किया है। रण-घोषणा की गयी परन्तु इस आक्रमण के दो दिन बाद। जापानका उत्तर यह था कि पर्याप्त सूचना दी जा चुकी थी। पहिलेसे घोषणा करनेका कोई नियम नहीं है।

१९०७ की अन्ताराष्ट्रिय हेग कान्फरेंसने इस प्रश्नपर सविस्तर विचार किया। वस्तुतः लड़ाई छिड़ जानेपर रण-घोषणा निकालना एक व्यर्थ सी बात थी। अन्तमें कान्फरेंसने दो उपयोगी नियम निर्धारित किये। पहिला नियम यह है, 'सहैतुक रण-घोषणा, अथवा पराश्रयी रणघोषणायुक्त अन्तिम पत्र, के द्वारा पहिलेसे और स्पष्ट रूपसे सावधान किये बिना' लड़ाई आरम्भ न की जाय। 'सहैतुक रणघोषणा' उसे कहते हैं जिसमें यह लिखा हो कि अमुक-अमुक कारणोंसे हम लड़ाई छेड़ते हैं। 'पराश्रयी रणघोषणायुक्त अन्तिम पत्र' वह पत्र है जिसमें यह लिखा होता है कि तुमको हमारी अमुक अमुक शर्तें पूरी करनी होंगी, यदि ऐसा न होगा तो हम इतने घण्टोंके भीतर लड़ाई छेड़ देंगे। हालैण्ड चाहता था कि इतना और बढ़ा दिया जाय कि घोषणाके कमसे कम २४ घण्टे पीछे युद्ध आरम्भ हो पर यह प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। घोषणा करनेके (अर्थात् जिससे लड़ना है उसे सूचित करनेके) एक क्षण पीछे भी लड़ाई छिड़ सकती है।

दूसरा नियम यह है कि 'तटस्थ राजोंको समरावस्थाकी सूचना तत्काल देनी चाहिये। सूचना तारके द्वारा भी दी जा सकती है पर जबतक सूचना न दी जा ले तबतक उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं किया जा सकता जैसा कि समरावस्थामें तटस्थोंके साथ किया जाता है।' इसके साथ एक उपनियम भी लगा हुआ है कि यदि यह प्रमाणित हो जाय कि अमुक तटस्थ राजको समरावस्थाका पता था तो उसके साथ सब नियम बर्ते जायँगे; चाहे उसके पास सूचना न भी पहुँची हो।

इन नियमोंके प्रकाशित होनेके पीछे यूरोपमें तीन समर हुए। १९११ में इटलीने तुर्कीसे युद्ध ठाना और १९१४ में प्रथम महासमर आरम्भ हुआ। दोनोंमें यह नियम पालन किये गये, परन्तु पिछले महासमरमें नियमका प्रायः अनादर हुआ। जापानने तो अवहेलनाको चरम सीमातक पहुँचा दिया। उधर उसके प्रतिनिधि अमेरिकामें बैठे हुए मेलजोलके प्रस्तावपर विचार-विनिमय कर रहे थे इधर उसके जहाजोंने यकायक पर्लहार्बर नामके अमेरिकन बन्दरपर गोलाबारी कर दी। जापान और चीनकी लड़ाई वर्षों चलती रही परन्तु युद्ध-घोषणा करना तो दूर रहा जापानने इस लड़ाईको समरके नामसे पुकारा तक नहीं।

जो राज बलवान् है और युद्धके लिए सन्नद्ध है उसे रणघोषणा करनेमें कोई अड़चन नहीं होती, फिर भी यह नियम उपयोगी है। सभ्य जगत् लड़ाईके कारण जान जाता है और तटस्थ राज सँभल जाते हैं। यदि असामरिक बलप्रयोगके लिए भी कुछ ऐसे ही नियम बन जायँ तो अच्छा हो। आजकल यह प्रथा तो चल पड़ी है कि कुछ घण्टों (प्रायः २४ या ४८) का अवकाश दिया जाता है और यह कह दिया जाता है कि यदि इतने घण्टोंमें हमारी बातें न मानोगे तो हम जो चाहेंगे करेंगे। लोगोंसे राष्ट्रसंघसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं पर वह खपुष्पवत् मिथ्या निकलीं। उसने इटलीको यूनानके विरुद्ध प्रतिघात करनेसे रोकना चाहा पर इटलीने उसकी बात मानना स्वीकार न किया। राष्ट्रसंघको इटलीसे दबना ही पड़ा। यह नहीं कह सकते कि उसकी जगह जो नयी संस्था बनी है वह कहाँतक इस काममें समर्थ होगी।

यह स्मरण रखना चाहिये कि बलप्रयोग मात्रसे युद्ध नहीं होता और न बलप्रयोगका प्रभाव युद्धके अभावका पुष्ट प्रमाण है। वस्तुतः युद्ध वह अवस्था है जिसमें दो राजोंके बीचका शान्तिकालीन सम्बन्ध समाप्त हो जाता है और वह यह निश्चय कर लेते हैं कि अपने विवादका निपटारा बलप्रयोग द्वारा होगा। यदि युद्धकी घोषणा कर दी जाय तो बलप्रयोगके पहिले भी युद्धका अस्तित्व माना जायगा। यदि दो राजोंमें लड़ाई हो रही हो, पर किसी कारणसे वह दौत्य सम्बन्ध बनाये रहें तो असम्बद्ध राज कुछ बोलते नहीं। परन्तु यदि लड़ाईका क्षेत्र बढ़ जाय और अन्य राजोंके हितोंको आघात पहुँचने लगे तो फिर उनको अधिकार है कि यह स्पष्ट घोषित कर दें कि हमारी रायमें अमुक-अमुक राजोंमें युद्ध हो रहा है अतः हम अब इनके साथ युद्धकालोचित आचरण करेंगे।

युद्धावस्था

तीसरा अध्याय

समरारम्भके तात्कालिक परिणाम

प्रत्येक प्रभु राजको यह अधिकार है कि वह अन्य राजोंसे युद्ध करे या शान्ति-सम्बन्ध बनाये रखे। राष्ट्रसंघने इस अधिकारको कुछ कम करना चाहा पर उसे सफलता नहीं हुई। इसके दो मुख्य कारण थे, एक तो उसके पास अपने निर्णयोंको मनवानेकी शक्ति नहीं थी, दूसरे राज उसकी बात माननेको प्रस्तुत नहीं थे। सारे बन्धन छोटोंके ही लिए थे। सम्भव है भविष्यत्‌में राष्ट्रसंघटन इस काममें समर्थ हो पर अभीतक स्वतन्त्र राजोंपर कोई सच्ची रोक-थाम नहीं है। ज्यों ही कोई राज किसी अन्य राजसे लड़ाई आरम्भ करता है त्यों ही उसे योद्धा या समरकारी राजोंके सब अधिकार प्राप्त हो जाते हैं और सब कर्तव्य लागू हो जाते हैं। अन्य राज इस विषयमें कुछ नहीं बोल सकते। उनको वह परिस्थिति स्वीकार कर ही लेनी पड़ती है।

युद्धलग्नताकी स्वीकृति

परन्तु राजातिरिक्त समरकारी समुदायोंके लिए यह बात नहीं है। जिस समय किसी सभ्य राजका कोई टुकड़ा स्वाधीन होनेका प्रयत्न करता है उस समय उसे तत्कालीन सरकारसे लड़ना ही पड़ता है। बिना लड़ाईके स्वराज नहीं मिलता। प्रार्थना करने, तीव्र भाषामें लेख लिखने, लम्बे-चौड़े व्याख्यान देनेसे स्वतन्त्रताकी देवी प्रसन्न नहीं होती, वह नरबलिकी भूखी है। महात्मा गान्धी-ने अहिंसात्मक असहयोगरूपी नया साधन बताया है। इससे भारतको सफलता मिली है। पर यह न भूलना चाहिये कि इस साधनका अर्थ कष्टसे बचना नहीं है। इसमें भी त्याग और आत्मबलिकी अपेक्षा होती है। भारतका १९२१ से १९४६ तकका राजनीतिक इतिहास इसका साक्षी है। समस्त पृथ्वीके सामने एक नया आदर्श आया है और समर-विधानका रूप ही कुछ और हो सकता है। परन्तु अधिकांश देशोंका अबतकका अनुभव उसी लड़ाईको स्वराजका साधन बताता है जिसमें बल-प्रयोग होता है। इसके साथ ही यह स्मरण रखना चाहिये कि अहिंसात्मक लड़ाईसे भी वही परि-स्थिति उत्पन्न हो सकती है जो हिंसा द्वारा होगी अतः जिन नियमोंका यहाँ उल्लेख होगा वह सभी अवस्थाओंमें लागू होंगे।

अस्तु, जब कोई सभ्य समुदाय स्वतन्त्र होनेका प्रयत्न करता है तो उसे अपने देशकी सर-कारसे लड़ना पड़ता है। सरकार उस समुदायको विद्रोही दल कहती है। उसमेंसे जो पकड़ा जाता है उसपर राजद्रोहका आरोप होता है और फाँसी आदिका दण्ड दिया जाता है। यदि सरकारके भाग्य अच्छे हुए तो उसकी दमन-नीति सफल हो जाती है और विद्रोह शान्त हो जाता है परन्तु यदि प्रजा दृढ़संकल्प हुई तो सहस्र-सहस्र आपत्तियोंको झेलकर भी अपने स्वातन्त्र्य-प्रेमको मुरझाने नहीं देती। ऐसी दशामें सरकारके पूर्ण प्रयत्न करने पर भी विद्रोह बल पकड़ता जाता है और धीरे-धीरे देशका एक अंश विद्रोहियोंके अधिकारमें आ जाता है। परराज यह सब चुपचाप देखते रहते हैं। विद्रोहियोंकी ओरसे बोलना पारस्परिक सौजन्यके विरुद्ध है। पर जब विद्रोहियोंका अधिकार देशके किसी भागपर हो जाता है और वह वहाँके निवासियोंसे कर लेने लगते हैं, पुलिस और न्यायकी व्यवस्था करते हैं तथा अन्य बातोंमें भी एक सुस्थापित सरकारकी भाँति आचरण करने

लगते हैं तो उनको साधारण विद्रोही नहीं कह सकते। पर-राजोंको यह निश्चय करना पड़ता है कि उन्हें क्या मानें। यदि उनका प्रान्त किसी परराजकी सीमापर हुआ या समुद्रतटपर हुआ तो इस प्रश्नके निर्णयकी आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। अभी पुरानी सरकार लड़ रही है, सम्भव है, वह जीत जाय, इसलिए उन्हें स्वतन्त्र राज नहीं कह सकते पर एक प्रान्तमें वह निःसन्देह स्वतन्त्र हैं और उस प्रान्तके लिए परराजोंको उन्हींसे बर्तना है। ऐसी अवस्थामें परराज विद्रोहियोंकी युद्ध-लग्नताको स्वीकार कर लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह विद्रोहियोंको स्वतन्त्र राष्ट्र न मानते हुए भी उन्हें वह सब अधिकार देते हैं जो युद्धकालमें सभ्य राष्ट्रोंको प्राप्त होते हैं।

पुरानी सरकार भी, जिसके विरुद्ध विद्रोह हुआ है, प्रायः इस बातको स्वीकार कर लेती है। इसमें उसका लाभ ही है। यदि वह विद्रोही सैनिकोंको फाँसीपर लटकाती जायगी तो वह उसके सैनिकोंके साथ भी वैसा ही करेंगे। दूसरा बड़ा लाभ यह है कि यदि वह इस परिस्थितिको स्वीकार न करे तो उसे यह मानना पड़ेगा कि विद्रोही उसकी प्रजा हैं। ऐसी दशामें वह जो कुछ लूटमार करें अथवा अन्य प्रकारसे विदेशियोंको हानि पहुँचायें उसके लिए वही जिम्मेदार होगी। परन्तु जब उनकी युद्धलग्नता स्वीकार कर ली गयी तो फिर अपने कामोंके लिए वह आप ही दायी हो जाते हैं। जो परराज उनकी युद्धलग्नताको स्वीकार करते हैं वह उन्हींसे पूछताछ कर सकते हैं। यदि विद्रोह ठण्ढा हो गया तो पुरानी सरकार अपना पूर्व प्रभुत्व फिर पा जाती है, यदि विद्रोही सफल हो गये तो वह एक नया स्वतन्त्र राज स्थापित कर लेते है। युद्धलग्नताकी स्वीकृति[1] तो एक बहुत बड़ी बात है। इसका अवसर उस समय आता है जब विद्रोहियोंका आधिपत्य एक निश्चित भूभाग-पर हो जाता है और वह उस भूभागपर एक स्थापित सरकारकी भाँति बर्तने लगते हैं। इसके पहिले भी कभी-कभी एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसमें परराजोंको बोलना पड़ता है। कोई राज किसी अन्य राजके घरेलू झगड़ोंमें नहीं बोलता पर यदि इस झगड़ेका प्रभाव बाहरवालोंपर पड़े या उसका किसी स्वतन्त्र सिद्धान्तसे सम्बन्ध हो तो बोलना ही पड़ता है। यदि किसी राजमें विद्रोह हो जाय परन्तु विद्रोहियोंकी शक्ति इतनी न बढ़ गयी हो कि वह किसी भूभागपर अपना शासन स्थापित कर सकें तो उन्हें युद्धलग्नताकी स्वीकृति तो दी नहीं जा सकती; पर यदि वह सभ्य नियमोंको बर्तते हैं और यह भी निश्चय है कि उनका उद्देश्य शुद्ध राजनीतिक है तो उन्हें डाकू या लुटेरा भी नहीं कह सकते। यदि वह किसी परराजके शरणागत हों या उसके हाथमें पड़ जायँ तो उन्हें चोर-डाकुओंकी भाँति उनकी पुरानी सरकारको, जिसके विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया है, सौंप देना मनुष्यताके विरुद्ध होगा। १८९१ में चिली राजमें विद्रोह हुआ। पहिले-पहिले जहाजी बेड़ेने विद्रोह किया। न उसके पास कोई स्थलसेना थी, न कोई राज्य था, पर उसने विदेशी जहाजोंसे किसी प्रकारकी छेड़छाड़ न की, केवल चिली सरकारके विरुद्ध सामरिक कार्यवाही की। ऐसी दशामें परराजोंने भी उसे समुद्री डाकुओंका बेड़ा नहीं कहा। उसे सरकारसे लड़ने दिया, अन्तमें उसकी जीत भी हुई।

विद्रोहित्वकी स्वीकृति

आजकल यही प्रथा सर्वप्रिय होती जाती है यद्यपि कोई निश्चित नियम नहीं है। इस प्रकारके विद्रोहियोंको आरम्भमें युद्धलग्नताकी स्वीकृति नहीं दी जा सकती पर जबतक वह विदेशियोंके साथ छेड़छाड़ नहीं करते तबतक उनके काममें कोई विघ्न नहीं डालता। उनके राजनीतिक उद्देश्य-की उच्चता स्वीकार की जाती है। अभी कोई ठीक नियम नहीं है पर कई आचार्योंकी सम्मति है

---

१ Recognition of Belligerency

कि उनको नियमानुसार सभ्य राजनीतिक विद्रोही मानकर विद्रोहित्वकी स्वीकृति[२] नियतरूपसे मिलनी चाहिये।

समरका आरम्भ कबसे माना जाय, इस सम्बन्धमें भी कुछ मतभेद है। ३ जुलाई १९३३ को लन्दनमें रूस, रुमानिया, पोलैण्ड, अफगानिस्तान, ईरान तथा कुछ अन्य राजोंमें एक समझौता हुआ। उसमें अग्रधर्षककी परिभाषा निश्चित की गयी। थोड़ेमें परिभाषा इस प्रकार है।

धारा २—जो राज निम्नलिखित कामोंमें किसीको पहिले करेगा वह अग्रधर्षक समझा जायगा।

(१) दूसरे राजपर युद्ध-घोषणा,

(२) दूसरे राजकी भूमिपर युद्धघोषणा करके या बिना किये सेना द्वारा आक्रमण,

(३) युद्धघोषणा करके या बिना किये दूसरे राजकी भूमि, जहाजों या वायुयानोंपर सैनिक बलसे हमला,

(४) दूसरे राजके बन्दरों या तटोंका नाववरोध,

(५) अपने राजके भीतर उन सशस्त्र समुदायोंको सहायता देना जिन्होंने किसी दूसरे राज-पर आक्रमण किया है या अपने राजके भीतर वैसे सब काम न करना जिनसे ऐसे समुदायोंको सहायता न मिल सके।

ऐसा मानना चाहिये कि जबसे अग्रधर्षण सिद्ध हो तबसे युद्धका आरम्भ हुआ।

समरारम्भका प्रजाके लिए तात्कालिक परिणाम

समर आरम्भ होनेपर दोनों शत्रु-राजोंकी प्रजाओंके पारस्परिक सम्बन्धोंमें तत्काल अन्तर पड़ जाता है। व्यापारिक प्रतिनिधियोंका काम बन्द हो जाता है; एक देशकी प्रजा दूसरे देशकी प्रजासे किसी प्रकारका व्यवहार नहीं कर सकती; शत्रुपक्षके किसी व्यक्तिको किसी प्रकारकी सहायता नहीं दी जा सकती; शत्रुराजकी सरकारको न तो ऋण दिया जा सकता है न उसको किसी अन्य प्रकारकी सहायता दी जा सकती है; कोई ऐसा पत्र नहीं लिखा जा सकता जिससे शत्रुको किसी प्रकारका सैनिक समाचार मिल सके।

व्यापारिक सम्बन्धपर भी तात्कालिक प्रभाव पड़ता है। पुराना नियम तो यही था कि व्यापार बन्द हो जाना चाहिये। एक शत्रुराजकी प्रजा दूसरे शत्रुराजके न्यायालयमें किसी प्रकारका अभियोग नहीं चला सकती। ऐसी दशामें जबकि दीवानीके मुकदमे चल नहीं सकते आपसमें इक-रारनामे कैसे हों और व्यापार कैसे जारी रहे। पर आजकल यह नियम कुछ ढीले हो गये हैं। समर-कालमें तो शत्रुराजकी प्रजापर मुकदमे नहीं चलते पर समाप्ति पर चलाये जा सकते हैं। यदि कोई साझेका व्यापार हो तो साझा तत्काल तोड़ना होगा। यदि कोई कम्पनी एक राजमें स्थापित है और उसके व्यवस्थापक भी उसी राजमें हैं तो वह अपना काम करने पायेगी चाहे उसके वास्तविक स्वामी शत्रुराजके ही निवासी हों, पर यदि प्रबन्धक भी शत्रुराजमें रहते हों या यह सिद्ध हो जाय कि वह शत्रुओंके अधीन काम करते हैं तो उसका कारखाना बलात् बन्द कर दिया जायगा। विशेष अव-स्थाओंमें दोनों राज व्यापार करनेका परिमित अधिकार दे भी देते हैं। युद्ध आरम्भ होते ही प्रत्येक राज यह घोषित कर देता है कि वह किन-किन अवस्थाओंमें शत्रुराजकी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करेगा। यों तो नियमतः युद्ध छिड़ते ही अपने राज्यमें बसी हुई सभी शत्रु-प्रजाओंकी सम्पत्ति जब्त कर लेनी चाहिये और उन्हें बन्दी कर लेना चाहिये पर ऐसा किया नहीं जाता। जबतक यह प्रमा-

२ Recognition of Insurgency

णित नहीं हो जाता कि वह चुपके-चुपके अपनी सरकारसे मिलकर कोई षड्यन्त्र रच रही है तबतक उनके कारबारमें विघ्न नहीं डाला जाता। पर युद्ध आरम्भ होते ही ऐसे सब लोगोंके नाम, पेशे और पते लिख लिये जाते हैं और पुलिसकी उनपर कड़ी देखरेख रहती है।

यद्यपि प्रजाका आपसमें ऋण-दान-आदान बन्द हो जाता है पर यदि एक राजने शत्रुराजके प्रजावर्गसे ऋण लिया है तो उसे यह नहीं कहना चाहिये कि हम ऋण न चुकायेंगे। सम्भव है समर-कालमें ऋण न चुकाया जा सके और न उसपर व्याज ही दिया जा सके पर उसका अस्तित्व बना रहता है।

युद्ध छिड़नेका सन्धियोंपर क्या प्रभाव पड़ता है, यह हम द्वितीय खण्डमें दिखला चुके हैं। कुछ सन्धियाँ तो स्वतः टूट जाती हैं। यदि दो राजोंमें आपसमें मैत्रीकी सन्धि है और उनमें लड़ाई छिड़ गयी तो वह सन्धि आप ही टूट गयी। जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस इत्यादिने बेल्जियमको तटस्थीकृत राज बनाकर उसकी स्वातन्त्र्य-रक्षाका भार अपने ऊपर लिया था पर जब जर्मनीने प्रथम महासमरके आरम्भमें बेल्जियमपर आक्रमण किया तो वह सन्धि नष्ट हो गयी। ऋण चुकाने या व्यापार या अपराधिप्रत्यर्पण सम्बन्धी सन्धियोंके विषयमें कुछ मतभेद है पर बहुसम्मति यही है कि यह सन्धियाँ नष्ट नहीं होतीं वरन् समरकालमें स्थगित रहती हैं, उसके बन्द होते ही पुनः चालू हो जाती हैं।

सन्धियोंपर प्रभाव

इन सब विषयोंके सम्बन्धमें कोई निश्चित नियम हैं ही नहीं। न तो बड़ी विधायक सन्धियों-ने ही इनका ठीक-ठीक निर्णय किया है, न हेगमें ही स्पष्ट नियम बने हैं और न महाशक्तियोंके व्यवहारमें ही किसी प्रकारकी समता है। समर छिड़ते ही प्रत्येक योद्धा राज अपने यहाँ कुछ घोष-णाएँ कर देता है। दोनों ओरके शत्रुराज इसी बातको ध्यानमें रखते हैं कि बराबरी बनी रहे, जैसा बर्ताव उधरवाले हमारी प्रजाके साथ करें वैसा ही बर्ताव हम उनकी प्रजाके साथ करें। लड़ाईमें ऐसा होना अनिवार्य है परन्तु यदि कुछ मूल सिद्धान्त स्थिर हो जायँ तो उभयपक्षको नियमोपनियम बनानेमें सुविधा हो। आजकल जो नियम प्रायशः व्यवहारमें आते हैं वह पहिलेकी अपेक्षा कहीं मृदु हैं। उनका तत्त्व यह है कि शत्रुराजकी प्रजाको शत्रु मानते हुए भी साधारण व्यापार और सम्बन्धमें यथासम्भव तबतक बाधा न डाली जाय जबतक कि अपने अनिष्टकी आशंका न हो।

चौथा अध्याय

शत्रुवर्गीयोंके साथ बर्ताव—असैनिकोंके प्रति

समरके आरम्भ होते ही उभयपक्षके कुल व्यक्तियोंको एक दूसरेके प्रति शत्रुरूप प्राप्त हो जाता है परन्तु यह रूप सबके लिए एकसा नहीं होता। लारेंस कहते हैं कि इसे एक धब्बेसे तुलना दे सकते हैं जो लगता सबको है पर किसीको गहरा किसीको हलका। इस अध्यायमें हम यह दिखलायेंगे कि किस वर्गके व्यक्तियोंको कितना शत्रुरूप प्राप्त होता है।

सबसे पहिला स्थान शत्रुराजके सैनिकोंका है। इनका शत्रुरूप सम्पूर्ण होता है। यह लड़ाईमें मारे जा सकते हैं और पकड़े जानेपर समरबन्दी बनाकर रखे जा सकते हैं। चाहे किसी देश या राष्ट्रका मनुष्य हो यदि वह किसी शत्रुराजकी सेनामें नौकर है तो वह पूर्ण शत्रु है। जो लोग किसी कारणसे वेतन नहीं लेते परन्तु दूसरी बातोंमें अन्य सैनिकोंकी भाँति रहते हैं उनके साथ वेतनभोगी सैनिकोंकासा ही बर्ताव होता है।

शत्रुराजके जल और स्थल तथा वायु सेनाओंके सैनिक

इसका एक अपवाद है। यदि एक राजका कोई नागरिक शत्रुराजकी सेनामें भर्ती होकर अपने पितृराजके विरुद्ध लड़े तो पकड़े जानेपर वह उस सभ्य व्यवहारका अधिकारी नहीं माना जाता जो समर-बन्दियोंके साथ किया जाता है; वह सिपाही नहीं वरन् देशद्रोही माना जाता है और उसे तत्काल फाँसी दी जाती है।

हम कह चुके हैं कि किसी राष्ट्रके व्यक्ति हों, शत्रुसेनामें पाये जानेसे शत्रु माने जाते हैं। तटस्थ राजोंके नागरिक भी कभी कभी लड़ाईके समय किसी एक सेनामें सम्मिलित हो जाते हैं पर यदि किसी तटस्थ राजके बहुतसे नागरिक एक ही सेनामें भर्ती होते रहें तो दूसरा शत्रुराज उस तटस्थ राजसे शिकायत कर सकता है कि आप अपने आदमियोंको ऐसा करनेसे रोकते क्यों नहीं। आज नेपालके सहस्रों गुरखे अंग्रेजी सेनामें हैं और जिस किसीसे अंग्रेज सरकार लड़ पड़ती है उसीसे लड़नेको तैयार रहते हैं, यद्यपि नेपाल स्वतन्त्र राज है। यदि नेपालका अन्य स्वतन्त्र राजोंसे सम्बन्ध होता तो ऐसा कदापि न हो सकता। सभी उससे बिगड़ जाते।

अब नेपाल कुछ खुलकर अन्ताराष्ट्रिय जगत्में आ रहा है। वह संयुक्तराष्ट्र संघटनका भी सदस्य होना चाहता है। ऐसी दशामें उसको इस बातपर विचार करना ही होगा कि अपने नागरिकोंको अंग्रेजी सेनामें भर्ती होने दिया जाय या नहीं।

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि किसी राजमें पर-राजोंके निवासी बसे हों तो वह लड़ाई छिड़नेपर उन्हें बलात् अपनी सेनामें भर्ती कर सकता है या नहीं। आजकल सभ्य राजोंका यही मत है कि ऐसा नहीं हो सकता। विशेष आवश्यकता पड़नेपर उन्हें स्थायी रूपसे पुलिसमें या चोर-डकैत इत्यादिसे रक्षा करनेके लिए स्वयंसेवक दलमें भर्ती किया जा सकता है पर सेनामें नहीं।

शत्रुराजके व्यापारिक जहाजोंके मल्लाह भी शत्रुओंमें ही गिने जाते हैं। पहले तो यह नियम था कि पकड़े जानेपर उनके साथ समरबन्दियोंका-सा वर्ताव होता था पर अब ऐसा नहीं होता। यदि कोई व्यापारिक जहाज स्वयं किसी सैनिक जहाजपर आक्रमण कर दे तो वह दण्डका

भागी होगा ही पर यदि उसपर आक्रमण हो तो अपनी रक्षामें हथियार उठा सकता है। आजकल ऐसा करनेका साहस भी स्यात् ही किसी वणिक जहाजको हो सकता है। यदि जहाज सीधेसे आत्मसर्पण कर दे तो उसके नाविकोंसे यह कहा जाता है कि तुम समरकालमें युद्ध-सम्बन्धी कोई काम न करो। यदि वह ऐसा लिख दें तो छोड़ दिये जाते हैं। यदि नाविक किसी तटस्थ राजके नागरिक हों तो उन्हें बिना कुछ लिखाये ही छोड़ दिया जाता है पर यदि जहाजके अफसर किसी तटस्थ राजके हों तो उनसे यह लिखाया जाता है कि हम समरकालमें शत्रु-जहाजपर काम न करेंगे। उपर्युक्त नियमोंमेंसे कइयोंको जापानियोंने पहिले-पहिले १९०४-५ के रूस-जापान समरमें बर्ता था। १९०७ में हेगमें इन्हें अन्ताराष्ट्रिय रूप मिल गया।

शत्रुराजके व्यापारिक जहाजोंके मल्लाह

सेनाओंके साथ ऐसे बहुतसे लोग रहते हैं जो उनके अंग नहीं कहे जा सकते। यह लोग लड़ते नहीं अतः इनके बिना सेनाकी पूर्णतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता पर ऐसी कोई सेना नहीं होती जिसके साथ यह न रहते हों। ठेकेदार, संवाददाता, बिसाती, मेवाफरोश इत्यादि इसी वर्गमें आते हैं। यदि यह पकड़ जायँ तो शत्रुसेनाको अधिकार है कि इन्हें रखे या छोड़े। परन्तु हेगमें १९०७ में जो नियम बने थे उनमेंसे एक नियम यह है कि यदि इन्हें रोका जाय तो इनके साथ समर-सैनिकोंका-सा बर्ताव करना होगा बशर्ते कि इनके पास उस सेनाके अधिकारियोंका सर्टिफिकेट हो जिसके साथ यह पाये गये हों। बड़े ठेकेदार, समाचारपत्रोंके संवाददाता सभी सर्टिफिकेट ले रखते हैं। सर्टिफिकेट इस बातका प्रमाण है कि यह सेनाके साथ वैध रूपसे हैं, यों ही नहीं घूमते हैं।

सेनाओंके सहवर्ती

परन्तु कभी-कभी इसके बिना भी काम चलता है। छोटे-छोटे बिसातियों और फल या शाक भाजी बेचनेवालोंको न कोई सर्टिफिकेट देता है न कोई उनसे सर्टिफिकेट माँगता है। इसी प्रकार कभी-कभी राजवंशके व्यक्ति या बड़े-बड़े मंत्री आदि निरीक्षण करने या सिपाहियोंको प्रोत्साहित करनेके उद्देश्यसे सेनामें आ जाते हैं। इस कोटिके व्यक्ति सैनिक अफसरोंसे सर्टिफिकेट नहीं लिखाया करते। यदि ऐसे लोग पकड़ जायँ तो शत्रुराजको अपने विवेकसे काम लेना होगा। यह असम्भव है कि कोई सभ्य राज इनके साथ अनुचित व्यवहार करे।

शत्रुराजके सभी नागरिक शत्रु गिने जाते हैं परन्तु जबतक वह स्वतः समरमें कोई भाग नहीं लेते तबतक उनके साथ शत्रुताका व्यवहार नहीं किया जाता। न वह मारे जाते हैं न बन्दी बनाये जाते हैं। प्रत्येक राजमें उसके नागरिकोंके अतिरिक्त कुछ विदेशी भी रहते हैं। यह लोग भी सरकारी कर देते हैं और इनके व्यापारादिसे भी राजकी श्रीवृद्धि होती है। इसलिए एक प्रकारसे यह लोग उस राजके सहायक हैं। यदि उस राजसे किसी परराजसे युद्ध छिड़ जाय और शत्रुराजकी सेना किसी ऐसे प्रान्तपर कब्जा कर ले जिसमें इस प्रकारके विदेशी, जो तटस्थ राजोंके नागरिक होंगे, बसे हों तो वह उनके साथ कैसा बर्ताव करे? जो लोग उस राजके निवासी होंगे उनसे तो वह रुपया वसूल करता है, भाँति-भाँतिकी सामग्री ले सकता है, कुछ-न-कुछ काम भी करा सकता है पर इन परदेशियोंके साथ भी ऐसा व्यवहार किया जाय या नहीं। अबतक व्यवहारमें कोई भेद नहीं था। १९०७ में जर्मनी और अमेरिकाने हेगमें इस बातपर आग्रह किया कि यह देखना चाहिये कि मनुष्य किस राजका नागरिक है, न कि उसका निवासस्थान कहाँ है। अतः इनका कहना था कि तटस्थ राजोंके नागरिकोंपर इस प्रकारका कोई दबाव न डालना चाहिये। परन्तु ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और रूसने

शत्रुराजमें तटस्थ देशोंके नागरिक

हो पर यदि यह निश्चय हो जाय कि वह व्यक्ति स्वदेशमें स्थायी रूपसे बसनेके लिए जा रहा है तो उसके साथ विरुद्धाचरण नहीं करते।

इस बातका विचार तो हो चुका कि किन लोगोंको न्यूनाधिक शत्रुरूप दिया जाता है। अब यह देखना है कि भिन्न-भिन्न प्रकारके शत्रुरूप प्राप्त व्यक्तियोंके साथ कैसा व्यवहार होता है।

सबसे पहिले हम उन लोगोंको लेते हैं जो एक शत्रुराजके निवासी हैं और समरारम्भके समय दूसरे शत्रुराजमें पाये जाते हैं। पुरानी प्रथा तो यह थी कि यह लोग बन्दी कर लिये जाते थे और इनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। पर धीरे-धीरे यह प्रथा उठ गयी और ऐसे लोगोंको स्वदेश लौट जानेका समुचित अवकाश दिया जाने लगा। पीछेसे यह भी अनावश्यक समझा गया। अब आजकल यह प्रथा है कि जबतक ऐसे लोग किसी प्रकारका उपद्रव न करें अथवा अपने स्वदेशके राजको किसी प्रकारकी गुप्त सहायता न दें तबतक इन्हें बसने दिया जाय और इनके साधारण कामोंमें किसी प्रकारकी बाधा न डाली जाय।

एक शत्रुराजके निवासी समरारम्भके समय दूसरे शत्रुराजमें

कभी-कभी विवश होकर ऐसे लोगोंको अपने देशसे निकाल देना पड़ता है। १८७० में जब फ्रांस और जर्मनीमें युद्ध हुआ उस समय फ्रांसमें बहुत जर्मन थे। फ्रेञ्च प्रजा जर्मनोंके नामसे चिढ़ी हुई थी। फ्रेञ्च सरकारने देखा कि यदि यह जर्मन रह गये तो लोग क्रोधके आवेगमें इनपर हाथ छोड़ देंगे, उस समय इनकी रक्षा न हो सकेगी। इसलिए उसने सबको निकल जानेकी आज्ञा दी। इसके पीछे भी इस प्रकारके उदाहरण पाये जाते हैं। बोअर युद्धमें ट्रांसवाल और आरेञ्ज रिवर प्रदेश प्रवासी सब अंग्रेज निकाल दिये गये थे।

आजकल एक बड़ी अड़चन पड़ती है। बहुतसे देशोंमें अनिवार्य सैनिक शिक्षाकी प्रथा है जिससे प्रत्येक युवक शस्त्रविद्याका जानकार बना दिया जाता है। युद्ध छिड़नेपर प्रत्येक सरकारको यह सोचना पड़ता है कि यदि शत्रुराजके नागरिक रहने दिये जायँ तो गुप्त रूपसे अपने राजको समाचारादि भेजते रहेंगे या अन्य षड्यन्त्र करेंगे और यदि निकाल दिये जायँगे तो सैनिक शिक्षा तो पा ही चुके हैं शत्रु-सेनाका बल बढ़ायेंगे। इस सम्बन्धमें किसी-किसी ग्रन्थकारकी सम्मति है कि पुराने समयकी भाँति उनको बन्दी बना लेना चाहिये। ऐसा करना अवैध न होगा, क्योंकि बन्दी बनानेका अधिकार अन्ताराष्ट्रीय विधानने छीना नहीं है। किसी-न-किसी रूपमें गत महायुद्धके समयमें यही बात की भी गयी। दो-चार नगरोंमें विशेष छावनियाँ बनायी गयीं और प्रायः सभी शत्रुनागरिकोंको—'प्रायः' इसलिए कि किसीको विश्वस्त और निरपराध समझकर इस आज्ञासे मुक्त भी कर दिया गया था—उन्हींमें रखा गया। वहाँ उनपर विशेष रूपसे पहरा बैठाया गया था। उनके काम-धन्धे तो बन्द ही थे इसलिए जीवन-निर्वाहके लिए प्रायः सबको अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार कुछ रुपया दिया जाता था।

यों तो युद्ध छिड़नेपर शत्रुप्रजाको यह अनुमति दे दी जाती है कि चाहें तो दो-चार दिनके भीतर चले जायँ परन्तु यह अनुमति आजकल सबको नहीं मिलती। जिन लोगोंके बारेमें यह समझा जाता है कि यह स्वदेश लौटकर अपनी सरकारके सैन्यबलको बढ़ायेंगे वह रोक लिये जाते हैं। इस प्रकार सभी हृष्टपुष्ट युवक, विमानचालक, एञ्जिनियर, डाक्टर, रुक जाते हैं। इनको बहुधा नजरबन्द कर दिया जाता है।

द्वितीय महासमरमें एक रोचक बात हुई। जर्मनी अपनी प्रजामें भेदभाव करता था। यहूदियोंका वहाँ भाँति-भाँतिसे उत्पीड़न होता था। युद्धारम्भके समय ब्रिटेन और अमेरिकामें जो

कई सहस्त्र जर्मन थे उनमें बड़ी संख्या यहूदियोंकी भी थी। यह समझा गया कि यह लोग जर्मन सरकारसे अप्रसन्न होंगे। अतः दूसरे जर्मनोंको तो नजरबन्द कर दिया गया परन्तु यहूदियोंको मुक्त रक्खा गया। उनमेंसे कई ब्रिटिश और अमेरिकन सेनामें भर्ती होकर जर्मनीके विरुद्ध युद्धमें भी सम्मिलित हुए।

जो शत्रुदेशीय रहने पाते हैं वह न्यायालयोंमें अपने मुकदमे भी ले जा सकते हैं। ऐसा माना जाता है कि शत्रु होनेके नाते तो उनको किसी प्रकारका अधिकार नहीं है परन्तु जब उनको रहनेकी अनुमति दी गयी है तो राजने उनकी रक्षाका भार अपने ऊपर ले लिया है और अदालतसे लाभ उठाना रक्षाके अन्तर्गत है।

लगभग इसी प्रकारका नियम जहाजोंके साथ भी बर्ता जाता है। सैनिक जहाज तो प्रकृत्या रोक लिये जाते हैं और उनके मल्लाह बन्दी बना लिये जाते हैं। अब रहे व्यापारिक जहाज। इनके दो भेद किये जाते हैं। जो जहाज शुद्ध व्यापारके लिए ही बने प्रतीत होते हैं उनको प्रायः जब्त नहीं करते प्रत्युत एक नियत अवधिके भीतर चले जानेकी अनुज्ञा भी दे दी जाती है। परन्तु कुछ जहाजोंकी बनावट ऐसी होती है कि वह थोड़ेसे ही उलट-फेरमें लड़ाईके कामके बनाये जाते हैं। उनके सम्बन्धमें ऐसी आशंका होती है कि घर लौटकर वह शत्रुकी नौसेनाके अंग बन जायँगे। ऐसे जहाज न केवल रोक लिये जाते हैं वरन् जब्त कर लिये जाते हैं। १९०० की हेग कांफरंसने इस बातकी स्पष्ट अनुज्ञा दी है।

एक शत्रुराजके जहाज दूसरेके नौस्थानोंमें

ऊपरके नियम तो उन लोगोंके लिए हैं जो युद्धकालमें स्वतः शत्रुके वशमें होते या पड़ जाते हैं। जो लोग लड़ाईके परिणाम-स्वरूप शत्रुके हाथमें पड़ जाते हैं उनके लिए भी कुछ विशेष नियम हैं। पहिले ऐसे नियम न थे। शत्रुसेना चाहे जिस नगर या गाँवमें गोले बरसाये या आग लगा दे, घेरकर सिपाहियोंके साथ-साथ अन्य नागरिकोंको भी भूखों मार डाले, जीते हुए प्रदेशोंको यथेच्छ लूटे, स्त्रियोंके साथ चाहे जैसा व्यवहार करे, कोई विशेष रोकटोक न थी। सभ्य और दयालु सेनापति पहिले भी यथासम्भव साधारण नागरिकोंकी रक्षा करनेका प्रयत्न करते थे। उनसे रुपया लेकर नगरकी लूट-पाट रोक दी जाती थी। सभ्य राष्ट्रोंके सिपाही प्रायः स्त्रियोंको नहीं छेड़ते थे, देवस्थानोंका भी निरादर नहीं किया जाता था, पर यह बातें अपवादस्वरूप थीं। सामान्य रूपसे युद्धका स्वरूप बड़ा भयंकर होता था। प्राचीन आर्योंके यहाँ अच्छे नियम थे पर इस्लामके झोंकेमें वह बहुत कुछ बह गये। आजकल फिर सभ्यतामय नियम बने हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनका उल्लंघन नहीं होता। गत महासमरमें जर्मनी और जापानकी इस सम्बन्धमें बड़ी शिकायत सुनी गयी। अंग्रेजोंने भी उसी प्रकारके बहुतसे अत्याचार किये। ऐसा स्यात् कोई भी राष्ट्र नहीं है जो निर्दोष हो। पर हाँ नियमोंका अस्तित्व यह बतलाता है कि लोगोंकी बुद्धि कुछ सुधर रही है और भाव कुछ संस्कृत हो रहे हैं। इससे भविष्यत्के लिए अच्छी आशा की जाती है। जो राज इन नियमोंके विरुद्ध चलते हैं उन्हें लोग बुरा कहते हैं। अपने अपने अवसरपर चाहे सभी स्वार्थवश अन्धे हो जायँ पर दूसरोंको अवश्य रोकते और अपने निन्द्य आचरणके लिए बहाना बतलानेका यत्न करते हैं। जो बातें की भी जाती हैं उन्हें छिपानेकी फिक्र होती है, पर रेल-तारके युगमें घटनाओंको छिपा देना सुकर नहीं है।

जब एक राजकी सेना दूसरेके राज्यमें प्रवेश करती है तो अधिकृत प्रदेशके निवासियोंके साथ बर्तनेमें तीन बातोंका विशेष रूपसे ध्यान रखा जाता है।

पहिले यह होता था कि जब किसी नगरमें शत्रुसेनाका प्रवेश होता था तो उसके निवासी लूटे जाते थे और जो किञ्चिन्मात्र मुँह खोलता था वह मार डाला जाता था। किसीके जानमाल तथा मर्यादाको सुरक्षित नहीं कह सकते थे। इस प्रकारकी लूटपाट विजेताओंका स्वत्व समझी जाती थी। दिल्लीकी नादिरशाही लूट और उसके सहस्रों निवासियोंका मारा जाना आजतक प्रसिद्ध है। यूरोपमें भी ऐसा बराबर होता आया है। पर अब यह बात रुक गयी है। कहते हैं कि गत महायुद्धमें जर्मन और जापानी सिपाहियोंने ऐसी अच्छृङ्खलता दिखलायी थी। इस सम्बन्धमें बहुतसे जापानी और जर्मन सेनापतियोंपर मुकदमे चलाये गये हैं और उनको प्राणदण्डतक दिया गया है। किसी सभ्य राष्ट्रके सिपाहियोंका अपने नायकोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके सामान्य डकैतों और बदमाशोंका-सा आचरण करना अपमानजनक है। १८७४ में ब्रुसेल्जमें जो अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन हुआ उसमें यह नियम बना कि सद्योजित नगरोंमें लूटपाट न हो। १९०७ में हेगमें जो युद्धसम्बन्धी नियम बने उनके भी तृतीय खण्डकी ४७ वीं धारामें स्पष्ट शब्दोंमें यही बात लिखी है। २८ वीं धारामें लिखा है कि जहाँ कोई नगर धावा मारकर जीता जाय वहाँ भी लूटमार न की जाय। लूटमार बन्द होनेसे सिपाहियों और नागरिकोंसे मुठभेड़के अवसर बहुत ही कम आते हैं और प्राण तथा मानपर आक्रमणके कम ही स्थल खड़े होते हैं।

सद्योजित स्थानोंके साथ व्यवहार

नगरोंपर आक्रमण करते समय भी सेनाओंके लिए यह निर्देश है कि जानबूझकर अस्पतालों, देवालयों या उन मुहल्लोंपर गोलियाँ न बरसायें जिनमें साधारण नागरिक रहते हैं। यदि नागरिकोंके घरोंमें शत्रुके सिपाही भरे हों और अपने ऊपर शस्त्र चला रहे हों तो दूसरी बात है। जिन नगरों या ग्रामोंके पास पक्का-कच्चा किसी प्रकारका दुर्ग न हो और शत्रु-सेनाका पड़ाव न हो उनपर शस्त्र चलाना वर्जित है। बहुधा किलों और दुर्गरक्षित नगरोंमें सैनिकों तथा अन्य पुरुषोंके अतिरिक्त कुछ स्त्री-बच्चे भी रहते हैं। अभी कोई निश्चित नियम नहीं बना है पर बहुधा घेरा डालने या गोलाबारी करनेके पहिले अ-शस्त्रधारियों, विशेषतः स्त्रियों और बच्चों, को निकल जानेका अवकाश दे दिया जाता है। हेगमें १९०७ में जो युद्ध सम्बन्धी नियमावली बनी थी उसकी २४ वीं से २८ वीं धाराएँ इन बातोंके सम्बन्धमें हैं। २६ वाँ नियम तो यह कहता है कि सिवाय उस दशाके जब कि यकायक धावा या आक्रमण करना है, शत्रु-सेनाके सेनापतिको चाहिये कि दुर्ग या नगरके अधिकारियोंको अवश्य सूचना दे दे कि हम इस स्थानपर आक्रमण करनेवाले हैं ताकि वह लोग अ-शस्त्रधारियोंको निकल जाने दें और अस्पताल इत्यादिपर ऐसे झण्डे या अन्य चिह्न लगा सकें जिसमें भूलसे उनपर शस्त्रपात न हो। इन चिह्नोंकी सूचना आक्रमणकारी सेनाको दे देनी होती है ताकि वह उन्हें पहिचान रखे।

अधिकृत प्रदेशके साथ व्यवहार

जब एक बार आक्रमणकारी सेनाका कब्जा शत्रु-राज्यके किसी प्रदेशपर हो जाता है तो युद्धकी समाप्तितक वह उसके शासनका निरीक्षण करती है पर नियम यह है कि अन्तःशासनमें यथासम्भव विघ्न-बाधा न डाली जाय। जो कर्मचारी, अर्थात् न्यायाधीश, मजिस्ट्रेट, पुलिस आफिसर इत्यादि पहिले काम करते थे उन्हींसे काम लेना चाहिये। हाँ, यदि वह काम करना अस्वीकार कर दें तो नये कर्मचारी, वह भी यथासम्भव स्थानीय, रखने ही होंगे। दीवानी-फौजदारीके कानूनोंमें कोई परिवर्तन न किया जाय, न विद्यालयों या देवालयोंके साथ छेड़छाड़ की जाय। यदि विजयी सेना सरकारी टिकस वसूल करना चाहती है तो वह ऐसा कर सकती है पर टिकस वही होना चाहिये

जो उस देशकी सरकार पहिले लेती थी। सरकारी इमारतों और सम्पत्तियोंपर शत्रु-सेना कब्जा कर लेती है परन्तु हेग सम्मेलनकी नियमावलीकी ५६ वीं धाराके अनुसार स्थानीय शासन-संस्थाओं (अर्थात् म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों), देवालयों, धर्मालयों (जैसे अनाथालयों, सेवा-समितियों, धर्मशालाओं इत्यादि), शिक्षालयों तथा विज्ञान और कला सम्बन्धी संस्थाओं (जैसे प्रयोगशालाओं, वेधालयों, चित्रशालाओं इत्यादि) की सम्पत्तिपर हाथ नहीं डाला जा सकता। ऐतिहासिक स्मारकों या वैज्ञानिक यन्त्रों तथा इस प्रकारकी अन्य वस्तुओंको हस्तगत करना, जानबूझकर बिगाड़ना या नष्ट करना वर्जित है। पिछले महासमरमें अन्य निन्द्य कामोंके साथ-साथ जर्मनोंने कलाकृतियोंकी बहुत चोरी की, विजित प्रदेशोंसे बहुतसे बहूमूल्य चित्र आदि उठा ले गये। युद्धावसानके बाद वह सब लौटानी पड़ीं। यदि विजयी सेनाको खाने-पीनेकी या अन्य चीजोंकी आवश्यकता है तो वह स्थानीय अधिकारियोंसे यह कह सकती है कि हमको अमुक-अमुक चीजें चाहिये, उन्हें एकत्र कर दो, पर उन सब चीजोंके लिए नक्द दाम देना होगा। यदि बहुत ही बड़ी आवश्यकता हो और नक्द रुपया उपस्थित न हो तो रसीदें देनी चाहिये और यह प्रयत्न करना चाहिये कि जल्दी-से-जल्दी उन रसीदोंका रुपया चुका दिया जाय। शत्रु-सेनाके सेनापतिको यह अधिकार है कि अपने सिपाहियोंको नागरिकोंके घरोंमें यथास्थान ठहरा दे। जबतक अधिकृत नगर या प्रदेशके निवासी विजयी सेनाके विरुद्ध कोई ऐसा काम न करें जिससे यह प्रतीत होता हो कि इसे अधिकांश निवासियोंने मिलकर किया है या अधिकांश निवासी इस कामके करनेवालोंके साथ सहानुभूति रखते हैं या उनको गुप्त सहायता करते या करना चाहते हैं तबतक उनको कोई सामुदायिक दण्ड नहीं दिया जा सकता, केवल अपराधी ही दण्डित होगा। पर यदि विजयी सेनापति या अन्य अधिकारीको, जिसे शत्रुराजकी सरकार अधिकृत प्रदेशका प्रधान शासक नियुक्त कर दे, यह विश्वास हो जाय कि उसकी सेनाके विरुद्ध जो काम किये गये हैं उनमें सामान्यतः सभी निवासियोंका अनुमोदन है तो वह सामुदायिक दण्ड दे सकता है। वह दण्ड कई प्रकारका होता है। मुख्य-मुख्य नागरिक कैद कर लिये जाते हैं, यदि भीषण अपराध हो तो उनसे कहा जा सकता है कि इतने घण्टोंके भीतर असली अपराधियोंको पेश करो नहीं तो प्राणदण्ड दिया जायगा, इत्यादि। बहुधा जुर्माना किया जाता है। अमुक स्थानसे इतने दिनोंके भीतर इतना रुपया मिलना चाहिये, चाहे सब निवासी चन्दा करके दें चाहे एक ही व्यक्ति दे दे। रुपया वसूल न होनेपर शत्रु-सेनाको अधिकार है कि लूट छोड़कर उसे चाहे जैसे वसूल कर ले। इस विशेष अवस्थाको छोड़कर नागरिकोंकी निजी सम्पत्तिपर हाथ नहीं डाला जा सकता।

अधिकृत प्रदेशोंके निवासियोंके साथ जो बर्ताव किया जाता है वह उनके व्यवहारपर निर्भर है। उनमें जो देशभक्त अपनी मातृभूमिका पराभव न देख सकते हों उन्हें चाहिये कि राष्ट्रिय सेनामें भर्ती हो जायँ पर जो लोग ऐसा नहीं कर सकते या नहीं करना चाहते उन्हें किसी प्रकारका उपद्रव न करना चाहिये। यह नहीं हो सकता कि वह अपना निजी कारबार भी करते रहें और अवकाशके समय देशभक्तिके आवेशमें शत्रु-सेनाके सिपाहियोंपर शस्त्र भी चलावें। ऐसा करना सर्वथा वर्जित है। इसके साथ ही हेगमें स्वीकृत नियमावलीकी २३ वीं, ४४ वीं और ४५ वीं धाराओंने विजयी सेनाके अधिकारोंको भी परिमित कर दिया है। इन धाराओंके अनुसार कोई राज अपने शत्रुके प्रजाजनोंको इस बातके लिए विवश नहीं कर सकता कि वह स्वदेशके विरुद्ध किसी सामरिक कार्यवाहीमें सम्मिलित हों, चाहे वह युद्धके पहिले उसके यहाँ नौकर भी रहे हों। प्रजाजनोंको इस बातके लिए भी नहीं विवश किया जा सकता कि वह अपने राष्ट्रकी सेनाके सम्बन्धकी कोई बात बतावें या

गुप्त मार्गों और छिपे शस्त्रागारों, इत्यादिका पता बतावें। उनसे शत्रु-राजके प्रति राजभक्तिकी शपथ भी नहीं ली जा सकती। सेनाको रसद पहुँचाने या उसकी अन्य आवश्यकताओंको पूरा करनेमें उनसे सहायता ली जा सकती है।

इन नियमोंमें एक बात ध्यान देने योग्य है। यदि एक राजके कुछ नागरिक दूसरे राजकी सेनामें नौकर हों और इन दोनों राजोंमें युद्ध छिड़ गया तो उस समय यह सैनिक इस बातके लिए नहीं विवश किये जा सकते कि अपने देशके विरुद्ध लड़ें। उनका लड़नेसे मुकर जाना अन्ताराष्ट्रिय विधानके सर्वथा अनुकूल है। अब एक विशेष अवस्थाको सोचिये। किसी देशपर विदेशियोंका शासन है। चूँकि अपनी कोई राष्ट्रीय सरकार नहीं है इसलिए उस देशके निवासी विदेशी सरकारकी सेनामें भर्ती होते हैं। पर यदि उस देशमें स्वराज्य-आन्दोलन जोर पकड़े और क्रांतिकारी अर्थात् स्वतन्त्रतावादी दल कुछ प्रदेशपर अधिकार कर लेनेमें सफल होकर एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार स्थापित कर लें तो इन देशी सिपाहियोंका क्या कर्तव्य होगा? यदि विदेशी सरकार इन्हें स्वराज्य-सेनासे लड़नेकी आज्ञा दे तो इन्हें क्या करना चाहिये? क्या वह इन्हें स्वदेशके विरुद्ध लड़नेकी भी आज्ञा दे सकती है, विशेषतः उस दशामें जब कि इनके देशमें उसकी प्रतियोगी एक स्वदेशी सरकार भी खड़ी हो गयी है? यदि यह देशी सिपाही किंचिन्मात्र भी देशभक्त होंगे तो ऐसी अवस्थामें क्या करेंगे इसका तो अनुमान किया जा सकता है पर यह निश्चय है कि विदेशी सरकार उन्हें बागी और दण्डनीय ही समझेगी। अन्ताराष्ट्रिय विधान इस सम्बन्धमें अगत्या चुप है। आजाद हिन्द सेनाने हम भारतीयोंका ध्यान इस प्रकारकी समस्याओंकी ओर विशेष रूपसे खींचा। प्रथम महासमर छिड़नेके समय आष्ट्रियन सेनामें बहुतसे जेख सिपाही थे। युद्ध छिड़नेपर प्रोफेसर मसारिक-की अध्यक्षतामें एक स्वतंत्र जेख सरकार स्थापित कर दी गयी। उसके पास राज्यके नामपर एक वर्ग इञ्च भूमि भी नहीं थी पर उसे जर्मनी-आस्ट्रियाके विरोधी राष्ट्रोंने स्वीकृति दे दी। उसकी अपीलका यह परिणाम हुआ कि कई हजार जेख सैनिक युद्धस्थलमें हथियार डाल देते थे। रूसी उन्हें कैद करके छोड़ देते थे। इस प्रकार आजाद जेख सेना बन गयी।

ऊपर जो नियम दिये गये हैं वह आदर्शस्वरूप हैं। उनका पूरा-पूरा पालन किसी भी युद्धमें नहीं होता। यदि जुर्माना लेने या अन्य प्रकारसे दण्ड देनेकी इच्छा हो तो चतुर सेनापति सैकड़ों बहाने ढूँढ़ सकता है। एकके अपराधके लिए एक नगरको फूँक सकता है। विद्यालय, देवालय, प्रयोगशाला, चित्रशाला, स्मारक किसीकी रक्षाका जिम्मा नहीं लिया जा सकता। गत महासमरमें यूरोपियन राजोंने, जो इन नियमोंके विधायक हैं, एक-एक नियमको पाँव-तले रौंदा है। पर यह रोग ऐसा है जिसकी औषध कोई नहीं कर सकता। सभ्य देशोंमें शान्तिकालमें पशुबल नीचे दबा रहता है, युद्धकालमें ही उसे सिर उठानेका अवसर मिलता है। ऐसे समयमें वह जी खोलकर मनमानी करता है। जबतक मनुष्यमात्र इतने सभ्य और सुसंस्कृत न हो जायँ कि जगतीतलसे युद्धका नाम ही मिट जाय तबतक हमको पाशविकताका ताण्डव देखनेके लिए प्रस्तुत रहना ही चाहिये। हम इतना ही कर सकते हैं कि कड़े-कड़े नियम बनाकर उसको कुछ नियन्त्रित कर दें। इस कार्यमें अन्ताराष्ट्रिय विधानको सफलता हुई है। अधिकृत प्रदेशोंके निवासियोंके साथ अत्याचार होते हैं, भीषण अत्याचार होते हैं, पर अत्याचारियोंको लज्जित होना पड़ता है, सभ्य जगत्का लोकमत उनके विरुद्ध हो जाता है, इससे उनकी कुछ क्षति होती ही है।

अधिकृत प्रदेशोंके जो निवासी रोगियों और घायलोंकी सेवा-शुश्रूषाका भार अपने ऊपर लेते हैं उनके साथ विशेष रियायत की जाती है। १९०६ में जेनीवामें जो नियम बने उनके अनुसार

सैनिक अधिकारियोंकी इच्छापर यह बात छोड़ दी गयी है कि वह निवासियोंसे अपने घरोंमें आहत और रोगी सिपाहियोंको रखने और उनकी सेवा करनेके लिए अपील करें और जो लोग ऐसा करनेपर राजी हों उनके साथ यथोचित रियायतें करें। रियायतका रूप प्रायः यह होता है कि ऐसे लोगोंके घर सिपाही नहीं ठहराये जाते और यदि अन्य नागरिकोंसे दण्डस्वरूप कुछ जुर्माना लिया जाता है तो यह लोग उसके देनेसे मुक्त कर दिये जाते हैं। जेनीवामें स्वीकृत नियमावली की ५वीं धारा इस प्रकार है—

शुश्रूषकोंके साथ विशेष रियायत

'सैनिक अधिकारी निवासियोंकी दानशीलतासे इस बातकी अपील कर सकते हैं कि वह लोग, उनके निरीक्षणमें, सेनाओंके रोगियों और आहतोंको एकत्र करें और उनकी सेवा करें और जो लोग इस अपीलको स्वीकार करें उन्हें विशेष रक्षा, और कुछ रियायतें प्रदान कर सकते हैं।'

पाँचवाँ अध्याय

शत्रुवर्गीयोंके साथ बर्ताव—सैनिकोंके प्रति

प्राचीन आर्योंमें शत्रुओंके साथ किस प्रकार बर्ताव करनेकी प्रथा थी, इसका कुछ दिग्दर्शन हमने इस खण्डके आरम्भमें ही किया है। भीत, पलायमान, शस्त्रहीन अथवा 'त्रायस्व' (रक्षा करो) कहनेवालेपर आघात करना वर्जित था पर हम यह ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि रणबन्दियोंको किस प्रकार रखा जाता था। मृतकोंकी अन्त्येष्टि धर्मानुसार की जाती थी। रावणकी मृत्युके उपरान्त विभीषणने कहा कि मैं ऐसे दुष्कर्मीका मृतक-संस्कार नहीं करूँगा। रामचन्द्रजीने उसे डाँटा और कहा 'मरणान्तानि वैराणि'।

यूरोपमें आजसे तीन सौ वर्ष पहलेतक जो प्रथा प्रचलित थी वह सर्वथा क्रूरतामय थी। स्त्री-बच्चोंतकको मार डालना क्षम्य ही नहीं उचित समझा जाता था, सैनिकोंका तो कहना ही क्या है। धीरे-धीरे अवस्था सुधरी। आचार्योंने यह सम्मति दी कि असैनिकोंके साथ तो छेड़छाड़ करनी ही न चाहिये। यह सिद्धान्त मान लिया गया है। फिर धीरे-धीरे इस ओर ध्यान गया कि सैनिकोंके साथ भी अनावश्यक क्रूरता करना अनुचित है। यह सिद्धान्त भी मान लिया गया पर आवश्यक तथा अनावश्यक क्रूरताकी सीमा निर्धारित करना उतना सरल नहीं है। इस विषयमें आपसमें मतभेद है अतः जो नियम बने हैं वह अधूरे हैं। पहिले-पहिल रूसके ज़ार द्वितीय सिकन्दरकी प्रेरणासे कुछ नियम १८७४ में बने थे। इसके पीछे १८९९ और १९०७ के हेग-सम्मेलनोंमें इन्हींके आधारपर और विस्तृत नियमावलियाँ बनीं। इनमें जो बातें छूट गयी हैं उनका तात्कालिक निर्णय तो उभय पक्षके सेनापति ही करते हैं पर उनके निर्णयके लिए दायित्व उनकी सरकारोंका होता है। १९०७ की हेग नियमावलीकी भूमिकामें लिखा है कि जो प्रश्न छूट गये हैं उनका निर्णय सेनापतियोंकी मनमानी सम्मतिपर नहीं छोड़ा गया है प्रत्युत 'सैनिकों और निवासियोंकी रक्षा अन्ताराष्ट्रिय विधानके सिद्धान्तों द्वारा होती है जिनकी उत्पत्ति सभ्य राष्ट्रोंकी रीति-नीति, मनुष्यताके सदुपचारों और सार्वभौम विवेक-बुद्धिसे हुई है'। कहनेका सारांश यह है कि जहाँ कोई स्पष्ट लिखित नियम नहीं मिलता वहाँ यह देखना चाहिये कि न्यायसंगत तथा सभ्यतानुकूल कैसा आचरण होगा। अधिक सम्भावना यह है कि ऐसा आचरण प्रमुख सभ्य राष्ट्रोंके व्यवहारके अनुरूप ही होगा।

सैनिक कौन है ?

इस स्थलपर यह जान लेना भी उचित होगा कि ऊपर 'सैनिक' शब्द किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। हेग-नियमावलीकी प्रथम तीन धाराओंमें सैनिकोंके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

प्रथम धारा—युद्ध-सम्बन्धी नियम, स्वत्व और कर्तव्य न केवल सेनाके लिए हैं प्रत्युत उन मिलिशिया[1] और स्वयंसेवक[1] दलोंके लिए भी जो निम्नलिखित शर्तें पूरी करते हों—

१. उनका नेता कोई ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो अपने अधीनोंके लिए दायी हो।

---

१ बहुतसे देशोंमें साधारण सेनाके सिवाय ऐसे सैनिक दल होते हैं जो थोड़े-थोड़े दिनोंके लिए वेतन लेकर सेनाके रूपमें काम करते हैं, फिर अपने-अपने घर चले जाते हैं। इनकी भरती विशेष नियमोंके अनुसार होती है। युद्ध छिड़नेपर यह भी बुला लिये जाते हैं। इन्हें मिलिशिया कहते हैं। स्वयंसेवक वह हैं जो वेतन नहीं पाते, केवल स्वदेशरक्षाके निमित्त संघटित होते हैं।

२. उनका कोई नियत परिचायक चिह्न होना चाहिये जो दूरसे पहिचाना जा सके।

३. उन्हें खुलकर शस्त्र धारण करना चाहिये।

४. उनके सारे काम युद्ध-सम्बन्धी नियमों और प्रथाओंके अनुसार होने चाहिये।

जिन देशोंमें मिलिशिया या स्वयंसेवक दल ही सेना या उसके अंश हों वहाँ उनको भी सेना संज्ञा होगी।

द्वितीय धारा—यदि किसी ऐसे प्रदेशके निवासी जिसपर शत्रुका अभी कब्जा नहीं हुआ है, आक्रमणकारी सेनाके विरुद्ध अपनी इच्छासे शस्त्र ग्रहण कर लें[1] पर समयाभावके कारण प्रथम धाराके अनुसार अपनेको संघटित न कर सके हों तो वह भी योद्धा माने जायँगे, यदि वह खुलकर शस्त्र धारण करें और युद्ध-सम्बन्धी नियमोंका पालन करें।

तृतीय धारा—शत्रु-सेनाओंमें शस्त्रधारी और निःशस्त्र दोनों प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं। शत्रु द्वारा पकड़े जानेपर दोनों रणबन्दियों जैसे व्यवहारके अधिकारी होंगे।

जहाँ द्वितीय धाराके अनुसार किसी प्रदेश-विशेषकी प्रजा शस्त्र लेकर उठ खड़ी होती है वहाँ तो किसी प्रकारकी वर्दी हो नहीं सकती पर यदि छोटी-छोटी टुकड़ियाँ आक्रमणकारी सेनाका मार्गावरोध करती हैं तो उनसे ऐसी वर्दीकी प्रतीक्षा की जाती है जो स्पष्ट हो और दूरसे पहिचान पड़े। यदि ऐसी टुकड़ियोंको उनकी राष्ट्रिय सरकारकी आज्ञा न मिली हो, यदि उनकी गणना राष्ट्रिय सेनामें न होती हो और उनके सैनिक निरन्तर सैनिक काम न करते हों (अर्थात् बीच-बीचमें अपने घर गृहस्थीके काममें भी लग जाते हों) तो पकड़े जानेपर उनके साथ रणबन्दियों जैसा बर्ताव नहीं होता वरन् डकैतोंकी भाँति उन्हें कारावास, फाँसी, आदिका दण्ड दिया जाता है। पिछले युद्धमें पैराशूट-सेनासे कई जगह काम लिया गया। पैराशूट एक प्रकारकी छतरी होता है जिसकी सहायतासे वायुयानसे उतरा जाता है। पैराशूट सैनिक अपने वायुयानोंसे चुपकेसे शत्रु-सेनाके पृष्ठभागमें उतरते थे। उनका काम रास्तोंको खराब करना, रसदमें बाधा डालना आदि होता था। जर्मनों और जापानियोंने यह घोषणा की कि हम इन लोगोंको सैनिक अधिकार नहीं देंगे और मिलनेपर गोली मार देंगे।

जलयुद्धके नियम भी सुबोध हैं। सरकारी जहाजोंके सभी अफसर और नाविक सैनिक हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजको यह अधिकार है कि वह युद्धारम्भ होनेपर व्यापारियोंके जहाजोंको सैनिक काममें लगावे। यदि इन जहाजोंके नाविक युद्धके नियमोंका पालन करें और इनके अफसर सरकारी नौसेनाके अफसर हों तो इनकी गणना भी सैनिक जहाजोंमें ही होगी, नहीं तो उनके साथ डकैतों जैसा बर्ताव होगा।

इस सम्बन्धमें एक प्रश्न यह उठता है कि किसी राजको यह अधिकार है या नहीं कि युद्धकालमें जब जहाँ चाहे अपने देशके जिस किसी व्यापारिक जहाजको सैनिक जहाज बना ले। इस विषयपर घोर मतभेद है। एक पक्षका कहना है कि जबतक जहाज अपने राज्यकी सीमाके भीतर न हो तबतक उसका स्वरूप नहीं बदला जा सकता। दूसरा कहता है कि ऐसा सर्वत्र किया जा सकता है। अभी दूसरा ही पक्ष प्रबल है।

हेग-नियमावलीकी तृतीय धारामें सेनाओंके निःशस्त्र अंगका कथन आया है। सेनाओंके साथ दो प्रकारके निःशस्त्र मनुष्य रहते हैं। एक तो रसद-विभागके कार्यकर्ता, डाक्टर इत्यादि—यह लोग नियत वेतन पाते हैं और शस्त्र भी रखते हैं पर सिवाय आत्मरक्षाके किसी अन्य दशामें इनका

१ जनताके इस प्रकार सशस्त्र उठनको 'लेवी आँ मास' (Levies en masse) कहते हैं।

प्रयोग नहीं कर सकते; दूसरे, समाचारपत्रोंके संवाददाता, व्यापारी इत्यादि जो सेनाके वेतनभोगी अंग नहीं हैं। इनके पास भी सेनापतिका अनुज्ञापत्र रहता है।

अब हम संक्षेपतः उन नियमोंका दिग्दर्शन करायेंगे जिनके अनुसार सैनिकोंके साथ बर्ताव किया जाता है।

अभयदान

जब कोई सैनिक लड़ना छोड़कर दयाकी भिक्षा माँगता है उस समय वह अपने शत्रुके हाथमें है। विजयी शत्रु चाहे उसकी याचना स्वीकार करे या न करे। यदि याचना स्वीकार कर ली जाय तो उसके प्राण बच जाते हैं। हथियार रखवाकर उसे बन्दी बना लिया जाता है। इसे अभयदान[1] कहते हैं। पहिले चाहे जो होता रहा हो पर आजकल यह सम्भव नहीं है कि शत्रु सैनिकोंको हथियार रखवाकर छोड़ दिया जाय। उन्हें प्राणदान देकर भी बन्दी बनाना ही पड़ता है।

आर्योंमें तो यह प्रथा बहुत दिनोंसे चली आती है पर यूरोपमें थोड़े ही दिनोंसे चली है। असभ्य और अर्द्ध सभ्य जातियोंकी भाँति यूरोपियन राष्ट्र भी विजित शत्रु-सैनिकोंका वध न्याय्य समझते थे। अब बात उलट गयी है। अभयदानसे वही शत्रु वंचित किये जा सकते हैं जो उसका दुरुपयोग करते हैं अर्थात् अभय देनेवालोंको धोखा देकर मारना चाहते हैं। कभी-कभी ऐसा विश्वास-घात होता है। कोई दुष्ट सिपाही आहत बनकर गिर जाता है या बन्दूक रखकर दया-याचना करता है पर जब कोई प्रतिपक्षी सैनिक उसके पास निःशंक होकर जाता है तो किसी छिपे शस्त्रसे उसपर चोट करता है। ऐसे मनुष्य अभयदानके पात्र नहीं हो सकते। हेग-नियमावलीकी २३ वीं धाराके अनुसार, पहिलेसे ही यह घोषणा कर देना कि 'हम किसीको अभयदान न देंगे' या 'ऐसे शत्रुको जिसने हथियार डालकर या आत्मरक्षाके साधनोंसे वंचित होकर आत्मसमर्पण कर दिया हो, मारना या आहत करना' विशेष रूपसे वर्जित है।

इस सम्बन्धमें बहुत दिनोंतक मतभेद रहा कि यदि कोई दुर्ग लड़कर जीता जाय तो उसके रक्षकोंके साथ कैसा व्यवहार किया जाय। बहुत दिनोंतक तो यही प्रथा थी कि यदि दुर्गवाले सीधेसे हथियार रख दें तो उन्हें छोड़ दिया जाय नहीं तो विजय होनेपर सब मार डाले जायँ। वह अभय-दानके पात्र नहीं समझे जाते थे। परन्तु अब दुर्गरक्षकों और अन्य सैनिकोंमें कोई भेद नहीं माना जाता। उनको भी अभयदान दिया जाता है। यदि कोई विजयी सेनापति दुर्गरक्षकोंका वध कर डाले तो वह दोषी ठहराया जायगा।

रणबन्दियोंके साथ बर्ताव

रणबन्दियोंके साथ आज-कल तो जो बर्ताव होता है उसमें और पहिले समयके बर्तावमें भी आकाश-पातालका अन्तर है। बन्दियोंको मार डालना असाधारण बात न थी। धनवान् बन्दियोंका तो मूल्य बाँध दिया जाता था। यदि वह अपने घरसे उतना रुपया मँगा सकें तो छोड़ दिये जाते थे। साधारण सैनिक दास बना लिये जाते थे और विजेताओंमें बाँट दिये जाते थे। यदि दासोंकी संख्या अधिक हुई तो उन्हें भेड़-बकरीकी भाँति खुले बाजार बेच दिया करते थे। पीछेसे यह प्रथा चली कि जिस राजके सैनिक बन्दी होते थे वह स्वयं उनके लिए रुपया देकर छुड़ा लिया करता था। इसके पीछे यह हुआ कि बराबरका बदला होने लगा अर्थात् जितने बन्दी एक पक्ष छोड़ देता था उतने दूसरा पक्ष छोड़ देता था। अब ऐसा प्रायः नहीं होता। जो लोग बन्दी बनाये जाते हैं वह युद्धके अन्ततक बन्दी ही रहते हैं। युद्ध समाप्त होनेपर उन्हें घर पहुँचानेका यथासम्भव शीघ्र प्रबन्ध

१ क्वार्टर = Quarter

कर दिया जाता है। तबतक अर्थात् बन्दी-अवस्थामें, सैनिकोंके साथ जो बर्ताव किया जाता है वह १९०७ में निर्धारित हेग-नियमावलीके अनुसार होता है। यह नियमावली, जैसा कि हम आगे देखेंगे, बहुत ही उदार है। यदि इसका ठीक-ठीक पालन किया जाय तो बन्दियोंको शिकायत करनेका कोई अवसर नहीं मिल सकता। नियमावलीके दूसरे अध्यायमें इस सम्बन्धमें १७ धाराएँ हैं। उन्हींके आधारपर युद्धकालमें प्रत्येक योधा राजको अपने यहाँ प्रबन्ध करना पड़ता है और अपने सेनानियोंको निर्देश करना पड़ता है।

प्रत्येक राजको युद्ध आरम्भ होते ही अपने यहाँ एक सूचना-विभाग खोलना पड़ता है। इस विभागका यह काम है कि अपने यहाँ जितने बन्दी हों, उनकी पूरी सूची रखे और शत्रुराजको भी यह सूची भेज दे। प्रत्येक बन्दीका पृथक् खाता रखना होता है। इसमें उसका पूरा नाम, पता, सैनिक-संख्या, पल्टन, पद, कहाँ-कहाँ और कितने घाव लगे, किस दिन और किस स्थानपर बन्दी हुआ, कहाँ रखा गया, उसे कब क्या और क्यों दण्ड देना पड़ा, कब और क्यों अस्पताल भेजा गया, कब भागनेका प्रयत्न किया, कब और कैसे छूटा, (यदि मर जाय तो) कब और कैसे मरा इत्यादि लिखना पड़ता है और युद्ध समाप्त होनेपर यह सब ब्योरा शत्रुराजके पास भेज देना होता है। इस विभागको प्रत्येक बन्दीकी निजी सम्पत्ति, चिट्ठी-पत्री इत्यादिकी भी रखवाली करनी पड़ती है और उसके भाग जाने, छूट जाने या मर जानेपर यह सब सामग्री उसके घर भिजवानी होती है। सूचना-विभागसे बन्दियोंके विषयमें जो बातें चाहें पूछी जा सकती हैं। उनका उत्तर देना उस विभागका कर्तव्य होगा। इस प्रकार समरबन्दियोंके घरवालोंको अपने सम्बन्धियोंका पूरा-पूरा समाचार मिलता रहता है। पिछली लड़ाईमें रेडियोद्वारा भी बन्दियोंके समाचारको उनके घरवालोंको सूचित करनेका यत्न किया गया।

कैद होनेके बाद बन्दी लोग शत्रु-राजके वशमें हो जाते हैं पर जबतक वह स्वयं उद्दण्डता न करें तबतक उन्हें यथासम्भव आराम ही दिया जाता है। बन्दी जेलखानेमें नहीं रखे जाते। उन्हें या तो किलोंके भीतर या अन्य सुरक्षित स्थानोंमें नजरबन्द कर देते हैं अर्थात् उनके ऊपर पहरा बैठाया जाता है पर हथकड़ी-बेड़ी आदि नहीं डालते। जो जगह दी जाती है वहाँका जलवायु उत्तम होना चाहिये और पड़ावमें अच्छा चिकित्सालय होना चाहिये। उनकी निजी सम्पत्ति उनके पास ही रहती है पर शस्त्र, घोड़े और सैनिक कागज ले लिये जाते हैं। यदि कोई बन्दी यह वचन दे कि मैं इस युद्ध भर आपके विरुद्ध शस्त्र न उठाऊँगा तो उसे छोड़ भी सकते हैं पर छोड़ना न छोड़ना बन्दी करनेवाली सरकारकी इच्छापर निर्भर है। इस प्रकारके वचनको पैरोल[१] कहते हैं। यदि कोई पैरोल देकर छूट जाय और शस्त्र धारण कर ले और फिर पकड़ा जाय तो उसे प्राणदण्ड तक दिया जा सकता है। यदि कोई बन्दी भागनेका प्रयत्न करे तो उसे दण्ड दिया जाता है, कुछ कालके लिए कैद तक कर दिया जाता है। भागते हुओंको कभी-कभी पीछा करने-वालोंके हाथ प्राणोंसे भी वञ्चित होना पड़ता है, पर यदि कोई बन्दी भागनेमें सफल हो ही जाय अर्थात् शत्रुसेनाकी अधिकृत भूमिसे निकल जाय तो कभी फिर पकड़े जानेपर उसे पहिली बारके अपराधके लिए दण्ड नहीं दिया जा सकता। यदि कोई रणबन्दी किसी तटस्थ देशकी सीमाके भीतर पहुँच जाय तो वह मुक्त हो जाता है। यदि किसी सेना या सेनांशको शत्रुके सामनेसे भागना पड़े और वह अपने बन्दियोंको लिये-दिये किसी तटस्थ देशमें पहुँच जाय तो वहाँ जाते ही सब बन्दी छूट जाते हैं।

---

१ Parole

यह नियम है कि बन्दी रखनेवाला राजबन्दी अफसरों और सैनिकोंको ठीक वही वेतन तथा भोजन-वस्त्र दे जो वह उसी दर्जेके अपने अफसरों तथा सैनिकोंको देता है। कुछ उदार बड़े राज, जैसे ब्रिटेन, इसका सारा बोझ स्वयं उठाते हैं। अन्य राज युद्धके अन्तमें शत्रुराजसे हिसाब करके सारा व्यय चुका लेते हैं। अफसरोंको तो नहीं पर सैनिकोंको काम भी दिया जा सकता है पर यह काम ऐसा न होना चाहिये जिससे तत्कालवर्ती युद्धसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। बहुधा सैनिकोंको कृषि, रेल, इमारत आदिमें लगा देते हैं। चाहे सरकार स्वयं काम ले या किसी संस्था या नागरिकका काम करा दे, दोनों अवस्थाओंमें वेतन या मजदूरी वही दी जाती है जो स्वयं उस देशके सैनिक वैसा ही काम करनेकी दशामें पा सकते हैं। इस रुपयेमेंसे उनके भरणपोषणका व्यय काटकर जो बचता है वह छूटते समय उन्हें दे दिया जाता है। बन्दियोंके धार्मिक कृत्योंमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाली जाती। १९०७ में ब्रिटेनने अपने बोअर बन्दियोंके लिए, जो लंका और सेण्ट हेलेनामें बन्द थे, स्कूल खोले थे और विशेष रूपसे खेलकूदका प्रबन्ध किया था। रूस-जापान युद्धमें जापानियोंने रूसी बन्दियोंके लिए यूरोपियन ढंगका भोजन बनानेके लिए बाहरसे रसोईदार बुलवाये थे। अन्य सभ्य देश भी बन्दियोंको सुख देनेका इसी प्रकार प्रयत्न करते हैं।

बन्दियोंके घरसे रुपया नहीं आ सकता पर खाना, कपड़ा, पुस्तकें या अन्य जो कुछ वस्तुएँ आती हैं उनपर किसी प्रकारका आयात-कर, चुङ्गी या अन्य टिकस नहीं लिया जाता। सरकारी रेलें उन्हें बेमहसूल पहुँचाती हैं। उन्हें अपने पत्रोंपर स्टाम्प (टिकट) नहीं लगाने पड़ते। यदि वह अपना वसीयतनामा लिखना चाहें तो उन्हें पूरी कानूनी सुविधा दी जाती है। जिस प्रकार हमारे यहाँ सेवासमितियाँ खुली हुई हैं उसी प्रकार युद्धके समय ऐसी समितियाँ खुल जाती हैं जिनका उद्देश्य बन्दियोंको सहायता देना होता है। ऐसी समितियोंके प्रतिनिधियोंको बन्दियोंतक पहुँचने और सहायता देनेमें पूरी सुविधा दी जाती है।

इन सब नियमोपनियमोंके पालन करनेमें यह अवश्य ध्यान रखा जाता है कि अपने सैनिक आयोजनको किसी प्रकारकी क्षति न पहुँचे। यदि सेनाके पास स्वयं पर्याप्त खाना-कपड़ा नहीं है तो बन्दियोंको कहाँसे देगी। यदि यह सन्देह हो कि सहायक समितियोंके सदस्य सहायता पहुँचानेके बहाने जासूसी करते फिरते हैं तो उनका आना-जाना बन्द करना ही होगा। बन्दियोंको घूमने-फिरनेकी इतनी स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती कि निरीक्षण करना कठिन हो जाय। १९०७ के युद्धमें बोअरोंने तो यहाँतक किया कि जब वह अपने बन्दियोंका ठीक-ठीक प्रबन्ध न कर सके तो उन्हें यों ही छोड़ दिया।

जलसेनाके लिए भी यही नियम हैं। सैनिक जहाजोंके सभी अफसर और नाविक रणबन्दी हो जाते हैं। व्यापारिक जहाजोंके नाविकोंसे यह लिखा लिया जाता है कि हम इस युद्धभर कोई युद्ध-सम्बन्धी काम न करेंगे। यदि लिखना अस्वीकार हो तो वह बन्दी किये जाते हैं, नहीं तो छोड़ दिये जाते हैं। यदि व्यापारिक जहाजके नाविक किसी तटस्थ देशके नागरिक हों तो वह बिना कुछ लिखे-लिखाये ही छोड़ दिये जाते हैं पर तटस्थ अफसरोंको लेखबद्ध प्रतिज्ञा देनी पड़ती है।

१२ अगस्त १९४९ को जेनीवामें रणबन्दियोंके साथ व्यवहार करनेके सम्बन्धमें एक अन्ताराष्ट्रिय समझौता हुआ। उसकी कुछ मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं—

धारा ३—प्रत्येक युद्ध करनेवाले पक्षको कमसे कम इन बातोंका ध्यान रखना होगा—

(१) उन लोगोंके साथ जो युद्धमें सक्रिय भाग नहीं ले रहे हैं, चाहे वह असैनिक हों या ऐसे सैनिक जिन्होंने हथियार डाल दिये हैं या रोग, घाव, कैद या किसी अन्य कारणसे बेकार हो

गये हैं, हर अवस्थामें सदय व्यवहार होना चाहिये और इस विषयमें जाति, रंग, धर्म्म, स्त्री-पुरुष, कुल या सम्पत्तिका कोई विचार नहीं करना चाहिये।

इस उद्देश्यसे, उपर्युक्त प्रकारके व्यक्तियोंके साथ नीचे लिखे काम सर्वत्र और सदैव निषिद्ध हैं—

(क) प्राण या शरीरके विरुद्ध बलप्रयोग, हत्या, अंगभंग या क्रूराचार।

(ख) प्रतिभू माँगना।

(ग) व्यक्तिगत प्रतिष्ठाके विरुद्ध या अपमानजनक आचरण।

(घ) सभ्य राष्ट्रोंमें जैसी न्याय शैली प्रचलित है उसके अनुसार न्यायालय स्थापित करके उसकी आज्ञाके बिना प्राणदण्ड देना।

(२) रोगियों और घायलोंकी सेवा की जायगी।

धारा १२—रणबन्दी उन सेनापतियों या सेनाकी उन टुकड़ियोंके कैदी नहीं हैं जिन्होंने उन्हें पकड़ा है प्रत्युत शत्रु-राजके कैदी हैं और उनके साथ सद्व्यवहारका दायित्व उस राज पर ही है।

धारा १३—रणबन्दियोंके साथ सदा सद्व्यवहार करना चाहिये। उनको डराये या धमकाये जानेसे बचाना चाहिये और ऐसा न होने देना चाहिये कि जनता उनका तमाशा देखे।

धारा १९—जितनी जल्दी हो सके रणबन्दियोंको रणक्षेत्रसे दूर ऐसे शिविरोंमें पहुँचा देना चाहिये जहाँ वह खतरेसे बचे रहें।

इस संक्षिप्त वर्णनसे विदित हो जायगा कि आजकल कितनी उदारता बर्ती जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि नियमोंका उल्लंघन भी होता है। पहले महायुद्धमें जर्मनोंपर बन्दियोंके साथ दुर्व्यवहार करनेके कठोर आरोप लगाये गये थे, सम्भवतः जर्मनीमें अंग्रेजोंके व्यवहारकी ऐसी ही आलोचना हुई होगी। जिन अंग्रेजोंने जर्मनोंकी शिकायत की उन्होंने ही तुर्कोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस बारके महायुद्धमें जर्मन, इटालियन और जापानी सरकारों और सेनानायकोंपर ऐसे आरोप किये गये। युद्धकी समाप्तिपर उनपर मुकदमे भी चले। अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें ऐसे मुकदमोंका चलना नयी बात थी।

रोगियों और आहतोंकी सेवा-शुश्रूषा

रोगियों और आहतोंकी भी अब पहिलेसे कहीं अच्छी सेवा होती है। पहिलेकी लड़ाइयोंमें आहतोंको लूट लेना तो साधारण बात थी। सिपाहियोंसे जो कुछ बचता था उसे पास-पड़ोसके भिखमंगे और लुटेरे उठा ले जाते थे। बड़े आदमियोंकी देखरेख तो वैद्य-हकीम कर लेते थे, सामान्य सिपाही चीलों, गिद्धों, कुत्तों और स्यारोंके शिकार होते थे। यूरोपमें पादरी लोग धार्मिक दृष्टिसे रोगियों और आहतोंकी सेवा करते थे पर सरकारी प्रबन्ध न होनेसे अकेले उनका प्रयत्न पर्याप्त न होता था। आजकल प्रत्येक सभ्य सरकारके साथ बहुतसे चिकित्सक रहते हैं और पर्याप्त सामग्री रहती है। १८६४ में स्विस सरकारने जेनीवा नगरमें एक अन्ताराष्ट्रिय परिषद् एकत्र की। उसको यह काम सौंपा गया कि रोगियों और आहतोंके सम्बन्धमें नियम बनाये। जो नियमावली उस समय बनी उसको धीरे-धीरे अधिकांश सभ्य देशोंने स्वीकार कर लिया। १८९९ में हेग-सम्मेलनने उन नियमोंमें कुछ उलटफेर करके उन्हें जलयुद्धके अनुकूल बनाया। १९०६ में उनमें कुछ संशोधन किये गये। यह संशोधन भी जेनीवामें ही किये गये। समस्त नियमावलीको 'जेनीवा कंवेंशन' (जेनीवाका

इकरारनामा) कहते हैं। १९०७ में हेगमें जलयुद्ध सम्बन्धी नियमोंका भी संशोधन किया गया। इन्हें सभी सभ्य राजोंने मान लिया है।

यों तो जो रोगी या आहत सिपाही शत्रु-सेनाके हाथमें पड़ जाते हैं वह रणबन्दी होते हैं पर सेनाओंको चाहिये कि रोगियों और आहतोंकी चिकित्सामें राष्ट्रका विचार न करें अर्थात् शत्रु-सैनिकोंके लिए भी अपने सैनिकोंकी भाँति ही प्रबन्ध करें। प्रबन्ध पर्याप्त होना चाहिये। यदि किसी सेनाको शत्रुकी बढ़ती हुई सेनाके सामनेसे इस प्रकार हटना पड़े कि वह रोगियों और आहतोंको साथ न ले जा सके तो उसे चाहिये कि यथासम्भव कुछ चिकित्सक और चिकित्सा-सामग्री भी छोड़ जाय। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं रोगी और आहत भी रणबन्दी होते हैं पर आपसमें तय करके शत्रुराज यह भी करते हैं कि एक दूसरेके रोगियों और आहतोंको स्वस्थ हो जानेपर घर लौटा देते हैं या किसी तटस्थ राजको सौंप देते हैं कि युद्धकी समाप्तितक वह उन्हें नजरबन्द रखे। प्रत्येक लड़ाईके पीछे विजयी सेनापतिका यह कर्तव्य है कि रणक्षेत्रकी पूरी-पूरी जाँच करावे ताकि कोई मनुष्य आहतों और हतोंको न लूटे या अन्य प्रकारसे उनके साथ दुर्व्यवहार न करे। शवोंको गाड़ने या जलानेके पहिले उनकी पूरी जाँच कर लेनी चाहिये ताकि हतोंके साथ बेहोश आहत भी मृत न मान लिये जायँ। उभय पक्षको चाहिये कि विपक्षी सरकारके पास हतोंके शरीरपर पाये गये परिचायक चिह्न (जैसे नम्बरका कागज, परतला इत्यादि) और रोगियों और आहतोंकी तालिका भेज दें। उभय पक्षको चाहिये कि एक दूसरेको समय-समयपर इस बातकी सूचना देते रहें कि कितने रोगी या आहत अस्पतालमें रखे गये, कितने मर गये, कितने छूटे, कितने नजरबन्द हुए। हतों तथा अस्पतालमें मरे हुए रोगियों और आहतोंकी निजी सम्पत्तिको एकत्र करके शत्रु अधिकारियोंके पास भेज दें ताकि वह इनके घर भेज दी जाय। सैनिक अधिकारियोंकी यदि इच्छा हो और आवश्यकता प्रतीत हो तो वह उस प्रान्तके निवासियोंसे रोगियोंकी सेवाशुश्रूषामें सहायता करनेकी प्रार्थना कर सकते हैं और जो लोग सहायता दें उनके साथ कुछ विशेष रियायतें कर सकते हैं। यह सेवा-शुश्रूषा भी सैनिक अधिकारियोंके निरीक्षणमें ही होगी।

अस्पतालोंकी इमारतों, सामग्रियों और कर्मचारियोंकी रक्षा करना उभय पक्षका कर्तव्य है पर यदि अस्पतालोंको धोखेकी टट्टी बनाकर उनसे कोई ऐसा काम लिया जाय जिससे शत्रुसेनाको क्षति पहुँचती हो तो फिर वह रक्षाके अधिकारी नहीं रह जाते। डाक्टर, उनके सहायक और अस्पतालोंके गार्ड (पहरेदार) उसी दशामें अपने शस्त्रोंसे काम ले सकते हैं जब उनपर या रोगियोंपर कोई सशस्त्र आक्रमण करे, अन्यथा शस्त्र चलानेसे वह विशेष रक्षाके पात्र नहीं रह जाते। जबतक अपना कर्तव्य पालन करते जाते हैं तबतक यह लोग और सेनाओंके धर्मोपदेशक शत्रुके हाथमें पड़नेपर भी रणबन्दी नहीं बनाये जा सकते। यदि सेवा-समितियाँ सेनाओंके अस्पतालोंमें काम कर रही हों और उन्हें ऐसा करनेकी अनुज्ञा उनके देशकी सरकारसे प्राप्त हो तो उनके उन कर्मचारियोंके साथ जो युद्ध-क्षेत्रमें होंगे वही बर्ताव किया जायगा जो सरकारी डाक्टरोंके साथ किया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज शत्रुराजके पास युद्ध आरम्भ होनेके पहिले ही या आरम्भ होते ही या आरम्भ होनेके पीछे (परन्तु काम लेनेके पहिले) उन सब समितियोंके नाम भेज दे जिनसे वह सहायता लेना चाहता है। यदि किसी तटस्थ देशकी सेवासमिति किसी सेनाकी सहायता करना चाहती है तो उसे अपने देशकी सरकार और उस राजकी सरकारकी अनुज्ञा प्राप्त करनी होगी जिसकी सेनाके साथ वह रहना चाहती है। इसकी सूचना शत्रुराजको भी मिलनी चाहिये। यदि डाक्टर और उनके सहायक (चाहे वह सरकारी हों चाहे सेवासमितियोंके) शत्रुके हाथमें पड़ जायँ

और वह उनको रखनेकी आवश्यकता न समझे तो वह उन्हें जब और जिस मार्गसे चाहे स्वदेश भेज सकता है। घर जाते समय वह अपनी निजी सम्पत्ति अपने साथ ले जायँगे। जबतक किसी सेनाके सरकारी डाक्टर और धर्मोपदेशक शत्रुसेनाके हाथमें पड़कर उसके अधीन काम कर रहे होंगे तबतक वह उन्हें वही वेतन और भत्ता देगी जो उस दर्जेके अपने डाक्टरों और धर्मोपदेशकोंको देती है।

यदि किसी सेनाके रोगी और अस्पताल शत्रुसेनाके हाथमें पड़ जाते हैं, तो वह उनकी भीतरी सामग्री और ढुलाईके साधनों (गाड़ी, घोड़े, मोटर इत्यादि) तथा हाँकनेवालोंको ज्योंका त्यों छोड़ देती है, परन्तु अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर शत्रु-सेनापति इस सामग्रीका कुछ अंश अपने अस्पतालोंमें लगा सकता है। शर्त यह है कि यदि ऐसा किया जाय या किसी ऐसे अस्पतालसे डाक्टर हटाकर शत्रुके अस्पतालमें रखे जायँ तो जितनी जल्दी हो सके उन्हें (अर्थात् डाक्टरोंको और सामग्रीको) लौटा देना चाहिये। अस्पतालोंकी इमारतों और सामग्रियोंसे सिवाय रोगियों और आहतोंकी सेवा शुश्रूषाके और कोई काम नहीं लिया जा सकता। यदि अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर कोई सेनापति उनसे अन्य काम लेनेपर विवश हो जाय तो उसे चाहिये कि रोगियों और आहतोंके लिए पहिले प्रबन्ध कर दे। सेवासमितियोंकी सामग्री निजी सम्पत्ति मानी जाती है (सरकारी नहीं), अतः उसपर हाथ नहीं डाला जाता। परन्तु विशेष अवस्थाओंमें, जिनका उल्लेख अगले अध्यायमें होगा, निजी सम्पत्ति भी जब्त की जाती है। उन अवस्थाओंमें सेवासमितियोंकी सम्पत्ति भी जब्त हो सकती है।

यदि किसी सेनाके रोगी और आहत एक स्थानसे दूसरे स्थान (विशेषतः स्वदेश) भेजे जा रहे हों और बीचमें शत्रुसेनासे मुठभेड़ हो जाय तो उसे चाहिये कि किसी वस्तुपर हाथ न डाले। डाक्टर, सहायक, यन्त्र, औषधें, सवारियाँ, हाँकनेवाले, रसद, पहरेदार सभी रक्षाके अधिकारी हैं। परन्तु युद्धमें आवश्यकता बड़ी चीज है। यदि अत्यन्त आवश्यकता हो तो शत्रुसेनाका सेनापति इन सारी वस्तुओंपर कब्जा कर सकता है पर उसको आहतों और रोगियोंको भी अपने जिम्मे लेना होगा। ऐसी दशामें उसे चाहिये कि सब डाक्टरों, पहरेदारों, सहायकों, हाँकनेवालों आदिको स्वदेश भेज दे। इसी प्रकार उसे चाहिये कि काम निकल जानेपर सब सामग्री लौटा दे और जिन लोगोंसे नाव, रेल, घोड़ागाड़ी, मोटर इत्यादि मँगनी, किरायेपर या यों ही ली गयी हों उनकी सम्पत्ति उन्हें लौटा दे।

सैनिक अस्पतालोंके लिए ईसाई देशोंमें जेनीवा क्रॉस या रेडक्रॉस (लाल सलेब) का चिह्न होता है। तुर्कीमें लाल अर्द्धचन्द्र होता है। सम्भवतः स्वतन्त्र भारतमें लाल स्वस्तिक होगा। जमीन सफेद होती है उसीपर यह चिह्न बना होता है। अस्पतालोंके झण्डेपर, गाड़ियोंपर, सन्दूकोंपर यही बना रहता है। उनमें काम करनेवालोंके बायें हाथपर एक पट्टी होती है जिसपर यह चिह्न छपा रहता है। अस्पतालोंपर इस चिह्नसे अंकित झण्डेके अतिरिक्त उस राजका भी झण्डा रहता है जिसकी सेनाका अस्पताल है। तटस्थ देशोंसे आये हुए स्वयंसेवकोंको भी अपने साथ उसी राजका झण्डा रखना पड़ता है परन्तु शत्रुके हाथमें पड़ जानेपर केवल सेवा-पताका (श्वेत जमीनपर लाल चिह्न) रह जाती है।[१]

---

१ ऊपर बार-बार सैनिक अस्पतालोंका उल्लेख हुआ है। यह अस्पताल दो प्रकारके होते हैं। एक तो वह जो सेनाकी टुकड़ियोंके साथ इधर-उधर फिरा करते हैं। इन्हें field hospitals या mobile hospitals अर्थात् चल चिकित्सालय कहते है। जो सेनासे कुछ हटकर एक जगह रहते हैं उन्हें fixed hospitals या अचल चिकित्सालय कहते हैं।

तटस्थ राजोंको अधिकार है कि यदि वह चाहें तो अपने राज्यमेंसे रोगियों और आहतोंको जाने दें पर उनका यह कर्तव्य है कि युद्धसामग्री और सैनिकोंको इस बहाने न आने-जाने दें। यदि किसी तटस्थ राजको कुछ रोगी या आहत सौंप दिये जायँ तो उसे यह देखना होगा कि अच्छे होकर यह लोग फिर युद्धमें सम्मिलित न हो जायँ।

यह तो स्थलयुद्धकी बातें हुईं। जलयुद्धमें भी प्रायः यही नियम काम देते हैं। अस्पताली जहाजोंके तीन भेद होते हैं। पहिली कोटिमें राजकीय जहाज होते हैं। इनका रंग श्वेत होता है और बीचमें लगभग सवा गज चौड़ी एक आड़ी हरी पट्टी पड़ी होती है। दूसरी कोटिमें शत्रु राजके कतिपय दयालु व्यक्तियों या सेवासमितियोंके जहाज होते हैं। इनका रंग भी श्वेत होता है और बीचमें लगभग सवा गज चौड़ी एक आड़ी लाल पट्टी होती है। ऐसे जहाजोंके पास उनकी राष्ट्रिय सरकारके लिखित अनुज्ञापत्र होने चाहिये और इनके नामोंकी सूची पहलेसे ही शत्रु राजके पास भेज देनी चाहिये। उक्त दोनों प्रकारके जहाजोंपर सेवाझण्डा और राष्ट्रिय झण्डा रहता है। तीसरी कोटिमें वह जहाज हैं जो तटस्थ देशोंके नागरिकों या सेवासमितियोंके भेजे हुए होते हैं। इनपर भी श्वेत रंगके बीचमें लाल पट्टी रहती है पर इनके पास एक तो उस राजका अनुज्ञापत्र होना चाहिये जिसके बेड़ेके साथ काम करते हों, दूसरा अपने राजका। इनपर सेवाझण्डा, बेड़ेका राष्ट्रिय झण्डा और अपने यहाँका राष्ट्रिय झण्डा रहता है। इन तीनों प्रकारके जहाजोंके साथ वही बर्ताव किया जाता है जो स्थलयुद्धमें अस्पतालोंके साथ होता है। इनपरके काम करनेवाले रणबन्दी नहीं बनाये जाते पर उनको उभय पक्षके रोगियों और आहतोंकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। एक बातका सदैव ध्यान रखना चाहिये। इन जहाजोंसे सिवाय सेवाके और कोई काम न लेना चाहिये। यदि किसी ऐसे जहाजपर सवार होकर एक भी सिपाही या अफसर कहीं आवे जाय या इनके द्वारा एक भी पत्र कहीं भेजा जाय तो इनका स्वरूप परिवर्तित हो जाता है और फिर यह किसी भी रियायतके अधिकारी नहीं रह जाते। उभय पक्षको इनकी तलाशी लेने, सन्देह होने पर इनपर अपना एक निरीक्षक बैठा देने, यदि इनके रहनेसे लड़ाईके काममें बाधा पड़ती हो तो हटा देने और विशेष अवस्थाओंमें रोक लेनेका भी अधिकार है। प्रत्येक जहाजमें कुछ जगह रोगियों और आहतोंके लिए पृथक् की रहती है। उभय पक्षको चाहिये कि लड़ाईके समय उस स्थानकी यथासम्भव रक्षा करें।

इनके अतिरिक्त और भी कई नियम हैं पर वह प्रायः अक्षरशः वैसे ही हैं जैसे स्थलयुद्धके नियम हैं। भेद यह है कि अस्पतालकी जगह अस्पताली जहाजका प्रयोग हुआ है। डाक्टरों और सामग्रियोंसे दूसरा काम लेना, डाक्टरों और धर्मोपदेशकोंकी आवश्यकता न रहनेपर घर लौटा देना, एक दूसरेको सूचना देना, रोगियों और आहतोंको व्यापारियों या अन्य तटस्थ नागरिकोंको सौंपना या इनको किसी तटस्थ राजको सौंपना यह सब बातें उन्हीं शर्तोंपर होती हैं जो स्थलयुद्धके लिए होती हैं। एक बात उल्लेख्य है। यदि कोई नौ-सेनापति चाहे तो वह किसी तटस्थ देशके व्यापारिक या यात्री ले जानेवाले जहाजसे अपने कुछ रोगियों और आहतोंको ले लेनेकी प्रार्थना कर सकता है। यदि वह जहाज चाहे तो इस प्रार्थनाको स्वीकार भी कर सकता है। पर यदि पीछेसे इस जहाजसे विरोधी पक्षके किसी सैनिक जहाजसे भेंट हो जाय तो इन रोगी आदमियोंकी क्या गति होगी ? कुछ लोगोंकी यह सम्मति है कि एक बार तटस्थ जहाजपर जानेसे वह उस तटस्थ देशके शरणागत हो गये अतः कैद नहीं किये जा सकते पर हेगमें बहुमतसे यही निश्चित हुआ कि यदि वह सैनिक जहाज चाहे तो उन्हें रणबन्दी बना सकता है पर उस जहाजको नहीं गिरफ्तार कर

सकता। हाँ, यदि किसी तटस्थ देशके सैनिक जहाजके सुपुर्द आहत और रोगी हों तो वह सुरक्षित रह सकते हैं क्योंकि सैनिक जहाजोंकी तलाशी नहीं होती। उस तटस्थ राजका यह कर्तव्य है कि ऐसा प्रबन्ध करे कि स्वस्थ होकर यह लोग फिर युद्धमें सम्मिलित न हो जायँ।

युद्ध ऐसी विकट वस्तुको इससे अधिक नरम बनाना बहुत कठिन है। मनुष्यकी स्वप्नोत्थित पाशविकताको अंकुश देनेके लिए यह नियम भी पर्याप्त हैं परन्तु जड़ नियमोंमें कोई सामर्थ्य नहीं है। उनके पालन करनेवाले जैसे होंगे उनका वैसा ही उपयोग करेंगे। बहुतसे नियम बनाकर युद्धक्षेत्रपर सेनापतिको जकड़नेका प्रयत्न करना बुरा है। प्रभावशाली लोकमत, सभ्यताका विकास, मनुष्यता और भ्रातृभावका प्रचार, सेनापतियोंकी दयाशीलता और सैनिकोंकी उदारता तथा सरकारोंकी सहानुभूति सब नियमोपनियमोंसे बढ़कर उपयोगी हैं।

पिछले महासमरमें जल और स्थलयुद्धके प्रायः सारे नियमोंका उल्लंघन हो गया। लन्दन, बर्लिन और दूसरे बड़े शहरोंपर जो गोलाबारी हुई उसने सैनिक अ-सैनिकका कोई भेदभाव नहीं रखा। और फिर ६ अगस्त १९४५ को हिरोशीमा तथा ९ अगस्तको नागासाकीपर जो परमाणु बम गिराया गया उसने सारे नियमोंपर पानी फेर दिया। न तो स्त्री-बच्चों, अस्पतालों, देवालयों या अन्य रक्ष्य स्थानोंको कोई सूचना दी गयी, न उनकी रक्षाकी कोई व्यवस्था हुई। क्षणभरमें लाखोंकी बस्तीके दो-दो नगर राखके ढेर बना दिये गये। भविष्यत्‌में ऐसा नहीं होगा, यह नहीं कहा जा सकता। अमेरिका और रूस परमाणु बम और हाइड्रोजन बमका जिस प्रकार संग्रह कर रहे हैं, उससे यही प्रतीत होता है कि भयानक ताण्डवकी तैयारी हो रही है जिसका आघात उन्हीं लोगोंको मुख्यतया सहना पड़ेगा जो सैनिक नहीं हैं। इसके सिवाय जब ७०-७५ मीलसे गोले छोड़े जाते हैं, तो लक्ष्य भले ही कोई किला या अन्य सैनिक स्थल हो पर वह बीचमें निरपराधोंका व्यापादन नहीं करेगा, यह कोई नहीं कह सकता।

छठवाँ अध्याय

शत्रु-सम्पत्तिके साथ व्यवहार—भूस्थित सम्पत्ति (युद्धारम्भके समय)

यों तो शत्रु-वर्गीयोंके साथ-साथ कहीं कहीं शत्रु-सम्पत्तिका भी उल्लेख हो चुका है पर वस्तुतः यह विषय उससे कहीं गहन है। इसपर पृथक् विचार करना ही ठीक है। पहिले हमको यह देखना है कि शत्रु-सम्पत्ति कितने प्रकारकी होती है।

शत्रुराजकी सम्पत्ति

सबसे पहिले तो शत्रु-राजकी सम्पत्ति है। उसके शस्त्र, उसके दुर्ग, उसके जहाज—यह सब शत्रु सम्पत्ति हैं और इनपर कब्जा करनेका पूरा अधिकार है। पर हम आगे चलकर देखेंगे कि शत्रु-राजकी कुछ ऐसी भी सम्पत्ति होती है जिसको जब्त करना वर्जित है, अतः परिभाषया उसे शत्रु-सम्पत्ति नहीं कह सकते।

शत्रुराजके नागरिकोंकी सम्पत्ति

शत्रु-राजके नागरिकोंकी सम्पत्ति भी शत्रु-सम्पत्ति है। यदि यह सम्पत्ति स्वदेशमें ही है तब तो कोई विवाद हो ही नहीं सकता पर यदि किसी तटस्थ देशमें बसकर उपार्जित की गयी हो तो उसके रूपके सम्बन्धमें मतभेद है। कुछ देशोंमें तो यह सिद्धान्त प्रचलित है कि सम्पत्तिका रूप उसके स्वामीकी राष्ट्रीयताके अनुसार होता है अतः शत्रु-राजके नागरिककी सम्पत्ति शत्रुसम्पत्ति है। अन्य देशोंमें यह सिद्धान्त चलता है कि सम्पत्तिका रूप उसके स्वामीके निवासस्थानके अनुसार होता है अतः जो सम्पत्ति तटस्थ देशमें बसकर उपार्जित की गयी है वह शत्रुसम्पत्ति नहीं है। यह स्मरण रहे कि यह प्रश्न समुद्रचारी वस्तुओंके विषयमें ही उठता है। स्थलपर, विशेष अवस्थाओंमें दण्ड देनेके उद्देश्यको छोड़कर, शत्रु-नागरिकोंकी निजी सम्पत्ति जब्त की ही नहीं जाती अतः इस प्रकारके प्रश्न स्वतः नहीं उठते।

बहुधा ऐसा होता है कि युद्ध आरम्भ होते ही या उसके आरम्भ होनेकी सम्भावना देखकर शत्रु-राजोंके व्यापारी अपने जहाजोंको तटस्थ देशोंके नागरिकोंके हाथ बेच देते हैं। ऐसे विक्रयोंमें प्रायः ऐसी शर्त भी रहती है कि हम जब चाहेंगे फिर लौटा लेंगे। यह विक्रय वस्तुतः कृत्रिम होता है। इसका उद्देश्य केवल जहाजोंको युद्धकालमें जब्त होनेसे बचाना होता है। अतः यह देखनेकी आवश्यकता पड़ती है कि सचमुच क्रय-विक्रय हुआ है या झूठी कागजी कार्यवाही कर दी गयी है। आजकल इस सम्बन्धमें यह नियम प्रचलित है : यदि युद्ध आरम्भ होनेके पीछे बिक्री हुई है तो वह नहीं मानी जाती पर यदि खरीदनेवाला यह प्रमाणित कर सके कि वस्तुतः जब्तीसे बचनेके लिए नहीं वरन् शुद्ध व्यापारिक दृष्टिसे ही क्रय-विक्रय हुआ था तो उसकी बात मानी जा सकती है। किन्तु यदि जहाज समुद्रयात्रा करते समय या किसी घिरे बन्दरमें हस्तान्तरित किया गया हो या पुनः मोल लेनेकी शर्त लिखी हो तो फिर कोई प्रमाण नहीं सुना जाता।

यदि वह जहाज युद्ध आरम्भ होनेके एक मास या अधिक पहिले बेच दिया गया हो और उसपर विक्रय-पत्र[१] भी हो तो जबतक गिरफ्तार करनेवाले इस पत्रमें ही कोई दोष न निकाल सकें तबतक उसे जब्त नहीं कर सकते। यदि किसी पक्षका सैनिक जहाज उसे गिरफ्तार कर ले तो उस पक्षकी सरकारको मुआविजा देना पड़ेगा। यदि बिक्रीको तीस दिनसे ऊपर तो हो गये हों पर साठ दिन न हुए हों और उसपर विक्रय-पत्र न हो तो उसे गिरफ्तार कर सकते हैं। यदि उसका

---

१ Bill of Sale—वह रजिस्टरी हुआ कागज जिसपर बिक्रीका पूरा ब्योरा दिया रहता है।

नया स्वामी यह सिद्ध कर सके कि वस्तुतः जहाज उसका ही है और उसने उसे नियमानुसार ही मोल लिया है तो जहाज छोड़ दिया जायगा पर मुआविजा नहीं मिल सकता। यदि सिद्ध न कर सके तो जहाज जब्त हो जायगा। यदि युद्ध आरम्भ होनेके साठ दिन पहिले बिक्री हो चुकी थी तो फिर किसी प्रकारकी जाँच-पड़तालकी आवश्यकता नहीं होती। जहाजोंपर जो व्यापारका माल लदा रहता है उसका शत्रु-सम्पत्ति होना न होना उसके स्वामीके शत्रु होनेपर निर्भर है। जहाज चाहे शत्रु-देशका हो चाहे तटस्थ देशका, माल जिसके पास भेजे जानेके लिए लादा गया था उसीका माना जायगा।

तटस्थ नागरिकोंकी वह सम्पत्ति जो शत्रुको सौंप दी गयी हो

तटस्थ नागरिकोंकी वह सम्पत्ति जो शत्रुके हाथमें सौंप दी गयी हो, शत्रु-सम्पत्ति ही मानी जायगी। यदि किसी तटस्थ नागरिकके जहाजके अफसर और नाविक शत्रुराजके निवासी हैं या वह जहाज शत्रुके राज्यमें उसकी विशेष अनुज्ञासे व्यापारादिके उद्देश्यसे चलता है तो वह शत्रु-सम्पत्ति ही समझा जायगा। इसी प्रकार शत्रु-जहाजपर तटस्थोंका जो माल होगा वह भी, बहुत ही प्रबल प्रमाणके मिले बिना, शत्रु-सम्पत्ति ही समझा जायगा। यदि यह माल शत्रुके किसी लड़ाईके जहाजपर पाया जाय तब तो कोई प्रमाण सुना ही नहीं जाता। इसी प्रकार यदि किसी तटस्थ नागरिककी किसी शत्रु-देशमें जमीनदारी या अन्य जायदाद हो तो उसकी उपज शत्रु-सम्पत्ति मानी जाती है।

कभी-कभी यह अड़चन पड़ती है कि एक ही स्थानके प्रभुत्वके दो हकदार होते हैं। एक शत्रु-राज कहता है कि जगह मेरी है, एक तटस्थ राज कहता है कि मेरी है। यदि उस शत्रु राजको प्रभु मानें तो तत्रस्थ सम्पत्तिका एक रूप हो जायगा, यदि तटस्थ राजको प्रभु मानें तो उसका दूसरा ही रूप होगा। ऐसी दशामें हॉलने जो नियम बताया है वह सबसे अच्छा है। इस बातका निर्णय किये बिना कि प्रभु कौन है यह देखना चाहिये कि सम्प्रति जिस किसीका भी उसपर कब्जा है वह उससे कैसा काम लेता है। इसीके अनुसार उसे शत्रु या तटस्थ मानना चाहिये।

एक शत्रुराजकी सम्पत्ति दूसरे शत्रु-राजके राज्यमें

अब हमको यह देखना है कि उपर्युक्त विविध प्रकारकी शत्रु-सम्पत्तियोंके साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाता है। यह हो सकता है कि एक शत्रु-राजकी सम्पत्ति दूसरे शत्रु-राजके राज्यके भीतर पायी जाय। इसकी विशेष सम्भावना नहीं है क्योंकि स्वतन्त्र राज एक दूसरेके प्रजावर्गमें परिगणित होना अपमानजनक समझते हैं। कभी-कभी राजदूतके रहनेका स्थान अलबत्ता राजका होता है। यदि युद्ध छिड़नेपर वह जब्त कर लिया जाय तो कोई विशेष क्षति नहीं हो सकती पर प्रायः ऐसा किया नहीं जाता। हाँ, यदि चल सम्पत्ति, जैसे जहाज, शास्त्र, कोष आदि, लड़ाई छिड़नेपर हाथ लग जाय तो वह निःसन्देह जब्त कर ली जायगी। चल सम्पत्तिमें भी धार्मिक कृत्य सम्बन्धी तथा चित्र, मूर्त्ति इत्यादि ललित कला सम्बन्धी वस्तुएँ और पुस्तकें जब्त नहीं की जातीं, प्रत्युत उस शत्रुराजको जो उनका स्वामी होता है लौटा दी जाती है।

शत्रुप्रजाकी अचल सम्पत्ति

आजकल परस्पर सम्बन्धकी इतनी वृद्धि हो गयी है कि एक राजके निवासी बहुधा दूसरे राजमें व्यापारादिके लिए रहते हैं और स्वभावतः सम्पत्तिका भी संग्रह कर लेते हैं। युद्ध छिड़नेपर यह प्रश्न उठता है कि शत्रुप्रजाकी जो सम्पत्ति अपने राज्यमें है उसके साथ क्या व्यवहार किया जाय। यहाँ हम अचल (जैसे घर, बाग, इत्यादि) और चल (रुपया, कपड़ा, बर्तन इत्यादि) पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

पुराना नियम तो यह था कि युद्ध छिड़ते ही अचल सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। इसके बाद धीरे-धीरे यह प्रथा चली कि जायदाद जब्त न की जाय पर युद्धकालमें उसकी आय जब्त कर ली जाय। आजकल यह प्रथा भी क्रूर समझी जाती है। प्रचलित नियम यह है कि शत्रु-राजके प्रजावर्गीय शान्तिपूर्वक अपना-अपना काम करते रहें। ऐसी दशामें उनकी सम्पत्ति या उसकी आयको जब्त करना अमानुषिक होगा। एक कठिनाई होती है। यदि कोई मनुष्य युद्धकालमें स्वदेशमें हो तो वह अपनी उस सम्पत्तिकी, जो शत्रु-राज्यमें है, आयका सुगमतासे उपभोग न कर सकेगा पर भविष्यत्में सम्भवतः यह कठिनाई भी न रह जायगी क्योंकि हेगमें यह नियम बना था कि शत्रुप्रजाके कानूनी स्वत्वोंका अस्तित्व युद्धकालमें भी ज्योंका त्यों बना रहता है अतः मनुष्य चाहे कहीं रहे किसी कारिन्दा या एजेण्टके द्वारा अपनी शत्रुराज्यस्थ अचल सम्पत्तिका प्रबन्ध कर सकेगा। इस समय थोड़ी-सी इस बातकी कठिनाई है कि कई राजोंने हेगके इस नियमको अपने-अपने देशके विधानोंमें स्थान नहीं दिया है।

पहिले चल सम्पत्तिके लिए भी वही नियम था जो अचल सम्पत्तिके लिए प्रचलित था अर्थात् वह भी जब्त कर ली जाती थी। पीछेसे सन्धियोंमें यह बात लिख दी जाने लगी कि यदि उभय पक्षमें कभी युद्ध छिड़ जाय तो एक दूसरेके प्रजावर्गीयोंको व्यापारिक चल सम्पत्ति हटा लेनेके लिए नियत अवकाश देंगे। इधर सौ वर्षसे अधिक हुए किसी सभ्य राजने इस अधिकारसे काम नहीं लिया है। आजकल तो जब्त करनेका प्रश्न ही प्रायः नहीं उठता क्योंकि शत्रु-प्रजाको युद्धकालमें बसने और व्यापार करनेकी बराबर अनुज्ञा मिल जाती है। सभ्य राजोंने किसी सन्धि या घोषणा द्वारा जब्त करनेका अधिकार छोड़ नहीं दिया है पर उनका उससे काम न लेना यह सिद्ध करता है कि धीरे-धीरे अन्ताराष्ट्रिय विधानसे इसका निर्वासन हो रहा है। किसी-किसीकी यह सम्मति है कि जब्तीकी प्रथा तो बन्द हो जानी चाहिये पर यह नियम रहना चाहिये कि युद्धकालमें यदि ऐसा आवश्यक प्रतीत हो तो शत्रु-प्रजाकी चल सम्पत्ति रोक ली जाय अर्थात् उसका स्वामी उसके उपभोगसे वञ्चित रखा जाय। ऐसी दशामें युद्ध समाप्त होनेपर उसका स्वत्व पुनरुज्जीवित हो जायगा।

शत्रुप्रजाकी चल सम्पत्ति

ऐसे बहुत कम सभ्य देश हैं जिनका काम बिना ऋण लिये चलता हो। शान्तिकालमें जो ऋण लिया जाता है उसके लिए सरकारकी ओरसे स्टाक (या प्रामिसरी नोट) निकाला जाता है। यह स्टाक ऋणकी हुण्डी या प्रमाणपत्र है। सरकार प्रतिवर्ष इस ऋणपर नियत दरसे ब्याज देती है और नियत कालके पीछे सब रुपया चुका कर कागज लौटा लेती है। जब ऋण लिया जाता है तो स्वप्रजाके अतिरिक्त विदेशी भी ऐसे कागज मोल लेते हैं। फलतः वह भी सरकारके उत्तमर्ण[१] हो जाते हैं। अब यदि युद्ध छिड़ जाय तो प्रश्न यह होता है कि ऋणके जो कागज अर्थात् प्रामिसरी नोट शत्रु-प्रजाके हाथमें हों उनको जब्त कर लिया जाय या नहीं। यदि जब्त किया जाय तो सम्भवतः सरकार बहुत-से ऋणसे अनायास ही मुक्त हो जाय पर ऐसा कदापि नहीं किया जाता। शत्रुकी अन्य चलाचल सम्पत्तिके साथ चाहे जो व्यवहार किया जाय पर उसके पास जो अपने यहाँकी हुण्डियाँ (या नोट) होती हैं वह कभी जब्त नहीं की जातीं। एक तो आजकल व्यापार-जगत्का रूप ऐसा है कि एक देशकी आर्थिक दशाका दूसरे देशपर तत्काल प्रभाव पड़ता है। जो राज अपने शत्रुदेशके महाजनोंको ठगेगा वह घूम-फिर कर अपने देशके महाजनोंपर ही आक्रमण करेगा।

शत्रुवर्गीय उत्तमर्णोंके पासका स्टाक और हुंडियाँ

१ उत्तमर्ण = ऋण देनेवाला

दूसरे, ऐसा करनेसे साख बिगड़ती है। यदि यह आशंका हो कि स्यात् युद्ध छिड़ जाय और यह नोट रद्दी कागज हो जायँ तो या तो कोई सरकारोंको ऋण दे ही नहीं या ब्याजका भाव बहुत बढ़ जाय। इसलिए नियम यह है कि ऐसे कागजोंपर हाथ नहीं डाला जाता और जो कागज शत्रुवर्गीयके हाथमें होते हैं उनपर भी बराबर ब्याज दिया जाता है। एक बार १७५२ में ब्रिटेन और प्रशामें इस सम्बन्धमें विवाद उठा था। वह उपर्युक्त नीतिके अनुसार ब्रिटेनके पक्षमें निर्णीत हुआ, तबसे फिर कभी ऐसा प्रश्न नहीं उठा। महायुद्धके पीछे रूसकी बोल्शेवी सरकारने ब्रिटेन आदिके व्यापारियोंका ऋण चुकाना अस्वीकार कर दिया था पर अब उसने भी इस सिद्धान्तको मान लिया है।

शत्रुओंसे व्यापारादिके सम्बन्धमें कभी-कभी बड़े टेढ़े और रोचक प्रश्न उपस्थित होते हैं। यहाँ हम एक उदाहरण दे सकते हैं।

डा० स्टैथम नामके एक सज्जनने न्यूयार्क लाइफ इंश्योरेंस कम्पनीमें जानबीमा कराया था। अमेरिकामें यादवीय युद्ध छिड़ जानेके कारण वह नियत समयपर १८६१ में अपनी प्रीमियम नहीं दे सके। १८६२ में उनकी मृत्यु हो गयी। उनके उत्तराधिकारियोंका यह दावा था कि प्रीमियम न देनेमें उनका कोई अपराध नहीं था अतः जितने रुपयेके लिए बीमा हुआ था पूरा मिलना चाहिये। यह मानना चाहिये कि युद्धकालमें बीमा स्थगित था, अब पुनर्जीवित हो गया। कम्पनीका कहना था कि प्रीमियम न देनेसे बीमा समाप्त हो गया, अतः हम कुछ नहीं देंगे। १८७२ में अमेरिकाके सुप्रीम कोर्टने जो निर्णय किया उसका सारांश यह है—

(१) लोगोंकी जानका बीमा करनेमें कम्पनियोंको बहुत जोखिम उठाना पड़ता है। यदि यह माना जाय कि युद्धके अन्त होनेपर बीमा जीवित हो उठा तो जिन लोगोंका बीमा हुआ था उनको जोड़कर युद्धकालका प्रीमियम चुकाना होगा, जो बहुतोंके लिए कठिन होगा। दूसरी ओर कम्पनीपर ऐसे बहुतसे दावे हो जायँगे जिनमें प्रीमियम कुछ पाये बिना ही उसको बहुतसे मृत व्यक्तियोंके लिए बीमेकी पूरी रकम चुकानी पड़ेगी। यह अन्याय होगा। अतः यह मानना चाहिये कि कारण चाहे जो हो, प्रीमियम न देनेसे बीमा समाप्त हो गया, कम्पनीसे पूरी रकम नहीं माँगी जा सकती।

(२) प्रीमियम न देनेका कारण युद्ध था, जिसपर नागरिकका वश नहीं होता। इसलिए जो रुपया पहिले प्रीमियमके रूपमें दिया जा चुका है उसके आधारपर कम्पनीके नियमोंके अनुसार बीमेका मूल्य कम्पनी उत्तराधिकारियोंको दे दे।

सातवाँ अध्याय

शत्रु-सम्पत्तिके साथ व्यवहार—भूस्थित सम्पत्ति (युद्धकालमें)

छठें अध्यायमें हमने उस भूस्थित सम्पत्तिके सम्बन्धमें विचार किया है जो युद्धारम्भमें शत्रुके हाथ लग जाती है या लग सकती है। इस अध्यायमें हमें उस सम्पत्तिके सम्बन्धमें विचार करना है जो युद्धकालमें हाथ लगती है। यह सम्पत्ति दो ही अवस्थाओंमें हाथ आ सकती है। कुछ तो शत्रुके किसी गढ़ या पड़ावको जीत लेने या युद्धक्षेत्रसे उसे हटा देनेसे मिल सकती है। इसे हम लूटका माल कहेंगे। शेष उसके राज्यके भीतर घुसकर कब्जा करनेसे मिल सकती है। इस द्वितीय प्रकारसे जो सम्पत्ति प्राप्त होती है उसका परिमाण अधिक होता है और वह कई प्रकारकी होती है। उसके सम्बन्धमें नियम भी बहुत-से बने हैं। लूटके मालकी व्यवस्था सरल है।

बहुत पुराने समयमें सभी देशोंमें यह प्रथा थी कि शत्रुके गढ़ या पड़ावमें जो कुछ मिल सके या युद्धक्षेत्रपर हताहत सैनिकोंके शरीरोंपर जो कुछ मिले वह सब लूटका माल समझा जाय और उसपर विजेताओंका पूर्ण अधिकार हो। परन्तु १८९९ के हेग-सम्मेलनने इस प्रथाको कुत्सित ठहरा कर कई नये नियम बनाये। इन नियमोंकी प्रथम परीक्षा रूस-जापान युद्धमें हुई। जापानने इनका पूर्णतया पालन किया। १९०७ में कुछ थोड़े-से नाममात्रके संशोधनके साथ हेगमें फिर इनका समर्थन हुआ। आज सभ्य संसारमें यह सर्व-मान्य हैं। इनके अनुसार युद्धक्षेत्रमें हत सैनिकोंकी जो कुछ निजी सम्पत्ति मिले उसे विजेता सँभाल कर रखे और उन सैनिकोंके उत्तराधिकारियोंको लौटा दे। बन्दियोंके घोड़ों, शस्त्रों और सैनिक कागजोंके सिवाय उनकी और किसी सम्पत्तिपर हाथ न डाला जाय।

लूटका माल

यदि लूटके मालपर पूरे चौबीस घण्टेतक कब्जा न रहा हो तो वह कब्जा पक्का नहीं समझा जाता। यह प्रश्न उस समय उठता है जब एक पक्षसे लूटा हुआ माल फिर कुछ कालमें उसी पक्षके हाथ लग जाता है। यदि लूटे जानेके चौबीस घण्टेके भीतर ऐसा हो तो यह माना जाता है कि यह माल अपने पुराने स्वामियोंकी ही सम्पत्ति है और उन्हें लौटा दिया जाता है पर यदि चौबीस घण्टेसे ऊपर हो गये हों तो माल शत्रुका समझा जाता है और उसके साथ यथावत् व्यवहार होता है।

लूटका माल पहिले समयमें लूटनेवाले सिपाहियोंमें ही बँट जाता था; हाँ, राजकोष या इसी प्रकारकी अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ विजयी राजको मिलती थीं। आजकलका सिद्धान्त यह है कि लूटका सारा माल राजका होता है। सिपाही जो कुछ करते हैं उसकी ओरसे करते हैं और इसके लिए वेतन पाते हैं अतः उन्हें अपने पास कुछ भी रखनेका अधिकार नहीं है। परन्तु रोकना बड़ा कठिन होता है। बहुत कुछ रह ही जाता है। अतः अब यह प्रथा चल पड़ी है कि युद्धारम्भके समय ही प्रत्येक राज अपने यहाँ यह घोषित कर देता है कि शत्रुसे लूटे हुए मालका बँटवारा किस प्रकार किया जायगा। इससे यह लाभ होता है कि सभी अपना-अपना स्वत्व जानते रहते हैं और किसीको कुछ छिपानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

जब एक राजकी सेना दूसरेके राज्यके किसी अंशमें बलात् प्रवेश करके उसपर अधिकार कर लेती है तो इस अधिकारके दो ही परिणाम हो सकते हैं। या तो सन्धि होनेपर यह प्रदेश विजेताके

शत्रुके राज्यांश-पर अधिकार

ही पास रह जाय अर्थात् उसके राज्यका स्थायी अंश हो जाय या अपने पुराने स्वामीको पुनः मिल जाय; पर प्रश्न यह है कि जबतक सन्धि नहीं होती तबतक आक्रमणकारी सेनाको जिसने उसपर अधिकार कर लिया है, उसके प्रति कैसा व्यवहार करनेका हक है।

प्राचीन कालकी प्रथा तो यह थी कि विजेताको यह अधिकार था कि वह जो चाहे सो करे। प्राचीन भारतमें निःसन्देह यह नियम था कि जनसाधारणके दैनिक जीवनमें किसी प्रकार बाधा न पहुँचायी जाय—इसे देखकर यवन दङ्ग रह गये थे—परन्तु और किसी देश या समाजने इस सभ्य नियमको नहीं अपनाया। भारतको भी अपने पड़ोसियोंकी असभ्यताका पूरा-पूरा स्वाद चखना पड़ा था। महमूद गजनवी, तैमूर लङ्ग, नादिर शाह करोड़ोंकी सम्पत्ति ले गये। प्रजासे जो कुछ चूसा जा सके उसे चूस लेना न्याय्य समझा जाता था पर विजेता अपने ऊपर विजित प्रदेशके शासनका भार नहीं लेता था। वह इतना ही चाहता था कि उसके साथ कोई छेड़छाड़ न करे। यदि कोई उसके किसी काममें बाधा डालता या उसके गौरवके विरुद्ध कोई आचरण करता तो वह दण्डका भागी होता था। इसी नीतिके अनुसार एक फारसी सिपाहीकी हत्याके दण्डस्वरूप नादिर शाहने दिल्लीमें कत्ले आमकी आज्ञा दी थी।

यही अवस्था यूरोपमें थी। स्वयं ग्रोशिअसको लिखना पड़ा कि 'युद्धमें प्रत्येकको यह अधिकार है कि शत्रुकी सम्पत्तिको जहाँतक उसकी इच्छा हो ले ले।' काल पाकर इस प्रथाकी भीषणता प्रतीत होने लगी पर इसको रोकना कठिन था क्योंकि सिपाहियों और छोटे अफसरोंका लालच राजाज्ञाओंका पालन न होने देता था। ड्यूक आव वेलिंगटनको अपने ही कई सिपाहियोंको लूटके अपराधमें फाँसी देनी पड़ी। यह तो नहीं कह सकते कि लूट अब पूर्णतया बन्द हो गयी है या अधिकृत प्रदेशके निवासी तंग नहीं किये जाते; पर हाँ, पहिलेकी अपेक्षा कहीं अधिक संयमसे काम लिया जाता है। सैनिक अधिकारीके स्वत्व और कर्त्तव्य दोनों ही परिमित कर दिये गये हैं।

जो सेनापति शत्रुराज्यमें प्रवेश करता है उसको १९०७ के हेग सम्मेलनके निर्देशानुसार अरक्षित स्थानोंपर (अर्थात् ऐसे स्थानोंपर जहाँ सिपाहियोंका पड़ाव या गढ़ आदि न हो) गोलाबारी या वायुयानोंसे बमवर्षा न करनी चाहिये और न किसी स्थानको लूटना चाहिये, चाहे वह लड़कर ही जीता गया हो। सैनिक कब्जा उतनी ही दूरतक और उतनी ही देरतक रहता है जहाँतक और जबतक कि अपनी सेनाका पूरा-पूरा अधिकार हो। किसी प्रदेशमें थोड़ेसे सैनिकोंके घुस जानेसे उसपर कब्जा नहीं माना जा सकता। इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक नगर और गाँवमें छावनी स्थापित की जाय पर यह निःसन्देह आवश्यक है कि पुराने प्रभुके अधिकारका कोई चिह्न न रह गया हो और सर्वत्र ही विजयी सेनाकी आज्ञाएँ समादृत हों। यदि पुराने प्रभुकी सेना शत्रु-सेनाको पराजित कर दे या उस प्रदेशके निवासी ही सशस्त्र विद्रोह करके शत्रुको निकाल बाहर कर दें तो उसके अधिकारकी समाप्ति हो जायगी। किसी-किसीकी सम्मति है कि सफल विद्रोहसे कब्जेका अन्त नहीं होता अर्थात् जबतक पुराने प्रभुकी सेना ही शत्रुको न निकाले तबतक उसका कब्जा बना रहता है। यह व्यर्थका तर्क है। विजयी सेनाका कोई वैध स्वत्व नहीं होता। उसका एकमात्र सहारा बल है। यदि दूसरा कोई अधिक बलका प्रयोग करके उसे निकाल देता है तो स्वभावतः उसके बलार्जित अधिकारका अन्त हो गया। उसे यह पूछनेका अधिकार नहीं है कि यह बलप्रयोग करनेवाला कौन है।

जितने दिनोंतक सैनिक कब्जा रहता है उतने दिनोंतक अधिकृत प्रदेशकी रक्षाका भार

विजेतापर रहता है। उसका कर्तव्य है कि लोगोंकी धन-सम्पत्तिकी रक्षा करे और न्यायादिका प्रबन्ध करे।

किसी स्थानपर अधिकार करनेके पीछे प्रायः विजयी सेनापति एक घोषणा निकाला करता है। नीचे हम एक घोषणाके मुख्य अंशोंका भावानुवाद देते हैं। यह घोषणा बोअर-युद्धमें एक बोअर सेनापतिने निकाली थी। 'आरेञ्ज फ्री स्टेटकी नागरिक सेनाओंके प्रधान सेनापति मैं, सी. जे. वेसेल्स, ने श्रीमान् राष्ट्रपतिकी ब्लोमफोण्टेन नगरसे निकाली हुई १४ अक्तूबर १८९९ की उस घोषणाको देखकर जिसमें उन्होंने आरेञ्ज फ्री स्टेटकी नागरिक सेनाओंके सभी टुकड़ोंके सेनापतियोंको यह अधिकार दिया है कि वह लोग उन सब समुदायों, ग्रामों और व्यक्तियोंको समुचित दण्ड दें जो इस युद्धमें, जिसे ग्रेटब्रिटेनकी श्रीमती महारानीकी सरकार हमारे विरुद्ध निष्कारण लड़ रही है, सामरिक विधानोंकी अवहेलना करें;

विजयी सेनापतिकी घोषणा

'और इस बातको ध्यानमें रखकर कि हमारी सेनाकी सफलताने ब्रिटिश राज्यके उस भाग-पर हमारा कब्जा स्थापित करा दिया है, जिसे पश्चिमी ग्रीकालैण्ड कहते हैं और जिसमें किम्बर्ली नगर और उसके चारों ओर दो कोसके घेरेकी भूमिको छोड़कर हर्बर्ट, हे, बार्की और किम्बर्लीके तालुके शामिल हैं;

'और चूँकि उन समुदायों, नगरों और व्यक्तियोंको दण्ड देना आवश्यक हो गया है जो हमारी सेना द्वारा अधिकृत प्रदेशमें सामरिक प्रथाओंके विरुद्ध आचरण कर रहे हैं; और चूँकि उस प्रदेशमें हमारी सेनाओंके भरण-पोषणके लिए उपयुक्त सामग्री मिलनेका प्रबन्ध करना आवश्यक हो गया है।

'निश्चय किया है और श्रीमान् राष्ट्रपतिकी घोषणामें मुझे जो अधिकार दिया गया है उसके द्वारा निम्नलिखित नियमोपनियमोंको सूचनार्थ घोषित करता हूँ कि—

१. जिस प्रदेशपर हमारी सेनाका इस समय कब्जा है या भविष्यत्में होगा उसमें प्रत्येक ऐसे कामके लिए जिससे हमारी सेनाको किसी प्रकारकी क्षति या शत्रुको सहायता पहुँचनेकी सम्भावना हो सैनिक विधान चालू माना जायगा।

२. ज्यों ही सैनिक विधानकी घोषणा किसी हल्के, जिले या अन्य शासन-प्रदेशके किसी एक भागमें चिपका दी जायगी या सुना दी जायगी त्यों ही वह उस प्रदेशके समस्त भागोंमें लागू हो जायगा।

३. वह सब मनुष्य जो ब्रिटिश सेनाके सैनिक न होते हुए भी उसकी ओरसे
 (क) जासूसी करेंगे;
 (ख) हमारे सैनिकोंके पथप्रदर्शक बनकर धोखा देंगे;
 (ग) हमारी सेनाके सिपाहियों या साथ रहनेवालोंमेंसे किसीको मार डालेंगे या लूटेंगे;
 (घ) पुल नष्ट करेंगे, तारकी लाइन बिगाड़ेंगे, रेलकी लाइन उखाड़ेंगे या कोई ऐसा काम करेंगे जिससे हमारी सेनाकी गतिमें बाधा पड़े या हमारे सैनिकोंको किसी प्रकारकी क्षति पहुँचे या हमारे सैनिकोंके पड़ावों, शस्त्रों या अन्य सैनिक सामग्रियोंको जलायेंगे या अन्य प्रकारसे क्षति पहुँचायेंगे या हमारे सैनिकों द्वारा नष्ट अथवा भ्रष्ट की हुई सम्पत्तियों या संस्थाओंकी मरम्मत करेंगे;

(ङ) या हमारे सैनिकोंके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करेंगे उन सबको हमारी सैनिक कौंसिल प्राणदण्ड या १५ वर्ष कारावासतकका दण्ड दे सकेगी।

५. प्राणदण्ड उस समयतक न दिया जायगा जबतक उसका समर्थन श्रीमान् राष्ट्रपति न कर दें।

६. सभी सेनापतियोंको यह अधिकार दिया जाता है कि वह जनतासे सिपाहियोंके भरण-पोषणके लिए आवश्यक वस्तुएँ माँगें। इनके अतिरिक्त जिन वस्तुओंकी अनिवार्य आवश्यकता समझी जायगी वह प्रधान सेनापतिकी आज्ञासे ही माँगी जा सकेंगी।

७. जो लोग हमारी सरकार और उसके द्वारा नियुक्त किये हुए अफसरोंकी शरणमें आयेंगे उनके जानमालकी रक्षाका वचन दिया जाता है।

९. जिन लोगोंको यह शर्तें स्वीकार न हों वह १४ दिनके भीतर अधिकृत प्रदेशको छोड़कर चले जा सकते हैं।

१०. जो लोग अपने घरों या खेतोंको छोड़कर चले गये हैं या भगा दिये गये हैं पर अब उपर्युक्त नियमोंका पालन करना चाहते हैं वह लौट सकते हैं।'

यह इस प्रकारकी घोषणाओंका एक अच्छा उदाहरण है। प्रायः सभी घोषणाओंमें इसी प्रकारके नियम रहते हैं पर देश तथा पात्र-भेदके कारण कुछ शर्तें घटा-बढ़ा दी जाती हैं। बहुधा एक नियत अवधिके भीतर सब शस्त्र जमा कर देनेकी शर्त लगा दी जाती है।

अधिकृत प्रदेशमें राज-सम्पत्ति

अधिकृत प्रदेशमें शत्रुराज तथा जनसाधारणकी सम्पत्तिके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये इसके लिए भी स्पष्ट नियम हैं। पहिले राज-सम्पत्तिको लीजिये। इसके लिए हेगमें निम्नलिखित नियम स्वीकृत हुए थे—

"मुल्कगीरी सेना केवल नकद रुपया, नोट, ऐसे विनिमय कागज[1] जो सचमुच राज-सम्पत्ति हों, शस्त्रागार, गमनागमनके साधन, अन्नादि संचय और साधारणतया राजकी सभी ऐसी चल सम्पत्तिपर जो सैनिक काममें लगायी जा सकती है, कब्जा कर सकती है। उन अवस्थाओंको छोड़कर जो नौ-सेनाविधानके अधीन हैं, समाचार भेजनेके सभी यन्त्र, मनुष्यों या वस्तुओंको जल, स्थल या वायु-मार्गसे ले जानेके सभी साधन, शस्त्रागार और साधारणतः सब प्रकारकी सामरिक सामग्री छीनी जा सकती है चाहे वह साधारण लोगोंकी ही सम्पत्ति क्यों न हो परन्तु युद्ध समाप्त होनेपर उन्हें लौटा देना होगा और उनके लिए क्षति-द्रव्य देना होगा[2]।

"स्थानीय शासनों[3] की सम्पत्ति और सार्वजनिक उपासना, दान, शिक्षा, विज्ञान और कला सम्बन्धी संस्थाओंकी सम्पत्ति राज-सम्पत्ति होते हुए भी नागरिकोंकी निजी सम्पत्ति मानी जायगी। इस प्रकारकी संस्थाओं या ऐतिहासिक स्मारकों या विज्ञान और कलाकी कृतियोंको नष्ट करना या जान-बूझकर किसी प्रकारकी क्षति पहुँचाना निषिद्ध है[4]"

यह नियम स्पष्ट है। विजेता चल सम्पत्तिको ले सकता है परन्तु इस अधिकारमें भी कुछ अपवाद हैं। नैपोलियनके समयमें फ्रांसकी सेना इटलीसे बहुतसे बहुमूल्य प्राचीन चित्र और मूर्तियाँ

---

१ इसके लिए अंग्रेजी शब्द Realizable Securities है। यह उन कागजोंके लिए आता है जो दर्शनी हुण्डीकी भाँति तत्काल रुपयेमें बदले जा सकें पर आजतक भिन्न-भिन्न देशोंकी सरकारोंमें इस विषयमें ऐकमत्य न हुआ कि यह नाम किन कागजोंको दिया जाय।

२ १९०७ का हेग-समयपत्र, ५३ वीं धारा

३ म्युनिसिपल बोर्ड, जिला बोर्ड इत्यादि

४ १९०७ का हेग-समयपत्र, ५६ वीं धारा

उठा लायी थी। जब १८१५ में अन्तिम सन्धि हुई तो फ्रांसको यह वस्तुएँ इटलीको लौटानी पड़ीं। पर यूरोपियन राजनीति एशियावालोंके साथ बर्तनेमें सभी नियमोंको भूल जाती है। १९१२ के बौक्सर युद्धमें जर्मन सेना चीनसे अत्यन्त प्राचीन कालके ज्योतिर्यन्त्र उठा ले गयी पर किसीने जर्मन सरकारको इस बातके लिए विवश न किया कि वह इन्हें पुनः चीन पहुँचा दे।

प्रथम यूरोपियन महायुद्धमें भी जर्मनोंने बेल्जियममें कई अक्षम्य काम किये। कई प्राचीन गिर्जे (ईसाई उपासनालय), पुस्तकालय, विचित्रालय, विद्यालय, टाउनहाल इत्यादि नष्ट कर दिये गये। पता नहीं अंग्रेजों और फ्रांसीसियोंने भी ऐसे बर्बर काम किये या नहीं। इसके बाद तो बर्बरता पराकाष्ठाकी ओर बढ़ती ही गयी। एथिओपियामें इटलीकी सेनाने स्वच्छन्दताके साथ सभी प्रकारके नृशंस आचरण किये। बादमें वही नृशंसता यूरोपके विभिन्न देशोंमें बर्ती गयी। जर्मन-सेनाओंने क्रूरतामें कुछ उठा न रखा। विजयी जापानी सेनाकी भी यही दशा थी। चीनमें तो उसका व्यवहार निर्दयता और उच्छृङ्खलताकी चरम सीमातक पहुँच गया था।

यह हम कह चुके हैं कि समाचार भेजनेके यन्त्रोंपर मुल्कगीरी सेनाका कब्जा हो जाता है। इसमें तार-विभागकी सभी सामग्री आ गयी पर जो तार समुद्रके नीचे-नीचे जाते हैं उनके नियम इतने सीधे नहीं हैं। यदि जलान्तस्तलचारी तार शत्रुराज्यके दो भागोंको मिलाता है तो उसपर कब्जा करना उचित ही है। यदि वह दो तटस्थ देशोंको मिलाता है तो उसपर कब्जा नहीं हो सकता। यदि वह शत्रु-राजको किसी तटस्थ राजसे मिलाता हो तो हेगसम्मेलनके निर्देशानुसार, आवश्यकता पड़नेपर मुल्कगीरी सेना उसे काट सकती है परन्तु युद्ध समाप्त होनेपर फिर उसे लगा देना होगा और उस तटस्थ राजकी क्षतिपूर्ति करनी होगी। यह स्मरण रहे कि ऐसे तार तटलग्न जलमें ही काटे जा सकते हैं, उनको खुले समुद्रमें काटना निषिद्ध है।

मुल्कगीरी सेनाका शत्रुकी अचल सम्पत्तिपर कब्जा अवश्य हो जाता है पर यह कब्जा केवल भोगमात्रके लिए होता है, सम्पत्तिको तोड़ने फोड़ने, बेचने, नष्ट करनेका अधिकार नहीं मिलता। घर, मकान, बाग जङ्गल, सब बर्ते जा सकते हैं पर यथासम्भव इनकी अवस्था न बिगड़ने देनी चाहिये। १८७० में जर्मन सेनाने पूर्वीय फ्रांसके जंगलोंके कई सहस्र बलूतके वृक्ष बेच दिये। युद्धसमाप्तिके पीछे फ्रेञ्च न्यायालयोंने निर्णय किया कि चूँकि यह पेड़ अभी काटने योग्य नहीं थे अतः जर्मनोंने केवल जङ्गल नष्ट करनेके उद्देश्यसे इन्हें काटा इसलिए उनका ऐसा करना अविहित था और पेड़ोंके क्रेताओंने एक अविहित काममें भाग लिया अतः उनका इन पेड़ोंपर कोई स्वत्व नहीं था।

हेगमें यह भी निश्चय हो गया है कि मुल्कगीरी सेना शिक्षा, दान, उपासना, कला और विज्ञान सम्बन्धी संस्थाओंके लिए पृथक् की हुई शत्रु-सम्पत्तिकी आय अपने काममें नहीं लगा सकती।

किसी प्रदेशपर कब्जा करनेपर भी मुल्कगीरी सेना वहाँके विधानोंमें प्रायः हस्तक्षेप नहीं करती। जहाँतक हो सकता है पुराने कर्मचारियोंसे ही काम लिया जाता है। फिर भी उसे शान्ति बनाये रखनेके लिए कुछ नियम बनाने पड़ते हैं। युद्धका समय होता है। साधारण अनवधानता या शैथिल्यका परिणाम भीषण हो सकता है। इसलिए साधारण उपद्रवों या शान्तिभंगके प्रयत्नोंके लिए भी कठोर दण्ड देना पड़ता है। ऐसे नियमोंको सैनिक विधान* कहते हैं। यह सैनिक विधान उस सैनिक विधानसे भिन्न है जिसे कभी-कभी सभी राजोंको उपद्रवादिके समय स्वयं अपनी प्रजाके विरुद्ध बर्तना

* Martial Law (मार्शल ला)

सैनिक विधान

पड़ता है। यह सैनिक विधान तो वस्तुतः साधारण विधानका ही एक अंग होता है। इसे सैनिक केवल इसलिए कहते हैं कि दण्ड कठोर होते हैं और न्यायालयोंकी प्रक्रिया बहुत ही संक्षिप्त कर दी जाती है ताकि काम जल्दी हो, परन्तु युद्धकालीन सैनिक विधान तो वस्तुतः विधान ही नहीं है। जैसा कि प्रसिद्ध ब्रिटिश सेनापति ड्यूक आव वेलिंगटनने एक बार कहा था वह मुल्कगीरी 'सेनाके सेनापतिकी इच्छा मात्र' का नाम है। वह अवस्था देखकर चाहे जैसे कड़े नियम बना सकता है पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि उसके बनाये नियम अन्तर्राष्ट्रीय विधानके सिद्धान्तों या सर्वसम्मत नियमोंके प्रतिकूल न हों।

मुल्कगीरी सेनाके हट जानेपर उसके शासनकालमें जितने निर्णय हुए होते हैं वह रद नहीं होते। उत्तरवर्त्ती सरकार उन्हें मान लेती है पर उसे यह अधिकार होता है कि यदि मुल्कगीरी सेना राजसम्पत्तिकी कोई अवैध व्यवस्था कर गयी हो (जैसा कि ऊपर दिये हुए उदाहरणमें जर्मनोंने फ्रेंच जंगलोंके साथ किया था) या कुछ नागरिकोंको अपने सैनिक विधानके अनुसार दण्ड दिया हो तो ऐसे निर्णयोंको रद कर दे।

अधिकृत प्रदेशके निवासी और सैनिक सेवा

अधिकृत प्रदेशके निवासियोंसे किसी प्रकारकी सैनिक सेवा नहीं ली जा सकती। न तो वह मुल्कगीरी सेनामें भर्ती होनेके लिए विवश किये जा सकते हैं, न अपने राष्ट्रकी सेना या सैनिक सामग्री आदिके विषयमें कोई बात बतलानेके लिए विवश किये जा सकते हैं। पिछले महायुद्धमें इस नियमकी जी खोलकर अवहेलना की गयी। नागरिकोंको भली-भाँतिसे सताकर स्वदेशकी बातोंको बतलानेके लिए विवश किया गया।

राज-भक्तिकी शपथ

अधिकृत प्रदेशके निवासियोंसे मुल्कगीरी सेना अपने राजके प्रति राजभक्तिकी शपथ नहीं ले सकती। हाँ, जो पुराने राजकर्मचारी अधिकार-कालमें भी काम करना स्वीकार करें उनसे यह शपथ ली जा सकती है कि हम अधिकार-कालमें आपके विरुद्ध कोई काम न करेंगे। परन्तु उसे यह अधिकार है कि जनतासे तटस्थताकी शपथ ले अर्थात् उससे यह वचन ले कि वह युद्धकालमें किसी पक्षकी ओरसे न लड़ेगी।

प्रजा-सम्पत्ति

प्रजा-सम्पत्तिके विषयमें साधारणतः यह कह सकते हैं कि वह मुल्कगीरी सेनाके लिए अग्राह्य है। शस्त्रास्त्र और गमनागमन तथा संवाद-प्रेषणके साधनोंको छोड़कर अन्य चल सम्पत्तिमें हाथ नहीं लगाया जाता। नाव, तार, रेल, मोटर आदि सैनिक आवश्यकता पड़नेपर ली जा सकती हैं पर इनके लिए रसीद देनी होती है और युद्ध समाप्त होनेपर आवश्यकता बीत जानेपर इनके लिए हर्जाना देना पड़ता है। हेगमें यह निश्चय नहीं हुआ कि हर्जाना कौन पक्ष देगा, यह बात सन्धिके समय उभय पक्ष आपसमें निश्चित कर लेते हैं। अचल सम्पत्तिको किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँचायी जाती पर मुल्कगीरी सेनाके सैनिक नागरिकोंके घरोंमें बाँट दिये जाते हैं। नागरिकोंसे यह नहीं कहा जा सकता कि तुम लोग सिपाहियोंके लिए अपने घर खाली कर दो, जितने बड़े घर होते हैं उनमें उसी प्रमाणसे सिपाही रख दिये जाते हैं। उनके खाने-पीनेका भार नियमतः उनकी सरकारपर होता है, उन लोगोंपर नहीं जिनके घरोंमें वह टिकाये जाते हैं। पर यह असम्भव है कि किसी मुल्कगीरी सेनाके सिपाही नियमोंका पूरा-पूरा पालन करें। नियम यही है कि नागरिकोंको यथासम्भव कोई कष्ट न दिया जाय पर यह सभी जानते हैं कि ऐसी दशामें नागरिकोंकी खाद्य सामग्री, घरके बर्तन, कुर्सी, पलंग इत्यादि और सर्वोपरि स्त्रियोंके सतीत्वका ईश्वर ही रक्षक होता है। नागरिकोंको यह आदेश रहता है कि यदि कोई सिपाही

किसीको तंग करे तो वह तत्काल सेनापतिसे जा कर शिकायत करे पर ऐसा साहस कम ही लोगोंको होता है। अधिकांश लोग सब कुछ चुपचाप सहकर अपने प्राण बचानेमें ही अपनेको धन्य मानते हैं।

यद्यपि नियमतः अचल सम्पत्तिको क्षति नहीं पहुँचायी जाती पर जो लोग घर छोड़कर भाग जाते हैं उन्हें लौटनेपर अपनी सम्पत्ति ज्योंकी त्यों पानेकी आशा छोड़ देनी चाहिये। इसके साथ ही सेनापतिको सदैव यह अधिकार है कि सैनिक आवश्यकता पड़ जाने पर या यदि किसी घरके निवासी उसकी सेनाके हितके विरुद्ध आचरण करें तो वह उस घरको गिरा सकता है और अन्य सम्पत्तिको भी नष्ट या जब्त कर सकता है।

अन्ताराष्ट्रिय विधानने मुल्कगीरी सेनाको राजकर (टिकस) उगाहनेका अधिकार न तो दिया है न छीन लिया है। कर वसूल करना न करना उसकी इच्छापर है पर यदि वह वसूल करना निश्चय करे तो उसे उसीमेंसे शासन (अर्थात् न्यायालय, पुलिस, शिक्षा, अस्पताल आदि) का व्यय चलाना होगा। यदि सब कामोंके लिए पूर्ववत् व्यय करनेपर भी कुछ बच रहे तो उसे वह अपने काममें ला सकती है। राजकरकी दर नहीं बढ़ायी जा सकती, न वह समयके पहिले माँगा जा सकता है। स्थानीय शासन-संस्थाओं अर्थात् नगर तथा जिला बोर्डों और अन्य एतत्सदृश संस्थाओंकी आयमें हाथ नहीं लगाया जा सकता पर सेनापति इस बातका निस्सन्देह निरीक्षण कर सकता है कि यह धन उसके विरुद्ध किसी काममें न लगाया जाय।

राजकर

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रुसेना अधिकृत प्रदेशके निवासियोंसे धन या सम्पत्ति बलात् नहीं ले सकती पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। लूट-पाट निषिद्ध है पर दो-तीन ऐसे वैध मार्ग हैं जिनसे कि मुल्कगीरी सेना रुपया आदि वसूल कर सकती है। इनमें सबसे पहिलेको वस्तु-माँग[1] कहते हैं। सेना अपने साथ बहुत-सी रसद रखती है, फिर भी समय-समयपर खाद्य सामग्री तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ चूक जाया करती हैं। दूध, घी, मक्खन, फल, मांस, शाक-भाजीका तो नित्य ही काम पड़ता है। नियम यह है कि यह वस्तुएँ प्रचलित बाजार-भावसे मोल ली जायँ और इनका नक्द दाम दिया जाय। बाजार-भाव क्या है इसका निर्णय कभी-कभी तो म्युनिसिपल या अन्य स्थानीय कर्म-चारियों द्वारा कराया जाता है पर कभी सैनिक अफसर स्वयं करते हैं। अस्तु, यदि नक्द रुपया हुआ तो दिया ही जाता है पर यदि न हुआ तो स्थानीय सेनापति लिखकर घोषित कर देता है कि सेनाके लिए अमुक-अमुक वस्तुएँ चाहिये। माँग ऐसी होनी चाहिये जिसे वह प्रदेश पूरा कर सके। फिर यदि स्थानीय म्युनिसिपल या अन्य कर्मचारियों द्वारा काम सुगमतासे हो सका तो ठीक है नहीं तो सैनिकों द्वारा सब चीजोंका संग्रह किया जाता है। कोई व्यापारी यह नहीं कह सकता कि मैं अपना माल न दूँगा। प्रत्येक वस्तुके लिए रसीद दी जाती है। हेगमें (१९०७में) यह भी निश्चित हुआ कि जितना शीघ्र हो सके रसीदोंके अनुसार रुपया चुका दिया जाय। पर उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि रुपया कौन चुकाये। न्याय तो यही है कि जो पक्ष सामग्री बलात् ले वही उसका मूल्य दे पर ऐसा भी होता है कि यदि वह पक्ष जीत गया तो विजित पक्षको ही सब वस्तुओंका मूल्य देनेके लिए बाध्य करता है। कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। १९०२ के बोअर युद्धमें ब्रिटिश और बोअर दोनों सेनाओंने इस अधिकारसे दिल खोलकर काम लिया था। अन्तमें बोअर हार गये।

वस्तु-माँग

---

१ Requisitions (रेक्विज़िशन्ज़)

नियमतः ब्रिटिश सरकार केवल अपनी सेनाकी रसीदोंको सकारनेके लिए बाध्य थी पर उसने देखा कि प्रजा दरिद्र हो गयी है, अतः उसने बोअर सेनाकी दी हुई रसीदोंके रुपये भी भर दिये।

रूस-जापान युद्ध (१९०५) में जापानियोंने बहुत अच्छा प्रबन्ध किया था। मञ्चूरिया जो वस्तुतः चीनका एक प्रदेश था, युद्धक्षेत्र था। जापानियोंने चीनी व्यापारिक मण्डलोंसे सम्मति लेकर सब वस्तुओंके मूल्य निश्चित कर लिये और निश्चित मूल्य—सूचियोंको सब नगरों और ग्रामोंमें चिपका दिया। जापानी सैनिक वस्तुओंको लेकर उनके स्थानमें रसीदें देते थे। यह भी पहिलेसे ही घोषित कर दिया गया था कि अमुक-अमुक तिथियोंको अमुक-अमुक स्थानोंमें रसीदोंको पेश करनेसे उनके लिए रुपया मिला करेगा। यह व्यवहार इतना साफ था कि शीघ्र ही यह रसीदें नोटोंकी भाँति चलने लगीं क्योंकि लोग यह भली भाँति जानते थे कि नियत तिथियोंपर पेश करनेसे तत्काल ही इनका रुपया मिल जायगा।

अन्ताराष्ट्रिय विधानने मुल्कगीरी सेनाको रुपया वसूल करनेका एक और साधन दे रखा है। इसे बेहरी[1] कहते हैं। वस्तु-माँग तो स्थानीय सेनापति कर सकते हैं। इस चन्दे या जबरदस्तीके ऋण की माँग प्रधान सेनाध्यक्षकी लिखित आज्ञासे ही होती है। उसको यह अधिकार है कि अधिकृत प्रदेशका शासन चलानेके लिए या अपनी सेनाकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए अधिकृत प्रदेशके निवासियोंसे बेहरी माँगे। यदि मुल्कगीरी सेना देखे कि राजकरसे शासनका काम नहीं चल सकता तो शासनके नामपर बेहरी वसूल की जायगी पर 'सेनाकी आवश्यकता' ऐसे गोल शब्द हैं जिनकी परिभाषा हो ही नहीं सकती। रुपया वसूल करके घर तो नहीं भेजा जा सकता पर सेनाका प्रायः सारा व्यय अधिकृत प्रदेशके माथे मढ़ दिया जा सकता है। नैपोलियनका यही सिद्धान्त था कि युद्धको स्वावलम्बी बनाना चाहिये। जिन लोगोंसे बेहरी ली जाती है उनको रसीद दी जाती है और यथासम्भव उसी दरसे ली जाती है जिस दरसे लोग राजकर देते हैं; पर यह कहीं नहीं स्पष्ट किया गया कि रसीदोंका रुपया कौन देगा। यदि मुल्कगीरी सेनाकी सरकार हार गयी तो सन्धि होते समय उसे रुपया चुकानेपर विवश किया जा सकता है, नहीं तो लोगोंको सन्तोष करके रह जाना पड़ता है। इस सम्बन्धमें फ्रांससे एक अच्छा उदाहरण मिलता है। १८७१ में जर्मन सेनाने फ्रांसके पूर्वीय प्रान्तोंपर अधिकार करके निवासियोंसे बहुत-सा रुपया बेहरीके रूपमें वसूल किया था। जर्मन सरकार विजयी हुई इसलिए उससे तो एक पैसा भी न मिला पर युद्धके पीछे फ्रेंच सरकारने यह न्याय्य निर्णय किया कि चूँकि इन प्रान्तोंको सारे देशके लिए आपत्ति झेलनी पड़ी है अतः सारे देशको इनका बोझ हल्का करना चाहिये। अतः उन लोगोंको रसीदोंके लिए सरकारी कोषसे रुपया दिया गया।

यदि अधिकृत प्रदेशका कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह मुल्कगीरी सेनाके विरुद्ध कोई काम करे तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता है पर बहुधा ऐसा होता है कि अपराधीका पता नहीं लगता। ऐसी दशामें हेग-नियमावलीकी ५० वीं धारा कहती है कि सेनापतिको यह अधिकार नहीं है कि जनताको सामूहिक रूपसे किसी ऐसी बातके लिए दण्ड दे जिसके लिए वह

अर्थदण्ड

सामूहिक रूपसे दोषी नहीं मानी जा सकती, पर दोषी ठहराना न ठहराना प्रायः सेनापतिपर निर्भर है। यह असम्भव है कि युद्धके समय साधारण न्यायालयोंका-सा सूक्ष्म विचार किया जाय। यदि सेनाके किसी बड़े अंशको ऐसी क्षति पहुँचायी गयी है जो एक दो मनुष्योंका काम नहीं हो सकती तो यही माना जाता है कि अधिकांश नागरिकोंको इनका

१ Contributions

कुछ-न-कुछ पता रहा होगा अतः जब उन्होंने न तो उसे स्वयं रोका न सेनापतिको सूचना दी तो सभी दोषके भागी हैं और दण्डार्ह हैं। ऐसी दशामें उनको सामूहिक दण्ड दिया जाता है। बहुधा यह दण्ड अर्थदण्ड[1] (जुर्माना) का रूप धारण करता है। निवासियोंको एक नियत तिथिके भीतर रुपयोंकी एक नियत संख्या देनी पड़ती है नहीं तो उन्हें अन्य-अन्य दण्ड दिये जाते हैं।

मुल्कगीरी सेनाओंको रक्षाशुल्क[2] माँगनेका भी अधिकार है। हेग-नियमावलीमें इस सम्बन्धमें कुछ भी विधान नहीं किया गया है पर प्रथा पुरानी है और उसका स्पष्ट निषेध नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी नगर या प्रान्तसे यह कहा जा सकता है कि यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे ऊपर अधिकार न किया जाय तो इतना रुपया दे दो। यदि वह स्थान वस्तु-माँग और भावी अर्थदण्डादिकोंसे बचना चाहेगा तो चुपकेसे रुपया देकर प्राण बचायेगा।

रक्षा-शुल्क

साधारणतः मुल्कगीरी सेनाको यह अधिकार नहीं है कि वह शत्रुके देशको नष्ट-भ्रष्ट कर दे। जंगलोंको जला देना, पुलोंको तोड़ देना, नदियोंके बाँध तोड़ देना, नहरोंके फाटक खोल देना, नगरोंमें आग लगा देना यह सब निषिद्ध है। ऐसी बातोंसे युद्ध तो समाप्त नहीं होता, निरपराधोंको व्यर्थ कष्ट होता है और क्रोध तथा प्रतिहिंसा-भावकी वृद्धि होती है। यह सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि विनष्टि[3] का एकमात्र निषेध हो गया है। जबतक युद्धका अस्तित्व है तबतक इसका भी अस्तित्व रहेगा, कमसे कम सम्भावना बनी रहेगी। अत्यन्त आवश्यता पड़नेपर सब कुछ क्षम्य हो जाता है।

विनष्टि

अध्यापक वेस्टलेकने कार्य-विशेषका औचित्य या अनौचित्य परखनेके लिए निम्नलिखित दो नियम बतलाये हैं—

(क) जो काम तत्कालवर्ती सैनिक कार्यवाहीमें विजय प्राप्त करनेके लिए सहायक नहीं हो सकता वह निषिद्ध है और (ख) जो काम किसी स्पष्ट नियम द्वारा वर्जित नहीं है उसे भी उसी अवस्थामें और उसी सीमातक करना चाहिये जहाँतक कि उससे विजयमें सहायता मिलनेकी आशा हो।

हेगमें भी यही निश्चय हुआ कि शत्रु-सम्पत्तिको नष्ट करना वर्जित है परन्तु अत्यन्त सामरिक आवश्यकता आ पड़नेपर ऐसा किया जा सकता है। 'अत्यन्त सामरिक आवश्यकता' की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह मुल्कगीरी सेनाके सेनापतिकी बुद्धि और इच्छा तथा उसकी सरकारकी नीति और संस्कृतिपर निर्भर है। आचार्योंकी सम्मति यही है कि केवल उत्पीड़नके उद्देश्यसे विनष्ट करना सर्वथा अवैध है। आवश्यकताके सम्बन्धमें भी सभी आचार्य व्हीटनके इस मतका समर्थन करते हैं कि 'आवश्यकता तात्कालिक होनी चाहिये। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि हमको आशंका है कि भविष्यत्‌में हमको क्षति पहुँचेगी और आवश्यकता पड़ेगी'। बहुधा सभ्य सरकारोंने भी इस मतको स्वीकार कर लिया है और अपने यहाँकी सैनिक शिक्षाकी पुस्तकोंमें भी लिख दिया है, पर गत महायुद्धमें जो कुछ हुआ उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि समयपर सारे पाठ भूल जाते हैं और पाशव वृत्तियाँ उद्बुद्ध हो जाती हैं।

जब कोई शत्रु बार-बार अन्ताराष्ट्रिय विधानकी अवहेलना करता है और सामरिक नियमोंको

---

१ Fines

२ Ransom

३ Devastation

तोड़ता जाता है तो उसके साथ प्रतिघात[१] नीति बर्तनी पड़ती है। इसका अर्थ है 'शठे शाठ्यम्'।

प्रतिघात

इससे यथा सम्भव काम न लेना चाहिये। उपायान्तरके अभावमें ही इसका प्रयोग करना चाहिये और वह भी दण्ड देने मात्रके लिए। एक पक्षकी उन्मार्गगामिता दूसरेको सदाचारसे मुक्त नहीं कर सकती। प्रतिघातका साधारण रूप यह होता है कि शत्रु जिन नियमोंको तोड़ता है उसके प्रति भी वही नियम तोड़े जायँ।

एक और पुरानी प्रथा है जिसका हेग-नियमावलीमें वर्णन नहीं है। वह भी निषिद्ध नहीं कही जा सकती। प्रथा यह है कि जब किसी नगरसे अर्थदण्ड या बेहरी-स्वरूप रुपया माँगा जाता

प्रतिभू

है तो वहाँके कुछ प्रधान नागरिक प्रतिभू रूप[२] (जमानत) में रोक लिये जाते हैं और अपने सह-नागरिकोंके सदाचारके लिए दायी ठहराये जाते हैं। बोअर युद्धमें जब अंग्रेजी सेनाएँ रेलोंपर चढ़कर जाती थीं तो साधारण बोअर नागरिक छिप-छिपकर उनपर गोली चलाते थे। तब अंग्रेजोंने यह किया कि गाड़ियोंमें कुछ बोअरोंको भी बलात् बैठा लेने लगे ताकि बोअरोंकी गोलियाँ पहिले उनके देशवासियोंपर ही पड़ें। यह बोअर भी प्रतिभू ही थे।

सिद्धान्त यह है कि प्रतिभू अवध्य होता है पर उपर्युक्त उदाहरण इसके विरुद्ध जाता है। वस्तुतः प्रथा बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती क्योंकि दो-चार मनुष्योंको एक बड़े समूहके अपराधोंके लिए दायी ठहराना और दण्ड देना न्याय्य नहीं प्रतीत होता। अर्थदण्ड सारे नगरको दिया जाय और वसूल मुट्ठीभर मनुष्योंसे किया जाय, यह उचित नहीं है। पर युद्ध युद्ध है। बोअर युद्धमें जिस क्रूर नीतिसे ब्रिटिश सेनाने काम लिया था वह भी समयपर काम देती है और इसलिए क्षम्य मानी जा सकती है।

---

१ Reprisal

२ Hostage

आठवाँ अध्याय

शत्रु-सम्पत्तिके साथ व्यवहार—जलस्थित सम्पत्ति

यहाँ जलस्थित सम्पत्तिसे जहाजों और उनपर लदे हुए माल दोनोंसे तात्पर्य है। शत्रु-सम्पत्ति-में सरकारी और अ-सरकारी दोनों प्रकारके जहाज परिगणित हैं। सरकारी जहाजोंमें सैनिक जहाज और साधारण जहाज दोनों ही परिगणित हैं। यदि कोई राज किसी जहाजको कुछ कालके लिए किरायेपर ले ले तो उसकी गणना भी राजकीय जहाजोंमें ही की जाती है।

राजकीय जहाजोंपर सरकारी अफसर रहते हैं और उनपर राजका झण्डा रहता है। युद्धके दिनोंमें जहाजोंको यह अधिकार रहता है कि अपनेको जैसे चाहें छिपा लें और झूठा अर्थात् किसी अन्य राजका झण्डा लगा लें परन्तु यदि वह लड़ाईमें पड़ जायँ तो गोली चलानेके पहिले उन्हें अपना असली झण्डा लगा लेना चाहिये। प्रजाके निजी जहाजोंपर भी राजका झण्डा रहता है पर उन्हें भी छिपानेका अधिकार है। परन्तु सैनिक जहाजोंको लड़ाईके दिनोंमें यह अधिकार रहता है कि खुले समुद्रपर जिस जहाजकी चाहें तलाशी लें, इसलिए भेद छिप नहीं सकता। तलाशीके समय जहाजके कागज-पत्र सब रहस्य खोल देंगे।

जब्ती

यदि एक पक्षको दूसरे पक्षका किसी प्रकारका जहाज किसी तटस्थ राजके शत्रुके जहाजोंकी नौस्थानों और तटलग्न जलको छोड़कर अन्य किसी जगह मिल जाय तो वह उसे पकड़कर जब्त कर सकता है।

इस सम्बन्धमें बहुत मतभेद है कि ऐसा करना उचित है या अनुचित। युद्धके लिए औचित्यानौचित्यकी कसौटी यही है कि विजयमें सहायता मिलती है या नहीं। यहाँ हम उन हेतुओंको लिखना अनावश्यक समझते हैं जिनके द्वारा दोनों पक्ष अपने-अपने मतका समर्थन करते हैं। कई राजोंकी यह सम्मति है कि व्यापारिक जहाजोंका जब्त करना बन्द कर दिया जाय परन्तु ब्रिटेन इसका विरोध करता रहा है। उसकी नौसेना सबसे प्रबल थी अतः उसे यह विश्वास था कि वह स्वयं सबको क्षति पहुँचा सकेगा पर उसका कोई कुछ न बिगाड़ सकेगा। गत महायुद्धमें जर्मन पनडुब्बियोंने उसके अभिमानको भारी धक्का पहुँचाया। अब ब्रिटेन यह आशा नहीं कर सकता कि वह अछूता बच जायगा। इन सब बातोंका परिणाम यह हुआ है कि उसकी सम्मतिमें भी परिवर्तन हो रहा है।

धार्मिक, वैज्ञानिक और लोकहित-रत पोत

इस समयकी प्रचलित प्रथामें भी कुछ अपवाद हैं अर्थात् कुछ शत्रु-जहाज ऐसे होते हैं जो छोड़ दिये जाते हैं। जिस प्रकार स्थलयुद्धमें अस्पताल संरक्ष्य माने जाते हैं उसी प्रकार वह जहाज भी जिनपर औषधादि शुश्रूषा-सामग्री रहती है संरक्ष्य होते हैं। वह जहाज भी चिकित्सापोत[1] तथा जो वैज्ञानिक, धार्मिक या लोकहित सम्बन्धी कामोंमें लगे हों संरक्ष्य होते हैं। पहले यह प्रथा थी कि अपने देशसे चलनेके पहले ऐसे जहाज शत्रु-सरकारसे अनुज्ञा प्राप्त कर लें। आजकल इस प्रथाका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया जाता। इससे यह कहना कठिन है कि यह अब भी है या उठ गयी पर ऐसी

---

१ Hospital Ships

अवस्थामें यदि मिल सके तो अनुज्ञा लेना ही अच्छा होता है, नहीं तो अड़चन पड़ सकती है।

परिचर्या-पोत[१]

जो जहाज रणबन्दियोंको स्वदेश पहुँचानेके काममें लगे हों वह भी जब्त नहीं किये जाते परन्तु उनके पास शत्रु-सरकारका अनुज्ञापत्र होना चाहिये, साथ ही ऐसे जहाजपर किसी प्रकारकी युद्धसामग्री न होनी चाहिये।

मछुआहोंकी नावें और छोटी व्यापारिक नावें

समुद्रलग्न देशोंमें ऐसे लाखों मनुष्य होते हैं जिनकी जीविकाका एकमात्र साधन मछली मारना है। ऐसे लोगोंकी नावें नहीं पकड़ी जातीं पर इस नियमके दो अपवाद हैं। एक तो नावें छोटी होनी चाहिये, दूसरे उनसे समुद्रके किनारे ही मछली मारनेका काम लिया जाता हो, गहरे जलमें नहीं। यह आवश्यक नहीं है कि मछुआहे अपने ही देशके तटलग्न जलमें मछली मारें। यदि युद्धके पहिले वह किसी अन्य देशके किनारे मछली मारते रहे हों तो युद्ध छिड़नेपर भी ऐसा कर सकते हैं। इसी प्रकार वह छोटी-छोटी नावें भी जो अपने देशके एक नौस्थानसे दूसरे नौ-स्थानतक किनारेके पास-पास चलकर माल ले जाती हैं नहीं पकड़ी जातीं।

अधिकारप्राप्त पोत[२]

कभी-कभी एक शत्रु-सरकार दूसरी शत्रु-सरकारके कुछ प्रजावर्गीयोंको अपने देशमें व्यापार करनेका अधिकार दे देती है। इसी भाँति यदि उसने युद्ध-कालमें व्यापार-सम्बन्धी कुछ नियम बनाये हों तो वह यह कर सकती है कि किसी शत्रुवर्गीय या तटस्थदेशीय व्यक्तिके लिए उन नियमोंको ढीला कर दे। ऐसे विशेषाधिकारप्राप्त जहाजोंको उसके सामरिक जहाज नहीं पकड़ सकते। ऐसा अधिकार सरकार ही दे सकती है। सेनापति लोग अपने अधिकार-क्षेत्रमें अलबत्ता अल्पकालीन विशेष अनुज्ञा दे सकते हैं।

अज्ञ पोत

अज्ञ जहाज भी जब्त नहीं किये जाते। अज्ञ जहाज उन जहाजोंको कहते हैं जिनको युद्ध छिड़नेका पता न हो। ऐसे जहाज शत्रुके हाथोंमें तीन अवस्थाओंमें पड़ सकते हैं।

(१) वह युद्ध छिड़नेके समय शत्रुराजके ही किसी नौस्थानमें हों।

(२) युद्ध छिड़ने पर शत्रुराजके किसी नौ-स्थानमें, युद्ध छिड़नेके वृत्तान्तसे अनभिज्ञ होनेके कारण, लंगर डाल दें।

(३) खुले समुद्रमें यात्रा कर रहे हों और शत्रुका कोई रणपोत उन्हें पकड़ ले।

पहले तो ऐसे जहाज जब्त कर लिये जाते थे या नष्ट कर डाले जाते थे। अब प्रायः यह करते हैं कि युद्धके अन्ततक जहाजको रोक रखते हैं, फिर उसे छोड़ देते हैं या यदि उसे अपने काममें लाते हैं तो उसके स्वामियोंको उसका मूल्य दे देते हैं। तीसरी दशामें अर्थात् खुले समुद्रमें मिले जहाजोंको कभी-कभी नष्ट करना ही सुकर होता है क्योंकि उनको अपने साथ लिये-लिये फिरनाऔर अपने राजके किसी नौ-स्थानमें पहुँचाना बड़ा कठिन होता है। ऐसा उन्हीं राजोंके रणपोत कर सकते हैं जिनका साम्राज्य पृथ्वीके सभी भागोंमें हो। अन्यथा जहाजको नष्ट कर देते हैं पर उसके यात्रियों और कागजोंको बचा लेते हैं और पीछेसे उनके स्वामियोंको रुपया दे देते हैं।

जो जहाज युद्ध छिड़नेके समय शत्रुके किसी नौ-स्थानमें पाये जाते हैं उनके लिए एक और

१ Cartel Ships

२ Licensed Ships

प्रथा है। उनको कुछ दिनोंका अवकाश[1] दिया जाता है। यदि वह उतने दिनके भीतर चले जायँ तो उन्हें कोई नहीं छेड़ता, केवल इतना देख लिया जाता है कि उनपर कोई ऐसी वस्तु न हो जिससे शत्रुको सहायता मिल सके। पर यह प्रथा मात्र है। हेगमें यह प्रयत्न हुआ था कि यह अनिवार्य नियम बना दिया जाय परन्तु ब्रिटेन तथा कुछ अन्य राजोंके विरोधके कारण ऐसा न हो सका। इन राजोंका कहना यह था कि आजकल बड़े व्यापारिक जहाज बड़ी सुगमतासे रणपोतोंमें परिणत हो सकते हैं अतः ऐसे जहाजोंको छोड़ देनेसे शत्रुके नौबलको सहायता पहुँचनेकी सम्भावना है। इसके विपरीत अमेरिका इस प्रथाको अनिवार्य नियम मानता है। पर जो राज अवकाश देते हैं उनके यहाँ भी कोई एक नियम नहीं है। रूस-जापान युद्धमें रूस अड़तालीस घण्टे और जापान एक सप्ताहका अवकाश देता था।

यह सब नियम और अपवाद तो शत्रुके जहाजोंके सम्बन्धमें हुए। अब हमें उन नियमोंपर विचार करना है जो जहाजोंपर आने-जानेवाली सम्पत्तिके लिए बनाये गये हैं। जहाजों और उन-परकी सामग्रीके लिए सब नियम एकसे नहीं हैं, उनमें कुछ भेद है।

शत्रु-सम्पत्तिके लिए सबसे पहिला नियम वह है जिसे संक्षेपमें 'स्वतन्त्र पोतोंपर स्वतन्त्र सम्पत्ति' या 'स्वतन्त्र पोतोंपरकी सम्पत्ति स्वतन्त्र है' कह सकते हैं। 'स्वतन्त्र पोत' तटस्थ देशोंके

स्वतन्त्र पोतोंपरकी सम्पत्ति स्वतन्त्र है[2]

पोतोंको कहते हैं। इस नियम या सिद्धान्तका तात्पर्य यह है कि यदि दो देशोंमें युद्ध हो और एकके प्रजावर्गीयोंकी असामरिक सम्पत्ति यदि किसी तटस्थदेशीय जहाजमें जा रही हो तो उसे दूसरे देशके रणपोत छोड़ देंगे। यही सम्पत्ति यदि शत्रुके अपने देशके जहाजपर जाती हो तो जहाजके साथ ही जब्त कर ली जायगी।

शत्रु-जहाजमें जानेवाली और वस्तुएँ तो जब्त कर ली जाती हैं पर शत्रुकी डाक नहीं रोकी

डाक

जाती। न तो सरकारी डाक रोकी जाती है, न प्रजाकी। यद्यपि आजकल बहुत-सा सरकारी काम तार और बे-तार द्वारा होता है फिर भी बहुतसे राजोंको इस अपवादसे लाभ पहुँचता है। डाक ले जानेवाले जहाज विशेष आवश्यकता पड़नेपर रोके जा सकते हैं पर रोकनेवालेका कर्तव्य है कि डाकको यथास्थान पहुँचा दे। पुस्तकें

ललितकला और पुस्तकें

और ललित-कला सम्बन्धी वस्तुएँ (जैसे चित्र, मूर्ति, बाजे इत्यादि) भी रोकी नहीं जातीं। इनके लिए कोई लिखित नियम नहीं है पर प्रायः सभ्य राजोंका व्यवहार ऐसा ही है।

अज्ञ पोतोंके साथ जो व्यवहार किया जाता है वही उनपरकी सम्पत्तिके साथ भी किया

अज्ञ पोतोंपरकी सम्पत्ति

जाता है। या तो वह युद्धके बाद लौटा दी जाती है या अपने काममें लायी जाती है और उसके स्वामियोंको क्षतिपूर्तिके लिए रुपया दे दिया जाता है।

चिकित्सा-पोतों-परकी सामग्री

चिकित्सा-पोतोंकी भाँति उनपरकी सामग्री भी संरक्ष्य है परन्तु अत्यन्त आव-श्यकता पड़नेपर उसे अपने काममें ला सकते हैं। ऐसी दशामें चिकित्सा-पोतपर जो रोगी हों उनके लिए समुचित प्रबन्ध कर देना होगा।

स्थलयुद्धकी भाँति जलयुद्धमें भी रक्षाद्रव्य देनेकी प्रथा बहुत दिनोंसे चली आती है और

---

१ Days of Grace

२ Free Ships, Free Goods

अन्ताराष्ट्रिय विधानने इसे मना नहीं किया है। यदि कोई व्यापारिक जहाज शत्रुके किसी रणपोतके हाथ पड़ जाय तो उसके स्वामी (या कप्तान) को यह अधिकार है कि रण-पोतके अफसरोंसे इस प्रकार समझौता कर ले कि हम आपको इतना रुपया देंगे, हमें छोड़ दीजिये। यदि समझौता हो गया तो व्यापारिक पोतका एक नाविक रणपोतपर प्रतिभू (जमानत) की भाँति रख लिया जाता है और रक्षाद्रव्य-पत्र[२] पर (वह कागज जिसमें जहाजका स्वामी एक नियत अवधिके भीतर रुपया देनेकी प्रतिज्ञा करता है) हस्ताक्षर हो जानेपर वह भी रख लिया जाता है। उसकी एक प्रतिलिपि जिसपर रणपोतके कप्तानका हस्ताक्षर होता है, उस व्यापारिक जहाजको दे दी जाती है और उसे एक नियत मार्गसे अपने राजके एक नियत नौस्थानको नियत अवधिके भीतर जानेकी अनुज्ञा दे दी जाती है। रक्षाद्रव्य-पत्रकी प्रतिलिपिके कारण उसे शत्रुका कोई रणपोत नहीं पकड़ता परन्तु यदि वह अवधि या मार्गकी प्रतिज्ञाके विरुद्ध आचरण करे और इसके लिए कोई सन्तोषजनक कारण न बतला सके तो पकड़ा जा सकता है। ऐसी दशामें उसे बेचनेसे जो कुछ मिले उसमेंसे उसके पहिले पकड़नेवाले अपना रक्षाद्रव्य ले लेंगे, शेष रुपया दूसरी बार पकड़नेवाले ले लेंगे। यदि पकड़नेवाले स्वयं पकड़ लिये जायँ और उस समय उनके पोतपर प्रतिभू और रक्षाद्रव्यपत्र हों तो फिर व्यापारिक जहाज अपनी प्रतिज्ञासे मुक्त हो जाता है।

रक्षाद्रव्य[१]

अधिकांश सरकारोंने यह अनुज्ञा दे दी है कि यदि उनके राज्यका कोई व्यापारिक जहाज अपनी प्रतिज्ञासे मुकर जाय तो शत्रु-रणपोतकी ओरसे उसपर न्यायालयमें अभियोग चल सकता है। युद्धकालमें भी ऐसे अभियोग चलने पाते हैं। ब्रिटेनने अपने रणपोतोंके लिए रुपया लेकर शत्रु-राज्यके व्यापारिक जहाजोंको छोड़ देना निषिद्ध कर दिया है।

यदि एक शत्रुने किसी जहाज और उसपरकी सम्पत्तिको अपने कब्जेमें कर लिया हो और फिर वह दूसरे शत्रुके हाथ लग जाय तो उसके साथ क्या करना चाहिये इस विषयमें पहिले बहुत मतभेद था। पीछेसे रोमन विधानके झस पोस्ट लिमिनिआइ[३] का आश्रय लिया गया। इसका आशय यह है कि जो वस्तु या व्यक्ति शत्रुके हाथसे मुक्त किया जाय वह अपनी पूर्वस्थितिको प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शत्रुके हाथसे पुनरपहृत जहाज उसके पुराने स्वामीको लौटा दिया जाय। ऐसा ही होता भी है पर यदि शत्रुने उस जहाजको रणपोतमें परिणत कर डाला हो तो इस नियमसे काम नहीं लिया जाता।

अपहृतोद्धार

जहाजको लौटानेके पहिले उसके स्वामियोंसे पारिश्रमिक-स्वरूप कुछ रुपया लिया जाता है। इसको उद्धरण-शुल्क[४] कहते हैं। इसका निश्चय न्यायालयोंके द्वारा होता है। भिन्न-भिन्न देशोंमें शुल्क लेनेके अतिरिक्त और भी भिन्न-भिन्न शर्तें बर्ती जाती हैं।

ब्रिटेनमें यह नियम है कि यदि जहाज किसी तटस्थ देशवासीका हो तो ब्रिटिश न्यायालय सब बातोंको देखकर यह अनुमान करनेका प्रयत्न करता है कि यदि यह जहाज शत्रुके देशमें पहुँच जाता तो शत्रुका न्यायालय इसे छोड़ देता या जब्त करता। यदि छोड़ देनेकी सम्भावना प्रतीत होती है तो जहाज बिना उद्धरण-शुल्क लिये लौटा दिया जाता है, यदि जब्त होनेकी सम्भावना प्रतीत होती है तो समुचित शुल्क लेनेकी व्यवस्था दी जाती है। यदि जहाज किसी ब्रिटिश प्रजाका

१ Ransom
२ Ransom Bill
३ Jus Post Iiminii
४ Salvage money

हो तो उसके मूल्यका अष्टमांश शुल्कके रूपमें लेकर जहाज लौटा दिया जाता है पर यदि उसे छुड़ानेमें विशेष परिश्रम लगा हो तो चतुर्थांश तक शुल्क मिलता है।

यदि शत्रु द्वारा अपहृत जहाजके नाविक स्वयं अपने परिश्रमसे अपनेको मुक्त कर लें तो उन्हें कोई पुरस्कार नहीं मिलता क्योंकि यह उनके कर्तव्यका एक अंग है पर यदि इस काममें किसी तटस्थ देशका निवासी हाथ बँटाये तो उसे पुरस्कार देना अनिवार्य होता है। यदि किसी स्थलसेना-की सहायता या प्रयत्नसे किसी जहाजका उद्धार हो तो उस स्थलसेनाको ही उद्धरण-शुल्क मिलता है।

जहाजोंको पकड़ने और जब्त करनेके अधिकारसे तभी काम लिया जा सकता है जब रणपोतोंको यह अधिकार हो कि वह जिस जहाजकी चाहें रोककर तलाशी लें। यह अधिकार अन्ताराष्ट्रिय विधानने दे रखा है। उभय पक्षके रणपोतोंको यह अधिकार है कि समुद्रमें आते-जाते जिस असैनिक जहाजको चाहें रोकें। असैनिकका तात्पर्य यह है कि शत्रुके सैनिक जहाजको रोकनेका तो सदैव अधिकार है क्योंकि उससे तो लड़ाई ही है पर किसी तटस्थ देशके सैनिक जहाजको रोकना उसका घोर अपमान करना है जिसका परिणाम भयंकर हो सकता है। यदि कोई रणपोत भूलसे ऐसा कर बैठे तो क्षमायाचना करके शीघ्र ही पीछा छुड़ाया जाता है।

तलाशीका अधिकार

यदि रोका गया असैनिक जहाज शत्रु-देशीय है तो उसका जब्त होना निश्चित है। हाँ, यदि उसमें सामर्थ्य हो तो लड़कर भले ही बच जाय। यदि वह किसी तटस्थ देशका है तो उसके लिए लड़ना निषिद्ध है। यदि वह लड़ा और हार गया तो उसके साथ शत्रुपोतका-सा बर्ताव किया जायगा, यदि जीत गया तो उसके राजकी सरकारसे शिकायत की जायगी और उसे स्वदेशमें ही दण्डित होना पड़ेगा।

रणपोतोंको अधिकार है कि भेष बदलकर (अर्थात् अपने राष्ट्रीय झण्डेको छिपाकर) सन्दिग्ध जहाजोंका पीछा करें पर तलाशी लेते समय उन्हें अपना झण्डा दिखला देना होगा। यदि सन्दिग्ध जहाज इतना निकट न हो कि उससे बात की जा सके तो सिग्नल[1] के द्वारा उसे ठहरनेकी आज्ञा दी जाती है। यदि वह फिर भी न रुके तो एक गोला इस प्रकार दागा जाता है कि उसके ऊपरसे निकल जाय। यदि वह इतनेपर भी न रुके तो उसपर गोली चलानी होगी। ऐसी दशामें जो कुछ होता है उसे तलाशी न कहकर युद्ध कहना चाहिये। यदि जहाज रुक गया तो रणपोतका एक अफसर कुछ नाविकोंको लेकर उसके पास जाता है। पहिले वह अकेले उसपर जाता है। यदि उसके कागजोंको देखकर और उसके कप्तानसे बात करके उसे कोई सन्देह न हुआ तो वह लौट आता है, नहीं तो वह अपने नाविकोंको भी बुला लेता है और पूरी तलाशी ली जाती है। यदि सन्देहका समर्थन हुआ तो जहाजके कागज रोक लिये जाते हैं और उसके कप्तानको अपने जहाजपर ले आते हैं और उस जहाजको अपने देशके किसी ऐसे नौस्थानमें ले जाते हैं जहाँ न्यायालय हो। वहाँ जानेपर उसकी पूरी तलाशी होती है। यदि न्यायालयकी सम्मतिमें उसका पकड़ना न्याय्य हुआ तो उसे बेचकर उसका मूल्य पकड़नेवालोंको दे दिया जायगा; यदि सन्देहके निराधार न होनेपर भी पूरा प्रमाण न मिला तो उसे छोड़ देते हैं पर यदि सन्देह निराधार ठहरा तो उसे क्षति-पूर्तिके लिए रुपया मिल सकता है।

१ सिग्नल कई प्रकारसे किया जाता है। साधारणतः झण्डे या प्रकाशके सांकेतिक चिन्होंसे काम लेते हैं। आजकल बे-तारसे भी यह काम लिया जाता है।

तलाशीका अधिकार आवश्यक है पर आजकल इससे बड़ी अड़चन पड़ती है। एक-एक जहाजपर करोड़ों रुपयेका माल लदा रहता है। ऐसे जहाजोंको किसी उपयुक्त नौस्थानमें ले जाने, वहाँ सारा माल उतारने और फिर लादनेमें कई दिन लग जाते हैं, जहाजवालोंका सहस्रों रुपया बिगड़ जाता है और जिन लोगोंका माल होता है उनकी भारी क्षति होती है। ऐसी बातोंसे आपसका मन-मुटाव बढ़ता है। कुछ लोगोंका यह प्रस्ताव था कि जिन तटस्थ असैनिक जहाजोंके साथ उनके राजके सैनिक जहाज हों उनकी तलाशी न ली जाय, अर्थात् सैनिक जहाजका साथ होना इस बातका प्रमाण मान लिया जाय कि उस जहाजकी कोई कार्यवाही नियमविरुद्ध नहीं है। पर इस परामर्शके अनुसार काम नहीं हो सकता क्योंकि यह असम्भव है कि सब व्यापारिक जहाजोंके साथ रणपोत भेजे जा सकें। एक सम्मति यह है कि तटस्थ राज असन्दिग्ध जहाजोंको सर्टिफिकेट दे दिया करें और शत्रुओंके रणपोत इन राजकीय सर्टिफिकेटोंको प्रमाण मानकर तलाशी न लें। यह प्रस्ताव अधिक सम्भव है पर अभी इस विषयमें कुछ दृढ़ निश्चय नहीं हुआ है।

जिन जहाजोंके विषयमें यह सन्देह होता है कि यह डकैतोंके जहाज हैं उनकी तलाशी लेनेका सदैव सभी राष्ट्रोंके जहाजोंको अधिकार है। यदि तलाशी लेनेपर जहाज सचमुच डकैत ठहरे तब तो ठीक ही है, पर यदि सन्देह झूठा निकला तो बड़ी अड़चन पड़ती है। क्षमा माँगनी पड़ती है, क्षति-पूर्तिके लिए रुपया देना होता है, फिर भी कुछ मनमुटाव बना ही रहता है।

जहाजके कागज

ऊपर जहाजके कागजोंका कई बार उल्लेख हुआ है। भिन्न भिन्न देशोंके विधान इस विषयमें एकसे नहीं हैं पर अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार प्रत्येक जहाजपर ऐसे कागज (बही-खाता या रजिस्टर) होने चाहिये जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात हो सके कि जहाज किस देशका है, उसका स्वामी कौन है, उसपर कितना, किस-किस प्रकारका और किस किसका माल लदा है और वह कहाँसे कहाँ जानेवाला है। उसके कप्तान और अन्य अफसरोंके नामों तथा नाविकोंके नामोंकी सूची होनी चाहिये और यदि जहाज किसीके हाथ किसी प्रकार हस्तान्तरित किया गया हो तो इसका भी पूरा पूरा प्रमाण होना चाहिये। यदि किसी जहाजके कागज पूरे न हों या ठीक तरहसे न लिखे हों या झूठे हों या बिगाड़े गये हों या छिपा दिये गये हों या जान-बूझकर फेंक दिये गये हों तो उसके ऊपर अगत्या सन्देह होता है।

अपहृत सम्पत्तिको डुबा देना

जहाँतक हो सके सन्दिग्ध और पकड़े हुए जहाजोंको किसी ऐसे नौस्थानमें ले जाना चाहिये जहाँ उपयुक्त न्यायालय उनके विषयमें निर्णय कर सके; पर कभी-कभी ऐसा करना असम्भव हो जाता है। आत्मरक्षा इस बातके लिए विवश करती है कि रोका हुआ जहाज डुबा दिया जाय। यदि वह जहाज शत्रुदेशीय है तो विशेष अड़चन नहीं पड़ती परन्तु यदि वह तटस्थदेशीय है तो कई बातोंपर ध्यान रखना पड़ता है। जहाजके कागजोंको तथा अन्य ऐसी चीजोंको जिनको उसका कप्तान स्वपक्षपोषक समझे सुरक्षित करके रख लेना होता है और जितना शीघ्र हो सके किसी उपयुक्त न्यायालयके सामने उपस्थित करना होता है। वहाँ पहिले इस प्रश्नपर विचार होता है कि वस्तुतः डुबानेकी आवश्यकता थी या नहीं। यदि रणपोत इस बातका प्रमाण न दे सके तो उसे जहाजके लिए पूरा हर्जाना देना पड़ता है। यदि यह बात सिद्ध हो गयी तब फिर कागजों और अन्य प्रमाणोंके आधार-पर यह देखा जाता है कि उसका जब्त करना न्याय्य था या अन्याय्य। यदि न्याय्य सिद्ध हुआ तो ठीक ही है नहीं तो उस जहाजके स्वामियोंको क्षतिपूर्तिस्वरूप रुपया मिलता है और जिन लोगोंका

माल डूब गया रहता है उनको भी मालका मूल्य मिलता है[१]। इन नियमोंका प्रतिफल यह है कि रणपोतोंके अध्यक्ष संकट पड़नेपर सन्दिग्ध तटस्थ जहाजोंको डुबानेके स्थानमें छोड़ देना अधिक पसन्द करते हैं।

ऊपर हम कई स्थलोंमें उपयुक्त न्यायालयोंका उल्लेख कर आये हैं। ऐसे न्यायालयोंकी आवश्यकता स्पष्ट ही है। यदि केवल शत्रु-सम्पत्तिका प्रश्न हो तो वह चुपकेसे जब्त भी कर ली जाय पर तटस्थोंकी सम्पत्तिके सम्बन्धमें भी प्रश्न उठते हैं। इनका निर्णय रणपोतोंके कप्तानोंके ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता। इसके साथ ही साधारण न्यायालयोंमें भी ऐसे निर्णय सुगमतासे नहीं हो सकते। उन न्यायालयोंके पास एक तो यों हीं बहुत काम रहता है, दूसरे उनकी प्रणाली ऐसी होती है कि साधारण नियमोंमें महीनों लग जाते हैं। इसलिए प्रत्येक राज युद्ध आरम्भ होते ही कई विशेष न्यायालय स्थापित करता है। यह न्यायालय ऐसी जगह खोले जाते हैं जहाँ रणपोत आदि शत्रु-सम्पत्ति-अपहर्ताओंको सुविधा हो। शत्रुसे छीनी हुई सम्पत्तिको 'प्राइज' (अपहृत सम्पत्ति)[२] और ऐसे न्यायालयोंको 'प्राइज कोर्ट' (अपहृत सम्पत्ति सम्बन्धी न्यायालय)[३] कहते हैं। इनके अध्यक्ष अर्थात् न्यायाधीश अन्ताराष्ट्रिय विधानके ज्ञाता होते हैं और उसीके अनुसार अभियोगोंका निर्णय करते हैं। उनको अपनी सरकारके बनाये हुए युद्धकालीन विशेष नियमोंपर भी ध्यान रखना पड़ता है पर उनका मूल आधार अन्ताराष्ट्रिय विधान ही होता है। इस सम्बन्धमें संयुक्तराज (अमेरिका) की नीति सबसे उत्तम है। उसने स्पष्ट शब्दोंमें यह घोषित कर दिया है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान सर्वोपरि है और जो राष्ट्रीय विधान उसके प्रतिकूल होंगे वह मान्य न होंगे।

न्यायालय

यह न्यायालय कितने ही निष्पक्ष क्यों न हों परन्तु इनसे सब पक्षोंको पूर्ण सन्तोष होना कठिन है। न्यायाधीश और रणपोतकी राष्ट्रियता एक ही होती है। इसलिए १९०७ में हेगमें एक अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयकी व्यवस्था हुई। उसके लिए नियम भी बनाये गये पर अभी वह कार्यरूपमें परिणत न हो सके। इसलिए इस सम्बन्धमें कुछ विशेष लिखना अनावश्यक है।

अन्ताराष्ट्रिय प्राइज कोर्ट[४]

---

१ यह स्मरण रखना चाहिये कि हर्जानेका रुपया रणपोतका स्वामी राज देता है, पोतके अफसर या नाविक नहीं।

२ Prize.

३ Prize Court.

४ International Prize Court.

(झ) शत्रु-देशके निवासियोंको स्वदेशके विरुद्ध युद्धमें भाग लेनेके लिए विवश करना चाहे युद्धके पहिले यह लोग उसके (अर्थात् शत्रुके) यहाँ नौकर भी रहे हों, और

(ञ) अधिकृत प्रदेशोंके निवासियोंको अपने देशकी सेना या रक्षाके उपायोंके सम्बन्धकी गुप्त बातें खोलनेके लिए विवश करना ।

यह नियम बहुत ही उदार हैं पर इनके साथ एक ऐसी वस्तु लगी हुई है जो इनके पूर्ण प्रयोगको कभी-कभी रोक देती है । 'सैनिक आवश्यकता'का ठीक-ठीक अर्थ करना कठिन है । इसका निर्णय तात्कालिक ही होता है और बहुधा स्थानीय सेनापतियोंके हाथमें होता है । इसलिए ऐसा स्यात् ही कोई युद्ध होता होगा जिसमें इनमेंसे कुछ या सबकी अवहेलना न होती हो । पहले महासमरमें भी इसके कई उदाहरण मिले । जर्मन सरकारने अपने सेनापतियोंको यह निर्देश कर रखा था कि शत्रुकी न केवल सैनिक किन्तु नैतिक और मानसिक शक्ति भी नष्ट कर दी जाय ताकि उसकी सिर उठानेकी सामर्थ्य ही जाती रहे । इसीलिए अधिकृत प्रदेशोंमें प्रजापर भाँति-भाँतिके अमानुषिक अत्याचार किये गये ।

जिन नगरों, गृहसमूहों और ग्रामोंमें किसी प्रकारकी किलाबन्दी न हो उनपर न तो आक्रमण हो सकता है, न अग्निवर्षा की जा सकती है, न उनका घेरा किया जा सकता है । १९०७ की हेग-नियमावलीमें यह बात स्पष्ट शब्दोंमें लिख दी गयी है कि अग्निवर्षा करनेके घेरा और बमबारी किसी साधनसे काम नहीं लिया जा सकता । यदि यह नियम न होता तो वायुयानों द्वारा बम गिराये जा सकते । कहा जाता है कि गत महासमरमें जर्मनोंने इस नियमकी अवहेलना करके ब्रिटेनके कई नगरोंपर वायुयानोंसे बम गिराये । जो नगर सुरक्षित हों अर्थात् जिनमें किले हों उनपर आक्रमण हो सकता है और बमवर्षा की जा सकती है, परन्तु ऐसा करनेके पहिले नगरके स्थानीय अधिकारियोंको सूचना दे देनी चाहिये (परन्तु यदि धावा मारकर कब्जा करनेका विचार हो तो बिना सूचना दिये भी आक्रमण किया जा सकता है) और यथासम्भव उपासना, कलाकौशल, शिक्षा, चिकित्सा आदि धर्मसम्बन्धी इमारतोंको बचाना चाहिये । ऐतिहासिक स्मारक भी सुरक्ष्य इमारतोंमें परिगणित हैं । नागरिकोंको भी चाहिये कि ऐसे स्थानोंपर किसी विशेष प्रकारका झण्डा या अन्य दूरसे देख पड़नेवाले परिचायक चिह्न लगा दें और आक्रामक सेनाको उस चिह्नकी सूचना दे दें । कभी-कभी युद्धकारी सेनाएँ एक दूसरीके साथ इससे भी अधिक उदारता दिखलाती हैं । १८९९ में बोअर सेना लेडीस्मिथको घेरे पड़ी थी । उसने अंग्रेज सेनापतिको कहला भेजा कि तुम अपने रोगियों और आहतोंको इण्टोम्बी (जो किलेके बाहर परन्तु नगरकी परिधिके भीतर था) भेज दो, उसपर गोलाबारी न की जायगी । ऐसा ही किया गया । न केवल रोगी और आहत किन्तु स्त्रियों और बच्चोंको भी वहीं भेजनेकी अनुज्ञा मिल गयी । १८७० में जर्मन सेना स्ट्रास्बर्गपर आक्रमण कर रही थी । वह उसे धावा करके लेना चाहती थी । अतः फ्रेञ्च अधिकारियोंके पास कहला दिया गया कि जो स्त्री-बच्चे और सेनासे सम्बन्ध न रखनेवाले पुरुष चाहें नगरके बाहर चले जायँ, जर्मन सेना उन्हें बेरोक-टोक जाने देगी । ऐसा ही किया गया परन्तु उसी युद्धमें पैरिसवालोंको जर्मनोंने यह सुविधा न दी । वह जानते थे कि धावा करके पैरिसको जीतना सुकर न होगा अतः वह उसे घेरकर बैठ गये और किसीको भी बाहर न जाने दिया ताकि भूखसे पीड़ित होकर लोग आत्मसमर्पण कर दें ।

तटवर्ती नगरों, ग्रामों और इमारतोंके लिए भी यही नियम हैं । यदि उनमें किसी प्रकारकी किलाबन्दी न हो तो उनपर आक्रमण करना या बम गिराना निषिद्ध है । पर इस नियमके दो

अपवाद हैं। यदि उनमें शस्त्रागार हों या रणपोत हों या ऐसे कल-कारखाने हों जो सैनिक काममें लगाये जा सकते हों तो शत्रुका नौबलाध्यक्ष[१] कह सकता है कि उन्हें एक नियत अवधिके भीतर स्वयं नष्ट कर दो। यदि उसका निर्देश न माना जाय तो अवधि बीतनेपर वह उन्हें नष्ट करनेके लिए गोलाबारी कर सकता है। इसके लिए पहिलेसे सूचना देना न देना उसकी इच्छापर निर्भर है। यदि गोलाबारी हो तो यथासम्भव धार्मिक और ऐतिहासिक इमारतोंको बचाना चाहिये। नागरिकोंको भी चाहिये कि ऐसी इमारतोंपर परिचायक चिह्न लगा दें। चिह्नके लिए यह निश्चय हुआ है कि बड़े-बड़े चौड़े चौखूँटे तख्ते खड़े कर दिये जायँ जो बीचमें रेखा खींचकर दो त्रिभुजोंमें विभक्त हों। इनमें ऊपरका त्रिभुज काला और नीचेका श्वेत रंगका होना चाहिये। दूसरा अपवाद यह है कि यदि उन तटवर्ती स्थानोंसे सेना या रणपोतके कामके लिए खाने पीनेकी आवश्यक सामग्री माँगी जाय और वह मूल्य (या रसीद) पानेपर भी देनेसे इनकार करें तो उनपर गोलाबारी की जा सकती है।

तोपोंसे कैसे गोले बरसाये जायँ, इस विषयमें भी बहुत विचार हुआ है। यह स्मरण रखना चाहिये कि लक्ष्य केवल इतना है कि सिपाही उस युद्धमें फिर भाग न ले सकें। मनुष्योंका निरर्थक उत्पीड़न किसी सभ्य राजका अभीष्ट नहीं हो सकता। इसलिए पहिले ऐसे गोलोंका प्रयोग निषिद्ध हुआ जिनमें कीलें, बटन, काँचके टुकड़े, चाकुओंके फल आदि शरीरको फाड़नेवाली वस्तुएँ भरी हों। ऐसे बड़े गोले जो गिरनेपर फूटते हैं, काममें लाये जा सकते हैं पर फूटनेवाले छोटे गोले जो तौलमें सात छटाँकसे कम हों, प्रयुक्त नहीं हो सकते। ऐसे छोटे गोले शरीरको सदैवके लिए बेकाम कर देते हैं। तेजाब भरी गोली नहीं छोड़ी जा सकती। ऐसी गोलियाँ भी जो शरीरसे टकरानेपर चिपटी हो जाती हैं या अवयवोंको छेद डालती हैं, निषिद्ध हैं।

गोले-गोलियाँ

इनमेंसे कुछ नियम ऐसे हैं जो स्पष्ट शब्दोंमें सर्वसम्मत नहीं हैं पर यह निश्चय है कि इनमेंसे सभी आदरणीय हैं और इनमेंसे किसी एककी अवहेलना करना न्यूनाधिक असभ्यता और बर्बरताका ही सूचक समझा जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि पाश्चात्य देश अपनेको सभ्यताका ठेकेदार समझते हैं परन्तु उनके समता-सिद्धान्त सबके लिए नहीं होते। संयुक्त राज और ब्रिटेन फटनेवाली गोलियोंके तो विरुद्ध हैं पर चिपटी हो जानेवाली गोलियोंको बुरा नहीं समझते। इनमें भी संयुक्त राजका यह मत है कि असभ्य राष्ट्रोंसे, जो स्वभावतः निर्भय होते हैं और प्राणोंकी परवाह न करके धावा मारते हैं, युद्ध करते समय तो ऐसी गोलियोंका चलाना सर्वथा क्षम्य है।

शत्रुके प्रदेशको उजाड़ डालना और नगरों, ग्रामों और मकानोंको नष्ट-भ्रष्ट करना या जला डालना भी निषिद्ध है। यदि शत्रु इन स्थानोंसे आक्रमणकारी सेनापर गोली चलाये या बिना इन्हें नष्ट किये सेनाका आगे बढ़ना ही असम्भव हो तो ऐसी दशामें ऐसा करना क्षम्य हो सकता है।

विनष्टि

यदि कोई राष्ट्र आत्मरक्षाके लिए अपने देशको उजाड़ कर दे तो उसे कोई बुरा नहीं कह सकता प्रत्युत इस त्यागकी सर्वत्र प्रशंसा होगी। स्पेनसे स्वतन्त्र होनेके प्रयत्नमें डच लोगोंने बाँध तोड़कर अपने देशका बहुत बड़ा प्रदेश समुद्रके नीचे डुबा दिया। रूसवालोंने नैपोलियनको रोकनेके लिए सुविशाल मास्को नगरको भस्मसात् कर डाला। महाराणा प्रतापने मेवाड़को

१ Naval Commander.

उजाड़कर मुगल सेनाओंका आगे बढ़ना रोका था। पिछली लड़ाईमें इसी साधनसे काम लेकर रूसने जर्मन सेनाकी बाढ़ रोकी थी।

विषका प्रयोग प्राचीन कालमें बहुत होता था। अब भी जंगली जातियाँ विषैले बाणोंसे काम लेती हैं परन्तु सभ्य राष्ट्रोंमें विषाक्त शस्त्रोंका प्रयोग सर्वथा निषिद्ध है। शत्रुकी बढ़ती सेनाके मार्गमें पड़नेवाले तालाबों और कुओंमें विष डाल देना या कुओंके द्वारा अथवा किसी अन्य प्रकार शत्रुसेनामें प्लेग, विसूचिका, शीतला, कुष्ठ आदि किसी अन्य प्रकारके रोगको फैलाना भी निषिद्ध है।

विष

१९०७ में यह भी निश्चय हुआ था कि ऐसी गोलियोंसे काम न लिया जाय जिनमें ऐसे वाष्प (गैस) भरे हों जिनसे लोग बेहोश हो जायँ या मर जायँ। संयुक्तराजने इस शर्तको स्वीकार नहीं किया।

यह बातें अब पुरानी-सी हो चली हैं। दोनों महायुद्धोंके बीचमें ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार हुए जिनका पहिले कोई स्वप्न भी नहीं देख सकता था। भयानक गैसें निकलीं जो मनुष्यको बेकाम कर देती हैं। इनसे यूरोपमें तो काम नहीं लिया गया परन्तु इटलीने अबिसीनियन सेनापर प्रयोग किया, किसी सभ्यम्मन्य पाश्चात्य देशने चूँ न किया।

परमाणु-बमके आगे सभी शस्त्रास्त्र नगण्य हो गये हैं। यह स्मरण रखनेकी बात है कि इसका प्रहार जर्मनी या इटलीपर नहीं हुआ। जापान बुरा था पर एशियाका राष्ट्र था। उसीको इसका शिकार बनाया गया। यह स्पष्ट ही है कि हिरोशिमा और नागासाकीपर परमाणु-बम गिराकर धन-जनकी जो विनष्टि की गयी वह नियमावलीकी किसी भी धारामें नहीं समा सकती। आज परमाणु बमसे भी भयानक हाइड्रोजन बम बन गया है। और न जाने कैसे-कैसे गुप्त और विनाशक अस्त्र बने होंगे। यह भी शिकायत बराबर सुननेमें आती है कि विभिन्न देशोंमें रोग फैलानेवाले कीड़े तैयार किये जा रहे हैं। कोरियाके युद्धमें इनके प्रयोग किये जानेका आरोप चीन और अमेरिका दोनोंने एक दूसरेपर किया।

स्थल और जल-युद्धके समान वायुयुद्धके लिए अभीतक नियम बने भी नहीं हैं। यों तो प्रत्येक युद्धमें कुछ लोग नियमोंको तोड़ते हैं। यह प्रायः सेनाकी छोटी-बड़ी टुकड़ियोंके अफसर होते हैं जो तात्कालिक आवश्यकताके आगे सब कुछ भूल जाते हैं या अपने कठोर स्वभावपर नियंत्रण नहीं कर पाते। यदि शत्रुके हाथ पड़ जायँ तो इनको दण्ड भी दिया जाता रहा है और यदि स्वयं इनके बड़े सेनापतियों या सरकारोंको इस बातका पुष्ट प्रमाण मिल जाता था तो वह भी ऐसे आचरण-का प्रोत्साहन नहीं करती थीं। पिछले युद्धमें ब्रिटेन और फ्रांसकी ओरसे यह कहा गया कि यदि हम जीत गये तो जर्मन सम्राट् कैसरको फांसी देंगे। लॉयड जार्ज इसी नारेके बलपर चुनाव जीत गये। परन्तु हुआ कुछ नहीं। कैसर हॉलैण्ड चले गये, किसीने हॉलैण्डपर दबाव नहीं डाला कि उन्हें लौटा दिया जाय।

इस बार दूसरी बात हुई। महासमरके उपरान्त बहुत लोगोंपर युद्धापराधी होनेके मुकदमे चले। अपराधियोंमें बहुत बड़े बड़े सेनापति थे। इतना ही नहीं, ऐसे बहुतसे प्रमाण मिले कि युद्ध छिड़नेके पहिलेसे ही जर्मन और जापानी सरकारोंने तय कर लिया था कि विजित प्रान्तोंमें कैसा व्यवहार किया जायगा। केवल शत्रुको हराना लक्ष्य नहीं था वरन् यह प्रयास था कि शत्रुका देश इतना उजड़ जाय और उसकी प्रजा इतनी भयभीत हो जाय कि फिर पीढ़ियोंतक सिर न उठा सके। इसलिए इस बार राजोंके बड़े अधिकारी, मंत्री और राजदूत भी अपराधियोंमें सम्मिलित किये

गये। न्यायालय निष्पक्ष नहीं थे। विजेताओंने ही उन्हें स्थापित किया था। फिर भी ऐसा मानना चाहिये कि इस बातपर प्रकाश पड़ा है कि युद्धकालमें कौनसे काम अकरणीय हैं। इससे यह भी आशा करनी चाहिये कि भविष्यत्‌में कोई निषेधकी सीमाका उल्लङ्घन करनेका साहस न करेगा।

दो अदालतें बनायी गयीं। एक तो न्यूरेम्बर्गमें जर्मन अपराधियोंके लिए, दूसरी जापानियोंके लिए। फैसलाके फलस्वरूप बहुत-से ऊँचे अधिकारियोंको सपरिश्रम कारावास, आजीवन कैद और फाँसीका दण्ड मिला। यदि हिटलर मिला होता तो निश्चय उसको भी न्यायालयमें आना पड़ता, राजनीतिक चालें यहाँ भी काम कर रही थीं। अमेरिकाकी यह इच्छा नहीं थी कि जापान एकदम नष्ट हो जाय। उसको यह खयाल हो गया था कि रूससे लड़ानेके लिए स्यात् जापानको तैयार करना पड़े। इसलिए किसीसे कम अपराधी न होते हुए भी जापानके सम्राट् छोड़ दिये गये।

अस्तु दोनों न्यायालयोंको एकएक अधिकारपत्र (चार्टर) दिया गया। दोनों चार्टर एकसे ही थे। अपराधियोंको वकील करनेका अधिकार था और वह अपनी भाषासे काम ले सकते थे।

अपराध तीन प्रकारके थे—

(क) शान्तिके विरुद्ध अपराध—आक्रमणकारी युद्ध करना, उसके लिए पहलेसे आयोजन और तैयारी करना, और इन कामोंके लिए दूसरोंसे मिलकर षड्यन्त्र रचना।

उदाहरणके लिए, जो कागज जर्मनीमें पकड़े गये उनसे यह सिद्ध हो गया कि एक ओर तो जर्मनीने रूससे मैत्री कर रक्खी थी, दूसरी ओर वह उसपर आक्रमणकी योजना बना रहा था, इसी प्रकार जापान अमेरिकासे मीठी मीठी बातें कर रहा था और वहाँ विशेष राजदूत भेज रक्खा था, उधर वह सहसा लड़ाई छेड़ देनेकी तैयारी कर रहा था।

(ख) साधारण सामरिक अपराध—लड़ाईके सर्वसम्मत नियमोंकी अवहेलना, जैसे रण-बन्दियोंके साथ दुर्व्यवहार, विजित प्रदेशोंकी जनताके साथ दुर्व्यवहार, प्रतिभुवोंको मारना, सरकारी या निजी सम्पत्तिका लूटना, नगरों, ग्रामों या कस्बोंकी अकारण बरबादी, सैनिक आवश्यकताके बिना ही विनष्टि इत्यादि।

(ग) मानवताके विरुद्ध अपराध—विजित प्रान्तोंकी जनताकी हत्या, बड़ी संख्याओंमें नर-संहार, गुलाम बनाना, पकड़कर अन्यत्र भेज देना या किसी विशेष जाति या धर्म्मके व्यक्तियोंका उत्पीडन।

किसी अभियुक्तको अपनी सफाईमें यह कहनेका अधिकार नहीं था कि मैं अपने अफसरोंकी आज्ञा या सरकारी आदेशके अनुसार काम कर रहा था। जो काम मानवताके प्रतिकूल है वह किसी प्रकार क्षम्य नहीं हो सकता।

राष्ट्रिय जीवनमें युद्धका भी स्थान है। वह जीवनकी अनिवार्य्य विपत्तियोंमेंसे है। ऐसी परि-स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसमें किसी राष्ट्रको ऐसा लगे कि अब युद्धके सिवाय कोई और गति नहीं है। ऐसा सोचना भूल हो पर भूल क्षम्य हो सकती है। परन्तु संकल्पपूर्वक दूसरोंकी स्वतन्त्रता नष्ट करना, अपनी भलाईके लिए दूसरोंसे छेड़कर झगड़ा मोल लेना और उनको क्षति पहुँचाना बहुत बुरा है। जर्मनीके विरुद्ध यह बड़ा आरोप था कि उसके शासकोंने यही नीति बरती। आस्ट्रिया, पोलैण्ड और जेकोस्लोवाकियापर केवल राज्य वृद्धिके उद्देश्यसे आक्रमण किया। हिटलरने अपनी पुस्तक आइन काम्फमें स्पष्ट लिखा है—

'जिस भूमिपर हम आज बसे हैं उसको ईश्वरने हमारे पूर्वजोंको भेंटमें नहीं दिया था। उन्होंने अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर उसे जीता था। इसी प्रकार भविष्यमें भी हमको राज्य और

जीवनके साधन किसी दूसरे राष्ट्रकी कृपासे नहीं मिल सकते। हमको यह चीजें विजयी तलवारकी शक्तिसे जीतना होगा।' इस नीतिका अवश्यम्भावी परिणाम युद्ध ही हो सकता था। जापानने कोरिया और चीनमें जो नीति कई बरसोंसे बरत रखी थी वह भी यही सिद्ध करती थी कि उसका एकमात्र उद्देश्य इन देशोंकी स्वाधीनताको खतम कर देना है।

मुकदमोंमें जो लोग प्रतिवादी बनाये गये उन सबकी ओरसे यह कहा गया कि अबतक ऐसा कोई कानून नहीं था कि दूसरे देशपर आक्रमण करना अपराध है, न कहीं आक्रमण या आक्रमणात्मक युद्धकी प्रामाणिक परिभाषा दी हुई है। यदि यह सब कुछ अपराध होता तो इसके लिए किसी दण्डका विधान होता और दण्ड देनेके लिए कोई न्यायालय बनाया गया होता। किसी-को गिरफ्तार करके तब कानून बनाना और नये कानूनके अनुसार दण्ड देना विधान शास्त्रके सर्वथा प्रतिकूल है। इस तर्कमें इतना तथ्य तो है कि न कहीं परिभाषा दी गयी है, न दण्डका विधान है न कोई न्यायालय बनाया गया था। परन्तु यह आपत्ति तो उस युद्ध नियमावलीपर भी उठायी जा सकती है जो १९०७ में स्वीकृत हुई थी। सभी राष्ट्र उसे मानते हैं और सबके मानते ही उसे कानूनका पद दे दिया है।

हम केलॉग-ब्रियाँ समझौतेका जिक्र कर चुके हैं। जिन ६३ राष्ट्रोंने उसका समर्थन किया था उसमें जर्मनी, इटली और जापान भी थे। उसमें स्पष्टरूपसे यह कहा गया था कि आपसके झगड़े शान्तिमय उपायोंसे ही निपटाये जायँगे। इसके अतिरिक्त २४ सितम्बर १९२७ को राष्ट्रसंघकी महा-सभाकी बैठकमें, जिसमें जर्मनी, इटली और जापानके प्रतिनिधि उपस्थित थे, आक्रमणात्मक युद्धोंके सम्बन्धमें एक मन्तव्य स्वीकृत हुआ था। उसकी भूमिकामें कहा गया है कि 'इस महासभाको इस बातका विश्वास है आक्रमणात्मक युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विवादोंके निपटानेका साधन नहीं बन सकता है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है।' यह भाषा पूर्णतया स्पष्ट है। इसमें अपराधका शब्द आया है और जब विभिन्न राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंने सर्वसम्मतिसे इसे स्वीकार किया तो उन्होंने आक्रमणात्मक युद्धका कोई अर्थ तो समझा ही होगा। उनकी सम्मतिमें यह अर्थ इतना सुबोध रहा होगा कि परिभाषाकी आवश्यकता ही नहीं थी। ऐसी दशामें यह तर्क कि इस प्रकारका युद्ध अबतक अपराध नहीं माना गया था टिक नहीं सकता था, ऐसी आशा करनी चाहिये कि भविष्यमें ऐसी घटनाएँ कम ही होंगी।

दसवाँ अध्याय

युद्धके उपकरण

वह सब साधन जिनके द्वारा युद्धमें विजय प्राप्त हो सकती है, युद्धके उपकरण हैं। उपकरण दो प्रकारके होते हैं, सजीव और निर्जीव। वह मनुष्य (और पशु) जो सेनाओंके अङ्ग होते हैं, सजीव और जहाज, तोप, बन्दूक इत्यादि निर्जीव उपकरण हैं। कुछ उपकरणोंका प्रयोग वैध और कुछका अवैध माना जाता है, यहाँ हमको इसीपर विचार करना है। विचार करते समय हम पशुओं तथा रसद पहुँचानेवाले मनुष्यों, चिकित्सकों, दाइयों, धर्माचार्यों, रेलगाड़ियों, खच्चरों इत्यादि सजीव या निर्जीव उपकरणोंकी ओर ध्यान न देंगे यद्यपि यह सब परमोपयोगी उपकरण हैं। विचार न करनेका कारण यह है कि यह सभी सेनाओंमें पाये जाते हैं और इनकी वैधताके विषयमें कोई प्रश्न नहीं उठता।

सेना—नियमित, आपत्कालिक और सहायक

सेना बिना युद्ध हो ही नहीं सकता इसलिए सेना तो सर्वत्र ही वैध है। इस परिभाषाके अन्तर्गत तीन प्रकारके सैनिक-समूह आते हैं—नियमित, आपत्कालिक और सहायक। नियमित[१] सिपाही तो वह हैं जो वर्त्तमान समयमें पूर्ण वेतनपर सेनामें काम कर रहे हैं। बहुधा देशोंमें यह नियम होता है कि सिपाहियोंको कुछ वर्षोंतक सेनामें काम करनेके पीछे छुट्टी मिल जाती है। वह अपने घर चले जाते हैं और उनकी जगह दूसरे भर्ती कर लिये जाते हैं। जो सिपाही घर रहते हैं उन्हें प्रायः वेतन नहीं मिलता पर उनसे यह शर्त रहती है कि युद्ध छिड़नेपर तुम्हें नियमित सेनाके साथ काम करना होगा। ऐसे सिपाहियोंको आपत्कालिक[२] कहते हैं। काम करते समय इन्हें भी पूर्ण वेतन मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी देशोंमें स्वयंसेवकों[३]की भाँति काम करनेवाले लोग होते हैं। यह अपनी इच्छासे कवायद करते हैं यद्यपि सरकार इनकी पूरी सहायता करती है। देशपर कोई भारी विपत्ति पड़नेपर यह लोग भी सेनाके साथ काम करते हैं। इन्हें सहायक[४] कहते हैं।

यह सब सिपाही नियमानुसार वर्दी पहनते हैं, इनकी नियमानुसार सूचियाँ होती हैं और यह सरकारी अफसरोंके अधीन काम करते हैं। अतः यह सब वैध हैं। इसी प्रकार नौ-सेना और वायु-सेनामें काम करनेवाले भी नियमके भीतर हैं।

यदि दो देशोंमें लड़ाई हो रही हो और एकके कुछ निवासी दूसरेकी सेनामें काम कर रहे हों तो देशवालोंके हाथमें पड़नेपर उनके साथ रणबन्दियोंका-सा बर्ताव नहीं होता वरन् उन्हें देशद्रोहियोंका समुचित पुरस्कार प्राणदण्ड मिलता है। तटस्थदेशीय सैनिकोंके साथ साधारण शत्रु-सैनिकों जैसा व्यवहार होता है।

स्वदेशकी रक्षा करना प्रत्येक नागरिकका कर्त्तव्य है परन्तु जब यूरोपमें नियमित सेनाओंकी

---

१ Regular Troops.

२ Reserves.

३ Volunteers

४ Auxiliaries

अनियमित सैनिक

वृद्धि हुई तो बड़े राज, जिनके पास बहुत सेनाएँ थीं, इस बातका आग्रह करने लगे कि सिवाय नियमित और आपत्कालिक तथा सहायक सेनाओंके और कोई युद्धमें भाग न ले। छोटे राज, जिनकी रक्षा उनकी जनताके देशप्रेमपर ही निर्भर थी, इसके विरोधी थे। अन्तमें १९०७ में हेगमें छोटे राजोंकी बात मान ली गयी और यह निश्चय हुआ कि अनियमित सैनिकोंको भी सैनिकोंके सब स्वत्व प्राप्त होंगे। जब किसी देशपर आक्रमण होता है तो कुछ देशभक्त लोग स्वभावतः उसकी रक्षाके लिए उत्सुक होकर शत्रुका मार्ग रोकना चाहते हैं, चाहे उनकी सरकार उनसे ऐसा करनेका अनुरोध करे या न करे और उन्हें किसी प्रकारका प्रोत्साहन और साहाय्य दे या न दे। यह लोग यथाशक्ति आप ही अपने शस्त्रादि संग्रह करते हैं। देशका कोना कोना इनका देखा रहता है और इनकी छोटी-छोटी टुकड़ियाँ होती हैं, नियमित सेनाओंकी भाँति भारी साज-सामान साथ होता नहीं इसलिए तार काटने, पुल तोड़ने, रसद लूटने, छापा मारने, सामाचार पहुँचाने आदिके कामोंको ये लोग बड़ी उत्तमतासे कर सकते हैं। ऐसे सैनिकोंको ये लोग अनियमित सैनिक[1] कहते हैं। ऐसे सिपाहियोंको कावाबाज भी कहते हैं। एक बड़ी शर्त यह है कि जब यह लोग शस्त्र ग्रहण करें तो फिर युद्धके अन्ततक यही काम करें। यह ठीक नहीं है कि कभी तो सिपाही बनकर शत्रुसे लड़ें और कभी शान्तिमय कृषक बनकर तदधिकृत प्रदेशमें निवास करें।

हेगमें ऐसे सैनिकोंके लिए चार शर्तें रखी गयी हैं। उनका पालन करनेसे इनके साथ सभ्य सैनिकवत् बर्ताव हो सकता है। शर्तें यह हैं—

(क) प्रत्येक टुकड़ी किसी दायी अध्यक्षके अधीन हो।

(ख) ऐसी वर्दी पहिनती हो जो दूरसे पहचानी जा सके।
('दूरसे' का तात्पर्य उतनी ही दूरीसे है जितनी दूरीपरसे सामान्य सैनिकोंकी वर्दियाँ पहिचानी जा सकती हैं।)

(ग) खुलकर शस्त्र धारण करें। (इसका तात्पर्य यह है कि यह लोग निरन्तर युद्ध-सम्बन्धी ही काम करें।)

(घ) युद्ध-सम्बन्धी सब अन्ताराष्ट्रिय नियमोपनियमोंका पालन करें।

जानपद-समारोह

यदि थोड़ेसे मनुष्योंको स्वदेश-रक्षाका अधिकार है तो बहुतसे मनुष्योंको भी स्वभावतः यह अधिकार है। जिन देशोंमें स्वदेशभक्त प्रजा रहती है उनपर यदि कोई शत्रु आक्रमण करे तो प्रजा अपनी रक्षाके लिए आप उठ खड़ी होती है। कभी-कभी सरकार ही ऐसी आज्ञा निकाल देती है कि अमुक-अमुक वयके सब स्वस्थ पुरुष शत्रुका सामना करनेके लिए तत्पर हो जायँ। ऐसी दशामें शत्रुको लाखों या करोड़ों देशभक्त सैनिकोंका यकायक सामना करना पड़ता है। इस प्रकारके समारोहको जानपद-समारोह[2] कहते हैं। यह बहुसंख्यक सिपाही नियमित-अनियमित दोनों प्रकारके सिपाहियोंसे भिन्न होते हैं। न तो यह ठिकानेसे कवायद जानते हैं, न इनके पास उपयुक्त शस्त्रादि सामग्री ही होती है, न इनका पर्याप्त संघटन होता है, न कोई वर्दी होती है, न ठिकानेसे अफसर होते हैं। प्रायशः स्वदेशप्रेम ही इनका महास्त्र होता है। छोटे देश, जो बड़ी स्थायी सेनाएँ नहीं रख सकते, ऐसे समारोहोंके भरोसे जीवित रह

१ Guerilla troops
२ Levies en masse

सकते हैं। बहुत वाद-विवादके उपरान्त यह निश्चय हुआ कि यदि ऐसे सैनिक खुलकर शस्त्र धारण करें और युद्धके नियमोपनियमोंका पालन करें तो उन्हें वैध सैनिक माना जाय।

कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब कुछ ठीक निर्णय नहीं हो सकता। रूस-जापान युद्ध (१९०५) में जापानी सेनाने सखालिएन द्वीपपर आक्रमण किया। ब्लाडिमिरौका नगरकी रक्षा बहुतसे रूसी जेलमुक्त कैदियोंने की थी। यह लोग रूसकी नियमित सेनाके सिपाही नहीं थे। इनके दलको अनियमित टुकड़ी भी नहीं मान सकते थे क्योंकि न तो इनका कोई दायी अध्यक्ष था न कोई स्पष्ट वर्दी थी। इनकी गणना जानपद-समारोहमें भी नहीं हो सकती थी क्योंकि जेलसे सद्योमुक्त होनेके कारण इनको उस प्रदेशके निवासी नहीं कह सकते थे। जापानी अधिकारी अन्ततक यह निश्चय नहीं कर पाये कि इन्हें क्या माना जाय पर उन्होंने इनमेंसे १२० को, जो उनके हाथ लग गये थे, गोली मार दी। इनका यह अपराध अवश्य था कि न तो इन्हें युद्धके नियमोंका ज्ञान था, न इन्होंने उन्हें बर्तनेकी चेष्टा की परन्तु यह बात प्रशंसाके योग्य थी कि साधारण बन्दी होते हुए भी इन्होंने ऐसी देशभक्ति दिखलायी। यद्यपि अन्ताराष्ट्रिय विधान इनके मार दिये जानेको अवैध नहीं कहता पर इनके साथ सामान्य रणबन्दियोंका-सा व्यवहार करना अधिक प्रशंसनीय होता।

यदि अधिकृत प्रदेशकी प्रजा विद्रोह करके शत्रुकी मुल्कगीरी सेनाको निकालनेका प्रयत्न करे तो उसके इस प्रकार सिर उठानेको जानपद-समारोह नहीं कहते। मुल्कगीरी सेना ऐसे विद्रोहियोंके साथ बड़ी कठोरतासे व्यवहार करती है। इसका कहीं निषेध नहीं है। इसके साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि इन लोगोंको चाहे विद्रोही या अन्य कोई बुरा नाम दिया जाय पर होते हैं यह देशभक्त। अतः जब-जब यह प्रश्न उठा तब-तब छोटे राजोंने यही आग्रह किया कि इनके साथ भी सैनिक आचरण किया जाय। बड़े राज इसपर सम्मत न थे। परिणाम यह हुआ कि हेगकी युद्ध-नियमावलीमें इस विषयका चर्चा ही नहीं है। यह निश्चय है कि अवसर पड़नेपर कोई मुल्कगीरी सेना अधिकृत प्रदेशके निवासियोंके विद्रोहको सदय दृष्टिसे न देखेगी पर इस बातको स्वीकार कर लेना अपने देशके वीर देशभक्तोंको शत्रुके हाथोंमें आप ही सौंप देनेके बराबर प्रतीत होता है, इसलिए इसे किसी नियमावली या संधि या समयपत्रपर लिखना कोई पसन्द नहीं करता। अन्ताराष्ट्रिय विधानमें बहुतसी बातें इसी प्रकार गोल रखी गयी हैं।

यूरोपवाले सिवाय गोरी जातियोंके और मनुष्यमात्रको असभ्य समझते हैं। अपने राज्योंकी वृद्धिके लिए ऐसी 'रंगीन' जातियोंके सिपाहियोंसे काम लेनेमें उन्हें तनिक भी रुकावट नहीं होती पर उन्हें छोटा कहते ही जाते हैं। आजकलकी प्रथा यह है कि यदि असभ्य[1] जातियोंके मनुष्य नियमित सेनाओंमें भर्ती किये जायँ तो उनसे काम लेना बुरा नहीं है अन्यथा जंगली और असभ्य मनुष्योंको सभ्य सैनिकोंके सामने न खड़ा किया जाय, उनसे असभ्य मनुष्योंके ही विरुद्ध काम लिया जाय। बोअर युद्धमें ब्रिटिश सरकार भारतीय सैनिकोंको भी परम सभ्य (!) बोअरोंके विरुद्ध नहीं भेजना चाहती थी पर इसके बिना काम न चल सका। गत महायुद्धमें बड़ी संख्यामें रंगीन सिपाही गोरोंसे लड़ाये गये।

जंगली और असभ्य सैनिक

जासूसोंसे[2] काम लेनेकी प्रथा बहुत पुरानी है। जो मनुष्य भेष बदलकर या धोखा देकर

१ सभ्य-असभ्य कोई निश्चित परिमापक नहीं है। यदि स्वतन्त्र बलवान् रंगीन राष्ट्र चाहें तो वह यूरोपियनोंके प्रति वैसा ही बर्ताव कर सकते हैं जैसा कि अबतक रंगीनोंके साथ होता रहा है।

२ Spies

किसी सेनाके भेदोंको इस उद्देश्यसे जाननेका प्रयत्न करता है कि उन्हें शत्रुको बतला दे वह जासूस कहलाता है। यदि कोई सिपाही खुलकर शत्रुसेनाका भेद लेता हुआ पकड़ जाय तो वह जासूस नहीं माना जाता। गुब्बारों और वायुयानोंमें उड़कर शत्रुसेनाके रहस्योंका पता लगानेवाले भी जासूस नहीं कहलाते। पकड़ जानेपर जासूसको प्राणदण्ड दिया जाता है पर यदि वह एक बार अपनी सेनामें पहुँच जानेके पीछे फिर किसी अवसर-पर पकड़ा जाय तो पुराने अपराधके लिए उसे कोई दण्ड नहीं दिया जाता।

जासूस

यद्यपि, जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, जासूसोंको प्राणदण्ड देनेकी ही प्रथा है पर सबके साथ ऐसा करना न चाहिये। जासूसोंको लोग बहुधा घृणित दृष्टिसे देखते हैं, यह भी सर्वत्र उचित नहीं है। सब जासूस एक-से नहीं होते। ऐसे भी नरपिशाच होते हैं जो अपनी ही सेनाका वृत्तान्त शत्रुको जता आते हैं पर साधारण जासूसका काम अन्य सैनिकोंकी अपेक्षा निंद्य नहीं है। ऐसे भी जासूस होते हैं जो केवल देश-प्रेमके भावसे सब प्रकारका कष्ट सहकर शत्रु-सेनामें प्रवेश करके उसका भेद लेनेका प्रयत्न करते हैं।

अब हम अजीव उपकरणोंका कुछ वर्णन करते हैं। इनमेंसे रणपोतों, वायुयानों और गुब्बारोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारका मतद्वैध नहीं है। इनका प्रयोग सर्वथा वैध है। हमें उन वस्तुओंका थोड़ा-सा विचार करना है जिनका प्रयोग गर्ह्य या अवैध समझा जाता है।

आजसे सौ डेढ़ सौ वर्ष पहिले यह प्रथा थी कि युद्ध छिड़नेपर साधारण लोगोंको, चाहे वह स्वराष्ट्रके हों या किसी तटस्थ राष्ट्रके, यह अधिकार दे दिया जाता था कि वह शत्रुके व्यापारिक जहाजोंको जहाँ अवसर पड़े, लूटें और गिरफ्तार करें और यदि बन पड़े तो उसके रणपोतोंको भी अपने वशमें लावें। ऐसे जहाजोंको कुमक-पोत[१] कहते थे और उन्हें राजसे एक विशेष परवाना[२] दिया जाता था। कुछ कालके बाद तटस्थ राष्ट्रीयोंको तो परवाना देना बन्द हो गया पर स्वराष्ट्रीयोंसे इस प्रकारका काम लिया जाता रहा। धीरे-धीरे यह प्रथा भी बन्द हो गयी। १८५४ में पैरिसमें जो अन्ताराष्ट्रिय समझौता हुआ उसमें इसका निषेध किया गया। यद्यपि उस समय कई राजोंने इस शर्तको स्वीकार नहीं किया पर तबसे आजतक किसीने इस अधिकारसे काम नहीं लिया है अतः यह मान लेना चाहिये कि अब यह प्रथा उठ गयी है।

कुमक-पोत

जिस प्रकार स्थलपर स्वेच्छासेवी सेना होती है उसी प्रकार जलपर भी हो सकती है। सबसे पहिले १८७० में जर्मनीने इस प्रकारकी सेनाको जन्म देना चाहा पर उसे सफलता न हुई। इसके सात-आठ वर्ष पीछे रूसने यह काम कर दिखाया। कुछ देशभक्तोंने मिलकर जहाज मोल लिये। शान्तिकालमें तो यह जहाज साधारण व्यापारादिका काम करते हैं पर युद्धकालमें सरकारको सौंप दिये जाते हैं। इनपर सरकार अपने अफसर रख देती है। आवश्यकता पड़नेपर सरकार अपने नाविक भी रख सकती है। शान्तिकालमें इन्हें बराबर भत्ता मिलता रहता है। ब्रिटेन आदिने यह प्रबन्ध किया है कि उनके यहाँकी कई बड़ी व्यापारिक कम्पनियाँ सरकारी नौविभागके बतलाये हुए ढंगके कई जहाज रखती हैं। शान्तिकालमें उनसे साधारण काम लिया जाता है, पर सरकार उनके लिए कम्पनीको बराबर नियत रुपया देती है।

स्वेच्छा-नौसेना[३]

१ Privateers
२ Letters of Marque.
३ Volunteer Navy.

परिणत वणिक्पोत[1]

प्रत्येक राजको यह अधिकार है कि शत्रुसे छीने हुए वणिक्-पोतोंको जब जहाँ चाहे रणपोतोंमें परिवर्तित कर डाले। इसी प्रकार उसे यह भी अधिकार है कि अपने देशके वणिक्पोतोंको रणपोतोंमें परिणत कर दे। यहाँतक तो सब मानते हैं, पर इस बातका ठीक निर्णय नहीं हो सका कि यह परिवर्तन कहाँ किया जा सकता है। अपने नौस्थानोंमें तथा अधिकृत नौस्थानोंमें ऐसा करनेसे कोई रोक नहीं सकता। यदि दो या अधिक राज एक ही पक्षमें हों तो एक दूसरेके नौस्थानोंमें भी परिवर्तन कर सकते हैं। यह भी निर्विवाद है कि किसी तटस्थ देशके नौस्थानोंमें यह काम नहीं किया जा सकता। झगड़ा खुले समुद्रके विषयमें है। ब्रिटेन तथा कुछ अन्य राज यह कहते हैं कि खुले समुद्रमें यह काम नहीं होना चाहिये। यदि हो भी तो उस राजको पहिलेसे ही इस बातकी सूचना निकाल देनी चाहिये कि हम सम्भवतः अमुक-अमुक वणिक्पोतोंको रणपोतोंमें परिवर्तित करेंगे। यदि ऐसा न किया गया तो धोखेबाजीका अवसर मिलेगा। ऐसा हुआ भी है। रूस-जापान युद्धके समय पीटरबर्ग और स्मोलेंस्क नामक दो रूसी जहाज दर्रेदानियालके द्वारा कृष्णसागरसे बाहर निकले। यदि वह रणपोतोंके रूपमें होते तो सन्धिके अनुसार तुर्की उन्हें रोक देता। खुले समुद्रमें आकर दोनों रणपोत बन गये। इसपर बहुत विवाद उठा। अन्तमें रूस सरकारने इन्हें वापस ले लिया। अस्तु, यह प्रश्न हेगमें भी कई बार उठा पर कुछ निश्चय न हो सका। यह बड़े महत्त्वका विषय है और शीघ्र ही इसका निपटारा होना चाहिये।

जलमग्न विस्फोटक[2]

पानीके नीचे विस्फोटक द्रव्योंसे काम लेनेकी प्रथा लगभग सौ सवासौ वर्षसे चल पड़ी है। यह विस्फोटक या गोला पानीके नीचे डूबा रहता है। यदि उसे किसी भारी वस्तुसे टक्कर लग जाय तो वह फूट जाता है और उस वस्तुको छिन्न-भिन्न कर डालता है। शत्रुके जहाजोंको नष्ट करनेका यह बड़ा अच्छा साधन है पर इससे तटस्थोंके जहाजोंके नष्ट होनेकी भी भारी आशंका है। १९०७ में हेगमें यह प्रश्न छिड़ा। कुछ शर्तें बनायी गयीं जिनके पालन किये जानेसे तटस्थ व्यापारियोंके जहाजोंको क्षति पहुँचनेकी सम्भावना कुछ कम हुई। वह शर्तें मुख्यतया यह हैं—

(क) खुले विस्फोटक (अर्थात् ऐसे विस्फोटक जो लंगर द्वारा एक ही जगह नहीं रखे जाते वरन् समुद्रमें इतस्ततः बहते फिरते हैं) काममें न लाये जायँ और यदि उनसे काम लेना ही हो तो उनकी बनावट ऐसी हो कि अपने प्रयोजकके हाथसे निकल जानेके एक घण्टेके बाद वह बेकाम हो जायँ।

इस नियमका तात्पर्य यह था कि ऐसे विस्फोटक खुले समुद्रमें सर्वत्र न फैल जायँ, पर नियमकी शब्दावली दूषित है। 'हाथसे निकल जाना' किसे कहते हैं? मान लीजिये कि कई-सौ विस्फोटक एक डोरसे बँधे हुए हैं और डोरका सिरा एक मनुष्यके हाथमें है। यह निश्चय है कि खुले समुद्रमें वह आदमी इनपर विशेष अंकुश नहीं रख सकता पर कहनेको अब भी यह उसके हाथमें (अंग्रेजी मूल शब्दोंमें उसके 'कण्ट्रोल' या वशमें) हैं। इस प्रकार उनसे घण्टोंतक काम लिया जा सकता है।

(ख) लंगरदार विस्फोटकोंकी बनावट ऐसी होनी चाहिये कि लंगरसे खुलते ही वह बेकाम हो जायँ।

---

१ Converted Merchantmen.

२ Submarine Mines

यह नियम भी अच्छा था पर इसके साथ एक शर्त यह जोड़ दी गयी कि जिन राजोंके पास अच्छे ढंगके विस्फोटक न हों वह अपने पुराने ढंगके विस्फोटकोंसे ही काम लें। उनसे यह तो कहा गया कि जितनी जल्दी हो सके नये विस्फोटक बनवा लें पर कोई अवधि नियत नहीं की गयी इसलिए नियमका उल्लंघन करना सरल हो गया।

(ग) वणिक्पोतोंको रोकने मात्रके उद्देश्यसे शत्रुके तटों और नौस्थानोंके पास विस्फोटक बिखेरना निषिद्ध है।

यह नियम पूर्णतया निरर्थक है। जिस राजको विस्फोटकोंसे काम लेना होगा वह यह कह देगा कि मेरा उद्देश्य वणिक्पोतोंको रोकना नहीं है। दूसरा उद्देश्य बतला देना कोई बड़ी बात नहीं है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि यह नियम अधूरे हैं। एक और नियम कहता है कि समुद्रके जिस भागमें विस्फोटक बिखेरे जायँ उसकी सूचना तटस्थोंको दे दी जाय और यथासम्भव उनकी रक्षाका प्रबन्ध किया जाय पर इसमें भी यह शर्त लगी है कि 'सैनिक आवश्यकताओंको ध्यानमें रखते हुए जितनी जल्दी सम्भव हो सके' ऐसा किया जाय। इसकी आड़में सूचना देनेका काम महीनोंतक टाला जा सकता है।

जिस समय यह सब नियम बन रहे थे उस समय सभी राजोंके प्रतिनिधियोंने इस बातको कहा था कि हमारे नौसेनाध्यक्ष सदैव मनुष्यता और अन्ताराष्ट्रिय सौजन्यको ध्यानमें रखेंगे पर यूरोपियन महासमरने सबकी कलई खोल दी।

इस बातकी आवश्यकता है कि इस प्रश्नपर भी शीघ्र ही व्यापक विचार हो और दृढ़ नियम बनाये जायँ। जैसा कि हेग-सम्मेलनके सामने ब्रिटिश प्रतिनिधि श्री सेटोने कहा था 'खुला समुद्र महान् अन्ताराष्ट्रिय राजपथ है। यदि अन्ताराष्ट्रिय विधानकी वर्तमान अवस्थामें युद्धकारी राजोंको यह अधिकार प्राप्त है कि वह इस राजपथपर अपनी लड़ाइयाँ लड़ें तो उनका यह कर्तव्य है कि ऐसा कोई काम न करें जिससे उनके हट जानेके पीछे राजपथ तटस्थोंके लिए, जिन्हें उससे काम लेनेका पूरा अधिकार है, शंकास्पद हो जाय।...तटस्थोंका सुरक्षित रीतिसे नौसंचालनका स्थायी अधिकार योद्धाओंके लड़नेके क्षणिक अधिकारसे श्रेष्ठतर है।'

अन्तमें हमें एक ऐसी बातकी ओर संकेत करना है जिसे सचमुच युद्धका उपकरण न कहना चाहिये पर जिसका प्रयोग पहिले बहुत होता था और अब भी स्यात् होता हो। हमारा तात्पर्य हत्यासे है। शत्रुकी सेनापर छापा मारना निन्द्य नहीं है। उसकी सेनामें घुसकर आवश्यक कागजोंको छीन लाना वीरताका परिचायक है। उसकी सेनामें प्रवेश करके सेनाध्यक्ष या अन्य तत्रस्थित प्रधान व्यक्ति (जैसे राष्ट्रपति, नरेश या मन्त्री) को पकड़नेका प्रयत्न करना प्रशंसाके योग्य है। यदि इस प्रयत्नमें दैवात् उस व्यक्तिकी मृत्यु भी हो जाय तो इसमें कोई निन्दाकी बात नहीं है; पर यह काम दगाबाजीके साथ न होना चाहिये। भेष बदल कर जाना और सोते मनुष्यको मार डालना या उसे बातोंमें बहकाकर मार डालना या उसके खानेमें विष मिला देना नितांत गर्हित कर्म है। ऐसा करनेवालेको स्वयं उसकी सरकार दण्ड देगी। यदि वह सरकार ऐसा न करे तो वह स्वयं अन्ताराष्ट्रिय समाजसे बहिष्कृत कर दी जायगी। हेग-नियमावलीने स्पष्ट शब्दोंमें 'शत्रु-राष्ट्र या सेनाके व्यक्तियोंको धोखेसे मारना या घायल करना' निषिद्ध ठहराया है। परन्तु आजकल ऐसे कागज प्रकाशित किये जा रहे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि जर्मनोंने पिछले महायुद्धके समय कई प्रमुख शत्रु-राजपुरुषोंकी हत्याके षड्यंत्र किये थे। मैं नहीं कह सकता कि इन कागजोंमें कहाँतक प्रामाणिकता है।

ग्यारहवाँ अध्याय

युद्धकालीन अहिंसात्मक व्यापार

दो युद्धकारी दलोंमें सदैव लड़ाई नहीं होती रहती। बीच-बीचमें, कभी सारे युद्धस्थलमें, कभी उसके किसी अंश विशेषमें, लड़ाई बन्द करनी पड़ती है। इतना ही नहीं, दोनों दलोंको आपसमें बातचीत करनेकी भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकारके आपसके व्यापारको शान्तिमय नहीं कह सकते क्योंकि वह अशान्तिकालमें होता है और उसका रूप ही तत्रव्यापी अशान्तिका द्योतक होता है। इसलिए हम उसे केवल अहिंसात्मक कहते हैं।

प्राचीन कालमें ऐसा बहुधा हुआ करता था। महाभारतके योद्धा एक दूसरेके सम्बन्धी, सगोत्री और सजातीय थे। दिनभर लड़ते थे, सायंकाल मिल जाते थे। छोटे बड़ोंकी सेवा-शुश्रूषामें लग जाते थे। राजपूतोंके इतिहासमें भी ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं। यूरोपियन महासमरमें बड़े दिन (यीशूके जन्म-दिवस) के उपलक्ष्यमें बहुत-से युद्ध स्थलोंमें सिपाहियोंने लड़ाई रोक दी। कई जगह तो दोनों ओरके सिपाही बीचमें आ मिले, साथमें खाना-पीना हुआ, नृत्यगान किया गया, फिर अपने-अपने पड़ाव या खाइयोंकी ओर चले गये। मनुष्य मनुष्य ही है। ऐसा भाईचारा उसके लिए अत्यन्त स्वाभाविक है।

पर यहाँ हम इस प्रकारके मेल-मिलापका चर्चा नहीं कर रहे हैं। हमारा संकेत उस अहिंसात्मक व्यापारकी ओर है जो युद्धकी आवश्यकताओंके कारण सेनाध्यक्षोंकी आज्ञासे होता है। यह कई प्रकारका होता है। यहाँ हम कुछ मुख्य प्रकारोंका ही वर्णन कर सकते हैं। आपसमें कितना अहिंसात्मक सम्बन्ध रखा जाय यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह बात सैनिक आवश्यकता और सेनाध्यक्षोंकी इच्छापर निर्भर है।

जब एक दल दूसरेसे किसी भी उद्देश्यसे कुछ बातचीत करना चाहता है तो पहिले वह इस बातका प्रयत्न करता है कि कुछ कालके लिए लड़ाई बन्द हो जाय। इसलिए वह उसके पास एक मनुष्यको श्वेत पताका देकर भेजता है। इस पताकाको विरामपताका[१] कहते हैं। झण्डीवाला चाहे अकेले जाय चाहे अपने साथ एक बिगुल बजानेवाले या नगारा बजानेवाले, एक झण्डी-बरदार और एक दुभाषियेको ले जाय। पताकावाला अपने दलके सेनापतिका प्रतिनिधि होता है।

विराम-पताका

पताका वाहक संरक्ष्य होते हैं अर्थात् न तो इन्हें किसी प्रकारका शारीरिक कष्ट दिया जा सकता है, न बन्दी किया जा सकता है। साधारण उपचार तो यह है कि विरोधी दलका सेनाध्यक्ष इनको बुलाकर इनकी बात सुन ले पर वह ऐसा करनेके लिए बाध्य नहीं है। यदि वह चाहे तो बिना मिले ही इन्हें लौटा सकता है। यदि मना करनेपर भी यह लोग आगे बढ़नेका प्रयत्न करें तो इनकी संरक्ष्यता जाती रहती है और इनके साथ साधारण शत्रुवत् बर्ताव किया जा सकता है। यदि वह इनसे मिलना स्वीकार करे तो उसे अधिकार है कि इनकी आँखोंपर पट्टी बाँधकर भीतर बुलावे ताकि इन्हें सेनाका कुछ वृत्त ज्ञात न हो जाय। इनका भी यह कर्तव्य है कि इसका कोई

१. Flag of Truce.

प्रयत्न न करें। यदि उस समय सेनामें कोई ऐसी बात हो रही हो जिसका गुप्त रखना आवश्यक हो परन्तु छिपाना कठिन हो तो पताकावाहकोंको थोड़ी देरके लिए रोक भी सकते हैं। इस बीचमें इनके साथ बन्दियोंका सा बर्ताव न करना चाहिये पर इनका गमनागमन बन्द रहेगा। यदि पताका-वाहक किसी प्रकारकी धोखेबाजी करें या सिपाहियोंको बहकायें या नक्शा उतारना चाहें या कोई भेद लेना चाहें तो इनके साथ जासूसोंका सा व्यवहार किया जा सकता है।

जलयुद्धमें भी यही नियम बर्ते जाते हैं। वहाँ विराम-पताका छोटी नावमें भेजी जाती है।

यदि लड़ाईके बीचमें कोई सेना श्वेत झण्डी दिखलाये तो यह समझा जाता है कि उसका आत्मसमर्पण करनेका विचार है। यदि किसी आक्रान्त दुर्गपर श्वेत झण्डी खड़ी की जाय तो भी यही समझा जायगा कि वह आत्मसमर्पण करना चाहता है या इस उद्देश्यसे कुछ बातचीत करना चाहता है। सेनाके मुख्य अध्यक्षकी आज्ञासे ही ऐसी झण्डी दिखलायी जा सकती है।

सामरिक समझौता

कभी-कभी युद्ध छिड़नेके पहिले, कभी छिड़नेके पीछे, आपसमें लिखित समझौता हो जाता है। इस समझौतेमें यह निश्चय कर लिया जाता है कि आपसमें रणबन्दियोंका विनिमय किस प्रकार होगा, विराम-पताकाओंके साथ कैसा बर्ताव किया जायगा, पत्र और तार कैसे आते जाते रहेंगे, इत्यादि। ऐसे समझौतोंको सामरिक समझौता[1] कहते हैं।

यात्रानुज्ञा, रक्षावचन और अभयदान

यों तो युद्धकालमें एक शत्रुराजका नागरिक दूसरे शत्रुराजके अधिकार-क्षेत्रमें घूम-फिर नहीं सकता पर कभी कभी इस नियममें ढिलाई भी कर दी जाती है। शत्रुवर्गके किसी व्यक्ति विशेषको यात्रा करनेकी अनुज्ञा दे दी जाती है। इस प्रकारकी यात्रानुज्ञा[2] सरकार ही दे सकती है। यह राज्यभर या उसके किसी विशेष भागके लिए दी जा सकती है। सेनापति लोग भी अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रमात्रके शत्रुवर्गीयोंको घूमने-फिरने या अपना सामान ले-आने ले-जानेकी अनुज्ञा दे सकते हैं। ऐसी अनुज्ञाको रक्षावचन[3] कहते हैं। यदि अनुज्ञाका दुरुपयोग किया जाय तो वह वापस ली जा सकती है। कभी-कभी सेनापति लोग शत्रु-व्यक्तियों या शत्रु-सम्पत्तिको लिखकर अभयदान[4] देते हैं। इसको देखकर उस सेनाका कोई सिपाही उस व्यक्ति या सम्पत्तिको नहीं छेड़ता। कभी-कभी रक्षाके लिए कुछ सिपाही खड़े कर दिये जाते हैं। यदि यह सिपाही शत्रुके हाथमें पड़ जायँ तो वह उन्हें बन्दी नहीं करता वरन् उनकी सेनामें लौटा देता है। ऐसे सिपाहियोंको रक्षागारद[5] कहते हैं। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि यात्रानुज्ञा और रक्षा-वचनसे वही मनुष्य लाभ उठा सकता है जिसका नाम उनपर लिखा हो।

व्यापाराधिकार

युद्धकालमें युद्धकारी राजोंकी प्रजामें किसी प्रकारका व्यापारिक सम्बन्ध नहीं हो सकता परन्तु राजोंको अधिकार है कि नियममें कुछ अपवाद कर दें और व्यापाराधिकार[6] देकर व्यापारको पुनः स्थापित कर दें। यह अधिकार दो प्रकारका होता है— सामान्य और विशेष। यदि अपनी या शत्रुकी प्रजामात्रको कुछ नियत स्थानों

---

१ Cartels
२ Pass-port
३ Safe-conduct
४ Safe-guard
५ Safe-guard
६ License to trade

और नियत वस्तुओंका क्रयविक्रय करनेका अधिकार दे दिया जाय तो इसे सामान्य अधिकार और यदि कुछ विशेष व्यक्तियोंको ही ऐसी अनुज्ञा दी जाय तो उसे विशेष अधिकार कहते हैं।

यह अनुज्ञा सरकार ही देती है परन्तु प्रधान स्थल और जल-सेनापतियोंको भी अपने-अपने अधिकारक्षेत्रमें ऐसी अनुज्ञा देनेका अधिकार है। उस क्षेत्रके बाहर ऐसी अनुज्ञाका कोई मूल्य नहीं होता।

यदि कोई सेना या दुर्ग या नौ-समूह या नगर लड़नेकी सामर्थ्य न रखता हो तो वह आत्म-समर्पण[१] कर देता है। समर्पणकी शर्तें एक कागजपर लिखी जाती हैं जिसे समर्पणपत्र[२] कहते हैं।

आत्मसमर्पण

शर्तें कई प्रकारकी होती हैं। सबसे साधारण शर्त यह है कि सिपाहियोंको प्राण-भिक्षा दी जायगी। आजकल यह शर्त निरर्थक है क्योंकि रणबन्दियोंको कोई यों ही नहीं मारता। सबसे श्रेष्ठ शर्त यह होती है कि सब सिपाही 'ससामरिक सम्मान'[३] चले जाने पायेंगे। इसका अर्थ यह है कि वह लोग शस्त्रसजित, झण्डा लिये और बाजा बजाते निकल जायँगे। ऐसी शर्त बहुत कम मिलती है। बहुधा समर्पणकी शर्तें प्राणभिक्षा और सामरिक् सम्मानके बीचमें होती हैं। यदि आक्रमणकारियोंको जगहपर कब्जा करनेकी जल्दी होती है तो वह विजितोंको अच्छी शर्तें दे देते हैं ताकि जगह शीघ्र खाली हो। कभी-कभी हारे हुए शत्रु-की वीरतासे प्रसन्न होकर उसे अच्छी और सम्मानसूचक शर्तें दे दी जाती हैं।

प्रत्येक सेनापतिको यह अधिकार है कि आवश्यकता देखकर समर्पण कर दे पर वह केवल अपनी सेना, अपने दुर्ग और अपने अधिकार-क्षेत्रके लिए शर्तें कर सकता है। यदि वह युद्धक्षेत्रके अन्य भागोंके लिए कुछ शर्तें करे तो जबतक प्रधान सेनापति उन्हें स्वीकार न कर ले तबतक वह पक्की नहीं मानी जा सकतीं। कोई सेनापति ऐसी शर्तें नहीं कर सकता जिनका पूरा करना उसकी शक्तिके बाहर हो। इसी लिए समर्पणपत्रमें राजनीतिक शर्तें नहीं लिखी जातीं क्योंकि उनका पूरा करना न करना सरकारके हाथमें होता है। कोई सेनापति यह नहीं कह सकता कि यदि मेरा सम-समर्पण स्वीकार किया जाय तो मैं युद्ध बन्द करा दूँगा या अमुक प्रदेश दिलवा दूँगा, इत्यादि। अनधिकार समर्पणपत्रों[४] के लिए सरकार दायी नहीं हो सकती।

हारे हुए सेनापतिको अधिकार है कि जबतक समर्पणपत्रपर दोनों ओरके हस्ताक्षर न हो जायँ तबतक अपने पासकी सामग्रीके साथ जैसा व्यवहार उचित समझे करे। प्रायशः तोपें कील दी जाती हैं, बारूद जला दी जाती है, पुल तोड़ दिये जाते हैं, जहाज नष्ट कर दिये जाते हैं। यह सब इसलिए किया जाता है कि शत्रुको इस सामग्रीसे लाभ न पहुँचे, पर हस्ताक्षर होते ही उस स्थानपर विजेताका अधिकार हो जाता है। फिर किसी वस्तुको नष्ट-भ्रष्ट करना अवैध होता है।

कभी-कभी सारे युद्धस्थल या उसके किसी खण्ड-विशेषमें कुछ समय या कुछ दिनोंके लिए लड़ाई रोक देनेकी आवश्यकता पड़ती है। इसको रणविराम[५] कहते हैं। कभी-कभी अल्पकालिक और दीर्घकालिक विरामके लिए दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। पर इसकी विशेष आवश्यकता नहीं है।

---

१ Surrender

२ Capitulation

३ With honours of war

४ Sponsion

५ Truce या Armistice कभी-कभी पहिला शब्द दीर्घकालिक और दूसरा अल्पकालिक विरामके लिए आता है।

एक ही शब्द पर्याप्त है। यदि आवश्यकता हो तो शेष काम विशेषण जोड़कर निकाला जा सकता है। खण्डविराम तो स्थानीय सेनापति भी आपसमें निश्चय करके कर सकते हैं। आहतोंको हटानेके लिए अथवा मुर्दोंको जलाने या गाड़नेके लिए इसकी आवश्यकता पड़ सकती है। सम्पूर्ण क्षेत्रमें युद्धका स्थगित करना उभयपक्षके प्रधान सेनापतियों या उभयराजोंकी सरकारोंकी इच्छासे ही हो सकता है। ऐसा विराम प्रायः उस समय होता है जब युद्ध समाप्त करनेका विचार होता है और सन्धिकी शर्तें निश्चित करनी होती हैं।

रणविराम

विराम-पत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा जाता है कि विराम किस तिथिको कितने बजे आरम्भ होगा और किस तिथिको कितने बजेतक रहेगा, किस-किस क्षेत्रमें माना जायगा, दोनों सेनाओंके बीचमें तटस्थ भूमि कितनी रहेगी, इत्यादि। यह भी निश्चय कर लिया जाता है कि अधिकृत प्रदेशों-के निवासियों और मुल्कगीरी सेना तथा अधिकृत और अनधिकृत प्रदेशोंके निवासियोंमें कैसा सम्बन्ध रहेगा, उभयपक्ष युद्धके लिए तैयारी करेंगे या नहीं और यदि करेंगे तो कैसी, तो बहुत अच्छा होता है। यदि बीचमें अवधि बढ़ा न ली गयी हो तो उसके बीतने पर युद्ध पुनः आरम्भ हो जायगा। जिन विरामपत्रोंमें कोई अवधि नहीं लिखी होती वह जब चाहे तब रद कर दिये जा सकते हैं पर जो पक्ष पहिले लड़ाई आरम्भ करना चाहे उसे चाहिये कि दूसरेको अपने विचारकी सूचना दे दे। यदि एक पक्ष विराम-पत्रकी शर्तोंका उल्लंघन करे तो दूसरेको युद्ध आरम्भ कर देनेका अधिकार है पर यदि किसी अनुत्तरदायी व्यक्तिके द्वारा कोई शर्त तोड़ी गयी हो तो युद्ध आरम्भ करनेके स्थानमें इसकी सूचना उसके पक्षको देनी चाहिये और उससे क्षतिपूर्ति और अपराधीको दण्ड देनेके लिए आग्रह करना चाहिये। यदि वह इस न्याय्य आग्रहको स्वीकार न करे तो फिरसे युद्ध छेड़ देना सर्वथा युक्त होगा।

एक प्रश्न यह रह जाता है कि विरामकालमें दोनों पक्ष लड़ाईकी तैयारी करें या नहीं और यदि करें तो किस सीमातक। यदि आपसमें कुछ विशेष समझौता हो गया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो तैयारी करनेसे कोई रोक नहीं सकता। पर इस सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ मतभेद चला आता है और हेगमें भी कुछ निश्चय नहीं हुआ है।

बारहवाँ अध्याय

युद्धावसान

एक न-एक दिन प्रत्येक युद्धका अन्त होता है। अन्त तीन प्रकारसे हो सकता है। कभी-कभी ऐसा हुआ है कि दोनों पक्ष लड़ते-लड़ते थक गये हैं और लड़ाई यों ही बन्द हो गयी है। न कोई सन्धि हुई, न युद्ध-समाप्तिकी एक दूसरेको सूचना दी गयी। १८६७ में फ्रांस और मेक्सिकोकी लड़ाई यों ही बन्द हो गयी। लड़ाईके समाप्त होनेका दूसरा मार्ग यह है कि एक पक्षका अस्तित्व ही मिट जाय। तीसरी अवस्था यह है कि दोनों पक्षोंमें सन्धि हो जाय। अधिकांश युद्धोंका अन्त इसी प्रकार होता है। सन्धि-पत्रमें आपसके भावी सम्बन्धकी सब शर्तें लिखी होती हैं। यदि शर्तोंके निश्चित करनेमें देर होती है तो पहले एक उपसन्धि[१] लिखी जाती है। इसमें सिद्धान्तकी मोटी-मोटी बातें लिख दी जाती हैं और युद्ध समाप्त कर दिया जाता है। फिर पूर्ण सन्धि[२]में इसी उपसन्धिके आधार-पर ब्योरेकी बातें लिखी जाती हैं।

कभी-कभी ऐसा होता है कि दोनों पक्ष लड़ाईसे तो ऊब गये होते हैं पर आपसकी सन्धि-की शर्तोंको निश्चित नहीं कर सकते, इसलिए लड़ाई समाप्त होनेपर भी सन्धि-पत्र नहीं लिखा जा सकता। गत महासमरके अन्तको भी दश वर्ष हो गये पर अभीतक कई सन्धि-पत्रोंपर हस्ताक्षरका योग नहीं आया है।

युद्धावसानके तात्कालिक परिणाम

युद्धावसानके कई तात्कालिक परिणाम होते हैं। लड़ाई बन्द हो जाती है। मुल्कगीरी सेना अधिकृत प्रदेशसे रुपया या कोई वस्तु नहीं माँग सकती। रणबन्दी मुक्त हो जाते हैं।[३] यदि युद्धस्थल बहुत बड़ा हो तो उसमें सर्वत्र लड़ाई बन्द करनेकी सूचना एक साथ नहीं पहुँच सकती, इसलिए सन्धि-पत्रमें ही लिख दिया जाता है कि अमुक-अमुक प्रदेशमें अमुक-अमुक तिथितक लड़ाई बन्द हो जायगी। यदि अवधिसे भीतर सूचना पहुँच जाय तो लड़ाई बन्द कर देनी चाहिये। पर वही सूचना पक्की माननेका नियम है जो अपनी सरकारकी ओरसे मिले। अवसान-तिथिके पीछे यदि भूलसे किसी प्रकारका सामरिक कार्य हो जाय तो वह रद माना जाता है। अवसानकी तिथिमें जिस पक्षके अधिकारमें जो भूखण्ड या राजसम्पत्ति होती है वह उसकी मानी जाती है। मतलब यह है कि अधिकृत प्रदेश मुल्कगीरी सेनाकी सरकारका हो जाना चाहिये। इसी लिए सन्धिपत्रमें स्पष्ट लिख दिया जाता है कि अमुक प्रदेश अमुक राजके कब्जेमें रहेगा। यदि न लिखा जाय तो उपर्युक्त नियमका ही पालन हो।

साधारण लोगोंके प्रसुप्त स्वत्व भी फिरसे जीवित हो जाते हैं। जो लोग अबतक शत्रुप्रजा होनेके कारण व्यापार करने या न्यायालयोंमें अभियोग चलानेसे वंचित थे उनकी रुकावटें क्रमशः दूर हो जाती हैं। जिन शर्तनामोंमें कोई अवधि दी रहती है उनकी अवधिमें युद्धकाल नहीं जोड़ा जाता। इस विषयकी और भी बहुत सी ब्यौरेकी बातें हैं पर उनका सम्बन्ध प्रायः साधारण देशीय विधानोंसे है अतः यहाँ उनका उल्लेख करना अनावश्यक है।

---

१ Preliminary treaty

२ Definitive treaty

३ वस्तुतः बन्दी सुविधाके अनुसार कुछ काल बाद ही स्वदेश लौटाये जा सकते हैं, तबतक वह देखरेखमें रखे जाते हैं।

चतुर्थ खण्ड—तादस्थ्य-सम्बन्धी विधान

पहिला अध्याय

तटस्थताकी परिभाषा और उसका इतिहास

तटस्थताका अर्थ है उदासीनता, समकालीन हलचलमें भाग न लेना, उससे पृथक् रहना। अन्तराष्ट्रिय विधानमें ताटस्थ्य[1] 'उन राजोंकी अवस्थाका नाम है जो युद्धके समय उसमें किसी प्रकारका भाग नहीं लेते प्रत्युत उभय पक्षसे शान्तिमय सम्बन्ध बनाये रहते हैं'।

परिभाषा

यह परिभाषा देखनेमें अनावश्यक सी प्रतीत होती है क्योंकि यह वस्तुतः ताटस्थ्य शब्दका विशद अर्थ मात्र है, इसलिए 'ताटस्थ्य'के नामोद्देश मात्रसे इसका बोध हो जाता है। पर मनुष्योंके काम तर्कके आधारपर कम ही होते हैं। इसलिए परिभाषा करने अर्थात् इस शब्दके अर्थको प्रकट करनेकी आवश्यकता पड़ी।

यों तो ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी समरके छिड़ जानेपर सभी सभ्य राज उसमें सम्मिलित हो जायँ। कुछ-न-कुछ राज अलग रहते ही थे, अतः ताटस्थ्य और तत्सम्बन्धी कुछ नियमोंको एक प्रकारसे सनातन कह सकते हैं। कुछ नियम ऐसे हैं जो धर्मशास्त्र अथवा कर्तव्य-शास्त्रके आधारपर बनाये गये हैं, कुछ नियम ऐसे हैं जिनका जन्म प्रबल राजोंके स्वार्थ-संघर्षसे हुआ है, अतः सब नियम एक प्रकारके नहीं हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन कालमें लोगोंकी धारणा यह थी कि युद्ध करना वैभवशाली तथा प्रशस्त राजोंका लक्षण और कर्तव्य है। उन दिनों समर छिड़ते ही बहुधा बड़े राज एक-न-एक पक्षमें सम्मिलित हो जाते थे। प्रायः छोटे या दुर्बल राज ही तटस्थ रह जाते थे। इसलिए तटस्थोंकी विशेष प्रतिष्ठा न थी और उनके स्वत्वोंकी कोई पूछ न थी। इसमें क्रमशः परिवर्तन हुआ है। अब यह माना जाने लगा है कि राजकी शोभा शान्ति और निर्वैरतामें है न कि अशान्ति और सतत वैरशीलतामें। फलतः अब कई बड़े राज भी तटस्थ रहते हैं जो अपने अधिकारोंकी पूर्ण रूपेण रक्षा कर सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि धीरे-धीरे नियमोंमें परिवर्तन हो गया है। उदारताकी मात्रा बढ़ गयी है। जो स्वत्व पहिले समयोंमें तटस्थोंको दोनों शत्रुओंकी कृपास्वरूप बड़ी कठिनाईसे मिल जाते थे वह अब उनके निजी अधिकार माने जाते हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं मनुष्य-समाजका काम तर्कके अनुसार नहीं हुआ करता। अब भी ताटस्थ्य-सम्बन्धी विधान वैसे नहीं हैं जैसा कि इस शब्दके अर्थको देखते हुए होना चाहिये। पहिले तो बहुत ही कमी थी। तटस्थताका अर्थ केवल प्रत्यक्ष रूपसे न लड़ना था, पर इसका यह तात्पर्य नहीं माना जाता था कि तटस्थ राज उभयपक्षके साथ निष्पक्ष व्यवहार करे और उभयपक्ष उसके व्यापारादिमें छेड़छाड़ न करें। यह दोनों ही मूलभूत सिद्धान्त हैं पर दोनोंकी निरन्तर अवहेलना होती थी।

ताटस्थ्यका इतिहास

पहिले दूसरे सिद्धान्तको लीजिये। उन दिनों आजकलकी भाँति वैद्ययुग न था। व्यापारका

[1] Neutrality.

उतना महत्त्व नहीं माना जाता था। व्यापारियोंका शासनपर विशेष प्रभाव न था और आजकलकी भाँति व्यापारको अन्ताराष्ट्रियता प्राप्त नहीं हुई थी। इसलिए व्यापारके साथ छेड़छाड़ करनेमें शासकोंको कोई रुकावट नहीं होती थी। उभयपक्षके रणपोत समुद्रोंको छान डालते थे और छोटे-छोटेसे बहानोंपर व्यापारपोतोंको, जिनमें तटस्थोंके भी व्यापारपोत होते थे, पकड़ लिया करते थे। यदि बहुत कृपा करके तटस्थदेशीयोंको व्यापार करनेकी अनुज्ञा मिलती भी थी तो ऐसी शर्तें लगा दी जाती थीं जिनसे उसमें बड़ी कठिनाई पड़ती थी। तटस्थ सरकारें भी अपनी प्रजाकी ओरसे प्रायः कुछ नहीं बोलती थीं। पर आजकल एक देशका व्यापार अन्य देशोंसे सम्बद्ध है अतः एकको हानि पहुँचानेसे सबको हानि पहुँचती है। इसीलिए तटस्थ व्यापारको क्रमशः स्वतन्त्रता मिलती गयी है।

दूसरे नियमकी अवहेलना भी कई प्रकारसे होती थी। ग्रोशिअसका कथन है कि तटस्थता कठिन और भयंकर है। वह तटस्थ राजको यह परामर्श देते हैं कि वह यह निर्णय करे कि युद्धमें धर्मपक्ष कौन सा है और फिर 'ऐसा कोई काम न करे जिससे अधर्मपक्षका बल बढ़े या धर्मपक्षके मार्गमें रुकावट पड़े'। ग्रोशिअसके मतमें पक्षोंके धर्माधर्मको देखकर उनके साथ असम व्यवहार करना न्याय्य है।

अठारहवीं शताब्दीके आरम्भतक यह प्रथा थी कि अपने राज्यमें एक राजको सिपाही भर्ती करने देना तथा रणपोत सज्जित करने देना तटस्थताके विरुद्ध नहीं है। कभी-कभी तो तटस्थ राज किसी एक पक्षको रणसामग्री भी दे देते थे। इसलिए वास्तविक तटस्थताकी रक्षाके लिए विशेष सन्धियाँ करनी पड़ती थीं। ग्रोशिअसका तो यहाँतक कहना है कि दो राजोंमें भित्रतासंस्थापक सन्धि होते हुए भी उनमेंसे प्रत्येकको अधिकार है कि यदि एक किसी तीसरेपर आक्रमण करे तो दूसरा उस तीसरेकी रक्षा करे। ऐसा करना मैत्री या तटस्थताके विरुद्ध नहीं है।

धीरे-धीरे यह प्रथा तो बदली और यह माना जाने लगा कि तटस्थको सचमुच युद्धसे पृथक् रहना चाहिये; पर एक अपवाद रह गया। यह मान लिया गया कि यदि युद्धके पहिले एक राज दूसरेकी सहायताका वचन दे चुका हो तो उसे युद्ध छिड़नेपर इस प्रतिज्ञाका पालन करना चाहिये। ऐसी दशामें भी वह तीसरा राज जिसके विरुद्ध सहायता दी जायगी, उसे तटस्थ ही मानेगा। ऐसा कई बार हुआ भी। हम यहाँ केवल एक उदाहरण देते हैं।

१८०१ में डेन्मार्क और रूसमें एक सन्धि हुई जिसके द्वारा डेन्मार्कने भावी युद्धोंमें रूसको सैनिक सहायता देनेकी प्रतिज्ञा की। इसके सात वर्ष पीछे रूस और स्वीडेनमें लड़ाई हुई। डेन्मार्कने प्रतिज्ञानुसार रूसको सहायता दी और साथ ही स्वीडेनको लिख भेजा 'श्रीमान् डेन नरेशने यह ज्ञापित करनेकी आज्ञा दी है कि यद्यपि...सन्धियोंके अनुसार उन्होंने (रूसको) सन्धिनिश्चित सिपाहियों और जहाजोंकी कुमक दी है तथापि वह ऐसा समझते हैं कि श्रीमान् स्वीड नरेशके साथ उनका पूर्ण सौहार्द बना हुआ है। इस समय रूसियोंकी ओरसे जो डेन सैनिक स्वीडेनमें लड़ रहे हैं उनके हरा दिये जाने या बन्दी कर लिये जानेसे भी इस मैत्रीमें कोई अन्तर न पड़ेगा। उनका यह भी विश्वास है कि जबतक (रूस) सहायक डेन सिपाहियों और जहाजोंकी संख्या सन्धि-निर्दिष्ट संख्यासे अधिक न हो तबतक श्रीमान् स्वीड नरेशको आक्षेपका कोई स्थल नहीं है। उनकी यह भी इच्छा है कि दोनों राष्ट्रोंमें जो मैत्री और व्यापारका सम्बन्ध है और दोनों दरबारोंमें जो सौहार्द है उसमें कोई बाधा न पड़े।' स्वीडेनने पुरानी संधिके अनुसार रूसको सहायता देकर भी डेन्मार्कके तटस्थ बने रहनेके सिद्धान्तको तो न्याय्य स्वीकार किया पर उसने यह आक्षेप किया कि

डेन सहायकोंको रूसमें ही रहना चाहिये था, रूसियोंके साथ स्वीडेनपर आक्रमण करना अनुचित था।

जिन दिनोंमें तटस्थ लोग ताटस्थ्यकी इस प्रकार अवहेलना करते थे उन दिनोंमें योद्धा राजोंसे तटस्थोंके स्वत्वोंकी पूर्ण रक्षाकी आशा नहीं की जा सकती थी। तटस्थ राज्योंमें सिपाही भर्ती करना या रणपोत सज्जित करना तो साधारण सी बात थी। कभी-कभी तटस्थ राज्योंमेंसे होकर सेनाएँ भेज दी जाती थीं। यह तो कम होता था पर ऐसा तो कई बार हुआ है कि एक राजके रणपोतोंने दूसरेके रणपोतोंपर किसी तटस्थ राजके तटलग्न जल या नौस्थानमें आक्रमण किया है।

धीरे-धीरे यह अवस्था भी बदली। पर जो काम तटस्थ राज स्वयं नहीं करते थे उसे अपनी प्रजा द्वारा कराते थे, कमसे कम करने देते थे। युद्धकारी राज भी ऐसा करते थे। तटस्थ नौस्थानोंमें अपने रणपोत तो नहीं सज्जित करते थे पर अपने प्रजावर्गीयोंको यह अनुज्ञा दे देते थे कि तटस्थ नौस्थानोंमें छोटी-छोटी नावें सजित करके शत्रु-व्यापारको नष्ट करें। यह प्रथा १७९३ से बन्द हो गयी। उस साल ब्रिटेन और फ्रांसमें युद्ध छिड़ा। अमेरिकास्थित फ्रेञ्च राजदूतने अमेरिकन नौस्थानोंसे उक्त प्रकारकी नावोंको सज्जित कराना आरम्भ किया। उसने अमेरिकन नौस्थानोंमें ऐसे कई न्यायालय भी खोल दिये जिनमें फ्रेञ्च रणपोतों द्वारा पकड़े गये ब्रिटिश तथा सन्दिग्ध तटस्थ व्यापार-पोतोंका निर्णय होता था। फ्रेञ्च सेनाके लिए अमेरिकन भी भर्ती किये जाते थे। अमेरिकन परराज-सचिवने फ्रेञ्च राजदूतको लिखा 'प्रत्येक राष्ट्रका यह अधिकार है कि अपने राज्यके भीतर किसी दूसरे राज़को कोई प्रभुत्व-सूचक काम न करने दे और प्रत्येक तटस्थ राजका यह कर्तव्य है कि ऐसे कामोंको रोके जिनसे एक युद्धकारी पक्षको क्षति पहुँचे'। फ्रेञ्च सेनाके लिए अमेरिकनोंका भर्ती किया जाना रोक दिया गया और नावोंका सज्जित किया जाना भी बन्द कर दिया गया। इसपर फ्रेञ्च राजदूतने लोगोंको अमेरिकन सरकारके विरुद्ध उभारना चाहा। अमेरिकन सरकारने विवश होकर फ्रेञ्च सरकारको लिखा कि यह राजदूत लौटा लिया जाय। फ्रेञ्च सरकारने यह बात मान ली।

अमेरिकाका यह व्यवहार पूर्ण तटस्थताका पहिला उदाहरण था और फ्रेंच राजदूतका बुला लिया जाना निष्पक्ष अर्थात् सच्ची तटस्थताकी पहली विजय थी। उस समयसे अमेरिका तटस्थताके नियमोंके विशदीकरणमें अग्रसर हुआ। जैसा कि हम आगे चलकर यथास्थान दिखलायेंगे, ताटस्थ्य-सम्बन्धी नियमों और विधानोंमें सभ्य जगत्ने कई बातोंमें अमेरिकाका अनुकरण किया है।

विधानकी वर्तमान अवस्थाका वर्णन आगेके अध्यायोंमें होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि तटस्थोंके अधिकारोंके विषयमें बहुत उदारता दिखलायी जाती है। तटस्थ व्यापारकी रक्षा योद्धाओंकी कृपाभिक्षापर निर्भर नहीं है प्रत्युत एक अपरिहार्य स्वत्व है। इसके साथ ही उनके कर्तव्य भी कठिन हो गये हैं। कभी-कभी तो इन कर्तव्योंके पालनकी अपेक्षा युद्धमें भाग लेना सुकर हो जाता है। तटस्थता सम्बन्धी नियमों और तटस्थोंके अधिकारोंकी मान्यता इस बातसे सम्भव हुई कि कई बड़े राज समय-समयपर तटस्थ रहने लगे परन्तु यदि सब या अधिकांश बलवान् राज युद्ध-लग्न हो जायँ तो फिर तटस्थता लुप्तप्राय हो जाती है। पिछली लड़ाईमें अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, जर्मनी, जापान और फ्रांस लड़ रहे थे। यूरोपके बहुतसे छोटे राज भी युद्धमें खिंच गये थे। ऐसी दशामें तटस्थताका पालन बहुत कठिन हो गया। दो एक छोटे राज तटस्थ रह गये थे परन्तु इसका एकमात्र कारण यह था कि बड़े राजोंने उनको तटस्थ छोड़ रखना उचित समझा था। उनके ही द्वारा एककी बात दूसरेतक पहुँचायी जाती थी। यदि सभी रणलग्न हो जाते तो इसका साधन न बच रहता।

युद्ध छिड़नेके थोड़े ही दिनों बाद जर्मनीने स्वीडेनमेंसे होकर अपनी सेना नार्वेपर चढ़ाईके लिए भेजी। स्वीडेनमें जर्मनीसे लड़नेकी शक्ति तो थी नहीं, इस व्यवहारको सहना ही पड़ा। दूसरे राजोंने भी ऐसा माना कि स्वीडेन तटस्थ है। प्रशान्त महासागरमें जापानियोंने पुर्तगालकी मकाओ बस्तीपर कब्जा कर लिया। पुर्तगाल कुछ कर न सका परन्तु उसकी तटस्थता अक्षुण्ण रह गयी। महायुद्ध छिड़नेके पहिले स्पेनके यादवीय युद्धमें जर्मनी और इटलीसे सहस्रों सिपाही विद्रोही फ्रांकोके लिए भर्ती हुए और बहुतसी रणसामग्री भेजी गयी परन्तु कहा यही गया कि यह दोनों इस गृह-कलहसे अलग हैं। जबतक जर्मनी और इटलीकी विजय हो रही थी तबतक स्पेनकी ओरसे यही कहा जाता था कि हम तटस्थ तो हैं पर हमारी सहानुभूति इन दोनोंके साथ है और हम इनकी विजय चाहते हैं।

दूसरा अध्याय

तटस्थता और तटस्थीकरण

हम तटस्थताकी जो परिभाषा दे आये हैं उससे यह ध्वनि निकलती है कि जो राज तटस्थ होता है वह अपनी इच्छासे। वास्तविक तटस्थता उसीकी है जो युद्धमें सम्मिलित होनेकी सामर्थ्य—सामर्थ्यमें न केवल शक्ति वरन् अधिकार भी परिगणित है—रखता हुआ भी उससे अलग रहे।

परन्तु कुछ ऐसे राज भी हैं जो बाहरी दबावके कारण तटस्थ रहते हैं। हमारा संकेत गुप्त दबावकी ओर नहीं है। गुप्त दबावका इतना ही परिणाम हो सकता है कि जिसपर दबाव डाला जाय वह किसी एक युद्ध-विशेषमें तटस्थ रहे, सदाके लिए ऐसा नहीं हो सकता।

तटस्थीकरण

परन्तु कई राज ऐसे हैं जिनके साथ ऐसी सन्धियाँ हैं (या जिनके सम्बन्धमें ऐसी सन्धियाँ हैं) कि वह किसी भी युद्धमें भाग ले ही नहीं सकते। इसका एक ही अपवाद है और वह परमावश्यक है। यदि वह भी चला जाय तो इनका राजत्व ही मिट जाय। प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजाकी रक्षा करे। यह अधिकार अपरिहार्य है। कोई प्रबल राज किसी छोटे राजका सहायक या संरक्षक हो सकता है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि संरक्षित राज आत्मरक्षाके कर्तव्यसे चिरमुक्त हो गया। अतः ऐसे राजोंको भी जो नित्य-तटस्थताके लिए विवश हैं, आत्मरक्षाके लिए लड़नेका अधिकार है। यदि उनपर कोई आक्रमण करे तो उनका लड़ना सर्वथा वैध माना जायगा।

जिस क्रियाके द्वारा कोई राजविशेष नित्य-तटस्थ बनाया जाता है उसे तटस्थीकरण[1] कहते हैं। कोई राज अपना तटस्थीकरण आप नहीं कर सकता। दो चार राज मिलकर भी किसी राजका तटस्थीकरण नहीं कर सकते। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक तो वह राज स्वयं सहमत हो, क्योंकि यदि वह न लड़नेका वचन ही न दे तो उसे कोई तटस्थ कैसे कर सकता है—यह दूसरी बात है कि उसे सहमत करानेके लिए उसपर किसी प्रकारका गुप्त दबाव डाला जाय। दूसरी बात यह है कि उसके तटस्थीकरणमें सब नहीं तो प्रमुख राज तो भाग लें और उनकी बात अन्य राज मान लें। यदि ऐसा न हुआ तो तटस्थीकरणका सन्धिपत्र रद्दी कागजका टुकड़ा होगा।

यह तो निर्विवाद है कि वर्तमान युगमें दुर्बल राज ही तटस्थीकरण स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि यह अल्पप्रभुत्वका सूचक है। हम जो उदाहरण देंगे उनसे भी यह बात स्पष्ट हो जायगी।

तटस्थीकृत राजोंमें स्वीजरलैण्डका स्थान पहिला है। बहुत पहिले यह देश आस्ट्रियाके अधीन था, पीछेसे स्वतन्त्र हो गया। स्वतन्त्र होनेपर यह स्वयं सैकड़ों वर्षतक तटस्थ बना रहा। न किसीने इसपर आक्रमण किया न वह किसी झगड़ेके बीचमें पड़ा। नेपोलियनके अभ्युदयके समय यह बात उलट गयी। स्वीजरलैण्ड फ्रांससे इटली तथा आस्ट्रिया जाते समय मार्गमें पड़ता है अतः नेपोलियनने इसके स्वातन्त्र्य और ताटस्थ्यको नष्ट करके इसे अपनी सेनाओंका राजपथ बनाया। फलतः फ्रांसके विपक्षियोंने भी इससे यह

स्वीज़रलैण्ड

[1] Neutralization.

काम लिया। नैपोलियनके पतनके उपरान्त १८१५ में पेरिसमें एक सन्धि-पत्र लिखा गया जिसके द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, प्रशा (जर्मनी) और रूसने स्वीजरलैण्डकी चिर-तटस्थता स्वीकार की और उसके राज्यकी अखण्डताके लिए अपने ऊपर दायित्व लिया। इन महाशक्तियोंके द्वारा सम्पादित तटस्थीकरणको अन्य राजोंने भी मान लिया और तबसे आजतक किसीने स्वीजरलैण्डपर आक्रमण नहीं किया है। एक तो स्वयं उसके पास आत्मरक्षाका पर्याप्त साधन है, दूसरे यह भी आशंका है कि उसके विरुद्ध किसी प्रकारका आचरण करनेसे तटस्थ करनेवाले राजोंमेंसे कोई न कोई (यदि सब नहीं) उसकी रक्षाके लिए खड़ा हो जायगा। पिछले महायुद्धमें इस तटस्थताके भंग होनेके कई अवसर आये। यदि यह बच गया तो इसी कारण कि ऐसे एकाध राजोंका बचा रहना उभयपक्षको अभीष्ट था।

बेल्जियम

बेल्जियमका उदाहरण भी बड़े महत्त्वका है। १८३० के पहिले यह देश हालैण्डका एक प्रान्त था। १८३० में बेल्जियन जनताने स्वाधीनताके लिए विद्रोह किया। यूरोपकी महाशक्तियोंने उसके साथ सहानुभूति दिखलायी और १८३२ में उसे स्वतन्त्र राज मान लिया। हालैण्ड और बेल्जियमका झगड़ा १८३९ तक चला गया। उस साल अन्तिम सन्धि लिखी गयी। इसके द्वारा यूरोपकी महाशक्तियोंने, जिनमें अब इटली भी सम्मिलित कर लिया गया, बेल्जियमका स्वीजरलैण्डकी भाँति तटस्थीकरण किया। १९१४ तक इस सन्धिका पालन हुआ। उस साल यूरोपमें महासमर आरम्भ हुआ। जर्मन सेनाने बेल्जियमसे फ्रांसपर आक्रमण करनेके लिए मार्ग माँगा। बेल्जियमने स्वभावतः यह प्रस्ताव अस्वीकृत किया। इसपर जर्मन सेना बेल्जियममें बलात् घुस गयी और प्रायः सारे देशपर उसका कब्जा हो गया। फिर भी बेल्जियमवाले लड़ते ही रहे। युद्ध समाप्त होनेपर उसको अपनी स्वाधीनता तो मिल ही गयी, तटस्थतासे भी छुट्टी मिल गयी। अब वह एक पूर्णप्रभु प्रभावशाली राज हो गया।

तटस्थीकरणसे अड़चनें

ऐसी तटस्थताके कारण कभी-कभी कठिनाइयाँ भी पड़ती हैं। १८६७ में लक्सेम्बर्गका तटस्थीकरण हुआ। यह छोटा सा राज बेल्जियमके निकट है अतः सन्धिके पहिले जो बातचीत हुई उसमें बेल्जियम भी सम्मिलित था और सब काम उसकी सम्मतिसे किया गया पर स्वयं तटस्थीकृत राज होनेके कारण वह हस्ताक्षर नहीं करने पाया। कारण यह था कि हस्ताक्षर करनेसे उसे लक्सेम्बर्गकी स्वाधीनताके लिए दायी होना पड़ता और उसकी रक्षाका नैतिक भार भी अपने ऊपर लेना पड़ता, पर तटस्थीकृत राज होनेके कारण उसे केवल आत्मरक्षाके लिए लड़नेका अधिकार था।

एक और अड़चन पड़ती है। यदि तटस्थीकृत राज तटस्थता या अन्य अन्ताराष्ट्रिय नियमोंके विरुद्ध आचरण करें तो उन्हें दण्ड देना कठिन होता है। उनसे युद्ध कर बैठना उनके संरक्षकोंसे युद्ध ठाननेके बराबर होता है। वैध मार्ग यह होता है कि पहिले इन अभिभावकोंको लिखा जाय कि आप रोकिए नहीं तो हमें विवश होकर दण्ड देना पड़ेगा। सम्भव है इसमें सफलता हो पर समय बहुत लग जाता है। १८६७ के फ्रेंच-जर्मन युद्धमें जर्मनीकी ओरसे कहा गया कि लक्सेम्बर्ग फ्रांसकी गुप्त सहायता कर रहा है। अभिभावकोंके पास लिखनेके स्थानमें जर्मनीने उसे धमकी दी कि यदि आचरण तत्काल बन्द न किया गया तो सेना भेजी जायगी। इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी पर निश्चय है कि जर्मनी सेना भेजनेमें देर न करता। प्रथम-महासमरमें भी जर्मनीका कहना था कि बेल्जियम गुप्त रूपसे फ्रांस और ब्रिटेनसे मिला था और फ्रेंच सेनाको मार्ग देनेवाला था। ऐसी दशामें प्रमाण एकत्र करके लिखापढ़ी करनेका समय नहीं होता।

यहाँतक तो जो कुछ लिखा गया है वह समझमें आता है पर अन्ताराष्ट्रिय जगत् एक विचित्र वस्तु है। इसमें ऐसे-ऐसे दृग्विषय देखनेमें आते हैं जिनका न तो कोई नैतिक आधार समझमें आता है न उपयोग, न उनको बुद्धि-पूर्वक बर्त सकते हैं। पूर्णप्रभु और तटस्थीकृत राजोंकी परिस्थिति समझमें आ सकती है। उसमें अड़चनें पड़ती हैं पर सुलझायी जा सकती हैं। पर कुछ ऐसे पूर्णप्रभु राज हैं जिनके कतिपय प्रदेश तटस्थीकृत हैं।

अतटस्थीकृत राजोंके तटस्थीकृत प्रदेश

१८१५ में सैवाय, जो उस समय सार्डिनिया राजका अंग था, तटस्थीकृत हुआ। यह निश्चय हुआ कि यह रहे तो सार्डिनियाके अधिकारमें पर यदि कोई युद्ध छिड़ जाय तो सार्डिनियन सेना इसे खाली कर दे और स्वीजरलैण्डके, जो तटस्थीकृत राज है, सैनिक इसकी रक्षा करें और कोई इसपर आक्रमण न करे। युद्ध समाप्त होनेपर फिर सार्डिनियाका इसपर कब्जा हो जाय। जब इटलीने, जो पहिले आस्ट्रियाके अधीन था, स्वातन्त्र्यके लिए विद्रोह किया तो फ्रांसने उसे इस शर्तपर सहायता देना स्वीकार किया कि सैवाय फ्रांसको मिल जाय। तदनुसार १८६० में सैवाय फ्रांसको मिल गया। अब यह प्रश्न उठा कि उसकी स्थिति क्या हो। फ्रांस और इटलीका यह कहना था कि पुरानी सन्धिका अन्त हो गया अतः अब सैवायको तटस्थ माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अन्य राज कहते थे कि सैवायका तटस्थीकरण सब पड़ोसी राजोंके हितकी दृष्टिसे किया गया था और अब भी पूर्ववत् रहना चाहिये। सिद्धान्त तो कोई स्थिर हुआ नहीं पर फ्रांसने सैवायको तटस्थीकृत प्रदेशकी भाँति बर्तना स्वीकार कर लिया।

इसी प्रकार जब आयोनियन द्वीपसमूहके सब द्वीप यूनानको दिये गये तो इनमेंसे दो अर्थात् कार्फू और पैक्सो तटस्थ कर दिये गये।

इस प्रकारकी आंशिक तटस्थता स्थायी नहीं हो सकती। ऐसा प्रदेश शीघ्र ही किसी पूर्णप्रभु राजका अनन्य प्रान्त हो जाता है। ऊपरके ही दोनों उदाहरणोंको लीजिये। फ्रांस सैवायमें नयी किलाबन्दी भले ही न करे (१८८३ में उसने किलाबन्दी आरम्भ की थी पर स्वीजरलैण्डके कहनेपर काम बन्द कर दिया), इससे अधिक रुकावट यूनानके लिए भी नहीं हो सकती। इन प्रदेशोंसे कर लिया जायगा, सिपाही भर्ती किये जायँगे, खनिज द्रव्य निकाले जायँगे। ऐसी दशामें यह भी आशा नहीं की जा सकती कि आवश्यकता पड़नेपर कोई प्रबल शत्रु इन्हें छोड़ देगा।

जलमार्गोंका तटस्थीकरण अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। यदि सब राष्ट्र चाहें तो सभी प्रधान जलमार्ग तटस्थ किये जा सकते हैं, कमसे कम संकीर्ण मार्गोंको तो अवश्य ही तटस्थ कर देना चाहिये ताकि दो चार स्वार्थी युद्धकारी राज मिलकर सर्वदेशीय व्यापारको आघात न पहुँचावें। पर अभीतक सफलता केवल पनामा और स्वेजकी नहरोंके सम्बन्धमें हुई है। स्वेजकी तटस्थताकी रक्षा यूरोपकी महाशक्तियों तथा तुर्की, मिस्र, स्पेन और हालैण्डके ऊपर है और पनामाका दायित्व संयुक्त राज (अमेरिका) ने लिया है। सच तो यह है कि दोनों उदाहरण भी समीचीन नहीं हैं। पिछले महासमरतक स्वेजकी तटस्थता ब्रिटेनकी इच्छापर निर्भर थी। अब इसका आश्रय मिस्र है। पनामा भी वहींतक तटस्थ है जहाँतक उसका तटस्थ रहना अमेरिकाको अभीष्ट है। यह असम्भव बात थी कि उसके तथोक्त तटस्थीभावका सहारा लेकर पिछले महासमरमें जापान उसका कोई उपयोग कर सकता।

———

तीसरा अध्याय

तटस्थ राजोंके प्रति युद्धकारी राजोंके कर्तव्य

इस विषयकी अन्ताराष्ट्रिय विधानमें पर्याप्त व्यवस्था की गयी है यद्यपि कभी-कभी व्यवहारमें किसी पक्षकी भूल या हठधर्मीसे अड़चनें पड़ जाया करती हैं ।

तटस्थ राज्यमें युद्धको न बढ़ाना

युद्धकारी राजोंका यह पहिला कर्तव्य है कि तटस्थकी तटस्थताकी रक्षा करें । सिद्धान्त-रूपसे लोग इसे बहुत प्राचीन कालसे मानते आये हैं । बात है भी इतनी सरल और न्यायसंगत कि इसके विरुद्ध हेतु देना कठिन ही नहीं असम्भव है । जो स्वयं नहीं लड़ता है उसके राज्यके किसी भागको युद्धस्थल बनाना परम दुष्टता है और तटस्थको ताटस्थ्यजन्य शान्तिसे वंचित करनेका गर्ह्य प्रयत्न है । परन्तु इस सिद्धान्तकी अवहेलना भी कम नहीं होती थी । दुर्बल तटस्थ राजोंके राज्य बहुधा सबल राजोंकी सेनाओंके गमनागमनके राजपथ हो जाते थे । हम यह कहनेमें असमर्थ हैं कि आजकल ऐसा नहीं होता । जो राज अपनी सेना या जहाजोंको ऐसा करने देगा (या यदि भूलसे कोई ऐसी बात हो जाय और उसके लिए क्षमायाचना करके क्षतिपूर्ति न करे) वह सभ्य जगत्के सामने दोषी माना जायगा । परन्तु बलवान् राज अपनी उच्छृङ्खलताके लिए बहाना निकाल ही लेते हैं । तटस्थ जल और स्थल दोनों ही युद्धक्षेत्रके बाहर हैं । हेगमें १९०७ में जो नियमावली निश्चित हुई उसमें (५ वीं धारा) यह स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि 'तटस्थ शक्तियोंका राज्य अलङ्घ्य है' और (१३वीं धारा) 'किसी तटस्थ राजके तटलग्न जलमें किसी युद्धकारी राजके रणपोतों द्वारा किया गया किसी भी प्रकारका सामरिक कार्य—जहाजोंको गिरफ्तार करना और तलाशी लेना भी इसके अन्तर्गत है—ताटस्थ्यको भंग करनेवाला है और पूर्णतया वर्जित है ।'

इन व्यापक सिद्धान्तोंका यथासम्भव साधारणतः पालन किया जाता है । यदि कोई रणपोत किसी शत्रुपोतका पीछा कर रहा हो और वह भागकर किसी तटस्थ नौस्थान या समुद्रमें शरण ले तो पीछा करना बन्द करना होगा । 'तटस्थ भूमिमें किसी प्रकारका सामरिक कार्य आरम्भ न होना चाहिये ।'[१] इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई रणपोत किसी तटस्थ नौ-स्थानमें पड़ा हो और उसे पता लग जाय कि पाससे ही शत्रु राजका कोई जहाज जा रहा है तो उसे उस जहाजपर आक्रमण न करना चाहिये । यदि उसे सफलता हो जाय और शत्रुपोत पकड़ जाय तो सामरिक न्यायालयको चाहिये कि उसे छोड़ दे क्योंकि उसपर वह आक्रमण, जिसके द्वारा वह पकड़ा गया, एक ऐसा सामरिक कार्य था जो कि तटस्थ समुद्रमें आरम्भ हुआ था ।

एक प्रश्न यह हो सकता है कि यदि किसी पक्षके पोतपर शत्रुपोत तटस्थ समुद्रके भीतर आक्रमण कर ही दे तो उसे क्या करना चाहिये । इस सम्बन्धमें अधिकांश विद्वानोंकी सम्मति यह है कि उसे पहिले तो उस तटस्थ राजसे रक्षाकी प्रार्थना करनी चाहिये पर यदि वह प्रार्थना स्वीकार न करे या करनेमें असमर्थ हो तो वह आत्मरक्षाका प्रयत्न कर सकता है । ऐसा करना निंद्य नहीं माना जा सकता ।

---

१ एक अंग्रेज जज, सर वाल्टर स्काट, की व्यवस्था (१८००)

हमको रूस-जापान युद्ध (१९०४) से एक ऐसी घटना मिलती है जो इस सम्बन्धकी कई उलझनोंका उदाहरण दिखलाती है। १९०४ में पोर्टआर्थरके नौ-स्थानसे, जिसे जापानी बेड़ा घेरे हुए था, रेशितेल्नी नामकी एक रूसी रणनौका भाग निकली। दो जापानी जहाजोंने उसका पीछा किया पर वह किसी प्रकार बच-बचाकर चीनी नौ-स्थान चेफूमें पहुँच गयी। चीन उस युद्धमें तटस्थ था। वहाँ पहुँचनेपर चेफूके शासकने रूसियोंसे कहा कि यदि तुम यहाँ रहना चाहते हो तो अपने जहाजको निःशस्त्र कर दो और युद्धभरके लिए उसे यहाँ नजरबन्द समझो। रूसियोंने यह बात मान ली। जो कुछ हो, दूसरे दिन जापानी जहाज चेफूमें घुस पड़े। उन्होंने रूसी कप्तानसे कहा कि या तो एक घण्टेके भीतर खुले समुद्रमें निकल चलो, वहाँ हम-तुम निपट लेंगे, या यहीं आत्मसमर्पण कर दो। दोनों शर्तोंको अस्वीकार करके रूसियोंने अपनी रक्षा करनी चाही पर असफल हुए और पकड़े गये। इस घटनाके सम्बन्धमें चीनका यह कहना था कि हमारे नौ-स्थानमें बलात् प्रवेश करना और सामरिक कार्य करना अवैध था अतः जापान दोषी है। हमने रूसी जहाजको निःशस्त्र भी कर दिया था। रूस भी इसी वक्तव्यका समर्थन करता था। जापान कहता था कि निःशस्त्रीकरण केवल नाममात्रको हुआ था, रूसी जहाजको कोयला लेनेकी अनुज्ञा दी गयी थी और उसने रूसी सरकारके पास पोर्टआर्थर सम्बन्धी आवश्यक समाचार भेजे थे। यह कहना कठिन है कि यह आक्षेप झूठ है या सच पर जापानने जो कुछ किया वह निंद्य था। उसे चाहिये था कि चीनी अधिकारियोंसे ही आग्रह करता कि निःशस्त्रीकरण ठीक रीतिसे करें। यदि ऐसा न होता वरन् रूसी जहाजको कोयला या अन्य सामग्री दी जाती तो उसे अधिकार था कि जो चाहता वह करता। बात केवल यह थी कि चीन एक तो सैनिक दृष्टया दुर्बल राज था, दूसरे उसने अपनेको नैतिक दृष्टिसे भी दुर्बल बना रखा था। कई अवसरोंपर रूसी सेनाओंने उसकी तटस्थता भंग की थी पर, चाहे जो कारण हो, वह चुप रह गया था। अतः जापानको भी ऐसा करनेका साहस हुआ। आत्मरक्षणमें रूसियोंने जो लड़नेका प्रयत्न किया वह सर्वथा निर्दोष था।

जलमग्न तारोंका प्रश्न बड़े महत्त्वका है। यद्यपि आजकल बेतारके तारने एक देशसे दूसरे देशको समाचार भेजनेका काम बहुत कुछ अपने ऊपर ले लिया है और दिनों दिन इसकी उन्नति ही होती जाती है—सम्भवतः भविष्यत्में अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पुस्तकोंमें जलमग्न तारोंकी अपेक्षा वितन्तु तारोंपर अधिक विचार करना आवश्यक होगा—पर अभी जलमग्न तारोंके द्वारा ही व्यापारादि सम्बन्धी अधिकांश समाचार आते जाते हैं और सरकारोंका काम भी बहुत कुछ इनपर निर्भर है। ऐसे तार शान्तिकालमें अत्यन्त हितकर हैं पर युद्धकालमें अत्यन्त अहितकर हो सकते हैं।

तटस्थ जलमग्न तारोंके साथ छेड़-छाड़ न करना

जलमग्न तारोंकी तात्विक स्थितिपर बड़े सूक्ष्म विचार हुए हैं। १८६९ में संयुक्त राजने यह प्रयत्न किया कि सब राज इस बातको मान लें कि खुले समुद्रमें तारोंको काटना दस्युता है। १८९८ में स्पेन और अमेरिकामें जो युद्ध हुआ उसमें यह कहा गया कि तार ऐसे द्रव्यके बने होते हैं जिनका प्रयोग या उपभोग शत्रुके लिए लाभदायक हो सकता है अतः उन्हें काटना वैध है। १९०४ में जर्मनीसे एक यह सिद्धान्त निकला कि तार एक प्रकारका पुल या शासनका समुद्रतलस्पर्शी अङ्ग है अतः उसका काटना वैध है। इन सब विचारोंसे कोई लाभ नहीं होता। लारेंसका कहना ठीक जँचता है कि इतना मानना पर्याप्त है कि तार सम्बन्धका एक साधन है। यदि तारसे शत्रु काम लेता है तो उसका नियंत्रण करना या अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर काट देना सर्वथा वैध है पर यह काम ऐसी ही जगह होना चाहिये जहाँ अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार सामरिक कार्य

हो सकते हों। यदि हम उन सब परिस्थितियोंपर पृथक्-पृथक् विचार कर लें जो ऐसे तारोंके सम्बन्धमें उत्पन्न हो सकती हैं तो यह प्रश्न सुगमतासे सुलझ सकता है। ऐसी परिस्थितियाँ चार हो सकती हैं।

(क) 'जब कि तार एक शत्रु-राजके राज्यके दो भागोंके बीचमें हो'—ऐसी अवस्थामें उसको पूरा अधिकार है कि उस तारको काट दे और शत्रुका भी अधिकार है कि यदि उससे बन पड़े तो उसे काट दे पर यह काम तटस्थ समुद्रमें न होना चाहिये। जिस युद्धकारी राजके दो भूभागोंको वह तार मिलाता है उसे अधिकार है कि उसके द्वारा तटस्थ राजों या प्रजावर्गीयोंके तार न जाने दे या नियंत्रणके साथ जाने दे। बहुधा तार ऐसी सांकेतिक भाषामें भेजे जाते हैं जिसे केवल भेजने और पानेवाले समझते हैं। युद्धकालमें ऐसे तार अवश्यमेव रोक लिये जाते हैं।

(ख) 'जब कि तार दोनों शत्रु-राज्योंके बीचमें हों'—ऐसी दशामें दोनोंको ही उसे काट देनेका अधिकार है और ऐसा ही प्रायः होता भी है पर कभी-कभी आपसमें समझौता करके ऐसा नहीं भी किया जाता। १८९४ में चीन-जापान युद्धके समय बीचका तार नहीं काटा गया क्योंकि जिस कम्पनीका तार था उसने प्रतिज्ञा की कि किसी प्रकारका सैनिक समाचार न जाने पायेगा और उभय पक्षने यह बात मान ली।

(ग) 'जब कि तार एक युद्धकारी और एक तटस्थ राजके बीचमें हो'—यह सबसे टेढ़ी अवस्था होती है। यह तो निश्चय है कि जिन दो राजोंके बीचमें तार है वह उसे तोड़ना न चाहेंगे पर दूसरा युद्धकारी राज क्या करे। वह कह सकता है कि तटस्थ राजसे होकर भाँति-भाँतिके समाचार हमारे शत्रुको पहुँचते रहते हैं जिससे हमको क्षति पहुँचती है अतः हम तार काट देंगे। उधर तटस्थ राज कह सकता है कि तटस्थ होनेका अर्थ ही यह है कि हमारा दोनों पक्षोंसे सम्बन्ध बना रहे अतः उसमें बाधा डालना हमारे ताटस्थ्यको भंग करना है। यह बात मान ली गयी है कि तटस्थ राजको ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये जिससे तार द्वारा ऐसे समाचार न आयें-जायें जिनसे कि एक पक्षकी हानि हो, पर इसका निबाहना बहुत ही कठिन है। यह भी मान लिया गया है कि यदि एक पक्षको इस बातका पूरा-पूरा प्रमाण मिल जाय कि उसके शत्रुके पास ऐसे तार द्वारा सैनिक समाचार जाते हैं और इन समाचारोंको रोकनेका और दूसरा कोई भी साधन न हो तो वह तारको काट सकता है। इस नियममें भी उद्दण्डताके लिए पर्याप्त जगह है। ऐसे प्रश्न आपसके सौजन्य और सद्भावसे ही सुलझ सकते हैं। १८९८ के स्पेन—अमेरिकन युद्धका ऊपर उल्लेख हो चुका है। स्पेन यदि चाहता तो यूरोपसे अमेरिका जानेवाले सभी तारोंको काट देता पर उसने सोचा कि इन तारोंसे अमेरिकाको सैनिक सहायता तो कम मिलती है व्यापारादिका काम अधिक होता है अतः उसने सारे यूरोपके व्यापारको अस्तव्यस्त करना उचित न समझकर तारोंको ज्योंका त्यों छोड़ दिया।

तार काटनेपर यह प्रश्न होता है कि क्षतिपूर्ति देना आवश्यक है या नहीं। शत्रु तो हर्जाना माँग ही नहीं सकता, तटस्थको देने न देनेका प्रश्न है। हेगमें स्पष्टतया नहीं कहा गया, इतना ही कहा गया कि जहाँ स्पष्ट नियम न हों वहाँ यथासम्भव स्थल-युद्धके नियमोंसे काम लेना चाहिये। इस दृष्टिसे तटस्थोंकी क्षतिपूर्ति करना उचित प्रतीत होता है। स्पेन-अमेरिकन युद्धमें अमेरिकाने इस प्रकारके तार काटे थे पर उसने इस सिद्धान्तको स्वीकार नहीं किया कि क्षतिपूर्ति करना उसका कर्तव्य है। फिर भी अन्तमें न्यायके नामपर उसने रुपया दिया।

(घ) 'जब कि तार दो तटस्थ देशोंके बीचमें हो'—इस दशामें सभी यह बात मानते हैं कि तारको न काटना चाहिये। पर कभी-कभी एक अड़चन पड़ती है। तारके दोनों सिरे तो दो तटस्थ देशोंमें होते हैं पर इनमेंसे एक (या दोनों) सिरेका सम्बन्ध उस तटस्थ देशमेंसे होकर

जानेवाले दूसरे तारोंके द्वारा एक युद्धकारी राजसे होता है। ऐसी दशामें दूसरे युद्धकारी राजको क्षति हो सकती है। ऐसी अवस्थामें यदि समझाने-बुझानेसे काम न चले तो उसे तार काटनेका अवश्य अधिकार होगा। पर इस सम्बन्धमें कोई निश्चित नियम नहीं है।

युद्धकारी राजोंका तीसरा मुख्य कर्तव्य यह है कि किसी तटस्थ प्रदेशमें युद्धकी तैयारी न करें। यह रुकावट प्रत्यक्ष तैयारीके लिए है। युद्ध-सामग्री मोल लेना, भोज्य पदार्थोंका संग्रह करना या जहाजोंकी परम आवश्यक मरम्मत कर लेना निषिद्ध नहीं है, परन्तु ऐसा काम नहीं किया जा सकता जिससे शत्रुसैन्यकी प्रत्यक्ष अर्थात् अव्यवहित हानि हो। जो युद्धकारी राज बलात् ऐसा करता है और जो तटस्थ राज अपने देशमें ऐसा होने देता है वह दोनों ही निन्दा और दण्डके पात्र हैं। प्रत्यक्ष तैयारीके दो ही मुख्य रूप होते हैं और दोनों ही निषिद्ध हैं पर दोनोंका ही स्वरूप अनिश्चितसा है अतः मतभेदकी जगह रह जाती है।

तटस्थ भूभागमें युद्धकी तैयारी न करना

(क) 'तटस्थ नगरको संगराधार[1] न बनाना चाहिये'—संगराधार उस स्थानको कहते हैं जो लड़ाईका आधार हो, जहाँ लड़ाईका आयोजन होता हो, जहाँसे युद्ध सम्बन्धी काम आरम्भ होते हों। पर यह परिभाषा अब भी गोल है। इसका अंग्रेजी पर्याय कई सन्धियों तथा हेग-नियमावलीमें प्रयुक्त हुआ पर उसकी ठीक-ठीक व्याख्या नहीं की गयी। हॉल कहते हैं कि आधार-की पहिचान यह है कि उससे दीर्घकालतक लगातार काम लिया जाय। इसमें अव्याप्ति दोष प्रतीत होता है। जिस स्थानसे दीर्घकालतक निरन्तर काम लिया जायगा वह तो निश्चय आधार होगा पर यह भी सम्भव है कि किसी स्थानसे एक बार और वह भी थोड़ी ही देरके लिए काम लेकर कोई ऐसा लाभ उठाया जाय जो दूसरे स्थानके दीर्घकालीन निरन्तर प्रयोगसे प्राप्त न हो सके। ऐसी दशामें उस पहिले स्थानको संगराधार न कहना समीचीन नहीं जँचता। इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि यदि किसी स्थानसे कोई ऐसा काम, जो स्वतः ताटस्थ्य-विरुद्ध नहीं है, इतने कालतक या परिमाणमें लिया जाय जिससे किसी युद्धकारी पक्षको प्रत्यक्ष लाभ पहुँचे तो वह स्थान संगराधार हो गया। उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। तटस्थ नौस्थानमें अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर थोड़ी देरके लिए आश्रय लेना निषिद्ध अर्थात् ताटस्थ्य-विरुद्ध नहीं है, पर यदि तटस्थ नौस्थानमें दीर्घकालतक ठहरा जाय या अपना जहाज युद्धके लिए सन्नद्ध किया जाय तो वह नौस्थान संगराधार हो गया चाहे यह काम एक ही बार किया गया हो।

(ख) 'तटस्थ भूभागसे शत्रुपर चढ़ाई न करनी चाहिये'—यह नियम भी सुननेमें बड़ा ही सरल प्रतीत होता है पर चढ़ाई[2] शब्दका अर्थ ठीक नहीं निकलता। इसके अंग्रेजी पर्यायकी भी ठीक यही दशा है। यदि सैनिक, अफसर, शस्त्र इत्यादि सभी उपकरण उपस्थित हों तब तो सन्देह-का कोई स्थल ही नहीं रह जाता पर अड़चन वहाँ पड़ती है जहाँ उनमेंसे एकाध अङ्गका अभाव हो। दो प्रसिद्ध उदाहरण इस बातको समझानेमें बड़ी सहायता देंगे।

१८२८ में पुर्तगालमें यादवी हो गयी। एक दलने तो तत्कालीन महारानी डॉना मेरिआ-का साथ दिया, दूसरेने उनके विरोधी डॉन मीगेलका पक्ष लिया। डॉना मेरिआके कई सौ सिपाही किसी प्रकार इंग्लैण्ड पहुँच गये थे। वहाँसे उन लोगोंने फिर पुर्तगालकी ओर जाकर युद्धमें सम्मि-लित होनेकी तैयारी की। पहिले तो अपने शस्त्र एक जहाजपर भेज दिये, फिर स्वयं सातसौ सैनिक

१ Base of Operations

२ Expedition

प्लीमथ नौस्थानसे टसीइराके लिए, जो डॉना मेरिआके अधीन था, चले। ब्रिटिश सरकारने उन्हें रोकनेके लिए एक जहाज भेजा। उस जहाजके अफसर कप्तान वैल्पोलने उनसे कहा कि आप टसीइरा छोड़कर जहाँ चाहें जायँ क्योंकि टसीइरा जाना 'चढ़ाई' करना होगा। उन लोगोंने कहना तो न माना पर कप्तान वैल्पोलने उनके जहाजको बलात् उधरसे हटा दिया। सभी आचार्यों ने ब्रिटिश सरकारके इस कामको उचित माना है। यद्यपि उन पुर्तगालियोंके पास शस्त्र न थे पर वह उस समय भी सैनिक थे, उनका अफसर सैनिक अफसर था, उनको जहाजपरसे उतरते ही शस्त्र मिल जाना निश्चित था। अतः उनके विषयमें चढ़ाईका शब्द प्रयुक्त हो सकता था।

१८७० में फ्रेंच-जर्मन युद्धके समय कई सौ फ्रेंच और जर्मन अमेरिकासे स्वदेश लौटे पर इनमेंसे अधिकांश छोटी-छोटी टुकड़ियोंमें गये। इसपर किसीने आक्षेप न किया पर एक बार १२०० फ्रांसीसी एक ही जहाजपर सवार हुए जिसपर बन्दूक और गोला-बारूद भी थी। जर्मन सरकारने इसपर आपत्ति की परन्तु अमेरिकन सरकारने उत्तरमें कहा कि इसे चढ़ाई नहीं कह सकते क्योंकि अभी फ्रांसीसी न तो सिपाही हैं, न किसी सैनिक अफसरके अधीन जा रहे हैं।

इन दोनों उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो गया कि शस्त्रका होना न होना चढ़ाईका पर्याप्त लिंग नहीं है। तत्काल ही युद्धमें सम्मिलित होनेका उद्देश्य, सैनिक रीतिसे संघटन और सैनिक अफसरके अधीन होना—यह तीन मुख्य लक्षण माने जाते हैं।

प्रत्येक तटस्थ राजको यह अधिकार है कि अपनी तटस्थताकी रक्षाके लिए किसी युद्धके आरम्भ होनेपर विशेष नियम बना दे। भिन्न-भिन्न राजोंने भिन्न-भिन्न अवसरोंपर ऐसे नियम बनाये भी हैं। जहाँ विशेष नियम प्रकाशित नहीं किये जाते वहाँ साधारण अन्ताराष्ट्रिय उपचारसे ही काम चलता है। नियम कई प्रकारके होते हैं। साधारणतः उभय पक्षके जहाज थोड़े समयके लिए तटस्थ नौस्थानमें ठहर सकते हैं पर उनका प्रवेश तटस्थ राजकी इच्छापर निर्भर है। तटस्थको अधिकार है कि अपने नौस्थानोंमें युद्धकारी राष्ट्रोंके जहाजोंका प्रवेश एकदम निषिद्ध कर दे। इस आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया जा सकता पर तटस्थको चाहिये कि दोनों पक्षोंके साथ निष्पक्ष व्यवहार करे। यदि जहाज बिल्कुल बेकाम हो जाय तो निषेधाज्ञाका उल्लंघन क्षम्य हो सकता है। जहाँ प्रवेशका निषेध नहीं होता वहाँ भी प्रायः ऐसे नियम बना दिये जाते हैं कि जो जहाज आये वह इतने दिन ठहरे, इतना कोयला और खाना ले, अमुक-अमुक प्रकारकी मरम्मत करे, इत्यादि।

ताटस्थ्यकी रक्षाके लिए बने हुए नियमोंका पालन

स्थलयुद्धमें किसी भी पक्षकी सेना तटस्थ सीमाके भीतर नहीं जा सकती पर यदि शत्रु पीछा करते-करते किसी सेनाको तटस्थ सीमातक हटा ले जाय और वह विवश होकर तटस्थ देशमें आ ही जाय तो उसके हथियार रखवा लिये जाते हैं और सिपाही नजरबन्द[१] कर दिये जाते हैं। तटस्थ सरकार उनका भरण-पोषण करती है। युद्ध समाप्त होनेपर उनकी सरकार कुल रुपया चुका देती है और वह अपने घर चले जाते हैं पर युद्धकालमें भागने या घर जानेका प्रयत्न करना या फिर तटस्थ सीमाको पार करनेकी चेष्टा करना या गुप्त रूपसे शत्रुके विरुद्ध किसी प्रकारका आचरण करना या अपने पास शस्त्र छिपा रखना आश्रय देनेवाले तटस्थ राजकी तटस्थताको भंग करना, अतः दण्डार्ह, है।

हम कई बार क्षतिपूर्ति[२] का उल्लेख कर चुके हैं। क्षतिपूर्तिके सैकड़ों अवसर आते हैं। नियम इतने अधिक और टेढ़े हैं कि उनमेंसे एक-न-एक टूटता ही रहता है। सरकारोंकी चाहे जो इच्छा

१ Intern
२ Reparations

हो यह असम्भव है कि लड़ाईकी गर्मागर्मीके समय उत्साही सेनापति और सिपाही अन्ताराष्ट्रिय विधान-की पोथी खोलकर बैठें और उसके आदेशोंके अनुसार फूँक-फूँककर पाँव रखें।

जिस राजकी तटस्थता भंग की जाय उसकी क्षतिपूर्ति करना

यदि कोई सम्पत्ति अवैध रूपसे जब्त कर ली गयी है तो वह लौटायी जा सकती है या यदि वह नष्ट कर दी गयी है तो उसका मूल्य दिया जा सकता है पर इतनेसे ही क्षतिपूर्ति नहीं होती। जिस नियम या स्वत्वका उल्लंघन हो और तीव्र या मन्द जिस कोटिका उल्लंघन हो उसी परिमाणसे क्षतिपूर्ति होनी चाहिये पर अन्ताराष्ट्रिय विधानने इस सम्बन्धमें कोई निश्चित नियम नहीं बनाया है। कभी साधारण खेद-प्रकाशसे काम चल जाता है, कहीं विशद क्षमायाचना करनी होती है, कहीं तटस्थ राजके झण्डेको, जिस स्थानपर ताटस्थ्यका उल्लंघन हुआ होता है वहीं उल्लंघन करनेवाले राजके सेनापति या मंत्री जाकर सलाम करते हैं, कहीं रुपया देना पड़ता है, कभी-कभी उल्लंघन करनेवाला सेनापति निकाल दिया जाता है, कभी-कभी यह सब कुछ करना पड़ता है। पर किस अवसरपर क्या हो और किस रूपमें हो यह कुछ तो अवसरपर, कुछ उभयपक्षके बलाबलपर निर्भर है।

हम ऊपर कह आये हैं कि तटस्थ राजके तटलग्न जलमें कोई सामरिक कार्यवाही नहीं हो सकती। यदि किसी युद्धकारी पक्षका जहाज किसी तटस्थ नौस्थानमें लंगर डाले पड़ा है तो वह उस समयके लिए उस तटस्थ राजकी शरणमें है। यदि उसे दूसरे पक्षका कोई जहाज किसी प्रकारकी क्षति पहुँचाता है तो वह उस तटस्थ राजका अपमान करता है अतः तटस्थ राज ही उससे क्षतिपूर्ति करायेगा, इसके बाद वह तटस्थ राज जैसा उचित प्रतीत होगा उस जहाजके स्वामियोंकी क्षतिपूर्ति कर देगा।

अन्ताराष्ट्रिय विधानके भीतर एक विचित्र सिद्धान्त है जिसे 'अंगरी'[१] विधान कहते हैं। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है और इधर बहुत दिनोंसे इससे काम भी नहीं लिया गया है। इसका

अंगरी

तात्पर्य यह है कि अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर तटस्थ सम्पत्ति लड़ाईके काममें लायी जा सकती है या नष्ट की जा सकती है। तटस्थ सम्पत्ति दो अवस्थाओंमें अपने हाथ आ सकती है—या तो शत्रुके किसी प्रदेशपर अधिकार हो जाय और वहाँ तटस्थ सम्पत्ति हो या अपने ही देशमें वर्तमान हो। ऐसा हो सकता है कि शत्रुके किसी प्रदेश-पर अधिकार करनेपर मुल्कगीरी सेनाको वहाँ किसी तटस्थ राजके शस्त्र या रेलवे एञ्जिन या यंत्र मिल जायँ या अपने ही नौस्थानोंमें किसी तटस्थ देशके जहाज हों। अंगरीके समर्थकोंका कहना है कि अत्यन्त सामरिक आवश्यकता पड़नेपर इनसे काम ले सकते हैं या नष्ट कर सकते हैं। आजकल अधिकांश सम्मति इसके सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि यह वस्तुतः एक प्रकारकी लूट है और ताटस्थ्य-के तत्वतः विरुद्ध है। जो लोग इसका समर्थन करते हैं वह भी इतना मानते हैं कि यदि अंगरी नियमसे काम लिया ही जाय तो छीनी हुई वस्तु जितना शीघ्र हो सके लौटा दी जाय और क्षमा-याचनाके साथ पूरी-पूरी क्षतिपूर्ति की जाय। यह नियम इतना बुरा है कि आजकल स्यात् ही कोई इसका समर्थन करता है, कमसे कम लगभग ७५ वर्षसे किसी राजने इससे काम नहीं लिया है। १८१० में जर्मनोंने छः अंग्रेजी कोयला लादनेवाले जहाजोंको सीन नदीमें ड्यूकेयरके पास डुबा दिया। उनका कहना यह था कि उधरसे फ्रेंच जहाज आ रहे थे उनको रोकनेका इसके सिवाय इस समय कोई दूसरा साधन न था। अंग्रेजोंको क्षतिपूर्ति-स्वरूप रुपया मिला। यही स्यात् अंगरीसे काम लेनेका अन्तिम उदाहरण मिलता है।

---

१ Droit d angarie, jus angariae, angary.

चौथा अध्याय

युद्धकारी राजोंके प्रति तटस्थ राजोंके कर्त्तव्य

पहिले तो यह कर्तव्य बहुत ही अनिश्चित अवस्थामें थे पर १९०७ के हेग-सम्मेलनके पीछे इनका रूप बहुत कुछ स्थिर हो गया है। अब भी कई बातें विवादास्पद रह गयी हैं, उनका निर्णय राजोंकी न्यायबुद्धि और समयोपयोगितापर निर्भर है। लारेंसने इन कर्तव्योंको पाँच कोटियोंमें विभक्त किया है—आत्मनियंत्रणात्मक, परनियंत्रणात्मक, सहिष्णुतात्मक, प्रत्यर्पणात्मक और क्षतिपूर्त्यात्मक। हम इन पाँचों विभागों और इनके अन्तर्गत कर्तव्योंपर पृथक्-पथक् विचार करेंगे।

(१) आत्मनियंत्रणात्मक कर्तव्य[1]

आत्मनियंत्रणका अर्थ हुआ अपने ऊपर नियंत्रण करना, अपने ऊपर अंकुश रखना। इस कोटिमें वह काम परिगणित हैं जिन्हें युद्धकालमें तटस्थ राज स्वयं नहीं करता, यद्यपि दूसरे समय उसे उन्हें करनेका पूरा अधिकार प्राप्त है।

इस प्रकारके कर्तव्योंमें तीन मुख्य हैं—

(क) 'किसी पक्षको सशस्त्र सहायता न देना'—अब महाभारतका समय नहीं रहा जब कि एक राज दोनों पक्षोंका समर्थन कर सकता था जैसा कि श्रीकृष्णने अपनी सेना कौरवोंको देकर और आप पाण्डवोंसे मिलकर किया। अब जैसा कि यूरोपमें पहिले होता था कि किसी पुरानी सन्धिके अनुसार एक पक्षको सहायता देकर भी ताटस्थ्य बना है ऐसा माना जाता था, वह भी नहीं हो सकता। जो किसी भी पक्षकी सहायता करता है वह तटस्थ नहीं माना जा सकता।

(ख) 'किसी पक्षके साथ पक्षपात न करना अर्थात् उभय पक्षको समान अधिकार देना'—पक्षपातमय ताटस्थ्य भी पहिले बहुत प्रचलित था। १७९८ में फ्रांस और संयुक्तराजमें जो सन्धि हुई थी उसके अनुसार फ्रांसको यह विशेष अधिकार मिला था कि यदि उससे किसी राजसे युद्ध हो जाय तो फ्रांसीसी जहाज शत्रुके जहाजोंको पकड़कर अमेरिकन नौस्थानोंमें रख सकें पर कोई दूसरा राज ऐसा न कर सके। उस समय अमेरिकाको कुछ ऐसी गरज थी कि उसने यह शर्त मान ली पर इससे तटस्थतामें बाधा पड़ती थी। उसने इससे छुटकारा पाना चाहा पर फ्रांस सहमत न होता था। १८०० में जाकर पिण्ड छूटा। अब कोई राज ऐसी शर्तें नहीं करता। हम तीसरे अध्यायमें लिख आये हैं कि तटस्थ राजाको अधिकार है कि अपने राज्यमें युद्धकारी राजोंके जहाजोंके आनेका निषेध कर दे पर यह आज्ञा उभय पक्षके लिए होनी चाहिये। ऐसा न करना युद्धमें सम्मिलित होनेके बराबर है।

(ग) 'किसी पक्षको न तो रुपया यों ही दे देना, न ऋण देना और न किसी पक्षको सैनिक सामग्री देना, न किसीके हाथ सैनिक सामग्री बेचना'—इस सम्बन्धमें कोई मतभेद नहीं है। रुपया यों ही उठाकर दे देना अथवा ऋण देना दोनों बराबर हैं। दोनों दशाओंमें एक पक्षको सहायता मिलती है। स्वयं ऋण न देकर किसी दूसरेसे दिला देना या ऋण लेनेमें मध्यस्थ बनना या जामिन बनना भी उसी प्रकार निषिद्ध है। पर यह नियम केवल तटस्थ राजोंके लिए है, प्रजाके लिए नहीं।

---

१ Duties of Abstention

प्रजाको उभय पक्षके साथ व्यापार करनेका पूर्ण अधिकार है। ऋण देना भी व्यापार है अतः वह भी मना नहीं है। आजकल स्यात् ही कोई बड़ा युद्ध होता होगा कि जिसमें तटस्थ व्यापारियोंसे ऋण न लिया जाता हो। प्रजा ऋण दे सकती है। दान देना सम्भवतः अनुचित समझा जायगा परन्तु इसकी इतनी युक्तियाँ निकल सकती हैं कि अड़चन बचायी जा सकती है।

शस्त्र देना या बेचना भी पूर्णतया निषिद्ध है। हेगमें स्पष्ट शब्दोंमें निश्चित हुआ था कि 'किसी तटस्थ शक्तिका किसी युद्धकारी शक्तिको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी रूपसे रणपोत, किसी प्रकारकी युद्धसामग्री या रसद[1] देना निषिद्ध है' (जलयुद्धमें तटस्थोंके सत्व और कर्तव्य—धारा ६)। परन्तु रुपयेवाला नियम यहाँ भी लगता है, राज स्वयं शस्त्रादि नहीं दे सकता पर अपनी प्रजाको रोकना उसका कर्तव्य नहीं है। यदि प्रजा चाहे तो उभयपक्षके हाथ रणसामग्री बेच सकती है। प्रथम महासमरके प्रथम तीन वर्षोंमें इसी प्रकारके व्यापारसे अमेरिका मालामाल हो गया। हेग-नियमावलीके अनुसार 'किसी तटस्थ राजका यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसी पक्षके लिए भेजे जाते हुए शस्त्र, रणसामग्री, या साधारणतः किसी ऐसी वस्तुका, जो किसी स्थल या जल-सेनाके लिए उपयोगी हो सकती है, निर्यात या गमनागमन रोके' (स्थल तथा जल-युद्धमें तटस्थोंके स्वत्व और कर्तव्य-धारा ७)।

यह नियम तो स्पष्ट है पर कभी-कभी इसकी व्याख्याके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है। १९०३ में जापानने अर्जेण्टिनासे दो बड़े रणपोत मोल लिये। इसके कुछ ही महीने पीछे उससे रूससे युद्ध छिड़ा। सम्भवतः जापानने इस युद्धके लिए ही इन पोतोंको मोल लिया होगा पर इस बातका कोई प्रमाण नहीं है कि अर्जेण्टिनाको यह ज्ञात था कि युद्ध होगा। यदि प्रमाण हो भी तो उसे दोषी नहीं ठहरा सकते क्योंकि बिक्रीके समय युद्ध नहीं हो रहा था अतः ताटस्थ्यका प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यदि बिक्रीकी सब कार्यवाही पूरी होनेके पहिले युद्ध छिड़ गया होता तो अर्जेण्टिनाका यह कर्तव्य होता कि युद्ध-समाप्तितक जहाजोंको रोक ले। १८७० में जब कि फ्रांस और जर्मनीमें युद्ध हो रहा था, अमेरिकन सरकारने बहुत सी पुरानी तोपें, बन्दूकें तथा अन्य रण-सामग्री बेची। किसी-न-किसी प्रकार इसमेंसे बहुत सी वस्तुएँ फ्रांस पहुँच गयीं। इससे यह निश्चय है कि मोल लेनेवालोंमें फ्रांसके एजेण्ट थे। जर्मनीने इसपर आपत्ति की। जाँच-पड़तालके बाद भी अमेरिकन सरकारने अपनेको निर्दोष ठहराया। उसका कहना यह था कि हमने जानबूझ कर फ्रांसके हाथ कोई वस्तु नहीं बेची। अपना रद्दी माल खुले मैदान बेचा, चाहे कोई ले। उस समय बात यहींतक रह गयी पर अमेरिकन सरकारका तर्क बहुत सन्तोषजनक नहीं है। कमसे कम अब तो हेगमें यह निश्चय हो ही गया है कि 'प्रत्यक्ष' रूपसे सहायता देना निषिद्ध है। इसका ठीक-ठीक पालन तो इसी प्रकार हो सकता है कि या तो ऐसे समय रणसामग्री, चाहे वह कैसी ही रद्दी हो, बेची ही न जाय और यदि बेची भी जाय तो इस बातका पूरा प्रबन्ध किया जाय कि किसी युद्ध-कारी पक्षके एजेण्टोंके हाथ न लग जाय। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इसकी रोकथाम नहीं हो सकती। यदि अमेरिकन सरकारसे सारी सामग्री कुछ अमेरिकन व्यापारी मोल ले लेते और फिर वह उसे फ्रांसके हाथ बेच देते तो जर्मनीको आपत्ति करनेका कोई अवसर न मिलता।

कभी-कभी आत्मनियन्त्रण इस सीमातक जा सकता है कि उसको पक्षपातके सिवाय कुछ और कहना कठिन हो जाता है। पिछले महासमरके कुछ पहिलेतक अमेरिकाने निःसंगताकी नीति-को अपना रखा था। वह ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता था जिससे उसे यूरोपीय राष्ट्रोंके आये

---

१ सेनाके खाने-पीने-पहिननेकी सामग्री तथा जहाजोंके लिए ईंधन

दिनके झगड़ोंमें फँसना पड़े। जब इटलीने अबिसीनियापर आक्रमण किया तो अमेरिकाने व्यापारियों-को किसी भी पक्षको ऋण देने या शस्त्र देनेकी मनाही कर दी। बात सुननेमें निष्पक्ष प्रतीत होती है परन्तु बलवान् इटलीका कुछ न बिगड़ा, गरीब अबिसीनिया पिस गया। शेर और बकरीकी लड़ाईमें दोनोंके साथ एकसा बर्ताव करना तटस्थता नहीं है।

महासमर छिड़नेपर जब अमेरिकाने उधारपट्टेपर बहुत-सा सामान अंग्रेजोंको और कुछ रूस-वालोंको दिया परन्तु जर्मनीको इस प्रकार सामान पानेकी सुविधा न दी तब तो उसकी तटस्थता बिलकुल ही लुप्त हो गयी, यद्यपि उसने तबतक हथियार नहीं उठाया था।

(२) परनियंत्रणात्मक कर्तव्य[१]

परनियन्त्रणका अर्थ हुआ दूसरेका नियन्त्रण करना, दूसरेको रोकना। 'पर' शब्दके तीन लक्ष्य हैं। एक तो तटस्थ राजको दोनों युद्धकारी पक्षोंका नियंत्रण करना पड़ता है, दूसरे उसे अपनी प्रजाका नियंत्रण करना पड़ता है, तीसरे उसे अन्य व्यक्तियोंका, जो दोमेंसे एक पक्षकी ओरसे काम कर रहे हों, नियंत्रण करना पड़ता है। ताटस्थ्य-विरुद्ध कामोंको न होने देना, उनके करनेसे 'यथा-शक्य' रोकना, ही नियंत्रण है। हमने ऊपर 'यथाशक्य' लिखा है। इसका ठीक-ठीक अर्थ लगाना कठिन है। 'शक्य' की नाप नहीं हो सकती। कोई तटस्थ राज अपनी पूरी शक्ति लगा रहा है या नहीं इसका निर्णय करना बड़ा कठिन होता है। अंग्रेजीमें जो शब्द आता था उसका अर्थ है 'समु-चित प्रयत्नशीलता'[२] पर इसका भी अर्थ गोल है। १८७१ में ब्रिटेन और अमेरिकामें इस सम्बन्धमें विवाद उठा। ब्रिटेनकी ओरसे कहा गया 'किसी विशेष उद्देश्यके लिए जितनी सावधानतासे काम लेनेके लिए सरकार बाध्य है'[३] उसे समुचित प्रयत्नशीलता कहते हैं। अमेरिकाने कहा कि वह प्रय-त्नशीलता समुचित है जो 'अवसरकी आवश्यकता, या अनवधानताके परिणामोंके महत्त्व, के अनुरूप हो'[४]। जो लोग इस विवादमें पंच बनाये गये उन्होंने कहा कि तटस्थोंको चाहिये कि यह देखें कि 'उनके अपने ताटस्थ्य-सम्बन्धी कर्तव्योंके पालन न करनेसे किसी युद्धकारी पक्षकी कितनी हानि होने की आशंका है और उसी हिसाबसे'[५] प्रयत्नशील होना चाहिये। जैसा कि लारेंसने कहा है यह तीनों ही व्याख्याएँ सदोष हैं। न तो इनसे कोई स्पष्ट अर्थ ही निकलता है, न प्रयत्नशीलताकी कोई मात्रा ही निश्चित होती है। हेग-सम्मेलन भी इसकी व्याख्या करनेमें सफल न हुआ। उसने समु-चित प्रयत्नशीलताके स्थानमें लिखा है तटस्थ सरकारका कर्तव्य है कि 'जो साधन उसे प्राप्त हों' उनसे काम ले। यह भी स्पष्ट नहीं है। इसमें जो 'साधन' शब्द आया है वह गोल है। यदि वह केवल तोप, बन्दूक, रणपोत, सेना आदिके लिये ही प्रयुक्त होता तो स्यात् कठिनाई न पड़ती; पर इसका अर्थ और भी व्यापक है। किसी-किसी देशमें ऐसे विधान हैं या हो सकते हैं कि उच्चपदस्थ

---

१ Duties of Prevention

२ Due Diligence

३ 'that measure of care which the government is under an obligation to use for a given purpose'

४ 'commensurate with the emergency or with the magnitude of the results of negligence.'

५ 'in exact proportion to the risks to which either of the belligerents may be exposed from a failure to fulfil the obligations of neutrality on their part.'

सरकारी कर्मचारी बिना पार्लमेण्टके परामर्शके अमुक-अमुक अधिकारसे काम न लें। ऐसी दशामें सम्भव है कि ताटस्थ्यकी रक्षा जल्दीमें न हो सके। अतः उचित यह था कि सब मुख्य-मुख्य साधनोंका नामतः उद्देश कर दिया जाता।

अब हम उन मुख्य कर्तव्योंका पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे जो परनियंत्रणके अन्तर्गत हैं।

(क) 'अपने राज्यमें युद्ध न होने देना'—इसका कई बार उल्लेख हो चुका है और अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। राज्यसे तटलग्न जलसे भी अभिप्राय है।

(ख) 'अपने राज्यमेंसे किसी पक्षकी स्थल सेनाको न जाने देना'—यह भी स्पष्ट है। जलसेनाके लिए यह नियम नहीं है। यदि कोई डमरूमध्य किसी तटस्थ राजके तटलग्न जलके अन्तर्गत हो तो वह उसे बन्द नहीं कर सकता। उभयपक्षके रणपोतोंको उसमेंसे गमनागमनका पूर्ण अधिकार है। यह हम पहिले कह चुके हैं कि तटस्थ राजोंको अधिकार है कि युद्धकारी राजोंके जहाजोंको अपने नौस्थानोंमें प्रवेश करनेसे निषेध कर दें पर इस सम्बन्धमें मतभेद है कि तटलग्न जलमेंसे होकर आने-जानेका निषेध करनेका अधिकार है या नहीं।

(ग) 'अपने राज्यमें न चढ़ाईकी तैयारी होने देना, न चढ़ाईकी यात्रा आरम्भ होने देना'—चढ़ाईकी व्याख्या पहिले की जा चुकी है। युद्धकारियोंका तो कर्तव्य है ही कि तटस्थ प्रदेशमें ऐसा न करें, तटस्थोंको भी चाहिये कि उन्हें रोकें। हेग-नियमावलीमें लिखा है कि प्रत्येक राजको चाहिये कि अपने किसी नौ-स्थानसे ऐसे किसी जहाजको शस्त्रान्वित या सज्जित न होने दे जिसके विषयमें यह आशंका हो कि यह किसी ऐसे राजके विरुद्ध कोई सामरिक कार्य करनेके उद्देश्यसे जा रहा है जिससे उससे (अर्थात् जिस तटस्थ राजका नौस्थान है) मैत्री है। ऐसे व्यापारिक जहाजोंको बाहर जानेसे रोकनेका भी आदेश है जो तटस्थ प्रदेशके भीतर रहकर पूर्णतया या अंशतया युद्ध योग्य बना दिये गये हों। यह नियम हैं तो बड़े ही व्यापक पर इनमें भी झगड़ेके कई स्थल हैं। 'शस्त्रान्वित होनेका[1]' ठीक अर्थ क्या है? जहाजपर जितने मनुष्य हैं उन सबके पास किसी-न-किसी प्रकारका शस्त्र हो पर जहाजपर तोपें न हों तो उसे 'शस्त्रान्वित' मानें या न मानें? कितने और किस प्रकारके शस्त्रोंके होनेसे जहाजको शस्त्रान्वित कहना चाहिये? सज्जित[2] का अभिप्राय क्या है? सबसे टेढ़ा प्रश्न उद्देश्य[3] का है। इस बातका निश्चय कैसे किया जाय कि अमुक जहाज किस उद्देश्यसे बाहर जा रहा है? ऐसे-ऐसे शब्दोंके पीछे कभी-कभी बहुत विवाद बढ़ जाता है। इनका प्रयोग इस बातका प्रमाण है कि स्वयं नियामक लोगोंमें ही मतैक्य न हो पाया।

(घ) 'अपने राज्यमें किसी पक्षकी स्थल या जल सेनाके लिए सैनिक भर्ती न होने देना'—यह नियम भी स्पष्ट है। कोई युद्धकारी राज किसी तटस्थ देशमें सिपाहियोंकी भर्तीका प्रबन्ध नहीं कर सकता। यदि वह करना भी चाहे तो तटस्थ देशको उसे रोकना चाहिये। आत्मसम्मानी स्वतन्त्र देश ऐसा करते भी हैं। गत महासमरमें नेपाल तटस्थ था। कमसे कम न तो उसने जर्मनी आदिके विरुद्ध किसी प्रकारकी रणघोषणा की, न सन्धि-परिषद्‌में ही किसीने उससे बात पूछी फिर भी कई सहस्र गुर्खे अंग्रेजी सेनाके लिए स्पष्ट रूपसे नेपालमें भर्ती हुए। यह नेपाल सरकारकी आत्मसम्मानहीनताका प्रमाण है। यदि नेपालका सचमुच अन्ताराष्ट्रीय जगत्‌में कोई स्थान होता, जैसा कि अपनेको स्वतन्त्र कहनेवाले राजका होना चाहिये, तो उसे लेनेके देने पड़ जाते। अस्तु,

१. Arming
२. Fitting out
३. Intent

यह नियम तो है पर कभी-कभी इसका उल्लंघन भी हो जाता है। जब यूनान-वासी तुर्की आधिपत्य-से निकलकर स्वतन्त्र होनेका प्रयत्न कर रहे थे उस समय ब्रिटेन तटस्थ था पर अंग्रेजोंको यूनानके नामसे प्रेम था अतः बहुत-से अंग्रेज जाकर यूनानी सेनामें भर्ती हुए। कई बार तुर्कोंका यूरोपके सदल राजोंसे युद्ध हुआ है। ऐसे अवसरोंपर भारतके मुसलमानोंने तुर्कोंके साथ बड़ी सहानुभूति दिखलायी है। यदि उनमें सचमुच वीर्य होता तो सम्भवतः तुर्कीकी ओरसे लड़ने भी जाते। ऐसे अवसरोंपर तटस्थ राजोंके लिए अपनी प्रजाका उत्साह संवरण करना बड़ा कठिन होता है। इसलिए वह आँख बन्द करके चुप्पी साध लेते हैं। यदि दूसरे पक्षने आक्षेप किया तो यही कह सकते हैं कि हम अपने भरसक ऐसा नहीं होने देते, यदि कुछ लोग चुपकेसे निकल जाते हैं तो हमें दुःख है पर हम विवश हैं। परन्तु ऐसा होने देना ताटस्थ्यके सर्वथा विरुद्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। स्पेनके यादवीय युद्धका चर्चा पहिले भी आ चुका है। कई हजार जर्मन और इटालियन विद्रोही फ्रैङ्कोकी सेनामें भर्ती हुए। फिर बहुतसे अंग्रेज, अमेरिकन तथा अन्य देशोंके उदारचेता युवक सरकार-पक्षकी ओरसे लड़ने आये। फिर भी किसी राजने, जिसकी प्रजा इस प्रकार लड़ रही थी, यह स्वीकार नहीं किया कि उसने तटस्थता छोड़ दी।

(ङ) 'युद्धकारी रणपोतों और उनके गिरफ्तार किये हुए जहाजोंको अपने नौ-स्थानों और तटलग्न सागरोंमें अनुचित आश्रय न लेने देना'—अनुचित 'आश्रय'के दो अर्थ हैं। उसका एक लक्ष्य तो रणपोतोंको संख्याकी ओर है, दूसरा लक्ष्य उस समयकी ओर है जिसके भीतर जहाजोंको चले जाना चाहिये। पहिले तो इस सम्बन्धमें कोई नियम न था पर १९०७के हेग-सम्मेलनने यह निश्चित कर दिया कि किसी तटस्थ नौस्थान या तटलग्न सागरमें किसी एक युद्धकारी राजके तीनसे अधिक रणपोत एक ही समय नहीं रह सकते पर विशेष आवश्यकता देखकर तटस्थ इस संख्याको बढ़ा-घटा सकता है।

ठहरनेके समयके विषयमें भी बहुत मतभेद था। पहिले-पहिल ब्रिटेनने यह नियम बनाया कि कोई युद्धकारी रणपोत किसी ब्रिटिश नौस्थान या तटलग्न सागरमें २४ घण्टेसे अधिक नहीं ठहर सकता। हेग-सम्मेलनने इस नियमको सार्वभौम बना दिया पर फ्रांस और जर्मनीके विरोधके कारण तटस्थ राजोंको विशेष नियम बनानेका अधिकार दे दिया। यह भी नियम हो गया कि यदि युद्ध छिड़नेके समय कोई युद्धकारी रणपोत किसी तटस्थ सागरमें हो तो उसे २४ घण्टेके भीतर चले जाना चाहिये। पर तटस्थ राजोंको अधिकार है कि वह २४ घण्टेके स्थानमें अपने-अपने यहाँ कोई और अवधि नियत कर दें। जो नियत अवधि हो उसका अतिक्रमण उसी अवस्थामें हो सकता है जब कि जहाज खराब हो गया हो या ऋतु प्रतिकूल हो। इस रुकावटके दूर होते ही चले जाना चाहिये। यदि कोई रणपोत कोयला लेनेके लिए आये तो उसे भी २४ घण्टेके भीतर चले जाना चाहिये।

कभी-कभी एक ही नौस्थानमें दोनों विरोधी पक्षोंके जहाज आ जाते हैं। इस अवस्थाके लिए यह नियम है कि यदि दोनों ही रणपोत हों तो जो जहाज पहिले आया हो वह पहिले जाय और उसके जानेके २४ घण्टेके पीछे दूसरा जाय। यदि पहिले आया हुआ जहाज बेकार हो गया हो तो उसे पीछे जानेकी अनुज्ञा दी जा सकती है। यदि एक पक्षका जहाज रणपोत हो और दूसरे पक्षका व्यापारिक पोत हो तो पहिले व्यापारिक पोत जायगा और रणपोत उसके २४ घण्टे बाद निकलेगा।

गिरफ्तार किये हुए जहाजोंके सम्बन्धके नियम अच्छे नहीं हैं। ब्रिटेनने अपने यहाँके लिए

तो यह नियम बना लिया है कि कोई गिरफ्तार किया हुआ जहाज ब्रिटिश तटस्थताकी दशामें किसी ब्रिटिश नौस्थान या समुद्रमें लाया जा ही नहीं सकता। जापानका भी यही मत था। पर अन्य राज इसे पसन्द नहीं करते। हेगमें यह नियम बना कि यदि गिरफ्तार किया हुआ जहाज खराब हो गया हो, ऋतु प्रतिकूल हो, कोयला न रह गया हो या रसद चुक गयी हो तो उसे तटस्थ सीमाके भीतर ला सकते हैं। यह शर्तें तो उतनी बुरी नहीं है पर पीछेसे एक बहुत ही खराब शर्त जोड़ दी गयी। वह यह है कि यदि रणपोत अपने शिकारको स्वदेशके किसी नौस्थानमें न पहुँचा सके और उस गिरफ्तार किये हुए जहाजके विषयमें (युद्धकारी राज्यमें स्थित) न्यायालयमें कागजोंके आधारपर विचार हो रहा हो तो न्यायालयके निर्णय सुनानेतक रक्षाके लिए उसे तटस्थ समुद्र या नौस्थानमें रख सकते हैं।

(च) 'रणपोतोंकी शक्तिमें वृद्धि न होने देना'— शक्तिकी वृद्धि रणसामग्री संग्रह करने और सिपाही भर्ती करनेसे होती है। यह तो रोका जा सकता है पर एक नियम यह भी है कि रणपोतोंको ऐसी मरम्मत करनेकी अनुज्ञा दे दी जाय जिससे वह समुद्रमें चलने योग्य हो जायँ पर उनकी सामरिक शक्ति न बढ़े। यह नियम अस्पष्ट है। यदि कोई जहाज खराब हो रहा है तो उसकी सामरिक शक्ति भी गिर गयी है। यदि वह समुद्रमें चलने योग्य बनाया जायगा तो उसकी सामरिक शक्ति भी बढ़ेगी। फिर भी जब नियम है तो उसका किसी-न-किसी प्रकार पालन होता ही है। जिसकी अतिशीघ्र मरम्मत हो सकती है उसको अनुज्ञा दे दी जाती है। स्थानीय अधिकारी देखते रहते हैं कि विशेष काम न होने पावे। यदि किसी जहाजको बहुत मरम्मतकी आवश्यकता होती है तो उसे निःशस्त्र करके मरम्मत होने देते हैं और युद्धकी समाप्तितक जाने नहीं देते।

(छ) 'किसी पक्षके जहाजोंको बार-बार और अनुचित परिमाणमें रसद संग्रह करनेसे रोकना'—यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि तटस्थ राजका कर्तव्य केवल अपने राज्यके भीतर रोकना है और यह नियम केवल अनिषिद्ध रसदके लिए है। निषिद्ध रसद अर्थात् गोला-बारूद-शस्त्र तो किसी अवस्थामें नहीं संग्रह किया जा सकता।

रसद शब्द यहाँ दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। उसका पहिला और साधारण अर्थ भोज्य पदार्थ है। इसके लिए यही नियम है कि जितनी रसद शान्तिकालमें इस जहाजपर रहती है उतनी ली जा सकती है। इस परिमाणका अन्तिम निर्णय तटस्थ राजके अधिकारियोंके हाथमें रहता है। इसके लिए सकृदसकृत्का भी कोई नियम नहीं है। जब-जब रसद चुक जाय तब-तब लेने आ सकते हैं पर तटस्थ अधिकारियोंको यह अधिकार है कि वह देना अस्वीकार कर दें।

रसदका दूसरा अर्थ ईंधन है। पहिले केवल कोयला प्रयुक्त होता था, अब तेलसे अधिक काम लिया जाने लगा है। इस सम्बन्धमें अभी एक सम्मति नहीं है। हेग-सम्मेलन भी कुछ निश्चय न कर सका। रूस और फ्रांसके पास ऐसे स्थान कम हैं जहाँ एक बार ईंधन चुक जानेपर उनको फिर सुगमतासे मिल सके। ब्रिटेनका राज्य पृथ्वीके कोने-कोनेमें है अतः उसके जहाजोंको सुगमतासे ईंधन मिल सकता है। इसलिए इन दोनों पक्षोंका सहमत होना असम्भव था। इस समय दो नियम हैं। पहिला तो वह है जिसके लिए ब्रिटेनका आग्रह था अर्थात् यह कि इतना ईंधन दिया जाय जिससे वह जहाज अपने राजके निकटतम नौस्थानतक, या किसी तटस्थ देशके ऐसे नौस्थानतक जिसका नाम बतला दिया जाय, पहुँच जाय। 'जिसका नाम बतला दिया जाय' एक गोल-सा वाक्य है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि ईंधन लेनेकी अनुज्ञा देनेवाला तटस्थ राज कह सकता है कि हम तुमको अमुक तटस्थ राजके अमुक नौस्थानतक पहुँचने भर ईंधन देंगे। दूसरा नियम वह

एक और दशामें प्रत्यर्पणका कर्तव्य उपस्थित होता है। हम परनियन्त्रणके सम्बन्धमें बतला चुके हैं कि किन-किन अवस्थाओंमें पकड़े हुए जहाज तटस्थ समुद्रमें लाये जा सकते हैं। यदि उन अवस्थाओंके सिवाय किसी और दशामें कोई पकड़ा हुआ जहाज लाया जाय तो तटस्थ राजका कर्तव्य होगा कि उसे छुड़ाकर उसके स्वामियोंको लौटा दे और उसपर पकड़नेवाले जहाजके जो नाविक हों उन्हें नजरबन्द कर दे।

(५) क्षतिपूर्त्यात्मक कर्तव्य[१]

ऊपर बार-बार कहा जा चुका है कि तटस्थका कर्तव्य है कि इस बातका भरसक प्रयत्न करे कि उसके द्वारा किसी पक्षको सहायता न मिले और किसी पक्षकी क्षति न हो। यदि पूरा प्रयत्न करनेपर भी उसे सफलता न हो तो वह निर्दोष है पर यदि उसकी भूल या असावधानतासे किसी स्पष्ट कर्तव्यका उल्लंघन हुआ तो वह दोषी है। वह चाहे यह प्रमाणित कर दे कि उसका उद्देश्य शुद्ध था पर इससे उसका अपराध मिट नहीं जाता। ऐसी अवस्थामें उसका यह कर्तव्य होगा कि जिस युद्धकारी पक्षकी हानि हुई है उसकी समुचित क्षतिपूर्ति करे। यह क्षतिपूर्ति क्या और कितनी हो इसका निर्णय या तो दोनों राज स्वयं आपसमें कर लेंगे या किसी तीसरे राजको पंच मानकर करा लेंगे या अन्ताराष्ट्रीय न्यायालय करेगा।

यह पाँच कर्तव्य-कोटियाँ तो सर्वसम्मत हैं ही, इनके साथही एक छठेको जोड़नेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। उसे हम शान्ति-स्थापनात्मक कर्तव्य कह सकते हैं। प्रत्येक तटस्थ राजको शान्तिका पुनः स्थापित कराना अपना परम कर्तव्य समझना चाहिये। इस सम्बन्धमें तटस्थ राजोंको यथासम्भव मिलकर काम करना चाहिये। इसके लिए सभी उचित साधनोंसे काम लेना चाहिये। यदि युद्धकारी राजोंके साथ किसी प्रकारकी रियायत न की जाय, प्रत्येक नियम-प्रतिकूल कामके लिए पूरा-पूरा दण्ड दिया जाय और क्षतिपूर्ति स्वरूप बहुत-सा रुपया लिया जाय और मेल करानेका निरन्तर प्रयत्न किया जाय तो युद्ध बहुत जल्द समाप्त हो। पर यह तभी हो सकता है जब राजसमाजसे अन्ध स्वार्थ उठ जाय। जबतक यह धारणा रहेगी कि दो राजोंके लड़कर दुर्बल हो जानेमें अपना हित है तबतक यह शान्ति-स्थापनाका भाव नहीं आ सकता।

एक और बात है। जब महाशक्तियाँ युद्धक्षेत्रमें उतर आती हैं तो तटस्थोंसे कुछ भी करते-धरते नहीं बनता। और बातें तो दूर रहीं, नाममात्रको भी अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा करना दूभर हो जाता है। पिछले महासमरमें यह बात स्पष्ट हो गयी। दुर्बल तटस्थोंका, जो पृथ्वीके कोनोंमें इधर-उधर पड़े कृत्रिम स्वाधीनतामें दिन काट रहे हों, मिलना कठिन होता है और यदि वह मिलकर भी काम करें तो कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी बात तो स्यात् तभी सुनी जा सकती है जब सब बलवान् राज आपसमें लड़कर जर्जर हो जायँ।

---

१ Duties of Reparation

पाँचवाँ अध्याय

युद्धकारी राज और तटस्थ व्यक्तियोंका साधारण वाणिज्य

तीसरे और चौथे अध्यायोंमें युद्धकारी और तटस्थ राजोंके पारस्परिक व्यवहारका वर्णन हुआ है। अब हमको युद्धकारी राजों और तटस्थ व्यक्तियोंके सम्बन्धपर विचार करना है अर्थात् यह देखना है कि युद्धकारी 'तटस्थ' शब्द उन लोगोंके लिए नहीं आया है जो अपने विचारोंके कारण उभय-पक्षकी ओरसे उदासीन हैं वरन् उन लोगोंके लिए जो तटस्थ राजोंकी प्रजा हैं। चूँकि युद्धकालमें भी व्यापार होता रहता है और तटस्थ राज्योंके निवासी उभय-पक्षके साथ व्यापार करते हैं इसलिए उनको युद्धकारी राजोंसे निपटनेके लिए प्रस्तुत रहना पड़ता है। प्रत्येक पक्षका यह लक्ष्य होता है कि दूसरे पक्षको कष्ट पहुँचे और व्यापार बन्द करना इसका एक प्रबल साधन है इसलिए स्वभावतः व्यापारियोंपर, जिनमें युद्धकालमें बहुधा अधिकतर तटस्थदेशीय होते हैं, कुदृष्टि रहती है। फिर भी अब इस सम्बन्धमें बहुतसे नियमोपनियम बन गये हैं, उन्हींका यहाँ दिग्दर्शन कराना है।

जो नियम बने हैं वह दो सिद्धान्तोंके संघर्षके प्रतिफल-स्वरूप हैं। एक ओर तो युद्धकारियों-का यह सिद्धान्त है कि हमें शत्रुको पंगु बनानेके सब साधनोंसे काम लेनेका पूरा अधिकार है, दूसरी ओर तटस्थोंका यह सिद्धान्त है कि हमको अपने मित्रोंके साथ व्यापार करनेका पूरा अधिकार है। इस संघर्षमें व्यापारियोंका पक्ष धीरे-धीरे प्रबल होता गया है क्योंकि अब व्यापारका रूप अन्ताराष्ट्रीय हो गया है और प्रायः सभी देशोंके व्यापारियोंका हित मिल जाता है। स्थल-युद्धमें यह प्रश्न उतना कठिन रूप धारण नहीं करता। पृथ्वीका प्रायः प्रत्येक भाग किसी-न-किसी राजके राज्यमें है। युद्धकारी देशोंके भीतर तटस्थ सम्पत्ति बहुत ही कम पायी जा सकती है। जो सम्पत्ति होगी वह भी आयात-कर देकर आयी होगी और यदि अचल होगी तो भी अन्य सम्पत्तिकी भाँति उसपर भी साधारण राज-कर लगते होंगे। अतः यदि मुल्कगीरी सेनाके हाथ ऐसी सम्पत्ति लग जाय तो वह उसे शत्रु-सम्पत्तिवत् बर्त सकती है। खुले समुद्रपर किसीका शासन नहीं है, कोई कर नहीं लगता। तटस्थोंके भी जहाज होते हैं और युद्धकारियोंके भी। युद्धकारी जहाजोंपर तटस्थ सम्पत्ति और तटस्थ जहाजोंपर युद्धकारी सम्पत्ति पायी जाती है। इसलिए समस्या जटिल हो जाती है। बिना मित्रको क्षति पहुँचाये शत्रुको हानि पहुँचाना तो अभीष्ट होता है पर इसकी सिद्धि बड़ी कठिन होती है।

अगले दो अध्यायोंमें भी तटस्थोंके युद्धकालीन वाणिज्यका वर्णन होगा पर वह वाणिज्य विशेष प्रकारका और विशेष दशाका होगा। यहाँ हमें साधारण वाणिज्यका—जैसा वाणिज्य-व्यापार साधारणतः शान्तिकालमें भी होता है—विचार करना है। इसके विषयमें समय-समयपर दो सिद्धान्त माने गये हैं और आजकल जो नियमोपनियम प्रचलित हैं वह उन्हींके आधारपर बने हैं। वह सिद्धान्त यह हैं—

(१) मालका स्वरूप उसके स्वामीके अनुरूप होगा। तटस्थ स्वामीका माल शत्रुपोतपर भी अग्राह्य है, शत्रुका माल तटस्थ पोतपर भी ग्राह्य है।

(२) मालका स्वरूप जहाजके अनुरूप होगा। शत्रुपोतपरका सब माल, चाहे वह किसीका हो, ग्राह्य है, तटस्थ पोतपरका सब माल, चाहे वह किसीका हो, अग्राह्य है।

यह दो तो मुख्य सिद्धान्त हैं पर कुछ दिनोंके लिए फ्रांसने एक तीसरा सिद्धान्त निकाला जिसे संसर्गदोष सिद्धान्त[१] कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि शत्रुमालके संसर्गसे तटस्थ सम्पत्ति भी दूषित हो जाती है। यदि शत्रुपोतपर तटस्थ माल लदा हो तो वह भी शत्रुका माल हो जाता है और यदि तटस्थ पोतपर शत्रुका माल लदा हो तो वह जहाज भी शत्रुपोत हो जाता है।

सत्रहवीं शताब्दीमें यूरोपमें नौबलसम्पन्न राष्ट्रोंका अभ्युदय आरम्भ हुआ। ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, हालैण्ड, पुर्तगाल, प्रशा, रूस और अमेरिकाकी नौ-सेनाकी वृद्धिके साथ-साथ वाणिज्य-व्यापारकी भी वृद्धि होने लगी। इस बीचमें कई बड़े युद्ध हुए जो वर्षोंतक चले। इन युद्धोंमें भिन्न-भिन्न राज उपर्युक्त तीनों नियमोंको स्वेच्छापूर्वक बर्तते थे। एकही साथ कई प्रकारके नियमोंके बर्ते जानेके कारण व्यापार नष्टभ्रष्ट हो जाता था क्योंकि व्यापारियोंको यह निश्चय ही नहीं रहता था कि किस समय किस नियमके चंगुलमें फँस जायँगे। जो राज एक समय एक नियम बर्तता था वही दूसरे समय दूसरा नियम बर्तता था। ब्रिटेन हंसवत् नीर-क्षीर-विवेक करनेका पक्षपाती था। वह शत्रुपोतपर लदे हुए तटस्थ मालको छोड़कर केवल पोतको गिरफ्तार करता था और तटस्थ पोतपर लदे हुए शत्रुमालको भी गिरफ्तार करता था। यह अवस्था या अनवस्था बहुत दिनोंतक नहीं रह सकती थी।

१८५५ में क्रीमियन युद्ध हुआ। इसमें एक ओर तुर्की, ब्रिटेन और फ्रांस थे, दूसरी ओर रूस था। युद्धके अन्तमें १८५६ में सन्धि-परिषद् पैरिसमें बैठी। जिस सन्धि द्वारा युद्ध समाप्त हुआ उसका नाम पैरिसकी सन्धि है। उसी अवसरपर एकत्र हुए प्रतिनिधियोंने एक और बड़े महत्त्वका काम किया। उन्होंने उस विवादग्रस्त प्रश्नपर भी जिसका दिग्दर्शन हमने इस अध्यायमें किया है, विचार किया। अन्तमें आपसमें समझौता करके जो निश्चय हुआ उसे पैरिसकी घोषणा[२] कहते हैं। घोषणाकी दूसरी और तीसरी धाराएँ बड़े महत्त्वकी हैं। उन्होंने जिस सिद्धान्तका समर्थन किया है वह आजकल सर्वमान्य है। उसका आशय यह है कि जहाजपरके मालका रूप उस जहाजके झण्डेके अनुरूप होता है और तटस्थ सम्पत्ति सदैव अग्राह्य है। तटस्थ जहाजपरका सब माल तटस्थ और शत्रुजहाजपरका सब माल शत्रुमाल माना जाता है; परन्तु शत्रुपोतपरका तटस्थ माल तटस्थ ही रहता है। वह धाराएँ इस प्रकार हैं—

पैरिसकी घोषणा

निषिद्ध वस्तुओंको छोड़कर शत्रुके सब मालकी रक्षा तटस्थ झण्डा करता है (धारा २)।

निषिद्ध वस्तुओंको छोड़कर शत्रु झण्डेके नीचेकी तटस्थ सम्पत्ति जब्त नहीं की जा सकती (धारा ३)।

पहलेकी अपेक्षा यह नियम बहुत उदार हैं और सम्प्रति तटस्थ वाणिज्यकी इससे अधिक रक्षाकी आशा नहीं की जा सकती।

इस घोषणाकी अन्तिम धारा कहती है कि यह घोषणा उन्ही राजोंको बाध्य कर सकेगी जो इसपर हस्ताक्षर कर देंगे। अमेरिका, चीन, स्पेन आदि कई राजोंने आरम्भमें हस्ताक्षर नहीं किया। इस सम्बन्धमें दो प्रश्न उठते हैं; यदि दो ऐसे राजोंमें युद्ध हो जिन्होंने हस्ताक्षर न किया हो या दो ऐसे राजोंमें युद्ध हो जिनमेंसे एकने हस्ताक्षर न किया हो तो उस दशामें क्या होगा? इन प्रश्नोंका

१ Doctrine of Infection

२ Declaration of Paris

उत्तर राजोंका व्यवहार देता है। १८८८ में स्पेन और अमेरिकामें युद्ध हुआ। इन दोनोंने हस्ताक्षर नहीं किया था पर दोनोंने इसका पालन किया। १८९४ में चीन और जापानमें युद्ध हुआ। चीनने हस्ताक्षर नहीं किया था पर घोषणाका अनुगमन किया। १८६३-१८७१ के फ्रांसीसी-जर्मन युद्धमें स्पेन और अमेरिकाके वाणिज्यके साथ इसीके अनुसार दोनों पक्षोंने व्यवहार किया था यद्यपि स्पेन और अमेरिकाने हस्ताक्षर नहीं किया था। इन उदाहरणोंसे यह निर्विवाद है कि हस्ताक्षर किया हो या न किया हो, सभी राजोंने इसे मान लिया है।

मूल झगड़ा तो तय हो गया पर अभी दो तीन गौण विवादस्थल रह गये हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि युद्धके समय एक युद्धकारी पक्ष कोई ऐसा व्यापार जो शान्तिकालमें केवल उसके प्रजावर्गीयोंके हाथमें रहता है, तटस्थोंको सौंप देता है। ब्रिटेनका कहना है कि जो तटस्थ इस अनुज्ञासे लाभ उठायें वह शत्रुके सहायक होंगे और इसलिए उनके साथ शत्रुवत् आचरण किया जायगा। अमेरिकाका मत इसके विरुद्ध है।

दो विवादास्पद प्रश्न

दूसरा प्रश्न सशस्त्र व्यापारिक पोतोंके सम्बन्धमें उठता है। आजकल व्यापारिक पोतोंपर भी रक्षार्थ कुछ शस्त्रादि रहते हैं। मान लीजिये कि किसी युद्धकारी देशके व्यापारिक जहाजपर तटस्थ माल है। यदि यह जहाज शत्रुके हाथ पड़ जाय तो मालकी क्या दशा होगी। ब्रिटेनका कहना है कि सशस्त्र जहाजपर होनेके कारण उसका तटस्थ स्वरूप चला गया। अमेरिकाका सिद्धान्त है कि यदि तटस्थ व्यापारीकी अनुमतिसे शस्त्र रखे गये और उनसे काम लिया गया हो तो तटस्थ रूपका क्षय हुआ अन्यथा नहीं। यह प्रश्न भी झगड़ेका घर हो सकता है। इसलिए लारेन्स कहते हैं पैरिसकी घोषणा अत्युत्तम वस्तु है पर उसके लिए एक प्रामाणिक भाष्यकी आवश्यकता है।

एक और प्रश्न था जो बड़े झगड़े खड़े कर रहा था। कई तटस्थ राजोंका यह कहना था कि यदि हमारे वाणिज्यपोतोंके साथ हमारे रणपोतोंका गारद[१] रहे तो उन वाणिज्यपोतोंकी तलाशी न ली जाय। रणपोतोंका साथ होना ही इस बातका प्रमाण मान लिया जाय कि इसपर कोई शत्रु-सम्पत्ति नहीं है। अन्य राज इसका विरोध करते थे। कई बार लड़ाइयाँ भी हो गयीं। परन्तु लन्दनकी घोषणा[२] (१९०९) ने इस झगड़ेका भी अन्त कर दिया। उसने यह निश्चय कर दिया कि यदि तटस्थ जहाजोंके साथ उनके राजके रणपोतोंका गारद हो तो उनकी तलाशी न ली जाय। यह निश्चय हुआ कि यदि इस प्रकार किसी रक्षित जहाजका किसी युद्धकारी रणपोतसे सामना हो जाय तो गारद-पोतका अध्यक्ष शत्रुपोतको व्यापारिक पोतके माल आदिका पूरा ब्योरा दे दे। यदि रणपोत इससे सन्तुष्ट न हो तो गारद-पोतका अध्यक्ष शत्रुपोतकी स्वयं जाँच करे। यदि उसे भी कुछ सन्देह हो तो वह रणपोतको सौंप दे और आप हट जाय, यदि नहीं तो दोनों अफसरोंके मतभेदकी अवस्थामें उस समय कुछ नहीं हो सकता। पीछेसे उस युद्धकारी राजकी सरकार और तटस्थ राजकी सरकारमें लिखा-पढ़ी होती रहेगी।

गारद

---

१ Convoy.

२ Declaration of London.

छठाँ अध्याय

निषिद्ध व्यापार

पाँचवें अध्यायमें भी निषिद्ध व्यापार अर्थात् निषिद्ध वस्तुओंके व्यापारका उल्लेख आ चुका है। निषिद्ध वस्तु[1] 'खुले समुद्रमें या किसी युद्धकारी पक्षके तटलग्न जलमें जहाजपर लदी हुई उस तटस्थ सम्पत्तिको कहते है जो युद्धमें उपयोगी हो सकती है और शत्रुके सामरिक कार्योंमें सहायता पहुँचानेके लिए जा रही है'। यह परिभाषा समझनेमें कठिन नहीं है। युद्धकालमें भी तटस्थप्रदेशीय प्रजा उभयपक्षसे वाणिज्य सम्बन्ध रखती है। वह उभयपक्षके हाथ भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ बेचती है। इनमेंसे कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जो लड़ाईके लिए उपयोगी होती हैं। इसलिए यदि एक पक्षके लिए ऐसी कोई वस्तु जाती होगी तो दूसरा पक्ष उसे अवश्य रोकना चाहेगा। उसकी दृष्टिमें वह वस्तु निषिद्ध होगी। परन्तु यह निश्चय हो जाना चाहिये कि वह वस्तु वस्तुतः शत्रुके पास जा रही है। यदि वह किसी तटस्थके पास जा रही है तो वह निषिद्ध नहीं हो सकती।

अन्ताराष्ट्रीय विधानके पुराने आचार्य ग्रोशिअसने वाणिज्य-सामग्रीको तीन विभागोंमें बाँटा था —

(१) शस्त्रादि जो केवल युद्धके लिए उपयोगी होते हैं,

(२) ऐसी वस्तुएँ जिनका युद्धमें कोई उपयोग नहीं है, जैसे घड़ी, ब्रश, पुस्तकें इत्यादि, और

(३) ऐसी वस्तुएँ जो शान्ति और युद्ध दोनों कालमें उपयोगी होती हैं, जैसे रुपया, जहाज, अन्न इत्यादि।

इनमेंसे द्वितीय विभाग कदापि निषिद्ध नहीं ठहराया जा सकता और प्रथम सदैव ही निषिद्ध ठहराया जायगा; द्वितीयके बारेमें ही विवाद हो सकता है। आजकल भी कुछ उलटफेरके उपरान्त लगभग इसी प्रकारका विभाग किया जाता है —

(१) पूर्ण निषिद्ध[2]—वह युद्धोपयोगी वस्तुएँ जो (यदि वह शत्रु-देशको जा रही हों) तत्काल जब्त की जा सकती हैं,

(२) गौण निषिद्ध[3]—वह वस्तुएँ जो तभी जब्त की जा सकती हैं जब वह शत्रुसेनाके उपयोगके लिए जा रही हों, और

(३) विहित वस्तुएँ[4]—वह वस्तुएँ जो किसी भी दशामें निषिद्ध नहीं ठहरायी जा सकतीं।

पूर्ण और गौण निषिद्ध वस्तुओंमें भेद तो बहुत दिनोंसे माना जाने लगा है पर यह निर्णय करना कठिन होता है कि किस अवस्थामें वस्तु गौण और किस अवस्थामें पूर्ण निषिद्ध है। १७९८ में सर वाल्टर स्काटने कहा था कि सबसे बड़ा भेद यह है कि वह वस्तुएँ जीवनके साधारण कामों या व्यापारिक पोतोंके कामके लिए जा रही हैं या इस बातकी अधिक सम्भावना है कि वह सैनिक

---

१ Controband articles

२ Absolute contraband

३ Conditional contraband

४ Free goods

उपयोगके लिए जा रही हैं। जिस नौ-स्थानको वस्तुएँ जा रही हैं उसका स्वरूप बुरी पहिचान नहीं है। यदि वह साधारण व्यापारिक नौ-स्थान है तो यद्यपि वहाँ एकाध रणपोत बन भी जाता हो तो यही मानना चाहिये कि वस्तुएँ नागरिक कामोंके लिए जा रही हैं। परन्तु यदि वह प्रधानतया सैनिक नौस्थान हो तो चाहे वहाँ व्यापारिक पोत भी जाते हों, पर यही मानना चाहिये कि वस्तुएँ सैनिक कामके लिए जा रही हैं। इस सिद्धान्तके मान लेनेपर भी यह प्रश्न रह जाता है कि किन-किन वस्तुओंको पूर्ण निषिद्ध मानें। भिन्न-भिन्न राज अपनी इच्छओंके अनुसार समय-समयपर काम करते थे। अन्तमें यह प्रश्न लन्दनकी कान्फ्रेंसके सामने १९०७ में आया।

लन्दनकी घोषणाकी २२ वीं धारामें पूर्ण निषिद्ध वस्तुओंकी एक सूची दी है। वह धारा इस प्रकार है—

निम्नलिखित वस्तुएँ पूर्ण निषिद्धके नामसे बिना पहिलेसे सूचना दिये ही निषिद्ध ठहरायी जा सकती हैं—

लन्दनकी घोषणाके अनुसार पूर्ण निषिद्ध वस्तुएँ

(१) हर प्रकारके शस्त्र (इनमें शिकारके कामके शस्त्र भी अन्तर्गत हैं) और उनके अवयव,

(२) बन्दूकों और तोपोंसे फेंकी जानेवाली वस्तुएँ, तोपों और बन्दूकोंमें भरी जानेवाली वस्तुएँ, कारतूस और इन वस्तुओंके अवयव,

(३) युद्धके लिए विशेष रूपसे बनायी गयी बारूद और विस्फोटक,

(४) तोप चढ़ानेके यन्त्र, तोप खींचनेकी गाड़ियाँ, सैनिक गाड़ियाँ, युद्ध-स्थलमें ढुलाई करनेके यन्त्र और उनके अवयव,

(५) सैनिक कामके कपड़े,

(६) सैनिक कामके साज,

(७) सवारी और ढुलाईके पशु,

(८) फौजी पड़ावमें काम आनेवाली वस्तुएँ और उनके अवयव,

(९) (जहाजोंकी रक्षाके लिए) धातुकी चादर,

(१०) रणपोत और नावें और उनके ऐसे अवयव जो केवल रणपोतोंके ही काम आ सकते हैं, और

(११) स्थल या जलपर काम आनेवाले शस्त्रों या अन्य रणोपयोगी वस्तुओंके बनाने और मरम्मत करनेके यन्त्र।

यह सूची उस समयके लिए तो पर्याप्त थी पर वैज्ञानिक आविष्कारोंके युगमें यह नहीं कहा जा सकता कि किस समय कौन सी नयी रणोपयोगी वस्तु निकल आयेगी। इसलिए २३ वीं धाराके अनुसार सरकारोंको यह अधिकार दिया गया कि अन्य विशेषतया रणोपयोगी वस्तुओंका नाम इस तालिकामें जोड़ लें पर इसकी सूचना दूसरी सरकारोंको दे देनी चाहिये। यदि युद्ध छिड़नेके पीछे तालिकामें वृद्धि की जाय तो केवल तटस्थ राजोंको सूचित करना चाहिये।

निरन्तर यात्रा

निरन्तर यात्रा[१]का प्रश्न भी बहुत पुराना है। ऐसा हो सकता है कि निषिद्ध जातिका माल एक तटस्थ देशसे दूसरे तटस्थ देशको भेजा जाय और फिर वहाँसे एक युद्धकारी देशको भेज दिया जाय। बोअर युद्धमें ऐसा ही होता था। यूरोपके तटस्थ देशोंसे चला हुआ निषिद्ध माल अफ्रीकाके किसी तटस्थ भूभाग (जैसे जर्मन या पुर्तगीज

१ Continuous voyage

प्रदेश) में उतारा जाता था, क्योंकि बोअर राजके पास कोई नौस्थान न था और फिर वहाँसे ट्रांसवाल पहुँचाया जाता था। यह भी हो सकता है कि माल किसी तटस्थ नौस्थानमें उतरे और वहाँसे दूसरे जहाजपर लादकर तब आगे जाय। ऐसी दशामें व्यापारियोंको यह कहनेका अवसर रहेगा कि हम तो मालको एक तटस्थ देशसे दूसरे तटस्थ देशको ले जाते हैं, अतः यह निषिद्ध नहीं है। इसी प्रकारके प्रश्नोंके कारण निरन्तर यात्राका सिद्धान्त निकला था। एक अर्थात् तटस्थ पक्ष कहता था कि मालको तभी निषिद्ध ठहराना चाहिये जब उसकी यात्रा निरन्तर अर्थात् अविच्छिन्न रही हो। दूसरा अर्थात् युद्धकारी पक्ष स्वभावतः इसका विरोध करता था। लन्दनकी घोषणाने अपनी ३० वीं धारामें स्पष्ट कर दिया कि यात्राका निरन्तर होना आवश्यक नहीं है। यदि माल शत्रुके लिए जा रहा है तो वह निषिद्ध है चाहे उसकी यात्रा कितने ही टुकड़ोंमें हो। इस सम्बन्धमें ब्रिटिश सरकारने यह स्पष्ट कर दिया था कि इस नियमसे उसी अवस्थामें काम लिया जायगा जब कि माल पहिलेसे शत्रुदेश भेजनेके लिए सोचकर रवाना किया गया हो। यदि कोई व्यापारी अपना माल इस आशापर ले जाय कि स्यात् तटस्थ भूमिपर पहुँचनेके बाद इसके लिए ग्राहक मिल जायँ तो वह निषिद्ध न माना जायगा।

ठिकानेका प्रमाण

निषिद्ध मालका निषिद्धत्व उसके ठिकानेपर निर्भर है। यदि वह शत्रुके पास जा रहा है तो निषिद्ध है, यदि तटस्थ देशको जा रहा है तो निषिद्ध नहीं है। इसलिए ठिकानेके प्रमाण[१] का सर्वोपरि महत्त्व होता है। लन्दनकी घोषणाने इस सम्बन्धमें यह निश्चय किया कि यदि माल किसी शत्रु-नौस्थानको जा रहा हो या शत्रुसेनाके लिए भेजा जा रहा हो, या उसके कागजोंके अनुसार यह सिद्ध होते हुए भी कि माल किसी तटस्थ नौस्थानको जा रहा है, जहाज बीचमें किसी शत्रु-नौस्थानपर रुकनेवाला हो, या उससे शत्रुसेनासे भेंट होनेवाली हो, या उसके कागजोंसे यह सिद्ध होने पर भी कि माल किसी तटस्थ नौस्थानको जा रहा है; जहाज ठीक रास्तेको छोड़कर अन्य मार्गसे जा रहा हो और इसका ठीक-ठीक कारण न बता सके, तो इन सब अवस्थाओंमें 'ठिकानेका प्रमाण' पूर्ण होता है अर्थात् यह बात निर्विवाद हो जाती है कि माल शत्रुके लिए जा रहा है और इसलिए निषिद्ध है। इस सम्बन्धमें यह स्मरण रखना चाहिये कि शत्रु-नौस्थानमें वह स्थान भी परिगणित हैं जो सम्प्रति शत्रुसेनाके अधिकारमें हैं।

लन्दन-घोषणाके अनुसार गौण निषिद्ध वस्तुएँ

लन्दन-कान्फरेंसके सामने गौण निषिद्ध वस्तुओंका भी प्रश्न था। कुछ राजोंकी सम्मति तो यह थी कि गौण निषिद्ध विभाग ही उठा दिया जाय पर अन्य राज इसपर सहमत न हुए। अन्तमें कान्फरेन्सने अपनी घोषणामें गौण निषिद्ध वस्तुओंकी भी एक तालिका निकाली और साथ ही राजोंको यह अधिकार दे दिया कि समुचित सूचना देकर इस तालिकामें वृद्धि कर लें। घोषणाकी २४ वीं धारा इस प्रकार है—

निम्नलिखित वस्तुएँ, जो युद्ध और शान्ति दोनों अवस्थाओंमें काममें आ सकती हैं, गौण निषिद्धके नामसे बिना पूर्वसूचना दिये ही निषिद्ध ठहरायी जा सकती हैं—

(१) भोज्य पदार्थ,

(२) पशुओंके खाने योग्य घास और अन्न,

(३) कपड़े, कपड़े बनानेकी सामग्री और रणोपयोगी जूते,

---

१ Proof of destination

(४) सोना और चाँदी तथा कागजका सिक्का,
(५) हर प्रकारकी रणोपयोगी गाड़ियाँ और उनके अवयव,
(६) हर प्रकारकी नावें और चल नावाश्रय[१],
(७) हर प्रकारकी रेल, तार, बेतार तथा टेलिफोन-सम्बन्धी सामग्री,
(८) गुब्बारे और वायुयान, इनके अवयव और सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएँ,
(९) हर प्रकारका ईंधन तथा मशीनोंमें देनेका तेल, चर्बी आदि,
(१०) बारूद और विस्फोटक जो विशेषतया युद्धके लिए न बने हों,
(११) काँटेदार तार और उसे बैठाने तथा काटनेका यन्त्र,
(१२) नाल और नालबन्दीकी सामग्री,
(१३) हर प्रकारका साज, और
(१४) हर प्रकारकी दूरबीन और क्रोनोमिटर, घड़िया तथा जहाजोंके कामके यन्त्र।

निरन्तर यात्रा और ठिकानेका प्रमाण

गौण निषिद्ध वस्तुओंके लिए निरन्तर यात्राका नियम नहीं है। यदि जहाजके कागजोंसे यह सिद्ध हो कि वह शत्रु-देशको नहीं जा रहा है या यह कि उसपरका माल शत्रु-सेनाके लिए नहीं है और जहाज अपने निर्दिष्ट मार्गसे विचलित न हुआ हो तो उसके सम्बन्धमें निरन्तर यात्राका प्रश्न नहीं उठाया जाता। ठिकानेका निश्चय इस प्रकार होता है कि यदि माल शत्रुके किसी रणपोत, नौस्थान, किले, किलेदार नगर, संगराधार या सैनिक पड़ावको जा रहा हो, या शत्रुदेशीय किसी ऐसे ठेकेदारके पास जा रहा हो जो शत्रु-सरकारके हाथ ऐसी वस्तुएँ बेचा करता है या किसी सरकारी विभागके लिए जा रहा हो तो वह निषिद्ध है। पर हाँ, यदि यह प्रमाणित हो सके कि वह युद्धके कामका ही नहीं है तो छोड़ा जा सकता है।

तटस्थ व्यापारियोंकी सुविधाएँ

तटस्थ व्यापारियोंके साथ और भी कई प्रकारकी रियायतें की गयी हैं। यदि किसी जहाजपर गौण निषिद्ध माल लदा हो और वह यह प्रमाणित कर सके कि उसे युद्ध छिड़नेका पता न था तो जहाज और उसपरका अन्य माल छोड़ दिया जायगा और निषिद्ध माल समुचित मूल्य देकर ले लिया जायगा, उसे यों ही जब्त नहीं कर सकते। समुचित मूल्यके लिए कोई निश्चित नियम तो नहीं है परन्तु प्रायः मालका बाजार-भावके अनुसार दाम, ढुलाईका व्यय और दस रुपया सैकड़ा लाभ जोड़कर दे देते हैं। यदि किसी जहाजपर एक बार निषिद्ध माल लदा रहा हो और वह माल उतार देनेके बाद पता मिले तो उसे किसी प्रकारका दण्ड नहीं दिया जा सकता, पर यदि यह प्रमाणित हो जाय कि अपनेको बचानेके लिए उसने अपने कागजोंमें जाल किया था तो उसे जब्त करना अन्याय्य न होगा। कमसे कम ब्रिटेनने ऐसा दण्ड कई बार दिया है। इसी प्रकार यदि कोई निषिद्ध माल किसी ऐसे स्थानके लिए भेजा गया हो जो उस समय शत्रुके कब्जेमें रहा हो पर पीछेसे शत्रुके अधिकारसे निकल गया हो तो फिर वह माल जब्त नहीं किया जा सकता। पहिले जहाज भी जब्त कर लिया जाता था पर आजकल, यदि वह जहाज मालके मालिककी ही सम्पत्ति न हो और उसके कागजोंमें किसी किस्मकी जालसाजी न हो तो, ऐसा नहीं किया जाता। यह भी नियम है कि यदि जहाजपर जो कुछ माल हो उसके आधेसे अधिक निषिद्ध हो तो वह जहाज जब्त किया जा सकता

१ Dock वह स्थान जहाँ जहाजोंकी मरम्मत होती है। लड़ाईके दिनोंमें चल अर्थात् पानीपर चलनेवाले नावाश्रयोंसे भी काम लिया जाता है।

है। जहाजपर निषिद्धके अतिरिक्त जो माल होता है उसमें हाथ नहीं लगाया जाता पर यदि वह निषिद्ध वस्तुके स्वामीका ही हो तो जब्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त नियमोंके अतिरिक्त २८ वीं धाराने निम्नलिखित वस्तुओंको नित्य-विहित ठहराया—

(१) रूई, रेशम, ऊन, पटुआ, सन इत्यादि कपड़ा बनानेका कच्चा माल,

(२) तेलहन,

(३) रबड़, गोंद, लाह, बिरोजा,

(४) बे-कमाया चमड़ा, सींग, हड्डी और हाथीदाँत,

(५) हर प्रकारकी प्राकृतिक और कृत्रिम खाद,

(६) खानसे निकली हुई बेसाफ की हुई धातु,

(७) मिट्टी, चूना, खरी, पत्थर, संगमर्मर, ईंट, स्लेट, खपरैल,

(८) चीनीकी बनी चीजें और काँच,

(९) कागज और कागज बनानेकी सामग्री,

(१०) साबुन, रंग, वार्निश और उनके बनानेकी सामग्री,

(११) रंग उड़ानेकी दवा, सोडा, क्षार, कास्टिक सोडा, अमोनिया, तूतिया इत्यादि,

(१२) कृषि, खनिज, मुद्रण और कपड़ा बनानेके यंत्र,

(१३) रत्न, उपरत्न, मोती, सीप और मूँगा,

(१४) क्रोनोमिटरके अतिरिक्त अन्य प्रकारकी घड़ियाँ,

(१५) फैशन और शौकीनीकी सामग्री,

(१६) पर, बाल और रोएँ (सूअर आदिके शरीरके काँटेके समान रोएँ), और

(१७) घर और दफ्तरकी सजावटका सामान।

यह तालिकाएँ और बढ़ायी जा सकती हैं। घोषणाने यह नियम कर दिया कि इस प्रकारकी अन्य वस्तुएँ भी विहित मानी जायँ। इनके अतिरिक्त २९ वें नियमके अनुसार रोगियों और आहतोंकी शुश्रूषाकी सामग्री तथा वह वस्तुएँ जो यात्रियों और नाविकोंके उपभोग मात्रके लिए हों, व्यापारके लिए नहीं, निषिद्ध न मानी जायँगी। परन्तु यदि शुश्रूषाकी सामग्री शत्रुके पास जा रही हो तो अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर, निषिद्ध न होते हुए भी पूरा दाम देकर उसे रोक सकते हैं।

प्रथम यूरोपियन महासमरने इन सब नियमोपनियमोंकी निःसारता प्रमाणित कर दी। युद्ध छिड़ते ही जर्मनी और आस्ट्रियाने यह घोषित किया कि हम लन्दनकी घोषणाका अनुसरण करेंगे।

महायुद्ध और निषिद्ध व्यापार

ब्रिटेन, फ्रांस और रूसने कुछ परिवर्तनके साथ अनुसरण करनेकी घोषणा की। इटलीने भी कुछ संशोधन किया। इसपर जर्मनी और आस्ट्रियाने भी संशोधन किये। यह सब बातें युद्ध छिड़नेके तीन महीनेके भीतर हो गयीं। पर यहीं अन्त न हुआ। प्रायः तीन वर्ष तक संशोधन और परिवर्तन होता रहा। लोहा, ताँबा, निकल, सीसा, ऐल्युमिनियम, मोटर गाड़ियाँ, मोटर-टायर, रबड़, गन्धक, काँटेदार तार, गन्धकका तेजाब, ग्लिसरीन, रेंडीका तेल, राँगा, ऊन, ऊनी कपड़े, चपड़ा, कोयला, मशीनें, रुई—क्रमशः यह वस्तुएँ पूर्ण-निषिद्ध सूचीमें आ गयीं। गौण और पूर्ण निषिद्धका भेद तो एक प्रकारसे मिट ही गया। निरंतर यात्राका नियम गौण निषिद्धोंके लिए भी लगा दिया गया। इन बातोंसे तटस्थ व्यापारकी भारी क्षति हुई पर जब पृथ्वीके महत्तम राज युद्धमें सम्मिलित थे तो रोकता कौन।

इन राजोंको लन्दनकी घोषणामें परिवर्तन और संशोधन करनेका अवसर एक तो इसलिए

मिल गया कि स्वयं उसने ही सूचियोंके घटाने-बढ़ानेकी अनुज्ञा दे रखी थी; दूसरे उसपर सब राजोंके हस्ताक्षर भी नहीं हुए थे अतः इन लोगोंने कह दिया कि उसमें परिवर्तन करना अवैध नहीं है।

यदि ऐसे नियमोंके खोखलेपनको सिद्ध करनेमें कुछ कमी रह गयी हो तो वह पिछले महासमरमें पूरी हो गयी। वैज्ञानिक आविष्कारोंके युगमें जो वस्तु आज बिल्कुल निर्दोष प्रतीत होती है कल उसका उपयोग किसी-न-किसी प्रकार लड़ाईमें हो सकता है। 'टोटल वार' था—प्रत्येक राज अपनी पूरी शक्ति लगा रहा था और नागरिकोंमें सैनिक-असैनिकका भेद मिट सा गया था। सब बड़े राज लड़ रहे थे। ऐसी दशामें तटस्थोंकी किसको परवाह थी और निषिद्ध वस्तुओंकी पुरानी सूची किस काम आती? आज यूरेनियम धातुसे परमाणु बम बनने लगा है, कल न जाने किस पदार्थसे कौनसी घातक वस्तु बनायी जायगी।

निषिद्ध व्यापार सम्बन्धी नियमोंमें संशोधनकी अत्यन्त आवश्यकता

निषिद्ध व्यापार सम्बन्धी नियमोंमें अभी बहुत संशोधनकी आवश्यकता है। यदि विहित और निषिद्धका भेद न मिटाया जा सके तो गौण निषिद्धका वर्ग तो तोड़ ही देना चाहिये और पूर्ण निषिद्ध वस्तुओंकी ऐसी सूची निकलनी चाहिये जो सर्वमान्य हो। जैसा कि जे. बी. मूरने दिखलाया है, गौण निषिद्ध सम्बन्धी नियम निरर्थक हैं। जो माल सेनाके लिए जाता है वह पूर्ण निषिद्ध माना जाता है। इसी प्रकार जो माल किसी किलाबन्द नगरको जाता है वह पूर्ण निषिद्ध होता है। परन्तु एक तो प्रायः सभी प्रधान नगरोंमें किलाबन्दी होती है, दूसरे यह हो सकता है कि क़िलाबन्द नगरमें गया हुआ माल नागरिकोंके ही काम आये। फिर, जो माल नागरिकोंके लिए आता है अतः गौणनिषिद्ध होनेके कारण पकड़ा नहीं जाता, सरकार उसे भी तो ले सकती है। उसे पूरा अधिकार है कि अपने यहाँके व्यापारियोंको अपने हाथ माल बेचनेपर विवश करे। इसलिए इन जटिल नियमोंसे विशेष लाभ नहीं होता।

सातवाँ अध्याय

तटावरोध

तटावरोध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके सदृश स्थल-युद्धमें कोई प्रक्रिया नहीं मिलती। स्थल-युद्धमें यह तो बहुधा होता है कि शत्रुका कोई गढ़ या नगर घेर लिया जाय पर इसमें और तटावरोधमें बहुत अन्तर है। किले या नगरके घेरनेका उद्देश्य उसपर कब्जा करना होता है; तटावरोधका उद्देश्य यह भी हो सकता है पर प्रधान उद्देश्य प्रायः यही होता है कि उस मार्गसे शत्रु-देशमें किसी प्रकारका माल न जाने पावे। तटावरोधमें अवरुद्ध तट समुद्रकी ओरसे ही बन्द रहता है। इससे शत्रुकी तो क्षति होती ही है, तटस्थोंकी भारी हानि होती है। अवरुद्ध स्थानमें गौण निषिद्ध अथवा विहित वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता।

पहिले-पहिल डच लोगोंने इस क्रियासे काम लेना आरम्भ किया। ग्रोशिअसकी यह सम्मति थी कि यदि किसी अवरुद्ध स्थानके शीघ्र ही आत्मसमर्पण करने अथवा शान्तिके पुनः स्थापित होनेकी सम्भावना हो तो ऐसे स्थानको रसद पहुँचाकर सहायता देना दण्ड्य है पर डच सरकार इसके बहुत आगे बढ़ गयी। उसने यह घोषणा की (१६३०) कि यदि डच नौबल किसी तटका अवरोध कर रहा हो तो उसमें प्रवेश करना या उसमेंसे बाहर निकलना अपराध है। इतना ही नहीं, यदि कोई जहाज खुले समुद्रमें मिल जाय और यह प्रमाणित हो जाय कि वह किसी अवरुद्ध नौस्थानमें प्रवेश करनेका विचार रखता है या किसी अवरुद्ध नौ-स्थानसे निकल भागा है तो भी वह दण्डनीय है। इन सब अपराधोंका एकमात्र दण्ड था जहाज और मालकी जब्ती।

ज्यों-ज्यों अन्य राजोंकी नौशक्ति बढ़ती गयी त्यों-त्यों अवरोधका प्रयोग बढ़ता गया। अवरोध सम्बन्धी नियमोंमें भी भयङ्कर विभिन्नता थी। फ्रेंच प्रजातन्त्रकी स्थापनाके बाद फ्रांसको सारे यूरोप, और विशेषकर ब्रिटेनसे लड़ना पड़ा। इस लड़ाईमें अवरोधसे जैसा काम लिया गया उसे अन्याय्य, अनुचित और शक्तिके दुरुपयोगके सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। कागजी अवरोधोंकी भरमार थी। ब्रिटेनने घोषणा कर दी कि वह सब तटवर्ती नगर अवरुद्ध हैं जहाँ ब्रिटिश व्यापारिक पोत नहीं जा सकते। इसका अर्थ यह हुआ कि फ्रांसका सारा समुद्रतट अवरुद्ध हो गया। इसी प्रकार फ्रांसने ब्रिटेनके सारे समुद्रतटको अवरुद्ध घोषित कर दिया। ब्रिटेनकी नौशक्ति फ्रांससे अधिक थी, फिर भी न तो ब्रिटिश जहाजोंने फ्रांसका सारा तट रोक रखा था न फ्रांसीसी जहाजोंने ब्रिटेनको चारो ओरसे घेर लिया था। इसपर भी ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही मतवालोंकी भाँति तटस्थ व्यापारकी हत्या इसलिए कर रहे थे कि दोनों ही देशोंमें तटस्थ माल पहुँच ही जाता था। वाटर्लूके युद्धके बाद जो सन्धि हुई उसने युद्धका तो अन्त कर दिया परन्तु प्रश्न हल न हुआ। यह अवस्था १८५६ तक चली गयी। उस साल पैरिसकी घोषणाने इसे कुछ सुलझाया। उसने यह महत्त्वपूर्ण नियम बनाया कि वही अवरोध मान्य होगा जो कि सक्षम[१] होगा। उस समय सक्षम अवरोधकी यह व्याख्या की गयी कि सक्षम अवरोध वह है जो इतनी सेना द्वारा किया जाय कि भीतर जाना या बाहर आना बन्द हो जाय। पर यह व्याख्या ठीक नहीं है। बहुत बड़े-बड़े जहाजोंके

---

१ Effective.

बीचमेंसे भी छोटी-सी नाव निकल सकती है। इसलिए १९०० में संयुक्त राजकी सरकारने जो व्याख्या की वह अधिक युक्तिसंगत है। उसके अनुसार वह अवरोध सक्षम है जो इतनी नौसेनाके द्वारा किया जाय कि भीतर जाना या बाहर आना आशंका-जनक हो अर्थात् आने-जानेवालेको पकड़े जानेका पर्याप्त भय रहे। यही व्याख्या इस समय सर्वमान्य है। कुछ राज यह कहते थे कि यह भी आवश्यक शर्त होनी चाहिये कि अवरोधक जहाज स्थिर रहें पर यह शर्त मानने योग्य नहीं है। यदि जहाज लंगर डालकर पड़े रहें तो दो दिनमें शत्रुकी पनडुब्बियाँ उन्हें रसातल भेज दें।

अवरोध सक्षम तो होना ही चाहिये; जो अवरोध सक्षम होता है अर्थात् वस्तुतः एक पक्षके रणपोत शत्रुके तटके किसी अंशको रोक लेते हैं तो उसे वास्तविक अवरोध[1] भी कहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि पहिले यह सूचना दे दी जाती है कि हम अमुक तिथिसे अमुक स्थानका अवरोध करेंगे अर्थात् घोषणात्मक अवरोध[2] कर दिया जाता है पर वहाँ नौसेना भेजी नहीं जाती या इतनी कम भेजी जाती है कि अवरोध सक्षम नहीं होता। इसे कागजी अवरोध[3] कहते हैं। यह सर्वथा अवैध है। घोषणात्मक अवरोधके पीछे सक्षम अवरोध ही होना चाहिये।

अवरोधके प्रकार

सक्षम अवरोध भी दो प्रकारका होता है। यदि वह उस स्थानको जीतनेके उद्देश्यसे किया जाय तो उसे अधिकारफलक अवरोध[4] कहते हैं; अन्यथा, यदि वह केवल व्यापार रोकनेके उद्देश्यसे किया जाय तो, वाणिज्यावरोध[5] कहलाता है। कुछ लोगोंकी यह सम्मति है कि वाणिज्यावरोध उठा दिया जाय पर इसकी कोई सम्भावना नहीं है। शत्रुको तंग करनेका यह बड़ा ही सुगम उपाय है। जिस राजका स्थलमार्ग द्वारा अन्य देशोंसे सम्बन्ध नहीं है वह इस साधनसे बड़ी जल्दी तंग किया जा सकता है। यदि दो तीन प्रबल राज मिल जायँ तो वह दो-चार महीनोंमें ब्रिटेन ऐसे प्रबल राजको विक्षिप्त कर सकते हैं।

अवरोध सम्बन्धी चार मुख्य प्रश्न हैं। उनपर पृथक्-पृथक् विचार करना ठीक होगा। लन्दनकी घोषणाने इनमेंसे अधिकांशको सुनिश्चित कर दिया है।

अवरोधके नियम

सक्षम अवरोधका लक्षण हम बतला चुके हैं। आजकल कागजी अवरोध, जिससे पिछले दिनोंमें फ्रांस और ब्रिटेनने बहुत काम लिया था, नहीं माना जाता। पर कितना बल पर्याप्त होगा इसका कोई नियम नहीं है। यह वस्तुस्थितिपर निर्भर है। कहीं बीसों जहाज अपर्याप्त होंगे, कहीं दो-चारसे काम चल जायगा। क्रीमियन युद्धमें रूसके रीगा नौ-स्थानका अंग्रेजोंने अवरोध किया था। इस कामके लिए उससे ६० कोसकी दूरीपर केवल एक रणपोत खड़ा कर दिया गया था। पर वह जगह इतनी संकीर्ण थी कि एक ही जहाज पर्याप्त था। दूसरा नियम यह है कि अवरोध इस प्रकार न होना चाहिये कि तटस्थ नौस्थानों या तटोंका मार्ग रुक जाय। पिछले महासमरमें इसकी बहुत अवहेलना हुई। युद्धकारियों-ने दूरतः तटावरोधसे कई जगहोंपर काम लिया। बहुत दूरसे अस्त्रोंके प्रयोग करनेका फल यह होता था कि उनका निशाना फैल जाता था। इसलिए निकटकी तटस्थ भूमि भी अवरुद्ध हो जाती थी।

---

१ Blockade de facto
२ Blockade by notification
३ Paper blockade
४ Strategic blockade
५ Commercial blockade

तीसरा नियम यह है कि जितनी दूरतक अवरोधोंका क्षेत्र है उसके बाहर अवरोधके नियम नहीं बर्ते जा सकते। चौथा नियम यह है कि जहाजोंके अभावमें अवरोध नहीं हो सकता। अवरोधकोंको यह अधिकार है कि पत्थर, पुराने जहाज, इत्यादि डुबाकर मार्ग बन्द करें पर वहाँ जहाज भी रहने चाहिये।

अवरोध करनेके पहिले उसकी घोषणा करनी होती है। उसमें यह बतलाना होता है कि अवरुद्ध तटकी ठीक-ठीक भौगोलिक सीमा क्या है, किस तिथिसे अवरोध आरम्भ होगा और जो तटस्थ जहाज भीतर हैं वह कितने दिनोंके भीतर बाहर निकल जा सकते हैं। प्रायः पन्द्रह दिनकी अवधि दी जाती है। यदि वास्तविक अवरोध और घोषणामें कुछ भी अन्तर हो तो अवरोध अवैध हो जाता है और फिरसे नयी घोषणा करनी पड़ती है। इसके बाद अवरोधक सैन्यके सेनाध्यक्षको अवरुद्ध स्थानोंके अधिकारियोंके प्रति एक ऐसी ही घोषणा करनी पड़ती है। स्थानीय अधिकारियोंका कर्तव्य है कि तत्रस्थ विदेशी वकीलोंको इसकी पूरी सूचना दे दें। अवरोधमें पक्षपात न होना चाहिये। अवरोधकको अपने देशके जहाजोंके साथ भी रियायत न करनी चाहिये। यदि वह चाहे तो तटस्थ रणपोतोंको आने जानेकी अनुज्ञा दे सकता है और अत्यन्त आवश्यकताकी दशामें अन्य तटस्थ पोतोंको भी जाने देनेका नियम है।

यदि अवरोधक बेड़ा हार जाय या युद्ध समाप्त हो जाय या बेड़ा हटा लिया जाय तो अवरोध समाप्त हो जाता है। ऋतुविपर्ययके कारण थोड़ी देरके लिए हट जाना दूसरी बात है पर उसे और किसी कामके लिए न हटना चाहिये। यदि वह पर्याप्त न हो अर्थात् इतना कम कर दिया जाय कि तटस्थ देशोंकी दृष्टिमें उसकी सक्षमता जाती रहे तो भी उसका अन्त माना जायगा। ऐसी दशाओंमें पुनः घोषणा करके वह पुनः स्थापित किया जा सकता है। यदि अवरुद्ध स्थानपर अवरोधक राजका किसी प्रकार कब्जा हो जाय तो भी अवरोधका अन्त हो जायगा।

फ्रांस और कुछ अन्य राजोंका मत था कि जो तटस्थ जहाज अवरुद्ध क्षेत्रके निकट आवे उसको अवरोधकी सूचना देनी चाहिये। ब्रिटेनका यह कहना था कि सबको पृथक्-पृथक् सूचना देनेकी आवश्यकता नहीं है। अवरोधकको यह मान लेना चाहिये कि आगन्तुक जहाजको सूचना मिल चुकी है, यह उसका काम है कि अपने अज्ञानका प्रमाण दे। लन्दन-कांफरेंसने जो नियम बनाये हैं उनमें दोनों मतोंका समावेश है।

आगन्तुओंको अवरोधकी सूचना

यदि अवरोधकी घोषणा होनेके पर्याप्त समयके बाद वह जहाज अपने देशसे चला है तो यह मानना अयुक्त नहीं है कि उसे सूचना मिल चुकी है। पर यह निश्चय हो जाय कि उसे सचमुच सूचना नहीं थी तो अवरोधक बेड़ेके किसी अफसरको जाकर उसकी लॉगबुक[1] में सूचना लिख देनी होती है और तारीख, समय तथा जहाजकी उस समयकी भौगोलिक स्थिति भी लिख देनी होती है। यदि तटस्थ जहाजोंके साथ गारद हो तो गारदके अध्यक्षको सूचना दे दी जाती है और फिर उसका कर्तव्य होता है कि अपने साथके सब जहाजोंकी लॉगबुकमें सूचना लिखा दे।

अवरुद्ध स्थानके भीतर प्रवेश करने या घोषित अवधिके बाद उसके बाहर निकलनेको अवरोध-भङ्ग[2] कहते हैं। यह अपराध है। यह कह दिया गया है कि जो जहाज अवरोधक जहाजोंके क्षेत्रके भीतर मिलेगा उसीपर अवरोध-भङ्गका दोष लग सकता है पर क्षेत्रके विस्तारके लिए

१ Log-book—एक प्रकारकी डायरी जो प्रत्येक जहाजके कप्तानको रखनी पड़ती है। इसमें जहाजके सम्बन्धकी बातें प्रतिदिन लिखनी पड़ती हैं।

२ Violation of blockade

कोई नियम नहीं है। नियम हो ही नहीं सकता। किसी स्थानकी बनावट ऐसी होती है कि उसके अवरोधके लिए अवरोधकोंको बहुत फैलनेकी आवश्यकता नहीं होती, किसीके लिए पचासों कोस तक फैलना पड़ता है। कोई अवरोधक अपना विस्तार इतना आप ही न बढ़ायेगा कि अवरोधकी क्षमता नष्ट हो जाय। यदि कोई जहाज किसी अनवरुद्ध तटकी ओर जा रहा है तो उसपर अवरोधभङ्गका दोष नहीं लग सकता। यदि यह पता लग जाय कि धोखा दिया जा रहा है तो उसे पकड़ भी सकते हैं। जब एक बार किसी अवरोध-भञ्जकका पीछा आरम्भ कर दिया जाता है तो वह अवरोध-क्षेत्रके भीतर ही समाप्त नहीं होता। अवरोधकोंको अधिकार है कि उसका जहाँतक बन पड़े पीछा करें। यदि वह किसी तटस्थ नौस्थानमें आश्रय लेगा तो बाहर निकलनेपर पकड़ा जायगा।

अवरोध-भङ्ग

अवरोधभङ्गका एक ही दण्ड है, जहाजकी जब्ती। यदि मालका स्वामी यह प्रमाणित कर सके कि माल लादते समय मुझे यह पता न था कि जहाज अवरोध-भङ्ग करेगा तो माल छोड़ दिया जाता है, नहीं तो वह भी जब्त कर लिया जाता है।

अवरोधभङ्गका दण्ड

प्रथम महासमरने अन्य अन्ताराष्ट्रिय विधानोंकी भाँति अवरोध सम्बन्धी विधानकी भी बहुत खींचातानी की। जर्मनीका नौ-बल ब्रिटेनके बराबर तो था ही नहीं, अतः उसे बहुत कुछ सहारा पनडुब्बियों और जलमग्न विस्फोटकोंका लेना पड़ा। इससे ब्रिटिश व्यापारकी बहुत क्षति हुई। इसलिए ब्रिटेनने समस्त उत्तर सागरको (जिसके आग्नेय तटपर जर्मनी बसा है और जिसमेंसे होकर ही कोई जहाज जर्मनी पहुँच सकता है) सैनिक क्षेत्र घोषित किया। इसके उत्तरमें जर्मनीने ब्रिटेनके चारों ओरके समुद्रको सैनिक क्षेत्र[1] घोषित कर दिया। इन बातोंका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि दोनोंने जान-बूझकर अवरोध शब्दका प्रयोग नहीं किया परन्तु जर्मनी और ब्रिटेनके समूचे तटका अवरोध हो गया। जर्मनीके लिए यह असम्भव था कि वह ब्रिटेनके अवरोधको सक्षम बना सके अतः उसका अवरोध केवल कागजी अवरोध रह गया पर ब्रिटेनके पास जहाज अधिक थे, उसके मित्रोंके पास भी अच्छा नौबल था फलतः उसने जर्मनीको सचमुच अवरुद्ध कर दिया। रूसके विरोधके कारण पूर्व दिशामें व्यापारका द्वार बन्द ही था, अरबोंके विद्रोह, इराकमें ब्रिटिश सेनाके आक्रमण तथा यूनानकी लड़ाईने तुर्कीका मार्ग भी रोक ही रखा था अतः जर्मनीमें बाहरके मालका आना तथा जर्मनीसे मालका बाहर जाना एकदम बन्द हो गया। उसकी हारके प्रधान कारणोंमें इसकी भी गणना है।

महासमरमें अवरोध

दूसरे महासमरमें जर्मन सेनाओंने तेजीके साथ कई यूरोपियन देशोंपर कब्जा कर लिया। उनकी संचित युद्ध-सामग्री और अन्नपर भी जर्मन कब्जा हो गया। इसलिए वह अवरोधके चंगुलमें न लाया जा सका। ब्रिटेन और अमेरिकाके बीचके समुद्रपथको जर्मन पनडुब्बियाँ कभी भी पूरा बन्द न कर पायीं अतः ब्रिटेन भी कभी पूरा अवरुद्ध नहीं हुआ।

---

१ Military area, zone of war

आठवाँ अध्याय

अतटस्थाचरण

कभी-कभी तटस्थ व्यक्ति ऐसे काम कर बैठते हैं जो केवल शत्रुवर्गीयोंके हाथसे होने चाहिये। यों तो निषिद्ध व्यापार भी अपराध है पर निषिद्ध व्यापारका मुख्य उद्देश्य अपना लाभ होता है। युद्धकालमें व्यापार करनेमें भय तो अधिक रहता है पर युद्धकारियोंके हाथ उनके कामकी वस्तुएँ बेचनेसे लाभ अधिक होता है, इसीलिए लोग ऐसा करते हैं। परन्तु किसी एक पक्षके अफसरों या सैनिकोंको एक स्थानसे दूसरे स्थान पहुँचाना या उसकी सैनिक खबरें पहुँचाना उसको प्रत्यक्ष सहायता देना है, इसलिए दूसरा पक्ष इसे कदापि क्षम्य नहीं ठहरा सकता। सम्भव है इन कामोंमें लाभ हो पर लाभका स्थान गौण है, मुख्य स्थान शत्रुको सहायता देनेका है। जो तटस्थ ऐसा करता है वह एक प्रकारसे उतने कालके लिए उस युद्धकारीके यहाँ नौकरी कर लेता है। जैसा कि इस सम्बन्धमें एक अंग्रेज न्यायाधीश सर वाल्टर स्काटने कहा था, जो व्यक्ति ऐसा करता है वह ऊपरसे तटस्थ बना हुआ वस्तुतः शत्रुराजका नौकर है और उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये।

तटस्थाचरणका स्वरूप

फिर निषिद्ध वस्तुकी निषिद्धता इसी बातमें है कि वह शत्रुदेशको भेजी जा रही हो पर बिना एक शत्रु-देशकी ओर गये भी दूसरेकी हानि की जा सकती है। समुद्रमें विस्फोटक फैलाना ऐसा काम है जो बिना शत्रुदेशको गये भी हो सकता है। सैनोपयोगी समाचार भी तटस्थ देशोंके द्वारा भेजे जा सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि इस प्रकारके काम निषिद्ध व्यापारसे कई अंशोंमें भिन्न हैं। हॉलने इनको निषिद्धसम[१] कहा है पर यह स्वीकार किया है कि दोनोंमें सादृश्य बहुत कम है। फ्रांसीसी भाषामें इसके पर्यायका अर्थ है विरुद्ध सहायता[२]। प्रायः यही अर्थ हालैण्डके प्रस्ताव किये हुए नामका है। वह इसे शत्रु-सेवा[३] कहता है। अंग्रेज सरकार ऐसे कामोंके लिए अतटस्थ काम[४] ऐसे नामका प्रयोग करती है। यह नाम सब दृष्टियोंसे उपयुक्त प्रतीत होता है। इसीके अनुसार हमने भी 'अतटस्थाचरण' नामकी रचना की है।

अतटस्थाचरणका प्रश्न बड़े महत्त्वका है। आजकल इसके प्रकार बढ़ते जाते हैं। जहाजकी मरम्मत करना, समाचार भेजनेके लिए जलमग्न तार बिछाना, जहाजोंको कोयला या तेल पहुँचाना ऐसे अपराध हैं जो आजकल वृद्धिपर हैं। इनमेंसे कुछ अपराध तो ऐसे हैं जो आजसे ४०,५० वर्ष पहिले हो ही नहीं सकते थे। ऐसे अपराधोंके लिए कठोर दण्डकी व्यवस्था होनी ही चाहिये और वह दण्ड निषिद्ध व्यापारसे कठोर होना चाहिये। १९०७ की लन्दन-कान्फरेंसने इस प्रश्नपर विचार किया। उसने पहिले अपराधोंको घोर और मृदु दो कोटियोंमें बाँटा और फिर इनके लिए पृथक्-

१ Analogues of contraband
२ Assistance hostile
३ Enemy service
४ Un-neutral service

पृथक् दण्डका विधान किया। लन्दन-घोषणाकी ४५ वीं तथा ४६ वीं धाराओंमें इसी विषयका विचार किया गया है।

मृदु अपराधोंका परिणाम यह होता है कि जहाजकी परिस्थिति निषिद्ध व्यापाररत जहाजसी हो जाती है। उसका तटस्थ रूप तो नष्ट नहीं होता पर वह दण्डार्ह हो जाता है। मृदु अपराध मुख्यतया दो हैं—

मृदु अपराध

(१) शत्रुसेनाके अंगीभूत व्यक्तियोंको पहुँचाने या शत्रूपयोगी समाचार ले जानेके मुख्य उद्देश्यसे यात्रा करना।

(२) जहाजके स्वामी या ठेकेदार या कप्तानके ज्ञानमें शत्रु-सेनाके किसी टुकड़े या एक या अनेक ऐसे व्यक्तियोंको जो यात्राके बीचमें ही शत्रुके सैनिक कार्योंमें प्रत्यक्ष सहायता दें, ले जाना।

(१) और (२) में एक यह बड़ा अन्तर है कि (१) में जिन लोगोंकी ओर संकेत है वह पृथक्-पृथक् अपनी निजी हैसियतसे जाते हैं और (२) में सामूहिक रूपसे।

यदि यह प्रमाणित किया जा सके कि जहाजके चलते समय युद्ध नहीं छिड़ा था या यदि कप्तान यह सिद्ध कर सके कि मुझे युद्ध छिड़नेकी सूचना तो मिल गयी थी पर मुझे इन यात्रियोंको कहीं उतार देनेका अवसर ही नहीं मिला तो अपराध क्षमा कर दिया जाता है अन्यथा जहाज जब्त कर लिया जाता है और उसपर उसके स्वामीका जो माल होता है वह भी जब्त कर लिया जाता है। यदि जहाज निर्दोष ठहराया जाय तो उसपरके यात्री रणबन्दी बनाये जा सकते हैं।

४६ वीं धारामें घोर अपराधोंका उल्लेख है। जो जहाज ऐसे अपराध करता है वह अपना तटस्थ रूप पूर्णतया खो बैठता है और उसके साथ शत्रुवत् आचरण किया जाता है। घोर अपराध चार मुख्य कोटियोंमें विभक्त किये गये हैं—

घोर अपराध

(१) युद्धमें प्रत्यक्ष भाग लेना,

(२) शत्रु-सरकार द्वारा नियुक्त किसी व्यक्तिकी आज्ञा या अनुशासनके अनुसार चलना,

(३) शत्रु-सरकारकी अनन्य सेवामें होना, और

(४) सम्प्रति अनन्य-रूपसे शत्रु-सेनाके किसी टुकड़े या शत्रूपयोगी समाचारके ले जानेमें लगे होना।

इन अपराधोंका दण्ड यह है कि जहाजके साथ-साथ उसके स्वामीका जो कुछ माल उसपर होगा वह जब्त कर लिया जायगा।

ऊपर दिखलाये गये विभागोंमेंसे पहिला बहुत व्यापक है। वह जानबूझकर ऐसा रखा गया। लन्दन-कांफरेन्सने उसकी विशेष टीका-टिप्पणी करना उचित न समझा। लारेंसने प्रत्यक्ष भाग लेनेके कई उदाहरण दिये हैं। शत्रुके बेड़ेको आक्रमण करनेका ठीक मार्ग बताना, जलमग्न विस्फोटक फैलाना, विस्फोटक हटाना, शत्रु बेड़ेके आगे चलकर उसे परिस्थितिका पता देना, बेतारके तार जानेके मार्गोंको व्यर्थके तार भेज-भेजकर रोक रखना, इत्यादि।

यह सब अपराध वस्तुतः घोर रूपके हैं और इनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जो अनजानमें हो सकता हो। जो जहाज इन्हें करता है वह सोच-समझकर शत्रुका प्रत्यक्ष साथ देता है। इसलिए किसी-किसीकी तो यह सम्मति है कि ऐसे जहाजोंके नाविकोंको गोली मार देनी चाहिये। यदि इतना भी न किया जाय तो उन्हें रणबन्दी तो अवश्य ही बनाना चाहिये। उनका काम शत्रुसे अधिक गर्ह्य है। शत्रु जो कुछ कर सकता है वह न्याय्य है, उससे तो लड़ाई ही है, पर तटस्थोंको इस झगड़ेसे दूर रहना चाहिये।

देखनेमें मृदु और घोर दोनों प्रकारके अपराधोंका दण्ड एकसा प्रतीत होता है पर वस्तुतः दोनोंमें अन्तर है। एक तो घोर अपराधी अज्ञानका बहाना करके बच नहीं सकता; दूसरे, मृदु अपराधी अपराध कर चुकनेके बाद नहीं पकड़ा जा सकता। जब वह शत्रु-सेनाके व्यक्तियोंको पहुँचा आया या चिट्ठी-पत्री दे आया तो फिर उससे पूछताछ नहीं हो सकती परन्तु घोर अपराधोके लिए यह नियम नहीं है। खाली जहाज, अपराध कर चुकने या करनेके पहिले भी, पकड़ा जा सकता है। घोर अपराधी फौरन डुबाया जा सकता है परन्तु मृदु अपराधी उसी दशामें डुबाया जा सकता है जब कि उसके अस्तित्वसे पकड़नेवाले रणपोतकी ही रक्षामें आशंका हो या उसके तत्कालीन सैनिक कार्यमें अत्यन्त बाधा पड़ती हो। मृदु अपराधीको अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयमें अपील करनेका पूरा अधिकार रहता है। घोर अपरावीको उसी दशामें यह अधिकार हो सकता है जब वह यह दिखला सके कि मैंने अपराध किया ही नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि घोर अपराधियोंको और भी कठोर दण्ड देना वर्तमान अवस्थामें अन्याय्य न होगा।

पञ्चम खण्ड—एक विश्व

उपसंहार

एक विश्व

कानूनकी पुस्तकमें उपसंहारके लिए विशेष स्थान नहीं होता परन्तु इस अध्यायके विषयको एक प्रकारसे उपसंहार ही कह सकते हैं।

आज कई लोगोंके मुँहसे 'एक विश्व'का स्वर निकल रहा है, कुछ लोग उसके साथ 'एक संस्कृति' भी जोड़ देते हैं। विश्व—यह स्पष्ट ही है कि इस प्रसंगमें यह शब्द पृथिवीके लिए व्यवहृत हुआ है—एक हो, यह आज मानव हृदयकी पुकार है। दो महासमर हो चुके युद्धके दुष्परिणाम हैं, तीसरा भी क्षितिजसे बहुत दूर नहीं प्रतीत होता। प्रत्येक युद्ध पहिलेके युद्धोंसे अधिक व्यापक, अधिक भीषण, होता जाता है। आज जो शस्त्र अमोघ समझा जाता है कल वह पीछे छूट जाता है। विज्ञान ऐसे शस्त्र प्रस्तुत कर देता है जो संहार करनेकी शक्ति में उससे कई गुना अधिक उग्र हों। रक्षक-भक्षक बन गया है। विज्ञानको सुख-समृद्धिका संचायक होना चाहिये था : वह सभ्यता और संस्कृतिको मिटानेका सबसे प्रबल साधन बन गया है। दोष विज्ञानका नहीं, समाजके संग्रन्थनका है। ज्ञानका स्थान सर्वोपरि नहीं है, वह धनका अनुचर है। पैसेके बलपर विद्वान मोल लिया जा सकता है और फिर राजशक्तिका भय विद्वानके लिए अंकुशका काम करता है। वह इच्छा न रहते हुए भी अपनी विद्याको विनाशका उपकरण बना रहा है। ऐसे युगमें रहनेवाले प्रत्येक समझदारका हृदय परिणामोंको सोचकर काँप उठता है। स्त्रियाँ नहीं चाहतीं कि जिन शिशुओंको वह आज गोदमें दूध पिला रही हैं वह कल तोपके लिए खाद्य बनें। किसने किसका क्या बिगाडा है ? महासमरके बाद लोभ, क्रोध, घृणा, क्रूरता, अनुदारताकी जो गगन-चुम्बी लहरें उठती है उनके थपेड़ोंसे चरित्रकी जो दुर्दशा होती है उससे सँभलनेमें न जाने कितना समय लगता है। यदि कभी मिलते हैं तो अंग्रेज, अमरीकी, चीनी, रूसी, भारतीय, सब एक दूसरे-को मनुष्य पाते हैं, सबकी आशाएँ, भावनाएँ, वासनाएँ एक सी हैं। रंग, रूप, भाषाके आवरणके नीचे वही प्राणी, प्राणियोंमें श्रेष्ठ मनुष्य मिलता है। विज्ञानके प्रसादसे सबकी तृप्ति हो सकती है, किसीको दूसरेका ग्रास छीननेकी आवश्यकता नहीं है। फिर यह युद्ध, आये दिनका महासमर, किस लिए ?

राष्ट्रपति रूजवेल्टने जिन चार बातोंको मनुष्यके लिए परमावश्यक गिनाया था उनमें भयसे मुक्तिका भी नाम आता है पर आजका पर्यावरण तो भय, शंका, सन्देहसे ओतप्रोत है। किसी दूसरे राष्ट्रपर विश्वास नहीं है। प्राचीन कालमें नरेशों और क्षत्रिय वर्गोंकी महत्वाकांक्षाके कारण युद्ध होते थे; अनतिदूर अतीतमें व्यापारियोंकी प्रतिस्पर्द्धाने युद्ध कराये। इन कारणोंका लोप नहीं हुआ है। आर्थिक स्पर्धा अब भी है और राज्यलिप्सा, प्रभावक्षेत्रके विस्तारकी भूख आज भी लड़ाइयाँ छेड़ती हैं। कभी लोगोंके आत्म-कल्याणके लिए सलीब और अर्धचन्द्रके झण्डेके नीचे धर्मकी तलवार अविश्वासियोंकी गर्दनोंपर फिरती थी; आज हँसिया हथौड़ाका भक्त सैनिक दूसरोंके हितके नामपर कम्यूनिज्मका जयनाद करता हुआ न जाने कितनोंको सूलीके घाट उतार देता है। मनुष्य अपनी छायासे काँपने लगा है। युद्धके

भयका प्राचुर्य

पुराने कारणोंके साथ नया कारण मिल गया है और उसका नाम है भय और सन्देह। जो जितना ही बलवान राष्ट्र है उसका भय भी उतना ही प्रचण्ड है क्योंकि वह जानता है कि उसको हानि भी अधिक पहुँच सकती है। एक दूसरेसे डरकर सब युद्धके गर्तमें गिरने जा रहे हैं। यह अन्धेर कब तक चलेगा? आगसे आग नहीं बुझ सकती। यह आग तो तभी शान्त होगी जब वह सब चीजें भस्म हो जायँगी जिनके कारण मनुष्य मनुष्य कहलाता है।

इसीसे घबराकर एक विश्वकी पुकार उठती है। यह जयघोष नहीं, आर्त्तनाद है, व्यथित मानवका करुण क्रन्दन है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्योंमें सौहार्द फैले, युद्ध बन्द हों।

स्पष्ट रूपसे यह उद्देश्य तो सामने न था परन्तु इस दिशामें कई आंशिक प्रयोग प्राचीन कालसे होते आये हैं। सबसे स्थूल आयोजन तो तब देखनेमें आता था जब कुछ राज किसी विशेष उद्देश्यसे आपसमें सन्धि कर लेते थे। यूनानके छोटे राजोंने इसी प्रकार ईरानियोंका सामना किया था। जबतक वह उद्देश्य सामने रहता था तबतक आपस में लड़ाई नहीं होती थी। यह प्रयोग बहुत सफल इसलिए नहीं हो सकता था कि इसका उद्देश्य शान्ति नहीं युद्ध था। दूसरेसे लड़नेके लिए आपसकी लड़ाई बन्द कर दी जाती थी। अवकाश मिलते ही गुट टूट जाता था।

कुछ प्राचीन संघटन

इससे अच्छा प्रयोग साम्राज्यके रूपमें हुआ। मान्धाता, राम, हिरण्यकशिपु, युधिष्ठिर, चक्रवर्ती थे। इनके अधीन बहुतसे स्वतन्त्रप्राय नरेश थे और लड़ते-भिड़ते रहते थे। परन्तु साम्राज्यमें ऐसा नहीं होता था। देशका बड़ा भाग तो सीधे सम्राटके शासनमें होता था, कुछ अधीन नरेश भी होते थे पर वह आपसमें भी युद्ध नहीं कर सकते थे। बलशाली साम्राज्योंमें सहस्रों वर्गमील भूमिपर सैकड़ों बर्षोंतक आभ्यन्तर शान्ति रही है। मौर्य, गुप्त, मुगल, चीनी, रोमन और ब्रिटिश साम्राज्यका इतिहास इस बातका साक्षी है। परन्तु साम्राज्य भी अखण्ड शान्ति नहीं ला सके, ला सकते भी नहीं। पहिले तो साम्राज्योंकी सफलता इस बातपर निर्भर है कि एकके बाद दूसरा योग्य सम्राट् सिंहासनपर बैठता रहे। ऐसा हो नहीं सकता। प्रतिभाशाली व्यक्तियोंकी अविच्छिन्न परम्परा बहुत दिनोंतक नहीं चलती। बहुधा तो एक ही दो पीढ़ीमें अयोग्य उत्तराधिकारी विशाल साम्राज्यको तितर-बितर कर देता है। हर्षवर्द्धनका साम्राज्य उनकी मृत्युके साथ ही विलीन हो गया। फिर सम्राट स्वयं किसी-न-किसी जाति या राष्ट्रका होता है। वह जाति दूसरी जातियोंको जीतकर साम्राज्यका विस्तार करती है। कितना भी भेद-भाव कम किया जाय परन्तु विजितोंके मनकी कसक नहीं जाती। सम्राटको अपनी जाति या राष्ट्रवालोंपर अधिक भरोसा रहता ही है। संघर्षका बीज साम्राज्यके उदयके साथ ही भूमिमें पड़ता है। अनुकूल अवसर पाकर छिपी आग भड़क उठती है, साम्राज्य विच्छिन्न हो जाता है। और फिर यदि सारी पृथिवीपर एकच्छत्र सार्वभौम साम्राज्य न हो—आजतक तो ऐसा हुआ नहीं—तो दूसरे राज्यों और साम्राज्योंसे तो युद्ध होते ही रहेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि साम्राज्यका अधिष्ठाता कोई वंशानुगत सम्राट् हो। जो दोषगुण ऊपर बताये गये हैं वह उन साम्राज्योंमें भी पाये जायँगे जिनका अध्यक्ष जनतांत्रिक ढंगसे चुना जायगा। यदि अध्यक्ष आत्मतन्त्र अधिनायक हुआ तो उत्तराधिकारी बननेके उम्मीदवारोंका यादवीय साम्राज्यको नष्ट कर सकता है।

साम्राज्य

एक और संस्था थी जो शान्तिका संस्थापन कर सकती थी। उसके द्वारा इस दिशामें बहुत सहायता मिली भी। मेरा तात्पर्य धर्म्मसे है। धर्म्म कोरा कर्म्मकाण्ड नहीं होता। उसके पीछे कोई न कोई दार्शनिक विचारधारा होती है जो कर्म्मकाण्डको प्रश्रय देती है। भारतीय दर्शन

अभेदवादी है। इसलिए आर्य उपासकको यह बतलाया गया है रागद्वेषका, हिंसाके भावका, दमन करना चाहिये। युद्ध करनेवाला आत्महन्ता है। उसके कानमें बराबर यह उपदेश पड़ता रहता था कि आर्योंका, हिन्दुओंका कोई पृथक स्वामी नहीं है, एक जगदीश्वर, एक विश्वेश्वर, है जिसके सामने सब बराबर हैं। जैसे सूर्य अपना प्रकाश भले बुरे सबको देता है उसी प्रकार वह परमात्मा सबको समान भावसे देखता है : नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव—जैसे घूम फिरकर सब नदियाँ समुद्रमें पहुँचती हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य तेरी ही उपासना करते हैं। उसको यह सिखाया जाता था : उदारचरितानान्तु, वसुधैव कुटुम्बकम्—उदार मनुष्योंके लिए सारी पृथिवी कुटुम्बके समान है। इन बातोंसे युद्ध नितान्त बन्द नहीं हुआ, आर्य नरेश भी युद्ध करते थे परन्तु युद्धकी भयंकरतापर अंकुश था। परस्वापहरणके लिए आक्रमण करना निंद्य समझा जाता था, दूसरोंके त्राणके लिए ही लड़ना उत्तम माना जाता था। स्त्रियोंपर, दुर्बलोंपर, विद्वानोंपर, तपस्वियोंपर शस्त्र उठाना निषिद्ध और निन्द्य था। जिसके पास दिव्यास्त्र आजकलके परमाणु बम जैसे हथियार न हों उनपर इनको चलाना घोर पाप समझा जाता था। किसीके देवलपर आघात करना या स्त्रियोंसे छेड़छाड़ करना अधर्म्म था। निश्चय ही इन नियमोंकी अवहेलना हो जाती होगी परन्तु धर्म्माचार्योंका जनतापर इतना प्रभाव था कि उद्दण्ड नरेश भी उनसे डरते थे और दीर्घकालतक ऐसे काम करनेका साहस नहीं कर सकते थे जो उनको नापसन्द हों। इतिहास पुराण इस बातके साक्षी हैं। यह सब होते हुए भी दो कारणोंसे वैदिक धर्म शान्ति स्थापन करनेमें बहुत सफल न हो सका। एक तो उसमें संघटनके लिए स्थान नहीं था। यह अच्छी बात भी है परन्तु एक दृष्टिसे दुर्बलता भी लाती है। कोई एक सूत्र नहीं होता जो सबको बाँध सके, एक अधिकारी नहीं होता जिसकी आज्ञा सबके लिए मान्य हो। दूसरी बात यह है कि सिद्धान्ततः सार्वभौम होते हुए भी यह धर्म उन लोगोंको नहीं पचा सका जो जन्मना वर्णकी व्यवस्थाको नहीं मानते थे। दूसरोंको संकल्पपूर्वक अपने घेरेमें लाना इसको सम्मत नहीं था, अपने भीतर भी भेदभाव और शासनका अभाव था। इसलिए यह धर्म्म विश्वशान्तिका संस्थापक न हो सका और न अपनी दुर्बलताओंका अतिक्रमण किये बिना भविष्यमें हो सकता है।

धर्म्म संस्थापन

बौद्ध धर्म्म इसी वृक्षकी शाखा है पर कुछ दृष्टियोंसे इससे अधिक बलवान है। इसका सूत्र सीधा है : बुद्धं शरणंगच्छामि, धर्म्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि। भिक्षु संघ एक प्रकारकी अन्ताराष्ट्रिय संस्था है और उसका शासन बौद्ध जनताके लिए अनुल्लंध्य है। दूसरोंको दीक्षित करना बौद्ध धर्म्मका प्रमुख अंग है और उसमें कोई भेदभाव नहीं है। मनुष्योंको संघटित करनेकी उसमें बड़ी शक्ति है। चीन, जापान, तिब्बतके करोड़ों नर नारी एक दलाई लामाको अपना पूज्य मानते थे, यह छोटी बात नहीं है।

इस्लाममें भी इस प्रकारकी बहुत क्षमता है। अल्लाह, कुरान और मुहम्मदके माननेवाले सब बराबर हैं और दूसरोंको इस्लामके हल्केमें लाना हर सच्चे मुसलमानका कर्तव्य है। आपसमें चाहें जो संघर्ष हो परन्तु अमुस्लिमके सामने प्रत्येक मुसलमान एक सेनाका सिपाही, एक परिवारका सदस्य है।

ईसाई धर्म्म इस दृष्टिसे और भी शक्तिशाली रहा है। ईश्वर और ईसाके नामका सूत्र तो सरल है ही, यह तो प्रत्येक ईसाईको बताया गया था कि जो ईसाई नहीं है उनकी अपेक्षा वह ईश्वरका लाड़ला है। रोमन कैथलिक सम्प्रदायका तो सुगठित शासनका रूप था। गाँवके पादरीसे लेकर पोपतक एक श्रृङ्खला थी। पोप सेण्ट पीटरके उत्तराधिकारी थे जिनके हाथमें स्वयं ईसाने स्वर्ग

की कुञ्जी दे रखी है। निश्चय ही ईसाई धर्म्मके नामपर बहुत रक्तपात हुआ है परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि कई शताब्दियोंतक यूरोपके दुर्दम नरेशों और नृशंस सरदारोंकी उच्छृङ्खलतापर एक मात्र चाबुक ईसाई धर्म था। पोपसे सब काँपते थे और छोटेसे छोटा पादरी भी पोप और सेण्ट पीटरके नामपर उन्मार्गगामियोंकी भर्त्सना करनेका साहस कर जाता था। यदि कोई अभागा गिरजाघरके द्वारको छू ले तो राजाकी पुलिस और सेना उसको पकड़ नहीं सकती थी।

धर्म्मका इतिहास बड़ा रोचक है। धर्म्मकी सफलता और असफलता समाज शास्त्रका महत्त्व-पूर्ण विषय है। यहाँ उसका विस्तृत विवेचन नहीं हो सकता। पर यह तो स्पष्ट ही है कि ईसाई समाजके भी कई टुकड़े हो गये हैं और अन्य बड़े धर्म्मनिकायोंकी भाँति ईसाई धर्म्म भी विश्व-शान्तिका साधन नहीं हो सकता।

विश्व संस्कृति

हमको इन साम्प्रदायिक संस्थाओंकी ओरसे तो निराश होना पड़ा। कुछ लोग विश्व संस्कृतिको त्राणका साधन समझते हैं। उनका विचार है कि विचारोंकी संकीर्णता ही सन्देह, संघर्ष और युद्धका मूल स्रोत है। जबतक अपनेको अपनेसे पृथक् माननेकी प्रवृत्ति रहेगी तबतक विचारोंकी संकीर्णता दूर नहीं हो सकती। भौतिक बातोंमें जो भेद देख पड़ते हैं उनको बहुत महत्त्व देना भूल है। संस्कृतिका सूक्ष्म जगत् ऐसा है जिसमें कोई भेद-भाव नहीं है और जिसपर सबका समान रूपसे अधिकार है। संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्तिकला, काव्य सबको मुग्ध करते हैं। इस लोकमें विचरण करते समय हम देश-कालका अतिक्रमण कर जाते हैं। अतः यह चीज सबसे सुदृढ़ सम्मेलक है। इस बातमें बहुत सार है परन्तु दो बातें ध्यानमें रखनेकी हैं। संस्कृतिके उस ऊँचे स्तरतक सब नहीं पहुँच सकते जहाँ भेद-बुद्धि मिट जाती है और मनुष्य विश्वनागरिक हो जाता है। साधारणतः राजनीतिक और आर्थिक शक्तियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि उनके प्रवाहमें संस्कृतिके पाँव नहीं टिकते और लब्धप्रतिष्ठ सुसंस्कृत व्यक्ति राष्ट्रिय झण्डेके नीचे एक दूसरेके ऊपर बन्दूक तानकर खड़े हो जाते हैं।

राष्ट्रभावनाका अस्तित्व

यदि विश्व-शान्ति स्थापित करनी है तो हमको वस्तुस्थितिसे मुँह न मोड़ना होगा। यह मानकर चलना चाहिये कि मानव समाज इस समय विभिन्न राष्ट्रोंमें बँटा है और जबतक स्वतन्त्रता नहीं मिलती अर्थात् अपने पार्थक्यका अनुभव नहीं हो लेता तबतक किसी राष्ट्रकी तुष्टि नहीं होती, राष्ट्रिय आत्मा अभिहत रहता है। सम्भव है एकता और एक संस्कृतिकी भावना इतनी प्रबल हो जाय कि यह राष्ट्र-भावना बिल्कुल दूर हो जाय परन्तु अभी तो राष्ट्रबुद्धि और तज्जनित पार्थक्य सत्य है, भले ही इसे कटु सत्य माना जाय। एक दिनमें यह भूत भाग नहीं सकता।

जातिभेद दोष

अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी राष्ट्रभावनामेंसे कटुताके कीटाणु निकाले जा सकते हैं। यह समझना चाहिये कि राष्ट्रोंकी सत्ता किन्हीं राजनीतिक और ऐतिहासिक कारणोंसे प्रकट हुई है। किसी क्षेत्र विशेषके निवासियोंको किन्हीं विशेष कारणोंसे, जिनमेंसे उस देशकी भूगोलका बहुत सम्बन्ध है, विशेष प्रकारकी अनुभूतियाँ हुई। इन समान अनुभवोंने स्वभावतः उनमें विशेष अपनेपनका भाव उत्पन्न किया और इस अपने पनकी सीमातक दूसरोंसे पृथकताका भाव उत्पन्न किया। बस इसके आगे राष्ट्रियताका आधार नहीं जाता। यह मानना भारी भूल है कि विभिन्न राष्ट्रोंके सदस्य विभिन्न जातियोंके हैं। इससे भी बढ़कर भूल यह मानना है कि कुछ जातियाँ दूसरोंसे जन्मना उत्तम हैं और जो अधम हैं वह अधम रहेंगी। किसी प्रकारकी शिक्षा या सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था उनको उत्तमोंके बराबर

नहीं बना सकती। रंग या धार्मिक विचारोंके आधारपर बड़ाई छुटाईका भेद करना भी भयानक भूल है। यदि कोई धार्मिक विचार श्रेष्ठ है तो काल पाकर लोग उसे आप ही मान लेंगे परन्तु ऐसे किसी विचारको ऊँच नीचकी कसौटी नहीं बना सकते। आज लाखों मनुष्य, कई राष्ट्रों और उप-राष्ट्रोंके सदस्य, अशिक्षित और असंस्कृत हैं परन्तु ऐसा न मानना चाहिये कि इसका कारण उनकी जन्मजात हीनता है। मनुष्यत्वेन सब बराबर हैं। ऐसा न मानना न जाने कितने संघर्षोंका मूल है।

दूसरे यह बात मान लेनी चाहिये कि किसी राष्ट्रको किसी दूसरे राष्ट्रपर शासन करनेका अधिकार नहीं है। कुछ दिनोंके लिए उन्नत राष्ट्र किसी पिछड़े राष्ट्रके अभिभावक बनाये जा सकते हैं, पर इसमें कोई स्थायित्व न होना चाहिये।

दूसरे राष्ट्रोंपर शासन

मत प्रचारका श्रेष्ठ स्वरूप

तीसरी बात यह है कि सबको अपने मतका प्रचार करनेका अधिकार है और प्रत्येक राजको भी यह अधिकार है कि जिस किसी विचारधाराको चाहे अपनाकर उसे अपने राष्ट्रीय जीवनका आधार बनाये परन्तु किसी विचारको, किसी राजनीतिक, आर्थिक या धार्मिक मतको, दूसरोंपर बलात् लादना निषिद्ध हो जाना चाहिये। दूसरे राष्ट्रों या दूसरे विचारोंके समर्थकोंको अपने अधिकार या प्रभाव परिधिके भीतर लाने, दूसरे मतोंकी निन्दा करने और दूसरे राष्ट्रोंके विरुद्ध उनके भीतर रहनेवाले अपने विचारवालोंको उत्तेजित करना या प्रोत्साहन देना वर्जित कर देना चाहिये। निषिद्ध और वर्जितका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकारकी घोषणा की जाय या कोई सन्धि-पत्र लिखा जाय। ऐसा तो आज भी होता रहता है और निष्फल होता है। यह तो सभी राष्ट्रों और उनकी सरकारोंको समझ लेना है कि क्रिया अपनी प्रतिक्रियाको आप ही जन्म देती है। जो मत गुप्त रूपसे षड्यंत्र करके, विद्रोहको बढ़ावा देकर, बल-प्रयोगका भय दिखलाकर या सीधे शस्त्र-प्रयोग द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता है उसके विरुद्ध क्रोध भभकता ही है। परिस्थितिको देखकर आग दबी रहे परन्तु एक दिन ज्वाला फूट पड़ती है। कोई सदा बलवान नहीं रहता। नेपोलियन और हिटलरका भी गर्व चूर्ण हो गया। अतः अपनी समझमें जो सिद्धान्त या व्यवस्था बहुत कल्याणकारी हो उसके लिए भी दूसरोंके साथ छेड़-छाड़ करना अच्छा नहीं है। विचारोंको विचारों-से टकराने देना चाहिये। राजशक्ति केवल अशान्तिको उत्पन्न होनेसे रोकनेमें लगानी चाहिये।

चौथी बात जो सभी राष्ट्रों और सरकारोंको समझ लेनी चाहिये वह यह है कि आज सबके हित अन्योन्याश्रित हो गये हैं। रेल, तार, वितन्तु, वायुयानने सबको एक दूसरेके साथ ऐसा बाँध दिया है कि एकका अहित करके दूसरेके हितका सम्पादन करना प्रायः असम्भव है। जो काम पृथिवीके किसी एक अंशमें अशान्ति फैलायेगा वह शेष भागको अछूता न छोड़ेगा।

हितोंका अन्योन्याश्रय

यदि उपर्युक्त बातोंको सचाईसे माना जाय तो यह बात निष्पन्न होती है कि राष्ट्रोंका एक दूसरेसे वही सम्बन्ध है जो शरीरके अवयवोंका होता है। मानव समाज अंगी है, राष्ट्र उसके अंग हैं। सब अंगोंके समन्वय समुत्थानमें अंगीका अभ्युदय होगा; यदि कोई अंग अकेले अपनी वृद्धिकी बात सोचेगा तो उसकी दशा उस रोगी अवयवकी भाँति होगी जो रक्तमांसका अधिक संचय कर लेता है। वह सारे शरीरको दूषित करता है और अन्तमें उसे काटकर फेंकना पड़ता है। कोई सम्प्रदाय विशेष विश्वशान्तिको बनाये रखनेमें भले ही समर्थ न हो परन्तु उदात्त सम्प्रदायोंकी भूमिकामें कुछ ऐसे दार्शनिक विचार हैं जिनके बिना विश्वशान्ति निराधार हो जायगी। समाजमें जो

विराट पुरुष-स्पर्धाकी जगह सहयोग

अव्यवस्था फैली है उसकी तहमें भ्रान्त सिद्धान्त हैं। एक ओर तो यह मान लिया गया है कि जीवन संघर्ष विकासका मूल है और प्रतियोगियोंको निर्मूल कर देना योग्यताकी परख है, प्रतिस्पर्धा उन्नतिका साधन है। दूसरी ओर यह धारणा दृढ़ की जाती है कि इतिहास आर्थिक नियमोंकी अभिव्यक्ति है और अर्थको ही प्राथमिकता मिलनी चाहिये। दोनों ही मान्यताओंका परित्याग करना होगा। यह समझ लेना होगा कि जिस प्रकार शरीरके अवयवोंमें स्पर्धाका कोई अर्थ नहीं होता, उसी प्रकार समूहोंमें स्पर्धा हेय है। उन्नतिका मूल सहयोग है : परस्परं भावयन्तः, श्रेयः परमवाप्स्यथ। एक दूसरेके हित-साधनसे, एक दूसरेकी सहायता करनेसे, सब अपना कल्याण करेंगे। दूसरे शब्दोंमें, हमको विराट पुरुषकी कल्पनाको व्यवहारमें अवतरित करना होगा। सभी राष्ट्र, सभी मनुष्य, सभी प्राणी उसके शरीरमें स्थित हैं, अथच एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। उस परतत्वकी शक्ति स्थूल और सूक्ष्म, अणु और महान्, जड़ और चेतन, को अनुप्राणित कर रही है। युद्ध और स्पर्धा उस दैवी विधान, उस परम सत्य, के प्रतिकूल जाते हैं, अतः उनसे कदापि कल्याण नहीं हो सकता।

एक और बात उपादेय है। मनुष्य केवल भौतिक तत्त्वोंका पुतला नहीं है और न उसकी चेतना रासायनिक क्रियाओंका आकस्मिक क्षणभंगुर परिणाम है। चेतना नित्य द्रव्य है और उदात्त गुण मनुष्यके सहज धर्म हैं। प्राथमिकता इन गुणोंके विकासको मिलनी चाहिये। आर्थिक या राजनीतिक बातोंका महत्त्व वहींतक है जहाँतक उनसे मनुष्यके जन्मजात स्वभावके विकास और स्वरूपकी अभिव्यञ्जनामें सहायता मिले और बाधाएँ दूर हों।

यदि इन बातोंकी ओर ध्यान दिया गया तो संयुक्त राष्ट्र संघटन सफल होगा और कोटि-कोटि मनुष्योंने उससे जो आशाएँ बाँध रक्खी हैं वह पूरी होंगी। उसका नामकरण अच्छा हुआ है। राष्ट्र संघके नाममें पृथकतापर स्पष्ट आग्रह था। संघटनमें अवयवी सम्बन्धकी ओर अधिक झुकाव है। यदि मनुष्य-समाजके व्यापक कल्याणको लक्ष्य मानकर और सबके हितमें अपना हित समझकर संघटनके सदस्य ईमानदारीसे काम करें तो निश्चय ही युद्धका बहिष्कार हो जाय।

राष्ट्रोंको एक बात और करनी होगी। प्रत्येक २४ अक्तूबरको संयुक्त राष्ट्रदिवस मनाया जाता है। कुछ भाषण होते हैं, कुछ कविता पढ़ी जाती है, कुछ चित्र दिखाये जाते हैं। यह सब व्यर्थ है। यदि राष्ट्र संघटनकी भावना दृढ़ करनी है तो शिक्षाका स्वरूप शिक्षामें परिवर्तन बदलना होगा। दूसरे राष्ट्रोंको अपना प्रतिद्वन्द्वी न बनाकर अपना सहयोगी बनाना होगा, अपनेको सबसे उपकृत समझना होगा, प्रतिस्पर्धाके स्थानमें सहयोगका मंत्र पढ़ाना होगा। शिक्षालयोंमें, होटलोंमें या और जहाँ कहीं रंग या जातिका भेद हो उसे तत्काल मिटाना चाहिये। विश्व संस्कृतिको जीवित शक्ति बनाना होगा और सबसे बढ़कर, धर्म्मकी दीक्षा देनी होगी। धर्म्मका रहस्य है कि केवल अपने कर्तव्योंके विषयमें सतर्क रहा जाय। यदि सब अपने अपने कर्तव्यका पालन करेंगे, तो सबको अपने अधिकार स्वतः प्राप्त हो जायँगे।

यदि मनुष्य ऐसा कर सका तो सचमुच निज और परकी दीवार गिर जायगी और एक विश्वका स्वप्न मूर्त हो जायगा। राष्ट्र राष्ट्रके भेद आप ही क्षीण होकर नष्ट हो जायँगे और मनुष्य मात्र एक कुलके कुटुम्बी होंगे। उस समय पृथ्वी सच्चे अर्थोंमें उनके लिए वसुन्धरा होगी और स्वर्गका सुख मानवके चरणोंपर लोटेगा। अन्यथा, सभ्यता और संस्कृतिका विनाश अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। समाजके विचारकों, नेताओं और विद्वानोंके कन्धोंपर बहुत बड़ा बोझ है परन्तु यदि वह विश्वशान्तिके प्रयत्नमें निराग्रह और निष्कपट होकर लगें तो कोटि कोटि व्यथित हृदयोंका आशीर्वाद उनके बोझको हल्का करेगा।

धियस्तन्नः प्रचोदयात्

परिशिष्ट—१

राष्ट्रसंघ

यों तो बहुत दिनोंसे लोगोंके विचारमें यह बात आ रही थी कि यदि सब स्वतन्त्र राज किसी एक संघटनके भीतर लाये जा सकें तो आपसके लड़ाई-झगड़ोंमें बहुत कमी हो जाय परन्तु इस विचारको विशेष रूपसे पहिले महासमरके समयमें पुष्टि मिली।

संयुक्त राज अमेरिकामें १९१५ में दि लीग टु एनफोर्स पीस (शान्ति स्थापित करानेके लिए समिति) स्थापित हुई। इसमें अमेरिकाके दोनों राजनीतिक दलोंके सदस्य सम्मिलित हुए। इन लोगोंकी पहली इच्छा तो यह थी कि अमेरिका युद्धसे अलग रहे परन्तु इसके साथ ही यह भी यत्न था कि फिरसे शान्ति स्थापित हो, भविष्यत्के लिए ऐसे झगड़े पंचायतसे तय हों और समय-समयपर अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन हुआ करे। अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन भी इस पक्षके थे। १९१८ में उन्होंने शान्तिस्थापनके १४ तत्त्वोंका निरूपण किया। १४ वाँ तत्त्व यह था कि राष्ट्रोंका संघ बनना चाहिये और उसके द्वारा छोटे-बड़े सभी राष्ट्रोंकी स्वाधीनता और उनके राज्योंकी अक्षुण्णताकी रक्षा होनी चाहिये।

ब्रिटिश मजदूर दल भी ऐसे ही विचार रखता था। १९१८ में ब्रिटिश सरकारने लार्ड फिल-मोरकी अध्यक्षतामें इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए समिति नियुक्त की। समितिकी रिपोर्ट अमे-रिका भेजी गयी। वहाँ वह राष्ट्रपतिके मित्र कर्नल हाउसको दी गयी। उनकी काट-छाँटके बाद उसका नाम हाउसयोजना पड़ा। अन्तमें वह विल्सन-योजना कहलायी।

संधि-परिषद्में विल्सनकी अध्यक्षतामें राष्ट्रसंघकी नियमावली बनानेके लिए समिति नियुक्त हुई। इस नियमावलीको जो अन्तिम रूप मिला उसे लीगका कावेनैण्ट (संघका समय-पत्र) कहते हैं। यह जर्मन संधिके साथ भूमिका-रूपसे लगा दिया गया। यही समय-पत्र राष्ट्रसंघका आधार है।

राष्ट्रसंघके समय-पत्रमें स्थान-स्थानपर राष्ट्रपति विल्सनके विचारोंकी झलक देख पड़ती है। उन्होंने अमेरिकाके सिनेटके समक्ष २२ जनवरी १९१७ को कहा था "कोई ऐसी शान्ति न ठहर सकती है, न ठहरनी चाहिये, जो इस सिद्धान्तको स्वीकार नहीं करती कि सरकारोंके समस्त न्याय्य-स्वत्व शासितोंकी रजामन्दीसे प्राप्त होते हैं और ऐसा कोई भी अधिकार नहीं है कि सम्पत्तिकी भाँति जनता एक प्रभुराजसे दूसरे प्रभुराजको दे दी जाय।" एक वर्ष बाद उन्होंने शान्तिस्थापनके लिए जिन १४ तत्त्वोंको आवश्यक बताया था उनमें स्यात् सबसे महत्त्वका स्थान इस आत्म-निर्णयके तत्त्वका था। इसीको आधार मानकर पोलैण्डको, जो डेढ सौ वर्षोंसे रूस, जर्मनी और आस्ट्रियामें बँटा हुआ था और जेकोस्लोवाकियाको, जो चार सौ वर्षोंतक आस्ट्रियाके अधीन रहा था, मुक्ति दी गयी परन्तु यह शर्त एशिया और अफ्रीकाके लिए लागू नहीं की गयी।

राष्ट्रसंघका नाम भ्रामक है। सम्भव है संघकी जगह समिति या ऐसा ही कोई और शब्द रख देनेसे भ्रम कुछ कम होता परन्तु अंग्रेजी नाम भी भ्रामक सिद्ध हुआ है। लीग या संघ कहने-की सार्थकता इस बातमें थी कि उसके अंगभूत राज (या राष्ट्र) अपनी स्वतंत्रताको अंशतः छोड़-

कर संघको अपनी प्रभुताका कुछ भाग प्रदान करते। ऐसी दशामें उसका स्वरूप सरकार होता; वह सदस्य-राजोंको आज्ञा दे सकता। पर यह बात नहीं थी संघके पास अपने निश्चयोंको कार्यान्वित करानेके साधन नहीं थे। वह अंग-राजोंसे सिफारिश कर सकता था, कार्यान्वित करना उनके हाथोंमें था। यदि कोई राज उसकी आज्ञाकी अवहेलना करे तो वह स्वयं दण्ड नहीं दे सकता था। दण्ड भी उसके दूसरे अंग ही दे सकते थे। राजोंने अपनी प्रभुताको लेशमात्र भी नहीं छोड़ा। उनका सबमें रहना न रहना भी ऐच्छिक था। इसके साथ ही पूर्ण प्रभुतापर कुछ बन्धन भी थे। संघका अपना दफ्तर था, वह विशेष अवस्थाओंमें अपने किसी सदस्यको पृथक् कर सकता था और ११ वीं धाराके अनुसार युद्धकी आशंकामें उसको शान्तिकी रक्षाके लिए उन सब कामोंके करनेका अधिकार था जो उसको उचित और सूक्ष्म प्रतीत हों। यदि दो सदस्य-राजोंमें कोई झगड़ा खड़ा हो जाय तो संघको जाँचके लिए समिति भेजनेका अधिकार था और उसके सदस्योंको आपसमें युद्ध छेड़नेके पहिले उसके बनाये कुछ नियमोंका पालन करना पड़ता था। इस प्रकार पूर्ण प्रभुत्वपर कुछ-न-कुछ रोकथाम हो जाती थी।

संघकी प्रधान सभाका नाम असेम्बली था। प्रत्येक राज जो संघके सिद्धान्तोंको स्वीकार करे और जिसको दूसरे सदस्य सदस्य बनाना स्वीकार करें, सदस्य हो सकता था। प्रत्येक सदस्यका वोट बराबर था यद्यपि सुविधाके लिए सदस्योंको तीनतक प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार था। इसका साधारण अधिवेशन वर्षमें एक बार होता था परन्तु विशेष अवसरोंपर विशेष अधिवेशन हो सकते थे।

इसकी कार्यकारिणी समितिका नाम कौंसिल था। कौंसिलमें नियमतः पाँच स्थायी और चार अस्थायी सदस्य होने चाहिये थे। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली, जापान स्थायी थे। अस्थायी सदस्योंको असेम्बली चुनती थी। राजोंमें ऐसा बँटवारा करना ठीक नहीं था। स्थायी पदपर रहनेसे बड़े राजोंका पद और भी बढ़ जाता था। इससे छोटे-बड़ोंमें मनमुटाव बना रहता था। अमेरिका कभी सम्मिलित हुआ ही नहीं। १९२६ में जर्मनी स्थायी सदस्य बनाया गया और १९३४ में रूस परन्तु १९३५ में जर्मनी और जापान अलग हो गये और १९३७ में इटली निकल गया। पिछले महासमरके छिड़नेके समय ब्रिटेन, फ्रांस, और रूस स्थायी सदस्य रह गये थे। छोटे राजोंके निरन्तर प्रयत्नसे अस्थायी सदस्योंकी संख्या चारसे दस हो गयी। युद्धके पहिले बेल्जियम, बोलिविया, चीन, ईक्वेडोर, ईरान, लैट्विया, न्यूजीलैंड, पेरू, रूमानिया और स्वीडेन इन स्थानोंपर थे। पहिले कौंसिलकी बैठक वर्षमें चार बार होती थी, पीछेसे विशेषाधिवेशनोंको छोड़कर तीन बार होने लगी।

यह कहना गलत होगा कि संघने कुछ काम नहीं किया। उसके द्वारा अन्ताराष्ट्रिय सहयोग और सद्भावनाकी कुछ-न-कुछ वृद्धि हुई। ऐसे कई युद्धोंका जिनमें किसी महाशक्तिका किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं उलझा था, उपशम भी हुआ। उदाहरणके लिए १९२०-२१ में स्वीडेन और फिनलैंड, १९२५ में यूनान और बलगेरिया, १९३१-३५ में कोलम्बिया और पेरूके झगड़े इसी प्रकार तय किये गये।

राष्ट्रसंघको बड़े राष्ट्रोंने ही, जो उसके जनक थे, समाप्त कर दिया। जर्मनीको पंगु तो किया गया पर उसकी सत्ता ज्योंकी त्यों बनी रही। फ्रांसका प्रभाव-क्षेत्र बहुत बढ़ गया था, यह बात ब्रिटेनको अच्छी नहीं लगती थी। दोनोंकी खैंचातानीमें जर्मनीको अवसर मिला। उधर हिटलर जैसा नेता मैदानमें आया। हारके अपमानसे क्रुद्ध जर्मनी बदला लेने और अपना राज्य

बढ़ानेपर तुल गया। अमेरिकाकी नीति यह थी कि यूरोपके झगड़ोंसे अलग रहा जाय। वह संघका सदस्य बना ही नहीं। इस बीचमें 'आर्थिक स्वतःपूर्णता' का सिद्धान्त चल पड़ा था। इसका आशय यह था कि प्रत्येक बड़े राष्ट्रको चाहिये कि अपनी सारी आवश्यकताओंकी पूर्ति अपने राज्यसे ही करे। सब जगह सब वस्तुएँ तो होती नहीं। अतः राज्यका विस्तार बढ़ाना आवश्यक प्रतीत होने लगा। इसी लालचसे इटली इथिओपिया (ऐबिसीनिया) पर कुदृष्टि लगाये बैठा था। यदि ब्रिटेन और फ्रांस अपने उपनिवेशोंके साथ भी आत्मनिर्णयकी नीति बर्तते तो उनका नैतिक बल बढ़ता पर स्वार्थ उनको रोकता था। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रसंघ न तो दुर्बलोंके त्राणमें समर्थ हो सका, न बड़ोंकी स्वार्थसिद्धिका साधन बन सका। ऐसी संस्था कितने दिनों चल सकती थी। उसको उसकी दुर्बलता और व्यर्थताने मार डाला।

परिशिष्ट–२

मानव अधिकारोंकी सार्वभौम घोषणा

आमुख

चूँकि इस विश्वमें स्वतंत्रता, न्याय और शान्तिका आधार मानव परिवारके प्रत्येक सदस्यके समान और जन्मसिद्ध अधिकारों तथा नैसर्गिक सम्मानकी मान्यता है,

चूँकि मानव अधिकारोंकी उपेक्षा और अनादरके कारण ऐसे बर्बर कृत्य हुए हैं जिनसे मानवताकी आत्माका हनन हुआ है और चूँकि विश्वकी ऐसी व्यवस्था जिसमें प्रत्येक मानवको भाषण और विश्वासकी स्वतंत्रता, भय और भूखसे मुक्ति, जन साधारणकी सबसे बड़ी अभिलाषा घोषित हो चुकी है,

चूँकि यह आवश्यक है, यदि मनुष्यको, चाहे अंतिम उपायके ही रूपमें ही क्यों न हो, क्रूरता और दमनके विरुद्ध विद्रोह करनेके लिए मजबूर नहीं करना है, कि मानव अधिकारोंकी रक्षा विधि नियमों द्वारा हो,

चूँकि यह आवश्यक है कि राष्ट्रोंके बीच मैत्रीपूर्ण संबंध उन्नत हों,

चूँकि संयुक्त राष्ट्रोंकी जनताने समयकमें मानवके मौलिक अधिकारोंमें मानव शरीरकी उपयोगिता और सम्मानमें, और सभी पुरुषके समान अधिकारोंमें, पुनः घोषणा की है तथा सामाजिक प्रगतिको उन्नत करने और अधिक स्वतंत्रतामें जीवनके स्तरको ऊँचा करनेका दृढ़ निश्चय किया है,

चूँकि सदस्य राजोंने संयुक्त सहकारितामें मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओंके पालन एवं उनके प्रति आदरकी भावनाको उन्नत करनेके लिए अपनेको प्रतिश्रुत किया है,

चूँकि इस प्रतिज्ञाको पूर्णरूपेण कार्यान्वित करनेके लिए इन अधिकारों और स्वतंत्रताओंके प्रति पारस्परिक मतैक्य सर्वोपरि महत्त्व रखता है,

इसलिए आज

महासभा घोषित करती है—

क्योंकि संयुक्त राष्ट्र-संघटनके जनवर्गने समयकमें मौलिक मानव अधिकारोंके प्रति मनुष्यकी मूल्यवता तथा मर्यादाके प्रति, अपने विश्वासको दुहराया है, और स्वतंत्रताके वृहत् क्षेत्रमें जीवनके रहन-सहनके स्तरको और अच्छा बनाने तथा सामाजिक उन्नतिको विकसित करनेका दृढ़ निश्चय किया है,

क्योंकि सदस्य राज्योंने संयुक्त राष्ट्रसंघके सहयोगसे मौलिक स्वतंत्रताओं तथा मानव अधिकारोंके पालन, तथा उनके प्रति सार्वभौम आदरकी अभिवृद्धि करानेका संकल्प किया है,

क्योंकि इन अधिकारों और स्वतंत्रताओंकी सामान्य जानकारी इस संकल्पकी पूर्तिके लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है,

अतएव अब

महासभा घोषित करती है—

मानव अधिकारोंकी यह सार्वभौम घोषणा सभी जातियों तथा सभी राष्ट्रोंके लिए समान

रूपसे आदर्श और प्रतिमान होगी, ताकि इस घोषणाको बराबर सामने रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति तथा समाजका प्रत्येक अंग उपदेश और शिक्षा द्वारा इन अधिकारों तथा स्वतंत्रताओंके प्रति आदर-भावकी वृद्धिके लिए और क्रमशः राष्ट्रीय तथा अन्ताराष्ट्रिय उपायों द्वारा दोनों स्वतंत्र सदस्य राज्योंके निवासियोंमें एवं उनके शासन क्षेत्रोंके निवासियोंमें उनके सार्वभौम और सक्षम ज्ञान तथा परिपालनके लिए प्रयत्न करे।

धारा १—सभी मनुष्य जन्मना स्वतन्त्र हैं तथा अधिकार और मर्यादामें समान हैं। उनमें विवेक एवं बुद्धि है अतएव उन्हें एक दूसरेके साथ भ्रातृभावयुक्त व्यवहार रखना चाहिये।

धारा २—जाति, रंग, योनि, भाषा, धर्म, राजनीति अथवा अन्य राष्ट्रीय अथवा सामाजिक उत्पत्ति, सम्पत्ति, जन्म अथवा प्रकारकी हैसियतके भेदभावके बिना प्रत्येक व्यक्ति इस घोषणामें निर्दिष्ट सभी अधिकारों और स्वतन्त्रताओंका पात्र है। इसके अतिरिक्त किसी स्थान अथवा देशके साथ जिसका वह व्यक्ति नागरिक है, राजनीतिक परिस्थितिके आधारपर भेद न किया जायगा, चाहे वह स्वतंत्र हो, आदिष्ट हो, स्वशासनाधिकारसे विहीन हो अथवा किसी अन्य प्रकारसे अल्पप्रभु हो।

धारा ३—प्रत्येक व्यक्तिको जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षाका अधिकार है।

धारा ४—कोई गुलामी अथवा दासतामें आबद्ध नहीं किया जा सकेगा। गुलामी तथा गुलाम व्यापार सर्वथा निषिद्ध होगा।

धारा ५—किसीको यातना न दी जायगी और न कोई क्रूर, अमानुषिक या अपमानजनक बर्ताव या दण्डका भागी बनाया जायगा।

धारा ६—प्रत्येक व्यक्तिको अधिकार होगा कि वह सर्वत्र कानूनके अधीन व्यक्ति माना जाय।

धारा ७—कानूनके समक्ष सभी समान हैं तथा बिना किसी भेदभावके कानूनसे समान सुरक्षाके अधिकारी हैं। यदि इस घोषणाके विरुद्ध भेदनीति मूलक आचरण किया जाय या किसीको ऐसे आचरणकी प्रेरणा दी जाय तो उस अवस्थामें सब समान रूपसे रक्षाके अधिकारी हैं।

धारा ८—विधान अथवा संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारोंका उच्छेदन करनेवाले कार्योंके विपरीत प्रत्येक व्यक्तिको अपने उपयुक्त राष्ट्रिय न्यायालयोंसे सक्षम संरक्षणकी अपेक्षा करनेका अधिकार है।

धारा ९—किसीकी भी अविहित गिरफ्तारी, कैद, अथवा निष्कासन न हो सकेगा।

धारा १०—प्रत्येकको अपने अधिकारों तथा कर्तव्योंके निर्णयके, एवं अपने विरुद्ध किसी अपराधके सम्बन्धमें स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्यायालय द्वारा अभियोगके, उचित और खुलेआम प्रकार सुने जानेका पूर्णतः समान अधिकार है।

धारा ११—(१) प्रत्येकको जिसपर दण्डनीय अपराधका आरोप हुआ है, जबतक खुले आम मुकदमे द्वारा, जिसमें उसे अपनी सफाईके लिए आवश्यक सभी गारण्टी प्राप्त रही हो, कानूनके अनुसार वह अपराधी सिद्ध नहीं हो जाता तबतक, निरपराध समझे जानेका अधिकार है।

(२) कोई भी किसी ऐसे कार्य अथवा त्रुटिके कारण जो किये जानेके समय राष्ट्रिय अथवा अन्ताराष्ट्रिय कानूनके अधीन दण्डनीय अपराध नहीं था दण्डनीय अपराधका अपराधी नहीं करार दिया जायगा और न अपराध किये जानेके समय जो सजा वैध थी उससे अधिक सजा ही दी जा सकेगी।

धारा १२—किसीके भी कौटुम्बिक, गार्हस्थ्य, और पत्रव्यवहारकी गोपनीयतामें मनमाना दखल न दिया जायगा और न उसके सम्मान और ख्यातिपर आघात पहुँचाया जायगा।

धारा १३—(१) प्रत्येकको अपने राज्य सीमाके अंतर्गत गमनागमन और निवासकी स्वतंत्रताका अधिकार है।

(२)—प्रत्येकको किसी भी देशको, जिसमें उसका भी देश सम्मिलित है, छोड़नेका अधिकार है और अपने देशमें लौट आनेका अधिकार है।

धारा १४—(१) प्रत्येकको प्रतारणासे बचनेके लिए किसी भी देशमें आश्रय लेने और सुखसे रहनेका अधिकार है।

(२)—अराजनीतिक अपराधों अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघके उद्देश्यों एवं सिद्धान्तोंके विरुद्ध होनेवाले कार्योंके कारण मूलतः दण्डित व्यक्ति इस अधिकारसे वंचित होंगे।

धारा १५—(१) प्रत्येकको राष्ट्रीयताका अधिकार है।

(२) किसीको भी अविहित रूपसे उसकी राष्ट्रीयतासे वंचित नहीं किया जायगा और किसी-के, अपनी राष्ट्रीयता बदलनेके अधिकारका अपहरण नहीं किया जायगा।

धारा १६—(१) प्रौढ़ पुरुष एवं स्त्रियोंको जाति, राष्ट्रीयता अथवा धर्मके बन्धनके बिना विवाह करने और गृहस्थी बसानेका अधिकार है। उन्हें विवाह करनेका, वैवाहिक जीवनमें और वैवाहिक संबंध-विच्छेदके समय समान अधिकार प्राप्त हैं।

(२) विवाहके इच्छुक वर-वधूकी स्वेच्छा एवं पूरी रजामन्दीसे ही विवाह संबंध होगा।

(३) परिवार, समाजकी नैसर्गिक एवं मौलिक सामूहिक इकाई है, और उसे समाज तथा राज्यसे संरक्षण प्राप्त करनेका अधिकार है।

धारा १७—(१) प्रत्येकको अकेले एवं दूसरोंके साथ सम्पत्ति रखनेका अधिकार है।

(२) किसीको उसकी सम्पत्तिसे अविहित रूपसे वंचित नहीं किया जायगा।

धारा १८—प्रत्येकको विचार, अनुभूति और धर्मकी स्वतंत्रताका अधिकार है; इस अधि-कारके अंतर्गत अपने धर्म अथवा मत परिवर्तनकी स्वतंत्रता और व्यक्तिगत अथवा सामाजिक रूपमें अन्य लोगोंके साथ सर्व साधारणके समक्ष अथवा एकान्तमें अपने धर्म या मतको शिक्षाके रूपमें, व्यावहारिक रूपमें, पूजा या उपासनाके रूपमें प्रकट करनेकी स्वतन्त्रता सम्मिलित है।

धारा १९—प्रत्येकको मत और विचाराभिव्यक्तिकी स्वतन्त्रताका अधिकार है; इसके अंतर्गत स्वेच्छासे मत स्थिर करने और किसी भी भौगोलिक सीमा और माध्यमसे विचार और सूचना माँगने, प्राप्त करने और देनेकी स्वतन्त्रता शामिल है।

धारा २०—(१) प्रत्येकको शान्तिपूर्ण ढंगसे एकत्र होने और सभा करनेकी स्वतन्त्रता-का अधिकार है।

(२) किसीको किसी संस्थामें सम्मिलित होनेके लिए विवश नहीं किया जायगा।

धारा २१—(१) प्रत्येकको अपने देशकी सरकारमें सम्मिलित होनेका सीधे तौरपर अथवा स्वतन्त्र मतदानसे चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा भाग लेनेका अधिकार है।

(२) प्रत्येकको अपने देशकी सरकारी सेवामें पहुँचनेकी समान सुविधाका अधिकार है।

(३) जनमत ही सरकारके शासनाधिकारका मुख्याधार होगा; यह जनमत निश्चित अवधि-के बाद और सही तौरपर किये गये चुनावों द्वारा प्रगट होगा, ये चुनाव सर्वसाधारणके समान मता-धिकारसे और गुप्त मतदान द्वारा अथवा इसी प्रकारकी किसी स्वतन्त्र मतदान प्रक्रियाओं द्वारा सम्पन्न होंगे।

धारा २२—प्रत्येकको समाजके सदस्यकी हैसियतसे सामाजिक सुरक्षाका अधिकार है और

उसे यह अधिकार है कि वह राष्ट्रिय प्रयत्नों तथा अन्ताराष्ट्रिय सहयोग द्वारा एवं प्रत्येक राज्यके संघटन तथा साधनोंके अनुसार, आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारोंका उपभोग करे जो उसकी प्रतिष्ठा एवं व्यक्तित्वके स्वतन्त्र विकासके लिए अनिवार्य है।

धारा २३—(१) प्रत्येकको काम करने, जीविकाके लिए पेशा चुनने, कामकी उचित एवं अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त करने और बेकारीसे सुरक्षित रहनेका अधिकार है।

(२) प्रत्येकको बिना किसी भेदभावके समान कामके लिए समान वेतनका अधिकार है।

(३) प्रत्येकको, जो काम करता है, अपने कामका समुचित पारिश्रमिक प्राप्त करनेका अधिकार है ताकि अपनी और अपने परिवारकी मानवीय प्रतिष्ठाके अनुकूल सत्ता कायम रखना सुनिश्चित हो सके और साथ ही यदि आवश्यक हो तो सामाजिक संरक्षणके अन्य साधन भी प्राप्त हो सकें।

(४) प्रत्येकको अपने हितोंकी रक्षाके लिए ट्रेड यूनियन बनाने और उनमें सम्मिलित होनेका अधिकार है।

धारा २४—प्रत्येकको विश्राम और अवकाशका अधिकार है साथ ही कामके घण्टोंका समुचित निर्धारण और अवधिके अनुसार सवेतन छुट्टियोंका अधिकार है।

धारा २५—(१) प्रत्येकको एक ऐसा जीवन स्तर कायम करनेका अधिकार है जो उसके और उसके परिवारके स्वास्थ्य एवं सुखके लिए पर्याप्त हो, इसमें भोजन, वस्त्र, निवासस्थान, चिकित्साकी सुविधा तथा आवश्यक समाज-सेवाओंकी उपलब्धि, और बेकारी, बीमारी, शारीरिक असामर्थ्य, वैधव्य, वृद्धावस्था या काबूके बाहर परिस्थितियोंके कारण जीविकाके साधनका ह्रास सम्मिलित है।

(२) मातृत्व और शिशुताकी विशेष देखभाल और सहायता प्राप्त करनेका अधिकार है; सभी बच्चे, चाहे वे विवाहित दम्पतिकी सन्तान हों अथवा जारज हों, समान सामाजिक संरक्षणका उपभोग करेंगे।

धारा २६—(१) प्रत्येकको शिक्षा प्राप्त करनेका अधिकार है। प्राथमिक और बुनियादी शिक्षा निःशुल्क होगी। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होगी। प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षाकी सामान्य उपलब्धिकी व्यवस्था की जायगी और योग्यताके आधारपर उच्च शिक्षा सभी समान रूपसे प्राप्त कर सकेंगे।

(२) मानव व्यक्तित्वके पूर्ण विकास और मानव अधिकारों एवं मौलिक स्वतंत्रताओंकी प्रतिष्ठा बढ़ानेके उद्देश्यसे शिक्षा दी जायगी। शिक्षा द्वारा सभी राष्ट्रों और जातियों एवं धार्मिक समूहोंमें सद्भाव, सहिष्णुता और मैत्रीकी अभिवृद्धि की जायगी और शान्ति कायम रखनेके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघके कार्योंको शिक्षा द्वारा बढ़ाया जायगा।

(३) माता पिताको अपनी सन्तानोंके लिए शिक्षाके प्रकारको चुननेका अधिकार है।

धारा २७—(१) प्रत्येकको समाजके सांस्कृतिक जीवनमें स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेने, कलाओंका आनन्द लेने और वैज्ञानिक विकाससे लाभान्वित होनेका अधिकार है।

(२) प्रत्येकको अपने किसी भी वैज्ञानिक, साहित्यिक अथवा कलात्मक कृतिके फलस्वरूप प्राप्त नैतिक एवं भौतिक हितोंके संरक्षणका अधिकार है।

धारा २८—प्रत्येक ऐसी सामाजिक और अंताराष्ट्रिय व्यवस्थाका अधिकारी है जिससे इस घोषणामें निर्दिष्ट अधिकारों और स्वतंत्रताओंकी पूर्ण प्राप्ति हो सके।

धारा २९— (१) प्रत्येकके समाजके प्रति कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनसे ही उसके व्यक्तित्वका स्वतंत्र एवं पूर्ण विकास सम्भव है।

(२) अपने अधिकारों एवं स्वतंत्रताओंका उपभोग करनेमें प्रत्येकको उन सीमाओंके भीतर रहना होगा जो कानून द्वारा इस उद्देश्यसे निर्धारित की गयी हैं कि दूसरोंके अधिकारों और स्वतंत्रताओंका अपेक्षित सम्मान एवं प्रतिष्ठा हो सके और जनतांत्रिक समाजमें नैतिकता, सार्वजनिक शान्ति तथा जन कल्याणके हेतु समुचित आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके।

(३) उन अधिकारों और स्वतंत्रताओंका संयुक्त राष्ट्रके उद्देश्यों एवं सिद्धान्तोंके विरुद्ध किसी भी दशामें प्रयोग न किया जाय।

धारा ३०—इस घोषणापत्रमें दिये गये किसी भी आदेशके ऐसे अर्थ न लगाये जायँ जिससे किसी राज, समूह अथवा व्यक्तिको किसी ऐसे काममें लगाने या करनेका अधिकार मिले जिसका इस पत्रमें वर्णित अधिकारों और स्वतन्त्रताओंमें से किसीको नष्ट करनेका लक्ष्य हो।

परिशिष्ट-३

राजोंके अधिकारों और कर्तव्योंकी घोषणा[१]

[इसको संयुक्त राष्ट्र विधान आयोगने तैयार किया था। यह ६ दिसम्बर १९४९ को संयुक्त राष्ट्र महासभाके ३७५ (४) संख्यक मन्तव्यके साथ संलग्नकके रूपमें स्वीकृत हुआ।]

क्योंकि पृथ्वीके सभी राज ऐसे समुदायके अंग हैं जो अन्ताराष्ट्रिय विधानसे नियंत्रित है,

क्योंकि अन्ताराष्ट्रिय विधानके गतिशील विकासके लिए राजसमुदायका सक्षम संघटन आवश्यक है,

क्योंकि पृथ्वीके अधिकतर राजोंने इस उद्देश्यसे संयुक्त राष्ट्रोंके समयकके अधीन नयी व्यवस्था कायम की है और शेष राजोंमेंसे अधिकतरने इस व्यवस्थामें रहनेकी इच्छाको व्यक्त किया है, और

क्योंकि अन्ताराष्ट्रिय विधानके नये विकासके प्रकाशमें तथा संयुक्त राष्ट्रोंके समयकके अनुकूल राजोंके मौलिक अधिकारों और कर्तव्योंको नामाङ्कित करना उचित प्रतीत होता है,

इसलिए

संयुक्त राजोंकी महासभा राजोंके अधिकारों और कर्तव्योंकी इस घोषणाको स्वीकार करती है और घोषित करती है :

धारा १—प्रत्येक राजको स्वाधीन रहने और बिना किसी दूसरे राजसे पूछे अपने सभी वैध स्वत्वोंसे काम लेनेका अधिकार है। अपने शासनके स्वरूपको निश्चित करना भी राजका वैध स्वत्व है।

धारा २—अन्ताराष्ट्रिय विधानमें स्वीकृत अपवादोंको छोड़कर प्रत्येक राजको अपने राज्य-के ऊपर और उसके भीतरके सभी व्यक्तियों और वस्तुओंके ऊपर शासन करनेका अधिकार है।

धारा ३—प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि किसी दूसरे राजके आभ्यन्तर या बाह्य कामोंमें हस्तक्षेप न करे।

धारा ४—प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि किसी दूसरे राजमें उपद्रव न कराये और अपने राज्यमें ऐसे आयोजनोंको न होने दे जिनसे ऐसे उपद्रवोंके होनेकी सम्भावना हो।

धारा ५—प्रत्येक राजको प्रत्येक दूसरे राजके साथ वैधानिक समताका अधिकार है।

धारा ६—प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि जाति, धर्म, भाषा या स्त्री-पुरुषका भेदभाव किये बिना अपने शासनमें रहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके साथ मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्र-ताओंके अनुकूल व्यवहार करे।

धारा ७—प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि इस बातका प्रबन्ध करे कि उसके राजमें ऐसी परिस्थिति न हो जिनसे अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाके लिए भय उत्पन्न हो।

धारा ८—प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि दूसरे राजोंके साथ उसके जो विवाद हों उनको

---

१ Declaration on Rights and Duties of States.

शान्तिमय उपायोंसे इस प्रकार निपटावें कि अन्ताराष्ट्रिय शान्ति, सुरक्षा और न्यायके लिए आशंका न हो।

धारा ९—प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि राष्ट्रिय नीतिके उपकरणके रूपमें युद्ध न छेड़े और किसी दूसरे राजसे राज्यकी अच्छेद्यता या राजनीतिक स्वाधीनताके विरुद्ध, अथवा अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाके प्रतिकूल, बलप्रयोग या बलप्रयोगकी धमकीसे काम न ले।

धारा १०—प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि ऐसे राजको सहायता न दे जो धारा ९ के विरुद्ध काम कर रहा हो या जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रोंकी ओरसे विध्यात्मक या निरोधात्मक कार्य्यवाही हो रही हो।

धारा ११—प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि यदि कोई राज धारा ९ के विरुद्ध आचरणके द्वारा अपने राज्यमें वृद्धि कर ले तो उसे स्वीकार न करे।

धारा १२—प्रत्येक राजको सशस्त्र आक्रमणकी अवस्थामें अकेले या दूसरोंसे मिलकर आत्मरक्षाका अधिकार है।

धारा १३—प्रत्येक राजका कर्तव्य है कि संधियों तथा अन्ताराष्ट्रिय विधानके अन्य आधारोंसे प्राप्त दायित्वोंको सद्भावनासे निबाहे। इस कर्तव्यका पालन न करनेके लिए राजके संविधान या उस देशके विधानोंका बहाना अमान्य होगा।

धारा १४—प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि दूसरे राजोंके साथ अपने सम्बन्धोंको अन्ताष्ट्रिय विधानके अनुसार और इस सिद्धान्तके अनुकूल कि प्रत्येक राजका प्रभुत्व अन्ताराष्ट्रिय विधानकी सर्वश्रेष्ठताके अधीन है, स्थापित करे।

परिशिष्ट–४

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्र संघटनकी प्रस्तावनाएँ

उद्देश्यसाम्य होते हुए भी इन दोनों संस्थाओंमें जो दृष्टिभेद था वह इनके समयपत्र और समयककी प्रस्तावनाओं अर्थात् प्रारम्भिक वाक्योंसे स्पष्ट होता है। यह अध्ययनका रोचक विषय है, इसलिए हम इसे यहाँ दे रहे हैं।

(क) राष्ट्रसंघका समयपत्र

महान् सन्धिकर्ता पक्ष

युद्ध न छेड़नेके कर्तव्यको स्वीकार करने,

राष्ट्रोंके लिए खुले, न्याय्य और प्रतिष्ठित सम्बन्धोंको निश्चित करने,

सरकारोंके व्यवहारमें अन्ताराष्ट्रीय विधानके नियमोंको दृढ़तापूर्वक आचरणविधि बनाने,

न्यायको बनाये रखने और संघटित जनसमुदायोंके परस्पर व्यवहारमें सब सन्धिजन्य कर्तव्योंका पूर्णतया पालन करने,

के द्वारा

अन्ताराष्ट्रिय सहयोगकी वृद्धि और अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और रक्षाकी प्राप्तिके लिए राष्ट्रसंघके इस समयपत्रको स्वीकार करते हैं।

(ख) संयुक्त राष्ट्र संघटनका समयक

हम संयुक्त राष्ट्रोंके लोगोंने यह पक्का निश्चय किया है, कि

हम आनेवाली पीढ़ियोंको उस युद्धकी विभीषिकाओंसे बचाएँगे जिसने हमारे जीवनकालमें ही दो बार मनुष्यमात्रपर अकथनीय दुःख ढाये हैं, और

हम मानवताके मूल-अधिकारोंमें, मानवकी गरिमा और महत्त्वमें, और छोटे बड़े सभी राष्ट्रोंके नरनारियोंके समान अधिकारमें फिरसे आस्था बढ़ाएँगे, और

हम ऐसी अवस्थाओंको उत्पन्न करेंगे जिनमें न्याय और उन दायित्वोंका सम्मान बना रहे जो कि सन्धियों और अन्तराष्ट्रीय विधानके दूसरे स्रोतोंसे हमपर आ पड़ते हैं, और

हम अधिक व्यापक स्वतन्त्रताके द्वारा अपने जीवनका स्तर ऊँचा करेंगे और समाजको प्रगतिशील बनाएँगे। इन उद्देश्योंके लिए हम सहनशील बनेंगे और पड़ोसियोंकी भाँति साथ मिलकर शान्तिसे रहेंगे, और

अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाके लिए अपनी शक्तियोंका संघटन करेंगे, और

उन नियमोंको मानेंगे और ऐसे साधनोंसे काम लेंगे, जिनसे इस बातका विश्वास हो जाय कि अपने सामान्य हितोंकी रक्षाके सिवाय हथियारबंद सेनाओंका प्रयोग नहीं किया जायगा, और

परिशिष्ट–५

संयुक्त राष्ट्र संघटनसे पृथक् होना

राष्ट्रसंघके समय-पत्रकी धारा १ (३) में कहा गया है—संघका कोई सदस्य दो वर्ष पहिले से सूचना देकर संघसे पृथक् हो सकता है परन्तु शर्त यह है कि इस समय-पत्रके अधीन उसपर जो कर्तव्य और दायित्व लागू हो गये हों वह सब पृथक् होनेके पूर्व पूरे हो चुके हों।

संयुक्त राष्ट्र संघटनके समयकमें जान बूझकर ऐसी कोई धारा नहीं रक्खी गयी, यद्यपि यह सभी जानते थे कि यदि कोई राष्ट्र पृथक् होना चाहेगा तो उसे कोई हठात् नहीं रख सकता। संघटनके नियमोंके सम्बन्धमें सानफ्रांसिस्कोमें २५ जून १९४५ को जो रिपोर्ट स्वीकृत हुई उसमें पार्थक्यके सम्बन्धमें यह टिप्पणी है: कमेटीकी यह सम्मति है कि संघटनसे अलग होनेके विषयमें न तो अनुमति देने न रोकनेके लिए कोई नियम रक्खा जाय। परन्तु यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें किसी सदस्यको ऐसा लगता है कि अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और सुरक्षाको कायम रखनेका दायित्व दूसरे सदस्योंपर छोड़कर वह अलग होनेके लिए विवश है तो संघटनका यह उद्देश्य नहीं है कि उसको संघटनमें रह कर सहयोग करनेके लिए विवश किया जाय।

परिशिष्ट–६

कुछ प्रमुख अन्ताराष्ट्रिय संस्थाओंके सदस्य

(क) संयुक्त राष्ट्र संघटन (सितम्बर १९५३ तक) कुल ६०

अफगानिस्तान	आर्जेण्टिना	अमेरिका	आइसलैण्ड
आस्ट्रेलिया	इजराएल	इथिओपिया	इक्विडोर
इण्डोनीशिया	इराक	ईरान	एल-सैल्वाडोर
कनाडा	कोलम्बिया	कास्टारिका	क्यूबा
ग्वाटिमाला	चिली	चीन	जेकोस्लोवाकिया
पाकिस्तान	पनामा	पोलैण्ड	पेरू
पैराग्वे	फ्रांस	फिलिपीन	बेल्जियम
बोलीविया	ब्राजील	बाइलो रूस	बर्मा
ब्रिटेन	भारत	मिस्र	मेक्सिको
तुर्की	थाइलैण्ड (स्याम)	दक्षिण अफ्रीका	निकारागुआ
न्यूजीलैण्ड	नेदर लैण्ड (हालैण्ड)	नार्वे	डेन्मार्क
डोमिनिकन रिपब्लिक	यमन	यूनान	यूगोस्लाविया
युरुग्वे	यूक्रेन	रूस	लेबनान
लाइबीरिया	लग्जेम्बर्ग	वेनेज्युएला	सऊदी अरब
स्वीडन	सीरिया (शाम)	हैटी	हौण्डुरास

(ख) अन्ताराष्ट्रिय श्रम संघटन कुल ६६

अमरीका	अफगानिस्तान	अल्बानिया	आर्जेण्टिना
आस्ट्रेलिया	आस्ट्रिया	आइसलैण्ड	आयरलैण्ड
इण्डोनीशिया	इक्वेडोर	इथिओपिया	इजरायल
इटली	इराक	ईरान	एल-सैल्वाडोर
कनाडा	कोलम्बिया	कास्टारिका	क्यूबा
ग्वाटिमाला	चीन	चिली	जेकोस्लोवाकिया
जापान	जर्मनी (पश्चिम)	पाकिस्तान	पनामा
पेरू	पोलैण्ड	पुर्तगाल	फिलिपीन
फ्रांस	फिनलैण्ड	ब्रिटेन	बेल्जियम
बोलिविया	ब्राजेलि	बल्गारिया	बर्मा
भारत	मेक्सिको	मिस्र	तुर्की
थाइलैण्ड	दक्षिण अफ्रीका	नेदरलैण्ड	न्यूजीलैण्ड
नार्वे	डेन्मार्क	डोमिनिकनरिपब्लिक	यूनान

यूगोस्लाविया	युरुग्वे	लेबनान	लीबिया
लाइबीरिया	लग्जेम्बर्ग	लंका	वेनेज्युएला
विएतनाम	स्वीडन	स्विट्ज़रलैण्ड	सीरिया
हंगरी	हैटी		

(ग) अन्ताराष्ट्रिय बंक और मुद्रानिधि कुल ५५

अमरीका	आस्ट्रेलिया	आस्ट्रिया	आइसलैण्ड
इक्वेडोर	इथिओपिया	इटली	ईराक
ईरान	एल-सैल्वाडोर	कनाडा	कोलम्बिया
क्यूबा	कोस्टारिका	ग्वाटिमाला	चीन
चिली	जेकोस्लोवाकिया	जर्मनफेडरलरिपब्लिक	जापान
जोर्डन	पाकिस्तान	पनामा	पेरू
पैराग्वे	फिलिपीन	फ्रांस	फिन्लैण्ड
ब्रिटेन	बेल्जियम	बोलिविया	ब्राजील
बर्मा	भारत	मिस्र	मेक्सिको
तुर्की	थाइलैण्ड	दक्षिण अफ्रीका	नेदरलैण्ड
निकारागुआ	नार्वे	डेनमार्क	डोमिनिकनरिपब्लिक
युरुग्वे	यूगोस्लाविया	यूनान	लेबनान
लग्जेम्बर्ग	लंका	वेनेन्युएला	सीदिया
स्वीडन	हौण्डुरास	हैटी	

(घ) अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयके जजोंके नाम—कुल १५

देश	नाम
चिली	एलेहांड्रो अलवारेज़
युरुग्वे	एनरीके सी. आरोंड ऊगौन
मिस्र	अब्दुल हमीद बदावी पाशा
फ्रांस	जलबादवाँ
ब्राजील	लेवी फरनाण्डेज कार्नेरो
एल-सैल्वाडेर	योजे गुस्टावो ग्वेरैरो
अमरीका	ग्रीन एच. हैकवर्थ
नार्वे	हैलो क्लेश्टाड
रूस	सरग अलेग्जाण्ड्रोविच गुलुस्की
ब्रिटेन	सर आर्नल्ड डी. मैक्नेयर
चीन	ेसु मो
कनाडा	जॉन ई रीड
पोलैण्ड	बुडॉं विन्यास्की
यूगोस्लाविया	मिलोवॉन जोरिविच
पाकिस्तान	जफरुल्लाह खाँ

(ङ) सुरक्षा समितिके सदस्य—कुल ११

(क), (ख), (ग) और (घ) को देखनेसे स्पष्ट है कि सब राष्ट्रोंने अपने ऊपर दायित्वोंका भार समान रूपसे नहीं लिया है। कई राष्ट्र जो संयुक्तराष्ट्र संघटनके सदस्य हैं कई सम्बद्ध संस्थाओंमें नहीं हैं, सम्बद्ध संस्थाओंके कुछ सदस्य संयुक्तराष्ट्र संघटनमें नहीं हैं, एक सम्बद्ध संस्थाका सदस्य दूसरेमें नहीं है। भारत प्रायः सभीमें सम्मिलित है। विश्व डाक संघका जन्म १८७५ में हुआ था। उसमें सबसे अधिक राष्ट्र शामिल हैं। सदस्योंकी वर्तमान संख्या ९९ है। शैक्षण वैज्ञानिक सांस्कृतिक समितिमें ४१, खाद्य और कृषि समितिके ६६ तथा विश्व स्वास्थ्य समितिके ८२ सदस्य हैं। स्वास्थ्य समितिके सदस्योंमेंसे १० अर्थात् हंगरी, रूस, यूक्रेन, बाइलो रूस, रूमानिया, बल्गारिया, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, चीन और अल्बानियाने उससे पृथक् होनेकी सूचना दे दी है। यह द्रष्टव्य है कि यह दसों राष्ट्र कम्युनिस्ट परिवारके हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघटनकी ओरसे १८ सूचना-केन्द्र हैं जिनमेंसे प्रत्येकको कई देश बाँट दिये गये हैं। बर्मा, लंका और भारतका केन्द्र नयी दिल्लीमें थिएटर कम्युनिकेशंस बिल्डिंग, कनाट प्लेस, क्वींसवेमें है।

परिशिष्ट—७

प्राचीन कालकी कुछ युद्ध-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ

[अवतरणोंके सामनेका प्रथम अंक अधिकरणका, द्वितीय प्रकरणका तथा तृतीय वाक्यका सूचक है—अवतरणोंका पारस्परिक सम्बन्ध दिखलानेके लिए बीच-बीचमें ग्रन्थकार द्वारा जो नोट दिये गये हैं उनके साथ कोष्टमें ग्रं० लिख दिया है।]

राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः (८।१२८।१)

प्रकृति शब्दका संक्षिप्त अर्थ राजा तथा राज्य है। [हमारी परिभाषाके अनुसार राज्यके स्थानमें राज कहना अधिक संगत होगा। —ग्रं०]

राजात्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः (६।९७।१६)

तस्मान्मित्रमरिमित्रं मित्रमित्रमरिमित्रमित्रम् चानन्तर्य्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात्। पश्चात्-पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासार आक्रन्दासार इति। भूम्यनन्तरः प्रकृत्यमित्रः तुल्याभिजनः सहजः। विरुद्धो विरोधयिता वा कृत्रिमः। भूम्येकान्तरं प्रकृतिमित्रं मातापितृसंबद्धं सहजम्। धनजी-वितहेतोराश्रितं कृत्रिममिति। अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तरः संहतासंहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयो-र्मध्यमः। अरिविजिगीषुमध्यानां बहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः संहतासंहतानामरिविजिगीषुमध्यमानाम-नुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानामुदासीनः। (६।९७।२३–३०)

विजिगीषु (जीतनेकी इच्छावाला) राजा वही है जो कि गुणी, शक्तिसम्पन्न तथा प्रभुत्व-शक्तिसंयुक्त हो। विजिगीषुके सामने मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र तथा अरिमित्र-मित्र प्रायः होते हैं। उसके पीछे पार्ष्णिग्राह (पीठपरका दुश्मन), आक्रन्द (पीठपरका दोस्त), पार्ष्णिग्राहासार (पार्ष्णि-ग्राहका मित्र) तथा आक्रन्दासार (आक्रन्दका मित्र) होते हैं। उसके राजसे सटे, समान कुलवाले तथा स्वभावसे ही शत्रुको सहज और जो विरुद्ध हो या दूसरोंको भड़काता हो उसे कृत्रिम कहते हैं। इसी प्रकार सीमासे जुड़े, रिश्तेदार तथा स्वभावसे ही मित्रको सहज तथा जो जीवन-धनके हेतु मित्र बन गया हो उसे कृत्रिम समझना चाहिये। शान्ति तथा युद्धमें, निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ अरि तथा विजिगीषुके मध्यमें स्थित राजाको मध्यम और जो शक्तिशाली, अनुग्रहमें समर्थ दूर राष्ट्रका राजा हो उसे उदासीन कहते हैं।

[यह नियम महत्वाकांक्षी राजोंके लिए है। जो राज अपना साम्राज्य फैलाना चाहता हो उसे विजिगीषु कहते हैं। वह जिसपर विजय प्राप्त करना चाहता हो वह अरि है। उस विजिगीषुके सभी अन्य राज सहायक तो होंगे नहीं, कुछ मित्र होंगे, कुछ सहायक होंगे, कुछ तटस्थ होंगे। अतः उसे अपने चारों ओर १२ राजोंका एक मण्डल बनाना चाहिये। इस मण्डलमें यदि शत्रुओंकी संख्या कम की जा सके तो ठीक ही है नहीं तो कमसे कम शक्तिसाम्य तो रहेगा ही। मण्डलका संघटन अगले पृष्ठमें लगे चित्रसे समझमें आ जायगा।

षाड्गुण्यस्य प्रकृतिमण्डलं योनिः। संधिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचा-र्य्याः (७।९८–९९।१-२)

प्रकृतिमण्डलपर ही षाड्गुण्य निर्भर है। पुराने आचार्य्य सन्धि (शर्तोंके साथ शान्ति),

विग्रह (हानिकारक उपायोंको प्रत्यक्षरूपसे करना), आसन (उपेक्षा करना), यान (चढ़ाई करना), संश्रय (दूसरेका सहारा लेना) और द्वैधीभाव (दुतरफी चाल) को ही षाड्गुण्य (६ प्रकारकी राजनीति) मानते हैं।
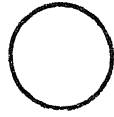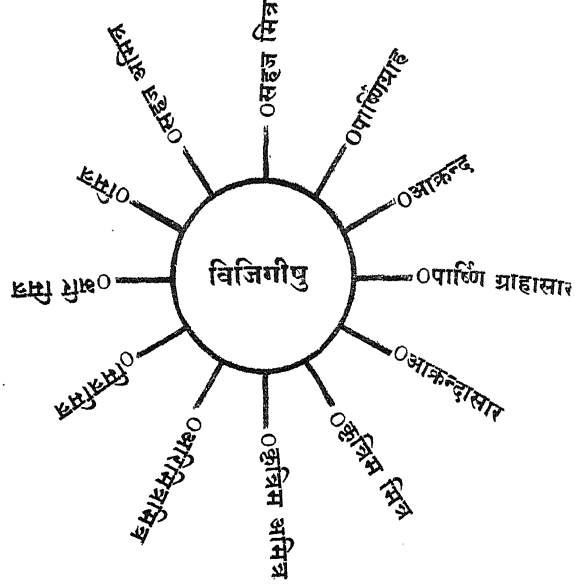
इसी प्रकारके मण्डल अरि आदिके भी होंगे—ग्रं:]

सन्धिविग्रहयोस्तुल्यायां वृद्धौ सन्धिमुपेयात्। विग्रहे हि क्षयव्ययप्रवासप्रत्यवाया भवन्ति। तेनासनयानयोरासनं व्याख्यातम्। द्वैधीभावसंश्रययोर्द्वैधी भावं गच्छेत्॥ (७।१००।१-४)

यदि विजिगीषु सन्धि-विग्रहमें एक सदृश लाभ देखे तो सन्धिको ही करे। विग्रहमें क्षय, व्यय, प्रवास तथा विघ्न आदि उपस्थित हो जाते हैं। आसन तथा यानमें आसन ही उत्तम है। संश्रय तथा द्वैधी-भावमें द्वैधी-भावका अवलम्बन करे।

शमः सन्धिः समाधिरत्येकोऽर्थः। राज्ञां विश्वासोपगमः शमः सन्धिः समाधिरिति। सत्यं वा शपथो वा परत्रेह च स्थावरः सन्धिः। इहार्थ एव प्रतिभूः प्रतिग्रहो वा बलापेक्षः। संहिताः स्म इति सत्यसंधाः पूर्वे राजानः सत्येन संदधिरे। तस्यातिक्रमे शपथेन अग्न्युदकसीताप्राकारलोष्टहस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठरथोपस्थशस्त्ररत्नबीजगन्धरससुवर्णहिरण्यान्यालेभिरे। हन्युरेतानित्यजेयुश्चैनं यः शपथमतिक्रामेदिति। शपथातिक्रमे महतां तपस्विनां मुख्यानां वा प्रातिभाव्यबन्धः प्रतिभूः बन्धु मुख्यप्रग्रहः प्रतिग्रहः (७।१२२-१२३।१-२;६-११;१४)

शम, सन्धि तथा समाधि एक दूसरेके पर्याय हैं। नरेशोंके विश्वासकी स्थिरता इसीपर निर्भर है। सत्य या शपथपर आश्रित सन्धि दोनों लोकोंके लिए स्थिर होती है। प्रतिभू तथा प्रतिग्रहपर आश्रित सन्धि तो इसी लोकके लिए स्थिर होती है और उसकी स्थिरता बलपर निर्भर है। पुराने जमानेके राजा 'हमारी सन्धि है', यह कहकर सत्यपर दृढ़ रहते थे। इसके बाद आग, पानी, खेत, मकान, धातु, हाथीका कंधा, अश्वपृष्ठ, रथकी गद्दी, शस्त्र, रत्न, धान्य, गंध, रस, सेना आदि हाथमें लेकर या छूकर शपथ करने लगे कि जो शपथका उल्लंघन करे उसको अमुक वस्तुएँ नष्ट कर दें तथा सदाके लिए छोड़ दें। शपथके उल्लंघन करनेपर जिसमें बड़े-बड़े तपस्वियों तथा मुखियोंको बीचमें रखा जाय उसे प्रतिभू सन्धि कहते हैं। बन्धुओं तथा मुखियोंको जिसमें जमानतकी भाँति रखा जाय (अर्थात् एक पक्षके बन्धु या मुखिया दूसरेके यहाँ जमानतकी भाँति रख दिये जायँ) उसे प्रतिग्रह सन्धि कहते हैं।

परदुर्गमवस्कन्द्य स्कन्धावारं वा पतितपराङ्मुखाभिपन्नमुक्तकेश शस्त्रभयविरूपेभ्यश्चाभमगयुध्यमानेभ्यश्च दद्यः (१३।१७४–१७५।६८)

शत्रुके किलेको जीतकर विजिगीषु उन सैनिकोंको अभयदान दे जो कि युद्धक्षेत्रमें पड़े हों, जो उसके पक्षमें हो गये हों, जिनके बाल बिखरे हुए हों, हथियार इधर-उधर पड़े हों, जो डरसे विरूप हो गये हों या जो न लड़े हों।

नवमवाप्य लाभं परदोषान्स्वगुणैश्छादयेत्। गुणान्गुणद्वैगुण्येनस्वधर्मकर्मानुग्रहपरिहारदानमानकर्मभिश्च प्रकृतिप्रियहितान्यनुवर्तेत। यथा सम्भाषितं च कृत्यपक्षमुपग्राहयेत्। तस्मात्समानशीलवेषभाषाचारतामुपगच्छेत्। देशदैवतसमाजोत्सवविहारेषु च भक्तिमनुवर्तेत। (१३।१७६।५–७, १०।११)

नवीन प्रदेशको जीतते ही शत्रुके दोषोंको अपने गुणोंसे ढँक दे। यदि शत्रु गुणी हो तो उससे दुगुने गुणोंको दिखावे। प्रजा तथा प्रकृतिका हित धर्म, कर्म, अनुग्रह, परिहार, दान तथा मान सम्बन्धी कामोंसे करे। कृत्यपक्ष (शत्रुसे विरुद्ध होकर जिन्होंने साथ दिया हो उन) को जो वचन दिया हो उसको पूरा करे। विजित देशके समान कपड़ा पहिने, व्यवहार करे, वैसा ही आचरण रखे। वहाँके दैवत (मन्दिर), समाज, उत्सव, विहार सम्बन्धी कामोंमें श्रद्धा प्रकट करे।

प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्यः। शत्रोरपि न पतनीयावृत्तिः (चाणक्य सूत्राणि १६५ तथा ४५०)

प्राण चले जायँ पर विश्वासघात न करे। शत्रुसे भी दुर्व्यवहार न करे।

परिशिष्ट—८

प्राचीन कालमें सन्धियोंके प्रकार

कामन्दकीय नीतिसारमें १६ प्रकारकी सन्धियोंका वर्णन है। नीचे हमने उनका जो तात्पर्य लिखा है वह श्री शङ्कराचार्य्यकी जयमङ्गलाटीकाके अनुसार है, यद्यपि टीका भी कहीं-कहीं स्पष्ट नहीं है। मूलके लिए त्रिवान्द्रम संस्कृत सीरीजकी श्री गणपांत शास्त्री सम्पादित प्रतिसे काम लिया गया है।

> कपाल उपहारश्च, सन्तानः सङ्गतस्तथा।
> उपन्यासः प्रतीकारः, संयोगः पुरुषान्तरः॥
> अदृष्टनर आदिष्ट, आत्माभिष उपग्रहः।
> परिक्रमस्तथोच्छिन्नस्तथा च परदूषणः॥
> स्कन्धापनेयः सन्धिश्च, षोडशः परिकीर्तितः।
> इती षोडशकं प्राहुः, सन्धिसन्धि-विचक्षणाः॥

(कामन्दकीय नीतिसार, नवमः सर्गः, सन्धिविकल्प प्रकरणम्, २–४–५ से २० तकके श्लोकोंमें इनकी व्याख्या की गयी है)

(१) कपाल सन्धि—जिसमें लड़ाईके पीछे ऊपरसे मेल हो जाय पर उभयपक्षमेंसे किसीकी भी विजय-पराजय न हो, युद्धके पूर्वकीसी अवस्था रह जाय। जिस प्रकार मिट्टीके घड़ेके चिटख जानेपर उसके दोनों टुकड़े (कपाल) इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि देखनेमें घड़ा पूर्ववत् प्रतीत होता है पर जो रेखा पड़ गयी वह मिट नहीं सकती, उसी प्रकार यह सन्धि होती है।

(२) उपहार सन्धि—जिसमें शत्रुको द्रव्य (क्षतिपूर्ति) देकर मेल किया जाय।

(३) सन्तान सन्धि—जिसमें शत्रुको लड़की देकर मेल किया जाय।

(४) सङ्गत सन्धि—जिसमें दोनों पक्ष मैत्रीसे प्रेरित होकर मिलते हैं। यह सन्धि 'यावदायुः प्रमाणं' (जन्म भरके लिए) या सदाके लिए की जाती है। इसको सुवर्ण या काञ्चन सन्धि भी कहते हैं।

(५) उपन्यास सन्धि—जो सन्धि किसी विशेष उद्देश्यके लिए, जैसे किसी समान शत्रुके विरुद्ध, की जाती है।

(६) प्रतीकार सन्धि—मैं इसके साथ इस समय उपकार करूँ, आगे चलकर कभी यह मेरे साथ भी उपकार करेगा अथवा इसने पहिले मेरे साथ उपकार किया है अतः इस समय मुझे इसके साथ भी उपकार करना ही चाहिये, इन भावोंसे प्रेरित होकर जो सन्धि की जाय।

(७) संयोग सन्धि—इसका लक्षण मूल पुस्तकमें इस प्रकार दिया है :—

> एकार्थां सम्यगुद्दिश्य, यात्रां यत्र हि गच्छतः।
> स संहतप्रयाणस्तु संयोग इति कथ्यते।

इस लक्षणमें और

> भव्यामेकार्थसिद्धिं तु, समुद्दिश्यक्रियेत यः।
> स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः॥

उपन्यास सन्धिका जो यह लक्षण बतलाया गया है उसमें बहुत कम भेद प्रतीत होता है। टीकाकारोंने 'गच्छतः' का अर्थ 'अरि विजिगीषू' किया है। तात्पर्य स्यात् यह हुआ कि दोनों शत्रु यदि लड़ाई स्थगित करके किसी उद्देश्य विशेषकी सिद्धिके लिए मिल जायँ तो उनकी सन्धि संयोग-सन्धि कहलायगी। जो अन्य दो राष्ट्रोंमें इस प्रकारकी सन्धि होगी वह उपन्यास सन्धि कहलायगी।

(८) पुरुषान्तर सन्धि—जिसमें किसीसे इस शर्तपर सन्धि की जाय कि तुम अपने प्रधान सैनिकोंको मेरी सेनाके साथ काम करनेके लिए भेज दो ताकि दोनों सेनाएँ मिलकर मेरा अमुक कार्य सम्पादित करें।

(९) अदृष्टपुरुष सन्धि—जिसमें यह शर्त हो कि तुम अकेली अपनी सेनासे मेरा अमुक काम करा दो।

(१०) आदिष्ट सन्धि—जिसमें बलवान शत्रुको अपने राज्यका एक भाग दिया जाय।

(११) आत्मामिष सन्धि—इसका लक्षण मूलमें इस प्रकार बतलाया है :—

स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मामिष इति स्मृतं।

इसका अर्थ जयमंगला टीकामें यह किया है कि ('स्वसैन्येन सह स्वयं शत्रुसमीपमुपगम्य') अपनी सेनाके साथ शत्रुके पास या 'उसकी शरणमें' जाकर जो सन्धि की जाय वह आत्मामिष सन्धि होती है। यही अर्थ उपाध्यायनिरपेक्षसारिणी टीकामें भी दिया गया है। पर इसमें दोष यह है कि इस सन्धिका वक्ष्यमाण उपग्रह सन्धिमें अन्तर्भाव हो जाता है। श्री भगवान्‌दासजी इसका यह अर्थ करते हैं—वह सन्धि जो अपनी सेनाके साथ (स्वसैन्येन तु सन्धानम्) की जाय आत्मामिष (अपने लिए प्राणघातक) है। यह अर्थ युक्तियुक्त और इतिहास-सम्मत प्रतीत होता है। जब कोई राजा अपनी सेना को बहुत प्रबल हो जाने देता है तो अन्तमें सेना शासनको ही दबा लेती है और उसे प्रसन्न करनेके लिए राजाको भाँति-भाँतिकी शर्तें स्वीकार करनी पड़ती हैं जो अन्तमें उसका नाश करके ही छोड़ती हैं। रोमन साम्राज्यका अन्तकालीन इतिहास तथा सिक्खराजका इतिहास इसके उदाहरण हैं।

(१२) उपग्रह सन्धि—जो सर्वदान द्वारा (अपनेको पूर्णतया शत्रुके हाथमें समर्पित करके) की जाय।

(१३) परिक्रम सन्धि—जो सन्धि प्रबल शत्रुके आक्रमण करनेपर उसको धनादि देकर इसलिए की जाय कि वह लौट जाय।

(१४) उच्छिन्न सन्धि—जिसमें एक पक्ष अपने राज्यकी ऐसी सारवती भूमि (उर्वरा या खनिजसम्पन्न भूमि) देनेपर विवश किया जाय जिससे सत्ता बच रहनेपर भी उसकी समृद्धि नष्ट-प्राय हो जाय।

(१५) परदूषण सन्धि—जिसमें एक पक्ष अपने राज्यकी वार्षिक आय सदाके लिए शत्रुको देनेकी प्रतिज्ञा करनेपर विवश किया जाय। मूलमें 'सर्व' शब्द आया है। यदि सर्वका अर्थ शब्दशः किया जाय तो सम्पूर्ण आय देनेकी शर्त होगी। यह तो उपग्रहके अन्तर्गत हो गयी। अतः सर्वका अर्थ 'आयका बड़ा भाग' लेना चाहिये।

(१६) स्कन्धोपनेय सन्धि—जिसमें एक पक्ष बँधे समयोंपर नियत संख्यक द्रव्य दूसरे पक्षको देनेके लिए बाध्य किया जाय।

नोट—कामन्दकीय नीतिसारके इस प्रकरणकी ओर श्री भगवान्‌दासजीने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। इसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

परिशिष्ट-९

सन्धियोंके उदाहरण

यहाँ हम तीन सन्धियाँ दे रहे हैं। पहिली वह सन्धि है जिसने उस नातोको जन्म दिया जिसका जिक्र प्रथम खण्डके चौथे अध्यायमें आया है। यह उन सन्धियोंका निदर्शन है जिनके द्वारा समयक-सम्मत प्रादेशिक संघटनके नामसे मीठे-मीठे शब्दोंकी आड़में राष्ट्रोंके गुट संगठित होते हैं। दूसरी सन्धि भारत और इराकमें हुई और बराबरवालोंकी सन्धिका उदाहरण है। यह अनुवाद नहीं, मूल भी हिन्दीमें ही है। तीसरे आलेखको नियमतः सन्धि नहीं कह सकते। उसके द्वारा संयुक्तराष्ट्रोंने एकाधिराजको जन्म दिया उसका उल्लेख यहाँ इसलिए है कि थोड़ेसे शब्दोंमें सद्योजात राजको वह सब अधिकार प्राप्त हो गये जो दीर्घकालके प्रयत्नसे कई सन्धियोंमें मिला करते हैं।

(क) उत्तर अतलांतक सन्धि

इस सन्धिपर वाशिंगटनमें ४ अप्रैल १९४९ को हस्ताक्षर हुए और यह उसी वर्ष २४ अगस्तसे चालू हो गयी। इसमें बेल्जियम, कनाडा, डेन्मार्क, फ्रांस, आइसलैण्ड, इटली, लग्जेम्बर्ग, नेदरलैण्ड्स, नार्वे, पोर्चुगाल, ब्रिटेन और अमेरिका सम्मिलित हैं। हम इसकी १४ धाराओंमेंसे मुख्य धाराओंको अवतरित करते हैं।

प्रस्तावना—इस सन्धिमें सम्मिलित होनेवाले पक्ष संयुक्तराष्ट्रोंके समयकके प्रयोजनों और सिद्धान्तोंमें अपनी श्रद्धा तथा सब राष्ट्रों और सब सरकारोंके साथ शान्तिपूर्वक रहनेकी अपनी अभिलाषाको फिर दुहराते हैं।

उन्होंने लोकतन्त्र, वैयक्तिक निर्बन्धता और विधानके नियन्त्रण पर आधारभूत अपनी जनताकी स्वाधीनता, समान परम्परागत विभूतियों और सभ्यताको सुरक्षित रखनेका संकल्प कर लिया है।

वे उत्तर अतलान्तक क्षेत्रमें सुदृढ़ता और समृद्धिको बढ़ाना चाहते हैं।

उनका यह निश्चय है कि सामूहिक रक्षा तथा शान्ति और सुरक्षाको सँभालनेके लिए सम्मिलित प्रयत्न करेंगे इसलिए वे इस उत्तर अतलान्तक सन्धिको स्वीकार करते हैं।

धारा १—सभी पक्ष यह प्रतिज्ञा करते हैं कि संयुक्त राष्ट्र समयकके अनुसार अपने अन्ताराष्ट्रिय विवादोंको शान्तिमय उपायोंसे इस प्रकार निपटाएँगे जिससे अन्ताराष्ट्रिय शान्ति, सुरक्षा और न्यायको आघात न पहुँचे और अपने अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्धोंमें बलके प्रयोग या धमकीसे किसी ऐसे प्रकार काम न लेंगे जो संयुक्त राष्ट्रोंके प्रयोजनोंसे बेमेल हो।

धारा ३—इस सन्धिके लक्ष्योंकी पूर्तिके लिए, सभी पक्ष निरन्तर और सक्षम आत्मसाहाय्य और परस्पर सहायताके द्वारा, पृथक् पृथक् और मिलकर, सशस्त्र आक्रमणका सामना करनेकी अपनी वैयक्तिक और सम्मिलित शक्तिको कायम रखने और बढ़ानेका प्रयत्न करेंगे।

धारा ४—यदि इनमेंसे किसीकी सम्मतिमें किसी समय इनमेंसे किसी राज्यकी अविच्छिन्नता, राजनीतिक स्वाधीनता या सुरक्षा जोखिममें हो तो यह आपसमें परामर्श करेंगे।

धारा ५—सभी पक्ष इस बातपर सहमत हैं कि यदि इनमेंसे एक या अनेकके ऊपर यूरोप

या उत्तरी अमेरिकामें सशस्त्र हमला हो तो वह सबके ऊपर हमला माना जायगा और इसलिए वे इस बातसे भी सहमत हैं कि यदि ऐसा हमला हुआ तो, संयुक्त राष्ट्रोंके समयककी धारा ५१ में अनुमोदित वैयक्तिक और सामूहिक आत्मरक्षण अधिकारसे काम लेकर इनमेंसे प्रत्येक राज आक्रांत राजकी तत्काल सहायता करेगा। सहायता करनेके लिए वह अलग या दूसरोंसे मिलकर उन सब उपायोंसे काम लेगा जो उसको आवश्यक प्रतीत होंगे। उत्तर अतलान्तक क्षेत्रकी सुरक्षाको व्यवस्थित रखने और पुनः स्थापित करनेके लिए बलप्रयोग भी इन उपायोंके अन्तर्गत है।

धारा ९—संधिको कार्य्यन्वित करनेसे सम्बद्ध विषयोंपर विचार करनेके लिए सब पक्ष एक समिति स्थापित करते हैं जिसमें इन सबके प्रतिनिधि रहेंगे। समितिका संगठन ऐसा होगा कि उसकी बैठक जब आवश्यकता हो अविलम्ब हो सके।

धारा १३—सन्धिके २० वर्षतक लागू रहनेके बाद कोई भी पक्ष पथक् हो सकता है परन्तु उसको एक वर्ष पहिले इस आशयकी सूचना संयुक्त राज अमेरिका, की सरकारको देनी होगी। यह सरकार अन्य पक्षोंकी सरकारोंको प्रत्येक ऐसी सूचनाका समाचार भेज देगी।

(ख) भारत-इराक सन्धि

भारतके राष्ट्रपति और तत्र महान् इराक सम्राट, दोनों देशोंके बीच शताब्दियोंसे चले आ रहे प्राचीन सम्बन्धोंको और इन सम्बन्धोंको दृढ़ तथा विकसित करनेमें परस्पर सहयोगकी आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए और दोनों देशोंकी जनताके हित तथा उनकी उन्नतिकी दृष्टिसे दोनों देशोंके बीच शान्ति स्थापित करनेकी पारस्परिक इच्छासे प्रेरित होकर, एक दूसरेके साथ मैत्री-सन्धि करना चाहते हैं और उन्होंने इस प्रयोजनके लिए निम्न व्यक्तियोंको, अर्थात्

भारतके राष्ट्रपतिने
असाधारण दूत और पूर्णाधिकारी अमात्य
तत्र भवान् श्री खूब चन्दको, और
तत्र महान् इराक सम्राटने
कार्यवाहक विदेशमन्त्री, तत्र भवान्* सैयद जमाल बाबनको,

अपना अपना पूर्णाधिकारी नियुक्त किया है, जिन्होंने एक दूसरेके प्रत्यय-पत्रोंका निरीक्षण करके और उन्हें ठीक तथा यथाविधि पाकर, निम्न बातें स्वीकार कर ली हैं।

अनुच्छेद १—भारत तथा इराककी सरकारोंके बीच शाश्वत शान्ति तथा मैत्री रहेगी और उक्त सरकारें दोनों देशोंकी जनताके बीच इस शान्ति तथा मैत्रीको बढ़ावा देंगी और दृढ़ बनायेंगी।

अनुच्छेद २—उच्च अनुबन्धकर्ता पक्ष दोनों देशोंकी राजधानियोंमें राजनयिक प्रनिनिधि तथा, आवश्यकतानुसार, ऐसे स्थानोंपर जिन्हें दोनों स्वीकार करें, वाणिज्यदूतीय प्रतिनिधि नियुक्त करना स्वीकार करते हैं। प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्षके उक्त प्रतिनिधियोंको ऐसे विशेषाधिकार तथा विमुक्तियाँ प्रदान करेगा जो अन्ताराष्ट्रीय विधिके अन्तर्गत दी जाती हैं।

अनुच्छेद ३—उच्च अनुबन्धकर्ता पक्ष दोनों देशोंके बीच सांस्कृतिक सम्बन्धोंको दृढ़ तथा विकसित करना और एक दूसरेके उद्योग तथा कृषिकी उन्नतिमें यथासम्भव योग देना स्वीकार करते हैं।

* इसमें तत्र महान् अंग्रेजीके हिज मैजेस्टीके लिए आया है, जो स्वतन्त्र नरेशोंके नामके पहिले लिखा जाता है और तत्र भवान् हिज ऐक्सेलेंसीके लिए, जो राजदूतोंके साथ जोड़ा जाता है।

अनुच्छेद ४—प्रत्येक उच्च अनुबन्धकर्ता पक्षके नागरिकोंको, पारस्परिक आधार पर, दूसरेके राज्य-क्षेत्रमें, उस राज्य-क्षेत्रमें चालू विधियों और नियमोंके अधीन, बसने तथा निवास करने, उस राज्य-क्षेत्रसे जाने तथा उसमें आने और उसके भीतर बेरोकटोक आने-जानेका अधिकार होगा।

अनुच्छेद ५—उच्च अनुबन्धकर्ता पक्ष अपने वाणिज्यक सम्बन्धोंके तथा सीमा शुल्क, नौपरिवहन, विमान-चालन, सांस्कृतिक मामलों, प्रत्यर्पण, तथा दोनों देशोंकी रुचिकी अन्य बातों विषयक सम्बन्धोंके बारेमें, ऐसे विशेष करारोंके अनुसार जो दोनोंके बीच पहलेसे विद्यमान हों या बादमें किये जाएँ, चलना स्वीकार करते हैं।

अनुच्छेद ६—इस सन्धिके अर्थ निकाले जाने या इसके लागू किये जानेसे उत्पन्न कोई मतभेद सामान्य राजनयिक साधनों द्वारा बातचीत करके तय किया जायगा। यदि उचित समयके भीतर कोई समझौता न हो पाये तो वह मामला ऐसे ढङ्गसे मध्यस्थ-निर्णयके लिए सौंप दिया जायगा जिसपर दोनों पक्ष सहमत हों।

अनुच्छेद ७—इस सन्धिका अनुसमर्थन किया जाना होगा तथा यह अनुसमर्थन-पत्रोंके विनिमय की, जो यथाशीघ्र बगदादमें होगा, तिथिसे लागू हो जायगी।

इसके साक्ष्यमें पूर्णाधिकारियोंने अंग्रेजी, हिन्दी और अरबी भाषामें लिखी गई इस सन्धि पर हस्ताक्षर किये हैं। ये तीनों पाठान्तर समान रूपसे प्रामाणिक होंगे, सिवाय किसी शंका होनेकी दशामें जब कि अंग्रेजी पाठान्तर ही माना जायगा।

आज, दिनांक दस नवम्बर सन् १९५२ ईसवी, जो दिनांक इक्कीस सफर सन् १३७२ हिजरीके अनुरूप है, को बगदादमें, दो प्रतियोंमें, निष्पादित हुई।

भारतके राष्ट्रपतिके निमित्त	तत्र महान् इराक सम्राट्के निमित्त
(हस्ताक्षर) खूबचन्द,	(हस्ताक्षर) जमाल बाबन।
असाधारण दूत और पूर्णाधिकारी अमात्य।	कार्यवाहक विदेश मन्त्री।

(ग) लीबियाकी स्वाधीनता

संयुक्त राष्ट्रसंघटनकी महासभा

लीबियाके सम्बन्धमें आशंसा करती है

कि

१—सिरेनाइका, त्रिपोलितानिया और फेजानको मिलाकर लीबिया स्वतन्त्र और प्रभु राज बना दिया जाय;

२—यह स्वतन्त्रता यथाशक्य शीघ्र, और हर हालतमें १ जनवरी १९५२ तक सक्षम हो जाय।

११ स्वतन्त्र राजके रूपमें स्थापित हो जाने पर, समयककी धारा ४ के अनुसार लीबिया संयुक्त राष्ट्रोंका सदस्य बना लिया जाय।

परिशिष्ट-१०

जापानके सम्बन्धमें युद्धोत्तर नीति

द्वितीय महासमरमें हारे हुए देशों, अर्थात् जापान और जर्मनी, के साथ कैसा व्यवहार किया जाय, इसके सम्बन्धमें विजेताओंमें मतभेद था। जर्मनीके विषयमें तो अन्त तक कोई बात स्थिर न हो सकी। उसके पूर्वी भागपर रूसी और पश्चिमी भागपर ब्रिटिश-अमेरिकन सेनाका कब्जा था। उस समय आपसमें मैत्री होते हुए भी यह तीनों एक राय न हो सके। फलतः जर्मनी मिलाकर एक कर दिया जाय यह चर्चा कई बार उठा पर कोई परिणाम न निकला, दो टुकड़े बने रहे, दोनोंमें दो पृथक् सरकारें बैठा दी गयीं और अब पश्चिमी जर्मनी स्वतन्त्र प्रभुराज मान लिया गया है। यह सब रूससे लड़ानेके लिए एक और हथियार तैयार करना है। रूस भी अपने संरक्षित भागको शीघ्र ही यही पद देनेकी सोच रहा होगा। आरम्भमें विजेताओंके कुछ और ही विचार थे। उन विचारोंका आभास उस कमीशनकी रिपोर्टसे मिलता है जो जापानके सम्बन्धमें आत्मसमर्पणोत्तर नीति निर्धारित करनेके लिए बैठाया गया था। इस नीतिको विजेताओंने स्वीकार कर लिया परन्तु जापान पर अमेरिकन सेनाका कब्जा था। अमेरिका जानता था कि उसे एक दिन पूर्वमें रूससे लड़नेके लिए एक सहायक चाहिये। अतः उसने धीरे-धीरे जापानको सँभाला और आज जापान भी पूर्ण प्रभु स्वतन्त्र राज मान लिया गया है। कहाँ तो उसका निःशस्त्रीकरण होनेवाला था कहाँ अब वह सेनासे सज्जित हो रहा है।

सुदूर-पूर्वीय आयोग-जापानके लिए आत्मसमर्पणोत्तरकालीन
मूल नीति (१९४७)

अन्तिम लक्ष्य

१. जापानके सम्बन्धमें अन्तिम लक्ष्य, जिनका अनुसरण आत्मसमर्पणोत्तर कालीन नीतिको करना चाहिये, यह हैः—

क. इस बातका पक्का प्रबन्ध कर देना कि जापान अब फिर विश्वकी शान्ति और सुरक्षाके लिए भयास्पद न बन सकेगा।

ख. शीघ्रसे शीघ्र ऐसी लोकतान्त्रिक और शान्तिमय सरकारको स्थापित कराना जो अपने अन्ताराष्ट्रिय दायित्वोंको पूरा करे। दूसरे राजोंके स्वत्वोंका आदर करे और संयुक्त राष्ट्रोंके लक्ष्योंका समर्थन करे। ऐसी सरकार जापानी जनताकी स्वच्छन्दतापूर्वक व्यक्त की हुई इच्छाके अनुसार स्थापित की जानी चाहिये।

२. यह लक्ष्य निम्नलिखित मुख्य साधनोंके द्वारा प्राप्त किये जाएँगे :—

क. जापानका प्रभुत्व हान्शू, होकाइदो, क्यूशू, शिकोकू और कुछ अन्य नियत छोटे द्वीपोंतक सीमित रहेगा।

ख. जापान पूर्णतया निःशस्त्र और निःसैन्य कर दिया जायगा। सेनासमर्थकोंका अधिकार और सेनाशाहीका प्रभाव बिलकुल निर्मूल कर दिया जायगा। वह सब संस्थाएँ जो सेनामूलक भावना और अभिघातका द्योतन करती हैं बलात् दबा दी जाएँगी।

ग. जापानी जनतामें वैयक्तिक निर्बन्धताकी इच्छा और मौलिक मानव अधिकारों, विशेषतः धर्म्म, एकत्र होने, भाषण और पत्रकारिताकी स्वाधीनता, के लिए आदरकी भावनाको प्रोत्साहन दिया जायगा। उनको लोकतन्त्रात्मक और प्रतिनिधि मूलक संस्थाओंको बनानेके लिए प्रोत्साहित किया जायगा।

घ. जापानको ऐसे उद्योगोंको चलानेकी अनुमति दी जायगी जिनसे उसके आर्थिक जीवन-का निर्वाह होता रहे और उसने युद्धमें (विजेताओंकी) जो क्षति की है उसकी मालके रूपमें पूर्ति कर सके पर ऐसे व्यवसाय न होने पावेंगे जिनसे वह लड़ाईके लिए फिर सन्नद्ध हो सके। इस उद्देश्यसे उसको कच्चे मालकी उपलब्धि होने पायेगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि कच्चे मालका नियंत्रण भी उसके हाथमें होगा। सुदूर भविष्यत्में जापानको विश्व व्यापारमें भाग लेनेकी अनुमति भी दी जायगी।

परिशिष्ट—११

कोलम्बो योजना

१९५० की जनवरीमें कोलम्बो (लंका की राजधानी) में ब्रिटिश राजपरिवारके उन देशोंके प्रधान मन्त्रियोंकी एक गोष्ठी हुई जो एशियाके दक्षिण और दक्षिण-पूर्व भागसे सम्बद्ध हैं। इस गोष्ठीका उद्देश्य यों तो हर प्रकारके प्रश्नोंपर विचारविनिमय करना था परन्तु दक्षिण और दक्षिणपूर्व एशियाकी विशेष आवश्यकताओंकी पूर्तिके साधनोंका संग्रह करना इसका प्रधान लक्ष्य था। गोष्ठीने एक परामर्शदात्री समिति बनायी जिसमें सभी सम्बद्ध देशोंके प्रतिनिधि थे। आस्ट्रेलिया, कनाडा, लंका, भारत, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान, ब्रिटेन और मलाया—ब्रिटिश बोर्नियो पहले सदस्य थे। ब्रिटेन, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और कनाडा इस क्षेत्रके बाहर हैं परन्तु उनको इस विषयसे अभिरुचि थी और उनका ऐसा विश्वास था कि जब तक इस भूभागका आर्थिक स्तर ऊँचा नहीं होगा तबतक विश्व शान्ति नहीं हो सकती, इसलिए वह भी सहायक होनेको उत्सुक थे।

परामर्शदात्री समितिकी पहिली बैठक सिडनी (आस्ट्रेलया) में मई १९५० में हुई और इसके बादकी बैठकें लन्दन (सितम्बर १९५०), कोलम्बो (फरवरी १९५१), कराची (मार्च १९५२) और दिल्ली (अक्तूबर १९५३) में हुईं। पहिली बैठकमें यह निश्चय हुआ कि दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशियाका प्रत्येक सदस्य देश विकासका षड्वर्षीय कार्यक्रम तैयार कर ले। यह ६ वर्षकी अवधि जुलाई १९५१ से आरम्भ मानी जायगी और जुलाई १९५७ तक जायगी। दूसरी बैठकमें सब कार्यक्रमोंपर विचार करके उनको एक रिपोर्टमें आबद्ध कर दिया गया। बादकी बैठकों-में इन कार्य्यक्रमोंके कार्य्यान्वित होनेमें जो प्रगति हुई है उसकी समीक्षा होती है।

विकास कार्य्यक्रममें प्रथम स्थान कृषिको दिया गया है, दूसरा यातायातको परन्तु सब देशों-की आवश्यकता एक-सी नहीं है। उद्योगको भी स्थान मिला है।

सदस्योंकी संख्या बढ़ती ही गयी है। दिल्लीके अधिवेशन तक बर्मा, कम्बोडिया, इण्डो-नीशिया, लेऑस, थाइलैण्ड, वीतनाम, नेपाल और अमेरिका सदस्य हो गये थे। नये देशोंके सम्मिलित होनेसे योजनाका कलेवर भी बढ़ता गया है।

इस काममें अन्ताराष्ट्रिय बंक और एकाफ (एशिया और सुदूरपूर्वके लिए आर्थिक आयोग) का पूरा सहयोग है।

योजनाका स्वरूप उस रिपोर्टसे जाना जा सकता है जो दूसरी बैठकमें लन्दनमें स्वीकृत हुई थी। उस समय केवल भारत, पाकिस्तान, लंका और मलाया—ब्रिटिश बोर्नियोके विकासका ही प्रश्न था। इन चार देशोंने अपने अपने यहाँ जो कार्य्यक्रम बनाये थे उनका अनुमान निम्न-लिखित आँकड़ोंसे हो सकता है:—

विकास-कार्य्य क्रम १९५१–५७

देश	कुल व्ययका अनुमान	इसमेंसे कितना देशमेंसे निकल सकता है
भारत	२,१५,१०,००,०००	७७,२०,००,०००
पाकिस्तान	४३,१०,००,०००	१५,१०,००,०००

लंका	१६,३०,००,०००	६,१०,००,०००
मलाया-ब्रि० बोर्नियो	१५,३०,००,०००	४,६०,००,०००
	२,८९,८०,००,०००	१,०३,००,००,०००

इसका तात्पर्य यह है कि इन देशोंको विदेशसे आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये तब इनका काम पूरा हो सकता है।

भारत	१,३७,९०,००,०००	अपेक्षित विदेशी सहायता
पाकिस्तान	२८,००,००,०००	,,
लंका	१०,२०,००,०००	,,
मलाया-ब्रि, बोर्नियो	१०,७०,००,०००	,,
	१,८६,८०,००,०००	,,

यह रकमें सब पौण्डमें हैं। इनका रुपया बनानेके लिए १३.३ से गुणा करना होगा। अकेले भारतके लिए यह रकमें इस प्रकार होंगी :—

कुल अनुमानित व्यय	२८,६०,८३,००,००० रुपया
भारतसे प्राप्य धनका अनुमान	१०,२६,७६,००,००० रुपया
विदेशसे अपेक्षित सहायता	१८,३४,०७,००,००० रुपया

विदेशी सहायता किस प्रकार खर्च की जायगी उसका अनुमान भारत-सम्बन्धी आँकड़ोंसे हो सकता है :—

व्ययकी मद	कुलका प्रतिशत	कुल रकम
कृषि	३३	६,०८,००,००,००० रु०
यातायात (क) रेलवे (ख) सड़क (ग) बन्दर (घ) अन्य	३८	७,०२,७०,००,००० रु०
ईंधन और बिजली	३	५७,६०,००,००० रु०
उद्योग और खान (कोयला छोड़कर)	१०	१,८०,००,००,००० रु०
सामाजिक (क) शिक्षा (ख) गृह निर्माण (ग) स्वास्थ्य (घ) अन्य	१६	२,९१,३०,००,००० रु०
	१००	१८,३९,६०,००,००० रु०

विदेशी सहायता कई प्रकारसे मिल सकती है। एक सरकार दूसरीको ऋण दे या एक देशके धनी व्यक्ति विदेशी सरकारको ऋण दें या विदेशमें पूँजी लगाकर उद्योग करें। अन्ताराष्ट्रिय बंक भी ऋण दे सकता है। इस समय प्रायः इन सभी उपायोंसे काम लिया जा रहा है। यह आवश्यक नहीं है कि विदेशी सहायता नकद रुपयेके रूपमें हो। बहुधा माल दिया जाता है। यह

सुविधा दी जाती है कि हमारे देशमें अमुक प्रकारका साधन मोल ले सकते हो, इसका मूल्य अभी मत देना। इतने सालोंमें चुका सकते हो, अपने व्यापारियोंके प्रति हम तुम्हारी साखके जामिन हैं।

भारतमें जो विकास सम्बन्धी पंचवर्षीय योजना चल रही है वह इस षड्वर्षीय योजनासे अङ्गाङ्गी रूपसे मिली हुई है। पहिले दो वर्षोंमें अर्थात् १९५१ से १९५३ तक १,१२,००,००,००० रु० विदेशी सहायतामेंसे व्यय किया गया। इसी प्रकार अन्य देशोंमें भी हुआ है।

यदि देशके भीतरसे जितने धनकी आशा की जाती है वह मिलती रहे और विदेशी सहायताका प्रवाह भी न रुके तो छः वर्षोंमें इन देशोंमें बड़ी उन्नति हो जायगी। अकेले भारत आशा कर रहा है कि उसके यहाँ उपजमें निम्नलिखित वृद्धि होगी—

अन्न	३० लाख टन	रुई	१,९५,००० टन
तेलहन	१५ लाख टन	पाट	३,७५,००० टन

बिजलीकी उपज भी, जिसपर उद्योग धन्धोंका विकास निर्भर है, लगभग दूनी हो जायगी।

पिछड़े देशोंको धनके साथ-साथ एञ्जिनियर और कारीगर भी चाहिये। इस प्रकारकी शिक्षामें भारत दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशियाके अन्य सब देशोंसे आगे है, फिर भी आवश्यकताको देखते हुए बड़ी कमी है और कई विद्याओंके जाननेवाले तो हैं ही नहीं। इसलिए इस योजनाका एक अंग टेकनिकल सहायता है। इसके अन्तर्गत ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा जैसे देश अपने यहाँसे एंजिनियर और कारीगर भारत भेजते हैं और भारत सरकारसे मनोनीत विद्यार्थियोंको अपने देशोंमें शिक्षाके लिए आने देते हैं। केवल पढ़नेकी अनुमति ही नहीं मिलती प्रत्युत बहुधा छात्रवृत्तिकी भी सहायता देते हैं। उनके विशेषज्ञ यहाँ आकर विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षा संस्थाओंमें प्रवचन कर जाते हैं और विभिन्न सरकारोंको उनके औद्योगिक और सामाजिक आयोजनोंपर परामर्श दे जाते हैं। इस देशमें भी ऐसे शिक्षालयोंको खोलनेका प्रबन्ध हो रहा है ताकि विद्यार्थियोंको बाहर जानेकी आवश्यकता न रहे। ऐसा ही अन्य देशोंमें भी हो रहा है।

कोलम्बो योजना बहुत ही उपयोगी प्रादेशिक संघटन है। इसका उद्देश्य किसीसे युद्ध करना नहीं है। यदि इन पिछड़े देशोंकी उन्नति होती है तो उसका लाभ उन देशोंको भी पहुँचेगा जो आज उनको सहायता दे रहे हैं और सारी पृथ्वीके सुखसमृद्धि-भण्डारमें वृद्धि होगी, आपसका सौहार्द भी ऐसे आदान-प्रदानसे बढ़ता है। भारत अन्य देशोंसे सहायता ले रहा है परन्तु अभी हालमें ही उसने इस योजनाके अनुसार नैपालको आर्थिक सहायता दी है।

परिशिष्ट–१२

कोरिया

जैसा कि प्रथम खण्डके तीसरे अध्यायमें बतलाया गया है, जापानने १९१० में कोरियाको अपने राज्यमें मिला लिया। उसका बर्ताव कोरियावालोंके साथ अच्छा नहीं था। शोषणकी पराकाष्ठा थी। देशमें घोर असन्तोष था परन्तु कोई सिर नहीं उठा सकता था। कुछ प्रवासी कोरियन अपने देशकी स्वतन्त्रताका दुखड़ा गाते रहते थे पर उनका स्वर अरण्यरोदन मात्र था। द्वितीय महासमर छिड़ने पर ब्रिटेन, अमेरिका और चीनने काइरो घोषणा (१९४३) में यह प्रतिज्ञा की कि कोरिया स्वतन्त्र कर दिया जायगा और जापानके विरुद्ध युद्धमें सम्मिलित होनेके पहिले रूसने भी यह बात स्वीकार की।

जापानके आत्मसमर्पण करनेपर रूस और अमेरिकामें यह तय पाया कि रूसी सेना उत्तरी कोरियापर और अमेरिकन सेना दक्षिणी कोरियापर कब्जा करके जापानी शासनकी जगह ले और जबतक कोई स्थायी प्रबन्ध न हो जाय तबतक शासनकी देख-भाल करे। दोनों सेनाओंकी सीमा ३८° उत्तर अक्षांश रेखा होगी। १२ अगस्त १९४५ को रूसी और ८ सितम्बर १९४५ को अमेरिकन सेनाने कोरियामें प्रवेश किया और ३८° के उत्तर-दक्षिणके भूभाग पर कब्जा कर लिया। यह कब्जा अस्थायी होना चाहिये था। दिसम्बर १९४५ में मॉस्कोमें ब्रिटेन, रूस और अमेरिकाके वैदेशिक मन्त्रियोंने यह तय किया कि कोरियामें शीघ्र ही लोकतान्त्रिक सरकार स्थापित की जाय और चीनने भी इस बातको मान लिया परन्तु निश्चय कागजपर ही रह गया। यह आशा करना भी भूल थी कि रूस लोकतान्त्रिक सरकार बननेमें सहायता देगा। कोरियाका एक प्रकारसे स्थायी बँटवारा हो गया और बिना विशेष अनुमतिके एक भागसे दूसरे भागमें आना जाना बन्द कर दिया गया।

नवम्बर १९४७ में संयुक्त राष्ट्र संघटनकी महासभाने यह आदेश दिया कि कोरियामें चुनाव कराया जाय। चुने हुए प्रतिनिधि अपने देशका संविधान बनावें और राष्ट्रीय सरकार स्थापित करें। १० मई १९४८ का चुनाव हुआ पर यह चुनाव दक्षिण कोरिया तक ही सीमित रहा। रूसने इस बातको स्वीकार ही नहीं किया कि संयुक्त राष्ट्रको कोरियाके विषयमें व्यवस्था करनेका अधिकार है, इसलिए उसने उत्तरमें चुनाव होने ही नहीं दिया। चुनावके बाद १५ अगस्तको राष्ट्रीय सरकार स्थापित हुई। डा० सिंगमैन री उसके अध्यक्ष थे। इस सरकारको कई राष्ट्रोंने अभिज्ञा दे दी परन्तु रूसके विरोधके कारण संयुक्त राष्ट्र संघटन ऐसा न कर सका। इस राजका नाम कोरियाका लोकतन्त्र है।[१] रूसियोंने भी अपने भागमें ९ सितम्बरको एक राज स्थापित कर दिया। उसका नाम है कोरियाके जनतान्त्रिक लोगोंको लोकतन्त्र[२]।

१२ दिसम्बरको संयुक्तराष्ट्र महासभाने यह आदेश किया कि सभी मुल्कगीरी सेनाएँ कोरियासे यथाशक्य हटा ली जायँ। अमेरिकाने अपनी सेना २९ जून १९४९ तक हटा ली पर

---

१ Republic of Korea

२ Democratic Peoples Republic of Korea'

रूसका कहना है कि उसकी सेना दिसम्बर १९४८में ही हट गयी थी। अपनी अपनी सेनाएँ भले ही हटा ली गयी हों पर दक्षिणी सरकारको अमेरिका और उत्तरी सरकारको रूस-चीनसे बराबर सहायता मिलती रही और दोनों प्रदेशोंमें, जो अब दो स्वतन्त्र देश बन गये थे, जोरोंसे सैनिक तैयारी हो रही थी। उत्तरी भागकी कोई सूचना बाहर आने नहीं पाती थी परन्तु यह निश्चित था कि वहाँ बहुतसे चीनी सैनिक थे। पीछे चलकर यह लोग चीनी स्वयंसेवकके नामसे प्रत्यक्ष रूपसे सामने आये। अमेरिका दक्षिण कोरियाकी सेनाको सुव्यवस्थित तो करना चाहता था परन्तु खुलकर पूरी सहायता नहीं देता था।

अस्तु २५ जून १९५० को उत्तर और दक्षिण कोरियामें युद्ध छिड़ गया। दोष किसका था, यह कहना कठिन है। उत्तरवाले कहते थे कि पहिले दक्षिणवालोंने छेड़छाड़ की, दक्षिणका कहना है कि उत्तरकी सेना ३८° की अक्षांश रेखाके नीचे उतर आयी। रूस और चीन उत्तरकी बातका समर्थन करते हैं, अमेरिका दक्षिणका। संयुक्त राष्ट्र संघटनने भी दक्षिणकी ही बातको माना और २५ जून १९५० को सुरक्षा समितिने एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया कि उत्तर कोरियन सेनाका कोरियन लोकतन्त्रपर सशस्त्र आक्रमण शान्तिभङ्गात्मक काम है,

(१) माँग की कि युद्ध तत्काल बन्द हो,

(२) आदेश दिया कि उत्तर कोरियाके अधिकारी अपनी सेनाको ३८वें अक्षांशतक हटा ले जायँ और

(३) यह भी आदेश दिया कि इस निश्चयको कार्य्यान्वित करनेमें सभी सदस्य राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रोंको हर प्रकारकी सहायता दें तथा उत्तर कोरियाके अधिकारियोंको किसी प्रकारकी सहायता न दें।

रूस, पोलैण्ड और जेकोस्लोवाकियाने इस निश्चयका विरोध किया और इसको अवैधानिक करार दिया। अमेरिकाने इसका पूरा समर्थन ही नहीं किया वरन् अपनी सैनिक शक्तिको अर्पित किया और ब्रिटेनने प्रशान्त महासागरके अपने युद्धपोतोंके बेड़ेको इस काममें लगानेका वचन दिया। कुछ अन्य राष्ट्रोंने दूसरे प्रकारकी सहायता देनेका वचन दिया। उदाहरणके लिए, थाइलैण्डने चावल, नार्वेने सामान आदि पहुँचानेके लिए जहाज, चिलीने ताँबा और शोरा, फिलिपीनने नारियलका तेल, साबुन तथा हैजा और शीतलाकी औषध इत्यादि। भारतने पूरा चल अस्पताल भेजनेका निश्चय किया। संयुक्त राष्ट्रकी ओरसे कोरियामें एक आयोग था, जिसे कोरियाके लिए संयुक्त राष्ट्रोंका आयोग[१] कहते थे। उत्तर कोरिया उसकी बात माननेको तैयार न था। अमेरिकाने रूससे इस विषयमें सहयोग चाहा पर वहाँसे २९ जूनको यह उत्तर मिला कि यह कोरियाका घरेलू झगड़ा है। हम किसी राजके भीतरी विवादोंमें हस्तक्षेप करनेके विरुद्ध हैं। यह सिद्धान्त तो ठीक है परन्तु रूसका उत्तर यथार्थ नहीं था। जापानकी हारके बाद समस्त कोरियामें न कोई राज था न सरकार स्थापित हुई थी। उस देशको सुव्यवस्थित करनेका भार अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और चीनपर था। अमेरिका और रूसका विशेष दायित्व था क्योंकि इनकी ही सेनाओंने उसपर कब्जा किया था और जो दो सरकारें बनी थीं वह इनके हाथोंमें थीं।

ऐसी अवस्थामें युद्ध जारी रहनेके सिवा और क्या हो सकता था? एक ओर दक्षिण कोरिया और अमेरिकाके सैनिक थे, दूसरी ओर उत्तर कोरियाके सैनिक और स्वयंसेवक नामधारी चीनी

---

१ United Nations Commission on Korea (U. N. C O. K)

सैनिक। रूस प्रत्यक्ष रूपसे अलग था परन्तु चीनको उसकी सहायता प्राप्त थी। और तमाशा यह था कि रूस अमेरिका दोनों ही संयुक्तराष्ट्र संघटनके सदस्य बराबर बने रहे।

लगभग तीन वर्षतक लड़ाई चलती रही, यद्यपि १९५२ में ही युद्धविरामकी बात आरम्भ हो गयी थी। पानमुनजानमें उभय पक्षमें बातचीत होती थी। महीनोंके बाद कुछ मार्ग निकला। सबसे बड़ा झगड़ा युद्धबन्दियोंके विषयमें था। साधारणतः लड़ाई बन्द होनेपर बन्दी अपने अपने देश लौट जाते हैं। पर यहाँ ऐसी सीधी बात नहीं थी। बहुतसे उत्तरवाले उत्तर नहीं जाना चाहते थे, इसी प्रकार ऐसे दक्षिणवाले भी थे जो दक्षिण नहीं जाना चाहते थे। ऐसे बन्दियोंको यह डर था कि घर लौटने पर हमारे राजनीतिक विचारोंके कारण हमारी सरकार हमारे साथ बुरा बर्ताव करेगी। यह आवश्यक प्रतीत होता था कि उनको समझाया-बुझाया जाय। पर यह तभी हो सकता था जब इनका अपने बन्दी करनेवालोंसे छुटकारा हो। बहुत बहसके बाद जून १९५३ में यह तय हुआ कि पाँच राष्ट्रोंका तटस्थराष्ट्रोंका पुनर्वासन आयोग[१] नियुक्त हो जिसमें भारत, स्वीडन, पोलैण्ड, स्विजरलैण्ड और जेकोस्लोवाकियाके प्रतिनिधि हों। इसकी देखरेखमें बन्दियोंको समझाने बुझाने और यदि वह राजी हों, तो घर भेजनेका काम हो। तबतक सब बन्दी एक शिविरमें रहें जिसकी रक्षा भारतीय सेना करे। भारतके जनरल तिमय्या इस शिविरके कमाण्डर और आयोगके अध्यक्ष थे। जो बन्दी सीधे चले जानेवाले थे वह ५ अगस्त और ६ सितम्बरके बीचमें घर भेज दिये गये। शेष भारतीय रक्षक सेनाको सौंपे गये। २१ फरवरी १९५४ को बारह बजे रातके समय आयोगने अपने आपको तोड़ दिया।

इस पूछ ताछ या समझाने बुझानेके सम्बन्धमें बहुत शिकायतें सुनी जाती हैं पर उनका चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक है। जो बन्दी २० जनवरी तक घर जाने पर राजी नहीं हुए थे वह उन सरकारोंको दे दिये गये जिन्होंने उन्हें पहिले कैद किया था।

लड़ाई तो रुक गयी परन्तु यह तो शतरंजकी जिच हुई। कोरियाके सम्बन्धमें कोई व्यवस्था नहीं हुई। फ्रांस, अमेरिका, ब्रिटेन और रूसके परराष्ट्र सचिवोंने बर्लिनमें बैठकर यह निश्चय किया कि अप्रैलमें जेनीवामें एक सम्मेलन हो जिसमें रूस, अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, चीन, दक्षिणी कोरिया, उत्तरी कोरिया और उन दूसरे राष्ट्रोंके जिनकी सेनाएँ कोरियामें लड़ी थीं, प्रतिनिधि हों। यह सम्मेलन कोरियन समस्याका शान्तिमय हल निकाले। कई राष्ट्रोंका अनुरोध था कि इस सम्मेलनमें भारतका होना आवश्यक है, पर अमेरिकाने इसका विरोध किया था।

अभी तक ग्रन्थि उलझी हुई है। कोरिया विभक्त है, उत्तर दक्षिणमें काफी तनाव है और एक ओर रूस-चीन, दूसरी ओर अमेरिका, अपना प्रभाव अक्षुण्ण रक्खे हुए हैं।

---

१ Neutral Nations Repatriation Commission (N. N. R. G.).

परिशिष्ट—१३

सम्मिलित सुरक्षाके सिद्धान्त

संयुक्त राष्ट्र संघटनकी महासभाकी राजनीतिक समितिने ३० अक्तूबर १९५४ को महासमितिके पास एक रिपोर्ट भेजकर उन सिद्धान्तोंकी आशंसा की है जिनके अनुसार, यदि संयुक्त राष्ट्रको शान्ति स्थापित या पुनः स्थापित करनेके लिए शस्त्र-प्रयोग करना ही पड़े तो सम्मिलित सैनिक कार्य्यवाही की जानी चाहिये। इस आशंसाका समर्थन आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, ब्राजील, कनाडा, मिस्र, फ्रांस, मेक्सिको, फिलिपीन, तुर्की, ब्रिटेन, अमेरिका और वेनेज्युएलाने किया है। यह सिद्धान्त चार हैं :—

१. अधिकसे अधिक संभव संख्यामें राष्ट्रोंको अपनी अपनी संविधानिक प्रक्रिया और शक्तिके अनुसार सैनिक, राजनीतिक, आर्थिक या धनरूपी सहायता सक्षम प्रकारसे और अविलम्बेन करनी चाहिये।

२. यदि अग्रधर्षणके विरुद्ध सामूहिक बल-प्रयोग करना हो तो प्राथमिक लक्ष्य यह होना चाहिये कि सेना और आनुषाङ्गिक समर्थन अधिकसे अधिक मात्रामें प्राप्त हो जाय।

३. जो राष्ट्र कि सामूहिक आत्मरक्षण और प्रादेशिक सुरक्षाके आयोजनोंसे सम्बद्ध हैं उनको चाहिये कि इन संगठनोंके द्वारा संयुक्त राष्ट्रों द्वारा चलायी गयी सम्मिलित कार्य्यवाहियोंके लिए सब सम्भव समर्थन प्राप्त करायें।

४. अग्रधर्षणके विरुद्ध जो आर्थिक कार्य्यवाही की जाय उसके अन्तर्गत अग्रधर्षणके शिकारको सब सम्भव सहायता मिलनी चाहिये।

परिशिष्ट–१४

कुछ महत्वपूर्ण मुकदमोंकी सूची जिनका हवाला पुस्तकमें हैं। (पहिला अंक खण्ड, दूसरा अध्याय बताता है।)

मैग्डालीना स्टीम नैविगेशन कम्पनी बनाम मार्टिन	(१,९)
फ्रांस बनाम ब्राजील	(१,६)
फ्रांस बनाम ब्रिटेन (सावरकरके सम्बन्धमें)	(२,१)
रूस बनाम तुर्की	(१,८)
ब्रिटेन बनाभ अमेरिका	(२,३)
रूस बनाम लेहाइ बैली रेलरोड कॉर्पोरेशन	(१,९)
आयरिश फ्रीस्टेट बनाम डि वैलेयरा और अन्यलोग	(१,३)
ब्रिटेन बनाम स्पेन	(२,५)
भारतसरकार बनाम आजादहिन्द सैनिक	(१,३)
ब्रिटिश सरकार बनाम विलियम जॉयस (लार्ड हॉ हॉ)	(२,४)
जर्मन और जापानी युद्धापराधियोंके मुकदमे	(३,९)
पेरू बनाम कोलम्बिया	(१,९)
अमेरिका बनाम मेक्सिको	(२,४)

परिशिष्ट—१५

पारिभाषिक शब्दोंकी सूची

[क]

(हिन्दी शब्दोंके अंग्रेजी पर्याय)

हिन्दी	English
अङ्गरी	Angary (Droitd'angarie, Jus angariae)
अतटस्थाचरण	Unneutral Service
अधिकार, प्रतीक्षात्मक	Expectant Power
अधिकृति	Occupation
अधिपति	Suzerain
अनधिकार समर्पणपत्र	Sponsion
अनुज्ञापत्र	Exequatur
अनुसन्धानमण्डल	Commission of Enquiry
,, मिश्र	Mixed Commission of Enquiry
अनुसमर्थन	Ratification
अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र	Subjects of International Law
अन्ताराष्ट्रिय शील	Comity of Nations
,, सदाचार	International Morality
अपराधि-प्रत्यर्पण	Extradition
अपहृतोद्धार	Salvage
अभयदान	Quarter, Safe-guard
अभिज्ञा	Recognition
अवकाश	Days of grace
अवरोध	Blockade
,, , अधिकारफलक	Strategic Blockade
,, , कागज़ी	Paper Blockade
,, , घोषणात्मक	Blockade by notification
,, , तट (= तटावरोध)	Blockade
,, , नौ (= नाववरोध)	Embargo
,, , वाणिज्य (= वाणिज्यावरोध)	Commercial Blockade
,, , वास्तविक	Blockade de facto
,, , सक्षम	Effective Blockade
,, , भङ्ग	Violation of Blockade

आदेश (शासनादेश)	Mandate
आदिष्ट	Mandated
आदेश, स (= सादेश)	Mandatory
उद्धरण शुल्क	Salvage money
उपभोग	Prescription
गारद	Convoy
चिकित्सालय	Hospital
,, , अचल	Fixed Hospital
,, , चल	Field (mobile) Hospital
जलमग्न विस्फोटक	Submarine Mines
जनपद समारोह	Levies en Masse
तटलग्न जल (तटलग्न समुद्र)	Marginal waters (Littoral or Jurisdictional or Territorial waters)
तटस्थीकरण	Neutralization
ताटस्थ्य	Neutrality
तीव्र अनुधावन	Hot Pursuit
दूत, उप—	Charge d' affaires
,, , परिमितार्थ	Resident Minister
,, , मितार्थ	Envoy
,, , विशिष्ट	Minister Plenipotentiary
दोषारोप	Denunciation
दौत्य	Diplomacy
नजरबन्दी	Internment
नागरिकता	Citizenship
नाववरोध	Embargo
,, , युद्धात्मक	Hostile Embargo
,, , शान्तिमय	Pacific Embargo
निवास	Domicile
निषिद्ध	Contraband
,, , गौण	Conditional Contraband
,, , पूर्ण	Absolute Contraband
परवाना	Letter of Marque
पात्र, अन्ताराष्ट्रिय विधानके	Subjects of International Law
पैरोल	Parole
पोत	Ship
,, , कुमक	Privateer

पोत, परिचर्या	Cartelships
,, , परिणत वणिक	Converted Merchantman
पञ्चायत	Arbitration
पञ्चायत, अनिवार्य	Obligatory Arbitration
पञ्चनामा	Compromis d' arbitrag
प्रजा	Subject
प्रजा, अंगीकृत	Naturalized Subject
,, , अनन्य	Natural-born Subject
प्रत्ययपत्र	Credentials (Letter of Credence)
प्रतिघात	Reprisal
प्रतिपीड़न	Retortion
प्रतिभू	Hostage
प्रभु	Sovereign
,, अल्प—	Part-Sovereign
,, दृष्ट—	Nominal Sovereign
प्रभुत्व	Sovereignty
बेहरी	Contribution
भौम सिद्धान्त	Territorial Principle
मध्यस्थता	Mediation
यात्राधिकार (यात्रानुज्ञा)	Pass-port
यादवीय	Civil War
युद्ध (समर, संगर)	War
युद्धलग्न	Belligerent
युद्धलग्नता	Belligerency
युद्धलग्नताकी स्वीकृति	Recognition of Belligerency
युद्धकारी सभ्य समुदाय, राजातिरिक्त	Civilized Belligerent Community not being a State
रक्षागारद	Safe-guard
रक्षाद्रव्य (रक्षाशुल्क)	Ransom
,, , पत्र	Ransom Bill
रक्षावचन	Safe-Conduct
राज	State
,, , अनुगामी (मुअक्किल)	Client State
,, , अपूर्ण संयुक्त	Imperfect Union
,, , अलिङ्ग संयुक्त	Incorporate Union
,, , आकस्मिक संयुक्त	Personal Union
राज, औपनिवेशिक संरक्षित	Colonial Protectorate

,, , निरवयव	Unitary State
,, , पूर्ण संयुक्त	Perfect Union
,, , राष्ट्रिय	National State
,, , लिङ्गशेष	Federal Union
,, , व्यक्तिशेष	Real Union
,, , सावयव	Composite State
राजहीन	Stateless
राष्ट्रसंघ	League of Nations
,, , की स्थायी समिति	Council of the League of Nations
राष्ट्रीयता सिद्धान्त	Nationality Principle
वस्तु, विहित	Free goods
वाणिज्यदूत	Consul
विद्रोहित्वकी स्वीकृति	Recognition of Insurgency
विधान	Law
,, —शास्त्र	Jurisprudence
,, , आवश्यक	Necessary Law
,, , नागरिक	Jus Civile
,, , प्राकृतिक	Jus Naturalae (Natural Law)
,, , राष्ट्रोंका	Jus Gentium
,, , विहित	Insituted Law
,, , सिद्ध	Positive ,,
,, , सैनिक	Martial ,,
विनष्टि	Devastation
विराम, रण	Truce (Armistice)
—पताका	Flag of Truce
विशेषता सिद्धान्त	Speciality Principle
विश्वसंस्कृति	Cosmopolitanism
विहित वस्तु	Free goods
विवृत्ति	Protocol, Prore's–Verbal
वृद्धि, प्राकृतिक	Accretion
व्यापाराधिकार	License to trade
शक्ति	Power
,, महा—	Great Power
,, —गोष्ठी	Concert of Powers
,, —साम्य	Balance of Power
शासनादेश	Mandate

समझौता, सामरिक	Cartel
समयपत्र	Covenant
समर	War
समष्टिवाद	Communism
समर्पणपत्र	Capitulation
सान्निध्य सिद्धान्त	Principle of Contiguity
सामरिक क्षेत्र	Military Zone (Zone of war)
सार्वभौमता सिद्धान्त	Universality Principle
सेना, अनियमित (कावाबाज)	Guerilla Troops
,, , आपत्कालिक	Reserve Troops (Reserves)
,, , नियमित	Regular Troops
संगराधार	Base of Operations
सन्धि (सन्धि-पत्र)	Treaty
,, , अर्थद्योतक	Treaty declaratory of International Law
,, , उप—	Preliminary Treaty
,, , पूर्ण	Definitive Treaty
सन्धि, विधायक	Pure Law-making Treaty
सन्धि, व्यवस्थापक	Law-making Treaty
संयुक्त राष्ट्र संघटन	United Nations Organization
संयुक्तराष्ट्र समयक	Charter of the united Nations
स्वत्वोंके दुरुपयोग का सिद्धान्त	Doctrine of the abuse of Rights
संरक्षण सिद्धान्त	Protective Principle
हस्तान्तर	Cession
हस्तक्षेप	Intervention

[ख]

(अंग्रेजी शब्दोंके हिन्दी पर्याय)

Accretion	प्राकृतिक वृद्धि
Ambassador	निःशेषदूत
Angary (Droit d' angarie, Jus angariae)	अङ्गरी
Arbitration	पञ्चायत
,, , obligatory	अनिवार्य पञ्चायत
Armistice	रणविराम
Army of occupation	मुल्कगीरी सेना
Auxiliary	सहायक

Base of operations	संगराधार
Belligerency	युद्धलग्नता
,, Recognition of	युद्धलग्नताकी स्वीकृति
Belligerent	युद्धलग्न
,, communities not being States, Civilized	राजातिरिक्त युद्धकारी सभ्य समुदाय
Blockade	तटावरोध
,, , Commercial	वाणिज्यावरोध
,, , Effective	सक्षम अवरोध
,, , Paper	कागजी अवरोध
,, , Strategic	अधिकारफलक अवरोध
Blockade, Violation of	अवरोध-भङ्ग
,, de facto	वास्तविक अवरोध
,, by notification	घोषणात्मक अवरोध
Capitulation	समर्पणपत्र
Cartel	सामरिक समझौता
,, Ships	परिचर्या-पोत
Cession	हस्तान्तर
Charge d' affaires	उपदूत
Citizenship	नागरिकता
Comity of Nations	अन्ताराष्ट्रिय शील
Commission of Enquiry	अनुसन्धानमण्डल
,, ,, ,, ,, mixed	मिश्र अनुसन्धानमण्डल
Communism	समष्टिवाद
Compromis d' arbitrage	पञ्चनामा
Condominium	सम्मिलित स्वाम्य
Confederation	संघ
Consul	वाणिज्यदूत
Contraband	निषिद्ध
,, , Absolute	पूर्ण निषिद्ध
,, , Conditional	गौण निषिद्ध
Contribution	बेहरी
Convoy	गार्द
Cosmopolitanism	विश्वसंस्कृति
Covenant	समयपत्र
Days of Grace	अवकाश
Denunciation	दोषारोप

Devastation	विनष्टि
Doctrine	सिद्धान्त
Doctrine of Infection	संसर्गदोष सिद्धान्त
Domicile	निवास
Embargo	नाववरोध
„ , Pacific	शान्तिमय नाववरोध
„ , Hostile	युद्धात्मक नाववरोध
Envoy	मितार्थदूत
Exequatur	अनुज्ञापत्र
Extradition	अपराधिप्रत्यर्पण
Goods, free	विहित वस्तु
Hospital, field or mobile	चल चिकित्सालय
„ , fixed	अचल चिकित्सालय
Hostage	प्रतिभू
Hot Pursuit	तीव्र अनुधावन
Insurgency, Recognition of	विद्रोहित्वकी स्वीकृति
Internment	नजरबन्दी
Intervention	हस्तक्षेप
Jurisprudence	विधानशास्त्र
Jus Civile	नागरिक विधान
„ Gentium	राष्ट्रोंका विधान
„ Naturalae	प्राकृतिक विधान
Law, Instituted	विहित विधान
„ , Martial	सैनिक विधान
„ , Necessary	आवश्यक विधान
„ of Nature	प्राकृतिक विधान
„ , Positive	सिद्ध विधान
League of Nations	राष्ट्रसंघ
„ „ , Council of the	राष्ट्रसंघकी स्थायी समिति
Letter of credence(Credentials)	प्रत्ययपत्र
Letter of Marque	परवाना
Levies en Masse	जानपद समारोह
License to trade	व्यापाराधिकार
Mandate	आदेश, शासनादेश
Mandated	आदिष्ट
Mandatory	सादेश
Mediation	मध्यस्थता

Merchantman, Converted	परिणत वणिक्पोत
Mines, Submarine	जलमग्न विस्फोटक
Minister, Resident	परिमितार्थ दूत
„ , Plenipotentiary	विशिष्ट दूत
Morality, International	अन्ताराष्ट्रिय सदाचार
Nationality Principle	राष्ट्रीयता सिद्धान्त
Neutralisation	तटस्थीकरण
Neutrality	ताटस्थ्य
Objects of International Law	अन्ताराष्ट्रिय विधानके लक्ष्य
Occupation	अधिकृति
Parole	पैरोल
Pass-port	यात्रानुज्ञा, यात्राधिकार
Power	शक्ति
„ , Great	महाशक्ति
„ , Balance of	शक्तिसाम्य
„ , Concert of	शक्ति-गोष्ठी
„ Expectant	प्रतीक्षात्मक अधिकार
Prescription	उपभोग
Principle of Contiguity	सान्निध्य सिद्धान्त
Privateer	कुमक पोत
Protective Principle	संरक्षक सिद्धान्त
Protectorate, Colonial	औपनिवेशिक संरक्षित राज
Protocol, proces-verbal	विवृत्ति
Quarter	अभयदान
Ransom	रक्षाशुल्क, रक्षाद्रव्य
„ Bill	रक्षाद्रव्य-पत्र
Ratification	अनुसमर्थन
Recognition	अभिज्ञा
Reparation	क्षतिपूर्ति
Reprisal	प्रतिघात
Requisition	वस्तुमाँग
Retortion	प्रतिपीड़न
Safe-Conduct	रक्षावचन
Safe-guard	अभयदान, रक्षागारद
Salvage	अपहृतोद्धार
„ money	उद्धरणशुल्क
Service, unneutral	अतटस्थाचरण

Sovereign,-ty	प्रभु, प्रभुत्व
,, , Part—	अल्प प्रभु
,, , Nominal	दृष्ट प्रभु
Speciality Principle	विशेषता सिद्धान्त
Sponsion	अनधिकार समर्पणपत्र
State	राज
,, , Client	अनुगामी राज, मुवक्किल राज
,, , Composite	सावयव राज
,, , National	राष्ट्रिय राज
,, , Unitary	निरवयव राज
State less	राजहीन
Subject	प्रजा
,, , Natural-born	अनन्य प्रजा
,, , Naturalized	अंगीकृत प्रजा
,, , of International Law	अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र
Surrender	आत्मसमर्पण
Suzerain	अधिपति
Territorial Principle	भौम सिद्धान्त
Treaty	सन्धि, सन्धिपत्र
,, , Declaratory of International Law	अर्थद्योतक सन्धि
,, , Definitive	पूर्णसन्धि
,, , Law-making	व्यवस्थापक सन्धि
,, , Preliminary	उपसन्धि
Treaty, Pure Law-making	विधायक सन्धि
Troops, Gueriila	अनियमित सेना
,, , Regular	नियमित सेना
,, , Reserve (Reserves)	आपत्कालिक सेना
Truce	रणविराम
,, , Flag of	विरामपताका
Union, Federal	लिंगशेष राज
,, , Imperfect	अपूर्ण संयुक्त राज
,, , Incorporate	अलिंग संयुक्त राज
,, , Perfect	पूर्ण संयुक्त राज
,, , Personal	आकस्मिक संयुक्त राज
,, , Real	व्यक्तिशेष राज
United Nations Organization	संयुक्तराष्ट्र संघटन

United Nations Charter	संयुक्त राष्ट्रोंका समयक
Universality Principle	सार्वभौमता सिद्धान्त
War	युद्ध, समर, संगर
,, , Civil	यादवीय युद्ध
,, , Zone of	सामरिक क्षेत्र
Waters, Littoral (Marginal, Territorial or Jurisdictional)	तटलग्न जल या तटलग्न समुद्र
Zone, Military	सामरिक क्षेत्र

परिशिष्ट—१६

अन्ताराष्ट्रिय विधान सम्बन्धी प्रामाणिक पुस्तकोंकी सूची

(क) सामान्य

सामान्य सूचीमें जिन पुस्तकोंके नाम हैं उनमें अन्ताराष्ट्रिय विधानका प्रायः सम्पूर्ण विषय आ जाता है। (ख) और (ग) में दी गयी पुस्तकें उन लोगोंके कामकी हैं जिनको विशेष अध्ययनका शौक है।

ओपेनहाइमकृत इण्टरनेशनल लॉ	International Law by Oppenheim
फिलिप्सनकृत स्टडीज इन इण्टरनेशनल लॉ	Studies in International Law by Philipson
हॉल कृत इण्टरनैशनल लॉ	International Law by Hall
लारेंस कृत प्रिंसिपल्स आव इण्टरनैशनल लॉ	Principles of International Law by Lawrence
स्मिथकृत इण्टरनैशनल लॉ	International Law by Smith
फेनविक कृत इण्टरनैशनल लॉ	International Law by Fenwick
स्टार्क कृत ऐन इण्ट्रोडक्शन टु इण्टरनैशनल लॉ	An Introduction to International Law by Starke
फेनविक कृत कैसेज ऑन इण्टरनैशनल लॉ	Cases On International Law by Fenwick
ब्रिग्ज कृत दि लॉ आव नेशन्स	The Law of Natlons by Briggs

(ख) प्रथम तथा द्वितीय खण्ड सम्बन्धी

बॉर्चर्डकृत ए गाइड टु डिप्लोमैटिक प्रोटेक्शन आव सिटिजंस ऍब्रॉड	Diplomatic Protection of Citizens Abroad by Borchard
सेटोकृत ए गाइड टु डिप्लोमैटिक प्रैक्टिस	A Guide to Diplomatic Practice by Satow
डिकिंसनकृत ईक्वालिटी आव स्टेट्स इन इण्टरनेशनल लॉ	Equality of States in International Law by Dickinson
मायर्सकृत कण्ट्रोल आव फॉरेन रिलेशंस	Control of Foreign Relations by Myers
क्रैण्डलकृत ट्रीटीज, देयर मेकिंग ऐण्ड एंफोर्समेण्ट	Treaties, Their Making and Enforcement by Crandall
लाउटरपाख्तकृत दि फंक्शन आव लॉ इन दि इण्टरनैशनल कम्युनिटी	The Function of Law In the International Community by Lauterpackt

राइटकृत कांस्टिट्यूशननैलिटी आव ट्रीटीज	Constitutionality of Treaties by Wright

(ग) तृतीय तथा चतुर्थ खण्ड सम्बन्धी

होगनकृत पैसिफिक ब्लोकेड	Pacific Blockade by Hogan
पाइककृत दि लॉ आव कॉण्ट्राबैण्ड आव वार	The Law of Contraband of War by Pyke
ताकाहाशीकृत इण्टरनेशनल लॉ एप्लाइड टु दि रशो-जैपनीज वार	International Law Applied to the Russo-Japanese War by Takahashi
गार्नरकृत इण्टरनेशनल लॉ एण्ड दि वर्ल्ड वार	International Law and the World War by Garner
बेकर और क्रोकरकृत लैण्ड वारफेयर	Land Warfare by Baker and Crocker
हैजेल्टाइनकृत दि लॉ आव दि एयर	The Law of the Air by Hazeltine
स्मिथकृत दि डेस्ट्रक्शन आव मर्चेंट शिप्स अण्डर इण्टरनेशनल लॉ	The Destruction of Merchant-ships under International Law by Smith
बोल्स गिब्सनकृत सी लॉ एण्ड सी पावर	Sea Law and Sea Power by Bowles Gibson
हिगिंसकृत दि हेग पीस कांफरेंसेज	The Hague Peace Conferences by Higgins
राइटकृत दि कांस्टिट्यूशनैलिटी आव ट्रीटीज	The Constitutionality of Treaties by Wright
सिजविककृत डेवलपमेण्ट आव यूरोपियन पालिटी	Development of European Polity by Sidgwick
म्योरकृत नेशनलिज्म एण्ड इण्टरनेशनलिज्म	Nationalism and Internationalism by Muir
टेम्पर्लीकृत हिस्ट्री आव दि पीस कांफरेंस आव पैरिस	History of the Peace-Conference of Paris by Temperley
डार्बीकृत इण्टरनेशनल आर्बिट्रेशन	Interuational Arbitration by Darby
डिकिंसनकृत प्राब्लेम्ज आव दि इण्टरनेशनल सेटलमेण्ट	Problems of the International Settlement by Dickinson
हार्लीकृत लीग आव नेशंस एण्ड दि न्यू इण्टरनेशनल लॉ	The Leauge of Nations and the New International Law by Harley
फोस्डिककृत दि लीग आव नेशंस स्टार्टस	The League of Nations Starts by Fosdick

राष्ट्रसंघके सेक्रेटेरियटसे प्रकाशित एम्स, मेथड्स ऐण्ड ऐक्टिविटी आव दि लीग आव नेशंस	Aims, Methods and Activity of the League of Nations (published by the Secretariat of the League of Nations, Geneva)
बॉयडकृत दि यूनाइटेड नेशंस आर्गनिजेशन हैण्डबुक	The United Nations Organization Handbook by Andrew Boyd
डाक्युमेण्ट्स ऐडाप्टेड बाई दि यूनाइटेड नेशंस	Documents Adopted by the United Nations
कांफरेंस, सन फ्रांसिस्को २६ जून १९४५	Conference, San Fransisco, June 26, 1945
गिल्बर्ट मरे आदि कृत दि यूनाइटेड नेशंस चार्टर : ए कमेण्टरी	The United Nations Charter : A Commentary by Gilbert Murray and others

संयुक्तराष्ट्र संघटन और सम्बद्ध संस्थाओंके विषयमें विशाल वाङ्मय है और बनता जा रहा है। उसकी सूची देना असम्भव है। उनके सचिवालयोंसे समय-समयपर जो रिपोर्टें और अन्य पुस्तिकाएँ निकलती रहती हैं उनमें प्रचुर मात्रामें प्रामाणिक सामग्री रहती है।

अनुक्रमणिका

पहिली संख्या खण्ड, दूसरी अध्याय और तीसरी पृष्ठ बतलाती है।